रत्नत्रय

1008 कहानियों का संग्रह

आशीर्वचन

वत्थु स्वभावो धम्मो, उत्तम खमादि दहविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो।।

वस्तु का स्वभाव धर्म है, उत्तम क्षमादि दश धर्म के सोपान हैं तथा सम्यक् रत्नत्रय धर्म है और जीव रक्षा धर्म है। धर्म को जीवन में धारण करना मनुष्य जीवन का सार है। धर्म हीन मानव जीवन व्यर्थ है। धर्म रूपी रथ को चलाने वाले दो गज हैं (1) श्रावक धर्म (2) साधु धर्म। (1) श्रावक धर्म—श्रावक अष्ट मूल गुण का धारी, षट् आवश्यक का पालन करन वाला होता है, जो अपने जीवन में दोहरे धर्म को निभाता है। गृहस्थ होकर गृहस्थी के कार्य तथा सामाजिक कार्य करता हुआ अपनी आजीविका चलता है तथा परमार्थ धर्म का भी निर्वाह करता है, जिसमें मंदिर निर्माण, शास्त्र प्रकाशन, साधु चर्या का पालन करने हेतु चार प्रकार का दान देता है तथा देव पूजा, गुरु उपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट्—आवश्यक कर्तव्यों का पालन करता है। (2) साधु का धर्म—साधु ज्ञान, ध्यान, तप में लीन रहकर आत्म कल्याण की साधना में लगे रहते हैं। आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी ने रयणसार में कहा भी है —

दाणं पूया मुक्खं, सावय धम्मो ण तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं, जदि धम्मो ण तहा सो बि।।

श्रावक और साधु अपने धर्म का यथायोग्य पालन करते हैं। आत्मा का

स्वभाव प्रकट करने के लिये सर्वप्रथम उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य रूपी व्यवहार धर्म के सोपान पर चढ़कर साथ ही अपने पास रत्नत्रय की निधि लेकर चलने वाला राही उस निश्चय धर्म को प्राप्त करता है। व्यवहार धर्म का पालन करता हुआ श्रावक अपने जीवन में आगे बढ़कर यति धर्म का व्यवहार रूप में पालन करता है और सतत् अभ्यास करता हुआ निश्चय धर्म को प्राप्त कर लेता है।

व्यवहार धर्म को जानने और मानने के लिये ब्र0 सुरेन्द्र कुमार जी ने इस ग्रन्थ में दशलक्षण धर्म का संकलन एवं समायोजन किया है, जिसमें धर्म के दशलक्षण एवं उनका पालन करने वालों ने अपने जीवन में क्या फल प्राप्त किया है उनकी विभिन्न कथाएँ संकलित की हैं, जो वास्तव में एक दुरूह कठिन कार्य है। जिसे आप अपने गृहस्थ जीवन में रहते हुये पूर्ण कर रहे हैं जो वास्तव में एक सराहनीय है। आपके द्वारा ''रत्नत्रय'' नाम से तीन भाग जिनमें करीब एक हजार आठ कहानियों के माध्यम से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का वर्णन बहुत ही सरल भाषा में किया गया है, प्रकाशित हो चुके हैं। मैं उनके इस पुनीत कार्य की सराहना करता हूँ। ब्रह्मचारी जी को मेरा बहुत–बहुत आशीर्वाद है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन हमारे पावन वर्षा योग 2013 के अवसर पर दि0 जैन समाज शकरपुर दिल्ली द्वारा किया जा रहा है।

दिनांक 17 नवम्बर 2013 —आचार्य विशद सागर

(जैन मन्दिर शकरपुर, नई दिल्ली)

प्रस्तावना

पर्युषण पर्व साल में तीन बार आता है—माघ, चैत्र और भाद्रपद में, परन्तु प्रचलित रूप में इसे केवल भाद्रपद माह में विशेष रूप से मनाते हैं। यह पर्व भाद्रपद सुदी पंचमी में भाद्रपद पूर्णिमा तक मनाया जाता है। इसका समापन अश्विनी कृष्णा प्रतिपदा को क्षमावाणी दिवस के रूप में किया जाता है। उत्सर्पिणी अथवा अवसर्पिणी काल के अन्त में होने वाले प्रलय के समय ज्येष्ठ वदी दशमी से 49 दिन तक अग्नि, पत्थर, तेजाब आदि की वर्षा 7—7 दिन तक होती है, जिससे एक योजन गहराई तक पृथ्वी नष्ट हो जाती है। फिर 49 दिन तक दूध, पानी, अमृत आदि की 7—7 दिन तक वर्षा होती है, जिससे यह पृथ्वी पुनः अस्तित्व में आती है। सुवृष्टि में देवों द्वारा जो जोड़े विजयार्द्ध पर्वत की गुफाओं में छिपाये जाते हैं, वे सभी वापस आकर पृथ्वी पर बसते हैं। यह प्रलयकाल केवल भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में ही आता है, अन्य जगह नहीं। इस प्रकार सृष्टि की रचना भाद्रपद सुदी पंचमी से पुनः होती है। इस दृष्टि से भाद्रपद माह के दशलक्षण पर्व का विशेष महत्त्व है। उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य, ये धर्म के दशलक्षण हैं। पर्युषण पर्व में प्रत्येक दिन एक धर्म की भावना भायी जाती है। इस प्रकार दस दिन तक यह पर्व मनाया जाता है। धर्म के दस लक्षण वास्तव में आत्मा के ही निजभाव हैं, जो क्रोधादि से ढक रहे हैं।

ब्रह्मचारी सुरेन्द्र वर्णी जी ने इस ग्रंथ में लिखा है—धर्म तो मूलतः एक ही है, केवल समझाने के लिये इसे दश अंगों में विभाजित किया गया है। उत्तम क्षमा, क्रोध का अभाव होने से प्रगट होती है। इसी प्रकार उत्तम मार्दव, मान का अभाव होने से हाता है। उत्तम आर्जव, माया का अभाव होने से होता है। उत्तम सत्य, असत्य के नाश होने से हाता है। उत्तम शौच, लोभ के नाश से होता है। उत्तम संयम, विषयानुराग कम व नाश होने से होता है। उत्तम तप, इच्छाओं को रोकने (मन वश करने) से होता है। उत्तम त्याग, ममत्व (राग) भाव कम या नाश करने से होता है। उत्तम आकिंचन्य, निस्पृहता से उत्पन्न हाता है। और उत्तम ब्रह्मचर्य, काम विकार तथा उनके कारणों का छोड़ने से उत्पन्न होता है। इस प्रकार धर्म के ये दशलक्षण अपने प्रति घातक दोषों का अभाव होने से प्रगट हाते हैं।

किसी भी जैन व्यक्ति से जब यह प्रश्न पूछा जाता है कि दशलक्षण पर्व कैसे मनाया जाता है तो वह यही उत्तर देता है कि इन पर्व के दिनों में सभी लोग संयम से रहकर पूजन पाठ करते हैं, व्रत उपवास करते हैं, स्वाध्याय और तत्त्व चर्चा मं अधिकांश समय बिताते हैं।। सर्वत्र बड़े—बड़े विद्वानां द्वारा शास्त्र सभाएं होती हैं, उनमें उत्तम क्षमादि धर्म के दशलक्षणों का स्वरूप समझाया जाता है। नगर में यदि त्यागी व्रती, सन्त महात्मा विराजमान हों तो उनके प्रवचनों का लाभ मिलता है। मंदिरों में शाम को धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं। सर्वत्र धार्मिक वातावरण बना रहता है। पर्युषण पर्व में प्रायः सभी मन्दिरों में शास्त्र सभायें होती हैं। इस अपेक्षा से अभी तक छाटे—छोटे शास्त्र तो दशलक्षण प्रवचन पर बहुत थे, लेकिन कोई बड़ा शास्त्र जिसमं अनेक उदाहरणों, कहानियों द्वारा धर्म के इन दशलक्षणां की उपयोगिता के बारे में बताया हो, जा आसानी से समझ में आ जाए, ऐसा शास्त्र दुर्लभ था।

इसी लक्ष्य को लेकर वर्णी जी ने अपने अथक प्रयास से धर्म के दशलक्षणों व रत्नत्रय का वर्णन 1008 कहानियों सहित इस ग्रन्थ में किया है। आचार्य श्री शान्तिसागर जी, आचार्य श्री विद्यासागर जी, आचार्य श्री विशदसागर जी, मुनि श्री सुधासागर जी, मुनि श्री क्षमासागर जी आदि अनेक मुनिराजों के प्रवचनों के कुछ अंशों का इस ग्रन्थ में समावेश किया गया है।

इस ग्रन्थ में वर्णी जी ने संसार भ्रमण का कारण बताते हुये लिखा है– यह जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को न जानने के कारण ही संसार में भटक रहा है। शरीर और आत्मा भिन्न–भिन्न हैं, परन्तु मोह के नशे के कारण संसारी प्राणी अपनी आत्मा को नहीं पहचानता और इस पुद्गल शरीर को ही ''मैं'' मान लेता है। अपने स्वरूप को न समझ पाने के कारण उसका वर्तमान जीवन भी दुःखी व भविष्य का जीवन भी दुःखी रहता है। सारे दुःखों का मूल कारण है शरीर में अपनापन। राग–द्वेष की उत्पत्ति का कारण है शरीर में अपनापन। शरीर को अपने रूप जितना देखोगे, उतना राग–द्वेष, मोह बढ़ेगा और जितना इस शरीर को स्वयं से अलग देखोगे तो मोह पिघलने लगेगा। यह आत्मा न अग्नि से जलता है, न पानी से गलता है, न हवा से सूखता है और न शस्त्रों से कटता है। शरीर के प्रदेशों में व्याप्त रहने पर भी वह उनसे भिन्न रहता है। सम्यग्दृष्टि जीव कभी–भी राग–द्वेष आदि विभावों को अपना स्वरूप नहीं मानते। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है–

एगो मे सासदो आदा, णाण–दंसण लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा।।

ज्ञान–दर्शन लक्षण वाला एक आत्मा ही मेरा है। वही शाश्वत अर्थात् अविनाशी है और पर–पदार्थ के संयोग से उत्पन्न होने वाले राग–द्वेषादि

जितने भी विकारीभाव हैं, वे सब मुझसे भिन्न हैं। कितनी सुन्दर बात कही है आचार्य महाराज ने। हमारे घर में वैभाविक परिणति का चोर घुसा हुआ है, फिर भी उसे निकालने का हमारा भाव नहीं होता, यह कितने आश्चर्य की बात है। हमें इन विकारी भावों को चोर समझकर निकालने का प्रयास करना चाहिए। शुद्धात्मा की साधना–आराधना करना ही सुखी होने का एक मात्र उपाय है। "समयसार" में आचार्य भगवन् ने लिखा है–

"एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं"।।206।।

हे भव्य जीवो! यदि तुम उत्तम सुख चाहते हो तो एक ही उपाय है, कि सदैव इस समयसार स्वरूप शुद्धात्मा में ही रति करो, इसी में संतुष्ट रहो और बस एक इसी में सदा तृप्त रहो, तुम्हें अवश्य उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। वर्तमान समय का सही उपयोग ही भविष्य को उज्ज्वल बनाता है। अतः पूज्य गुरुवरों की इस देशना को ध्यान में रखते हुए कि संसार में रत्नत्रय धर्म ही शरण है, हम सबको चाहिए कि उस शरण को प्राप्त हो जायें। समय के रहते जिसने समय अर्थात् शरीर से भिन्न आत्मा को समझकर रत्नत्रय को धारण कर लिया वही बुद्धिमान है और वह आगामी काल में मुक्ति को प्राप्त करेगा। वर्णी जी द्वारा लिखे गये इस रत्नत्रय ग्रन्थ के प्रथम भाग में सम्यग्दर्शन एवं सोलह कारण भावनाओं का, द्वितीय भाग में दशलक्षण धर्म एवं सम्यग्ज्ञान का तथा तृतीय भाग में बारह भावनाओं एवं सम्यक्चारित्र का वर्णन 1008 रोचक एवं शिक्षाप्रद कहानियों के माध्यम से किया गया है।

श्री दिगम्बर जैन मंदिर, शकरपुर, दिल्ली में चातुर्मास के दौरान नित्य प्रति नए–नए 60 विधानों का लगातार महाआयोजन हुआ। परम पूज्य

आचार्य श्री 108 विशदसागर रचित एवं उन्हीं के सान्निध्य में एवं मेरी प्रेरणा से निर्विघ्न सम्पन्न होने वाले इन विधानों के समापन के उपलक्ष्य में सकल जैन समाज, शकरपुर, दिल्ली द्वारा इस ग्रन्थ का प्रकाशन कराया जा रहा है। सभी स्वाध्याय प्रेमी बन्धु इस कृति से लाभन्वित हों, इसी भावना के साथ प. पू. आचार्य गुरुवर 108 श्री विशदसागर जी महाराज के श्री चरणों में त्रिभक्ति पूर्वक नमोस्तु एवं ब्रह्मचारी सुरेन्द्र वर्णी जी को शुभाशीष।

दिनांक 17 नवम्बर 2013

—मुनि विशालसागर

(संघस्थ आचार्य श्री विशदसागर जी महाराज)

जेन मन्दिर शकरपुर, नई दिल्ली

प्रस्तुति

इस ग्रन्थ के लेखक श्री सुरेन्द्र वर्णी गत बीस वर्षों से आत्मसाधना में रत हैं। यह ''रत्नत्रय'' ग्रंथ सरल भाषा में लिखा गया ऐसा ग्रंथ है जिसमें रत्नत्रय, दशलक्षण धर्म, बारह भावनाओं तथा सोलह कारण भावनाओं का 1008 रोचक एवं शिक्षाप्रद कहानियों के माध्यम से विशद् वर्णन किया गया है। ये कहानियाँ रोचक तो हैं, परन्तु वे मनोरंजन के लिये नहीं वरन् मनोमंजन का हेतु बनें, यह भावना है।

'रत्नत्रय' ग्रंथ के प्रथम भाग में वर्णी जी ने सम्यग्दर्शन की विवेचना महान आध्यात्मिक पंडित श्री दौलतराम जी कृत छहढाला के आधार पर की है। जिसमें शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न निज आत्मतत्त्व का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन बताया है। साथ–ही उन्होंने इस सम्यग्दर्शन का प्रधान कारण देव–शास्त्र–गुरु की सच्ची श्रद्धा –भक्ति करना लिखा है। जिनेन्द्र भगवान के दर्शन–पूजन के समय उनके गुणों के स्मरण से हमारा सांसारिक अहंकारभाव कम होकर विनय और श्रद्धा गुण जागृत होता है। जब हम उनके गुणों का स्मरण करते हैं तो हमें अपने गुण याद आ जाते हैं और यह भावना होती है कि –

तुममें हममें भेद यह, और भेद कछु नाहिं।
तुम तन तज परब्रह्म भये, हम दुखिया जगमाँहिं।।

अर्थात् हे भगवन्! आपकी और हमारी आत्माएँ और गुण समान हैं, उनमें

कोई भेद है तो मात्र इतना ही है कि आप समस्त कर्मों से छूटकर परमात्मा बन गए, परन्तु हम अभी शरीरादि में मोह होन के कारण संसार में दुःख उठा रह हैं। इस प्रकार देव–शास्त्र–गुरु की पूजा–भक्ति आत्मबोध व जागृति का महान साधन है, जो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कारण बनता है।

द्वितीय भाग में आपने दशलक्षण धर्म का विस्तृत वर्णन करन के बाद सम्यग्ज्ञान का चित्रण करते हुये लिखा है–मैं चैतन्यस्वरूपी आत्मा हूँ, यह भूलकर अज्ञानीजीव अपने का शरीररूप मानत हैं। अतः शरीर–संबंधी स्त्री–पुत्रादि को अपना मानते हैं, परन्तु यथार्थ में जिन स्त्री–पुत्रादि का जीव अपना मानते हैं, वे अपने हैं नहीं। जहाँ यह एक क्षेत्रावगाही शरीर ही अपना नहीं है, तब दूर रहने वाले परद्रव्य अपने कैसे हो सकत हैं?

जिस प्रकार रेत को पेरन से तेल नहीं निकलता, पत्थर पर घास नहीं उगती, मरा हुआ पशु घास नहीं खाता, उसी प्रकार ये मकान–दुकान आदि आत्मा के कभी नहीं हो सकते। ये जड़पदार्थ अचेतन है और आत्मा चेतन है, दानों का स्वाभाव भिन्न–भिन्न है। परन्तु अपने चैतन्यस्वरूप को न जानन के कारण संसारीप्राणी स्त्री, पुत्र, मकान, दुकान आदि में अहंकार, ममकार करके व्यर्थ दुःखी होते हैं और संसार में परिभ्रमण करत रहते हैं।

जिसने मोह को छोड़कर समस्त जगत से भिन्न ज्ञायकस्वभाव निज आत्मा को पहचाना, उसी ने शुद्ध स्वभाव को उपलब्ध कर मुक्ति को प्राप्त किया। 'भावना द्वात्रिंशतिका' में आचार्य अमितगतिसूरि ने लिखा है–

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभत शुभाशुभम्।
परेणदत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयंकृतं कर्म निरर्थक तदा।।

आज तक अनन्त भवां से 84 लाख यानियों में भ्रमण करते हुए हमें

मुक्ति क्यों नहीं मिली? हम क्यां भटक रहे हैं? क्योंकि हमने एक बार भी सम्यग्ज्ञान का प्राप्त नहीं किया, योगी बनने का पुरुषार्थ नहीं किया। हमने जो कर्म किया, उनका फल हमें ही भोगना पड़ता है, अन्य को नहीं।

तृतीय भाग में आपने बारह भावनाओं का वर्णन करते हुए लिखा है—इस दुःख भरे असार संसार में सुख ढूँढ़ना अज्ञान है। सुख कहीं बाहर नहीं है, आत्मा में ही है। इस जीवन की अनित्यता व अशरणता को जानकर हमें शीघ्र ही अपना हित कर लेना चाहिये। जीव अकेला है तथा पर–संयोगों से भिन्न है। अज्ञान मोह से परवस्तुओं को यह जीव अपना मानता है, परन्तु जब शरीर ही अपना नहीं है, तो अन्य संयोग अपने कैसे हो सकते हैं? इस संसार में "न कोई तेरा है न मेरा है, जग तो चिड़िया रैनबसेरा है।" शरीर के प्रति आसक्ति कम करते हुये आत्मा का लक्ष्य रखना ही 'अन्यत्व' भावना है। शरीर की अशुचिता तथा आत्मा की परम पवित्रता को जानकर संसार, शरीर व भोगों से विरक्त विरागी और वीतरागी होना श्रेयष्कर है। आत्मा से भिन्न परपदार्थों पर दृष्टि देने से कर्मों का आस्रव होता है, जो दुःख और संसार का कारण है। आस्रव को रोक देना 'संवर' है। संवर से ही मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है। परदृष्टि से कर्म बंधते हैं और स्वभावदृष्टि से कर्म निर्जरित होते हैं। इसलिये, निजस्वभाव में लीन होना कल्याणकारी है। हे आत्मन्! यदि दुःखों का बोझ ढोते–ढोते थकान आ गई हो तो सर्व पुरुषार्थ पूर्वक निज बोधि प्राप्त करके रत्नत्रय को धारण करो।

पुरुषार्थ सहित जीवन में रत्नत्रय धारो,
निज बोधि प्राप्त करके भवसिंधु से तरो।।
नरजन्म सफल करने को धर्म धार लो,
भवसिंधु में फँसी आत्मा को उबार लो।।

जो पुरुष जीव के स्वरूप से देह को तत्त्वतः भिन्न जानकर आत्मा की सेवा करता है उसकी बारह भावना भाना सार्थक है। तृतीय भाग में बारह भावनाओं, श्रावक धर्म व मुनि धर्म का वर्णन करने के बाद वर्णी जी ने स्वयं को चारित्र धारण करने की प्रेरणा देते हुये लिखा है –

औरों के इतिहास बहुत पढ़े हमने, औरों के इतिहास बहुत पढ़े हमने।
आगे भी पढ़ते जायेंगे, पर वे हमारे किस काम में आयेंगे।।
अब मात्र पढ़ने की जरूरत नहीं, करने की जरूरत है।
सम्यक्चारित्र धारण कर, स्वयं का इतिहास स्वयं को बनाना होगा।

देखो, अपनी जिम्मेदारी अपनी आत्मा पर ही है। किसी का कोई दूसरा जिम्मेदार नहीं। दूसरे लोग जिनको हम अपना मित्र व बन्धु समझते हैं, वे लोग तो कषाय के बढ़ाने और कषाय पर चढ़ाने में ही उद्यम किया करते हैं। वीतराग भाव में लगाने का उद्यम करने–कराने में कोई निमित्त हैं तो देव, शास्त्र, गुरु। पर–पदार्थ में उपयोग लगाना अपना संसार परिभ्रमण बढ़ाना है।

दो दिन की ये माया रानी, क्षण–क्षण, होत विरानी।
गणिका से भी अधिक सयानी, क्या मन में ललचाना।।
इक दिन यह माया खा लोगे, बट्ट में पापी बन लोगे।
नरकवास के दुःख भोगोगे, क्लेश जहाँ हैं नाना।।

जब यह जीव देह से भिन्न आत्मा का सच्चा स्वरूप जाने, माने और आचरण करे, तब ही उसके संसार का परिभ्रमण समाप्त होगा और वह अनन्तकाल के लिए अनन्तसुखी होगा। यदि आपके मन में यह जिज्ञासा हुई है, ऐसा संकल्प किया है कि मुझे तो संसार के दुःखों से छूटना है तो इनसे छुटकारे का जो उपाय है 'सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र', उसे धारण करो और सदा अपने शुद्ध स्वरूप में रमण करो।

जन–जन में स्वाध्याय करने की रुचि जागृत हो, इस भावना से इस ग्रंथ में छोटी–छोटी कहानियों के माध्यम से धर्म के दशलक्षणों एवं सम्यग्ज्ञान का बहुत ही सरल भाषाशैली में वर्णन किया गया है। मैं उनके इस पुनीत कार्य की सराहना करता हूँ। यह ग्रंथ समाज के लिये उपयोगी हो और गुणीजनों को वीतरागमार्ग में सहायक हो। इस ग्रंथ का लाभ आबाल–वृद्ध सभी धर्म–प्रेमी–उठायेंगे, ऐसी आशा करता हूँ।

–पं0 सुबोध कुमार जैन (कलमकर)
बी–27,पद्मनाभ नगर, भोपाल

सामायिक

मैं शुद्ध चेतन, अचेतन से निराला,
ऐसा सदैव कहता, समदृष्टि वाला।
रे! देह नेह करना, अति दुःख पाना,
छाड़ो उसे तुम, यही गुरु का बताना।।

सत् चेतना हृदय में, जब देख पाता,
आत्मा सदैव, भगवान समान भाता।
तू भी उसे भज जरा, तज चाह–दाह,
क्यों व्यर्थ ही नित, व्यथा सहता अथाह।।

सल्लीन हों स्वपद में, सब सन्त साधु,
शुद्धात्म के सुरस के, बन जायें स्वादु।
वे अन्त में सुख अनन्त, नितान्त पावें,
सानन्द जीवन, शिवालय में बितायें।।

(108 आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज)

हे विशुद्धात्मन! स्व–से–स्व की चर्चा करना ही वास्तविक चर्चा है, जिसके माध्यम से आत्म–अर्चा होती है। इसी आत्म अर्चा एवं चर्चा के काल का नाम ही सामायिक है। इस काल को प्रमाद, आलस्य, निद्रा, तंद्रा में मत खो देना, क्योंकि यही एक अनुपम–अद्वितीय काल है, जिसमें स्वयं से मुलाकात होती है, यानी निज–से–निज की बात होती है। अतः इसे समझो। ''सम'' यानि ''समान भाव का होना'', न राग, न द्वेष। अर्थात् इनसे परे वीतराग प्रभु जैसे बन जाना या सभी प्राणियों के प्रति समभाव, सद्भाव, मैत्रीभाव रखना अथवा 'समय' में एकीभाव हो जाना। आत्मा में आत्मा का समावेश कर लेना व अपने में मिला लेना/लगा देना ही सामायिक है। दुनिया से मौन लेकर निज से चर्चा करने का नाम सामायिक है।

(108 आचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज)

अनुक्रमणिका

भूमिका	1
धर्म के दशलक्षण	11
उत्तम क्षमा	27
उत्तम मार्दव धर्म	115
उत्तम आर्जव	187
उत्तम शौच	245
उत्तम सत्य	288
उत्तम संयम	343
उत्तम तप	408
उत्तम त्याग	471
उत्तम आकिंचन्य	547
उत्तम ब्रह्मचर्य	609
सम्यग्ज्ञान	684
जिनवाणी स्तुति	786

भूमिका

मंगलाचरण

मंगलमय मंगलकरण, वीतराग विज्ञान।
नमो ताहि जातें भये, अरहंतादि महान।।
जो विद्यादि सागर सुधी, गुरु हैं हितैषी।
शुद्धात्म में निरत, नित्य हितोपदेशी।।
वे पाप–ग्रीष्मऋतु में, जल हैं सयाने।
पूजूँ उन्हें सतत केवलज्ञान पाने।।

संसारी जीव अनादि काल से कर्म–संयुक्त दशा में पर–पदार्थों में इष्टानिष्ट की कल्पना करके रागी–द्वेषी होकर अपने स्वभाव को प्राप्त नहीं करने से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। इस परिभ्रमण का मुख्य कारण मिथ्यादर्शन है। मिथ्यात्व के कारण यह जीव अपनी चैतन्यस्वरूपी आत्मा को नहीं पहचानता और इस पुद्गल शरीर को ही 'मैं' मान लेता है। सम्यग्दर्शन होने पर इस आत्मा और आत्मिक अतीन्द्रिय सुख पर सच्ची श्रद्धा हो जाती है। वह समझ जाता है यह सब दिखने वाला बाह्य जगत प्रपंच है, माया–जाल है, धोखा है। फिर वह संसार में नहीं फँसता, बल्कि संसार में रहता हुआ भी उससे विरक्त रहता है, जल में कमल की भांति भिन्न रहता है।

जाल में पक्षी उसी समय तक फँसते हैं, जब तक उन्हें यह पता

नहीं चल जाता कि इन सुन्दर दानों के नीचे जाल बिछा हुआ है। इसी प्रकार इस संसार चक्र में व्यक्ति उसी समय तक फँसता है, जब तक कि उसे यह पता नहीं चलता कि इन सुन्दर आकर्षणों तथा प्रलोभनों के नीचे माया छिपी हुई है। जिस प्रकार यह जानकर कि यह तो जाल है, पक्षी उस पर फैले हुये दानों का लालच नहीं करते और उसमें फँस नहीं पाते, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जब समझ जाता है कि यह बाह्य जगत केवल माया है, प्रपंच है, धोखा है, तो वह उसमें यत्र–तत्र फैले हुये प्रलोभनों का लालच नहीं करता और उसमें फँस नहीं पाता। मिथ्यात्व का फल संसार है और सम्यक्त्व का फल मोक्ष है। जीवों को सम्यग्दर्शन के समान कल्याण करने वाला तीन काल और तीन लोक में अन्य कोई नहीं है तथा मिथ्यात्व के समान अकल्याण करने वाला तीन काल और तीन लोक में अन्य कोई नहीं है। 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' ग्रंथ में आचार्य अमृतचन्द्र महाराज ने लिखा है – समस्त उपायों से, जिस प्रकार भी बन सके वैसे मोह को छोड़कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। इसके प्राप्त होने पर अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त होता है और इसके बिना सर्वथा मोक्ष नहीं होता। यह स्वरूप की उपलब्धि का अद्वितीय कारण है, अतः इसे अंगीकार करने में किंचित मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिये।

सम्यग्दर्शन को जब यह जीव प्राप्त हो जाता है, तब परम सुखी हो जाता है और जब तक उसे प्राप्त नहीं करता, तब तक दुःखी बना रहता है। सम्यग्दर्शन होते ही इसे दृढ़ श्रद्धान हो जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ और न ही शरीरादि परद्रव्य मेरे हैं। आज तक मैं भ्रम से शरीर को अपना मानकर व्यर्थ ही संसार में परिभ्रमण करता रहा। अपनी भूल का पता चल जाने से उसका जीवन परिवर्तित हो जाता है। सारे दुःखों का मूल कारण है, शरीर में अपनापन। जितना शरीर

को अपने रूप देखोगे, उतना–उतना राग, द्वेष, मोह बढ़ेगा और जितना हम शरीर को स्वयं से अलग देखेंगे, मोह पिघलने लगेगा।

मोह आत्मा को मोहित करता है, मूढ़ बनाता है। यह आत्मा के वीतराग भाव तथा शुद्ध स्वरूप को विकृत करता है, जिससे आत्मा राग–द्वेषादि विकारों से ग्रस्त हो जाता है। संसार–भ्रमण का मूल कारण यह मोह ही है। मोह, असंयम, पाप ये सब मदिरा के समान हैं, इनमें नशा होता है, जिसमें आसक्त होकर यह संसारी प्राणी अपनी ही आत्मा का अहित करता है।

एक बार एक राजा हाथी पर बैठकर शहर में घूमने गया। उसे रास्ते में एक कोरी मिला। कोरी ने मदिरा पी रखी थी, इसलिये वह होश में नहीं था। राजा को देखकर वह बोला–ओबे रजुआ! हाथी बेचेगा क्या? राजा को सुनकर बड़ा गुस्सा आया, यह कोरी कैसे मेरे हाथी को खरीदेगा? मंत्री जी साथ में थे उन्होंने राजा को समझाया–यह कोरी नहीं बोल रहा है, कोई और बोल रहा है। अभी वापिस राजदरबार में चलते हैं, इसे वहीं बुलायेंगे, आप वहाँ ही इसे दण्ड देना। कुछ देर बाद राजा राजदरबार में पहुँचा। वहाँ उसने कोरी को बुलवाया। तब तक कोरी का नशा उतर चुका था, वह होश में आ चुका था। ज्यों ही वो राजा के सामने लाया गया तो राजा कहता है कि तू रास्ते में क्या कह रहा था? मेरा हाथी खरीदेगा? काँपने लगा बेचारा। बोला–महाराज! आप यह क्या कह रहे हैं? मैं हूँ गरीब आदमी और आप राजा, आपका हाथी मैं कैसे खरीद सकता हूँ? मंत्री कहता है राजन! अब यह कोरी होश में है। वहाँ जो हाथी खरीदने को कह रहा था, वह यह नहीं था, वह कहने वाला तो मदिरा का नशा था, अब इसके नशा नहीं रहा। इसी तरह हम और आप सब प्रभु की तरह पवित्र हैं, हमें स्वयं अपना परिचय नहीं, यह सब मोह का नशा है। इसलिये अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करना पड़ रहा है।

जब जीव को आत्मा और आत्मा से भिन्न परद्रव्यों का ज्ञान हो जाता है अर्थात् मैं शरीरादि से भिन्न अखण्ड, अविनाशी, चिदानन्द, शुद्धात्मतत्त्व हूँ, ये शरीरादि मेरे नही हैं, न ही मैं इनका हूँ, तब उसे पर से भिन्न निज आत्मा की रुची पैदा हो जाती है और संसार, शरीर, भोगों से अरुचि पैदा हो जाती है और वह हमेशा आत्म–सन्मुख रहने का पुरुषार्थ किया करता है। उसकी राग–द्वेष से निवृत्ति के लिये सम्यक्चारित्र धारण करने की भावना प्रबल हो जाती है।

परमार्थ से आत्म शान्ति का उपाय यही है कि सम्यक्चारित्र को धारण कर पर–संबंध को छोड़ा जाय और आत्म परिणति का विचार किया जाय। आत्मा अपने ही अपराध से संसारी बना है, और अपने ही प्रयत्न से मुक्त होता है। जब यह आत्मा मोही, रागी, द्वेषी होता है तब स्वयं संसारी हो जाता है तथा जब राग, द्वेष, मोह को छोड़ देता है तब स्वयं मुक्त हो जाता है। अतः जिन्हें संसारबंधन से छूटना है, उन्हें उचित है कि निज को निज व पर को पर जानकर, फिर पर को छोड़कर निज में लीन रहें।

चारों गतियों के जीव दुःखी हैं और इस दुःख से छुटकारा तब तक नहीं हो सकता जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति न हो। आत्मा और समस्त कर्मों (द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म) का पूर्ण रूप से पृथक् होना ही मोक्ष कहलाता है। मोक्ष प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हुये आचार्यों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता का वर्णन किया है। जब तक ये तीनों एक साथ प्रकट नहीं हो जाते, तब तक मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। इसलिये मोक्ष की प्राप्ति के इच्छुक प्रत्येक जीव को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये।

जब से जीवन में धर्म की शुरूआत हो, तभी से उसका जन्म हुआ

समझना चाहिये। सागरदत्त ने अपनी पुत्री सरला का विवाह रामदत्त के साथ कर दिया। सरला बड़े धार्मिक विचारों की थी। उसने ससुराल में जाकर देखा कि वहाँ विषयभोगों की तो कोई कमी नहीं है, पर घर के सभी सदस्य धार्मिक क्रियाओं से अनभिज्ञ हैं। वह मन–ही–मन उपाय सोचने लगी कि इन लोगों को धर्म के मार्ग में कैसे लगायें। शुरू में तो उसे कुछ कठिनाई का सामना करना पड़ा, परन्तु धीमे–धीमे उसने अपने पति, जिठानी एवं जेठ को धार्मिक बना लिया। उसकी सास अभी जिनधर्म के तत्त्वों में संशयालु थी और ससुर को धर्म का नाम विष के समान प्रतीत होता था।

एक बार उस सेठ के घर की ओर एक दिगम्बर मुनिराज का आगमन हुआ। साधु महाराज को आते देखकर सरला ने उनका पड़गाहन कर लिया तथा बड़ी भक्ति से आहार देकर अपने को धन्य मानने लगी। मुनि महाराज की युवावस्था देखकर और चेहरे के तेज से सरला के ह्रदय में कई प्रश्न उठ आये। उसने धर्मभाव से पूछा–मुनिवर अभी तो सवेरा ही है, इतनी जल्दी क्यों की? बालमुनि ने उसकी धार्मिक रुचि देखकर उत्तर दिया–बहन! मुझे समय का पता नहीं चला।

ससुर अभी दुकान से लौटे ही थे। मुनिराज को घर में देखकर प्रथम तो उन्हें क्रोध आया, फिर कौतुकवश वे किवाड़ के पीछे जाकर खड़े–खड़े इनका वार्तालाप सुनने लगे। दोनों की बात सुनकर उनका दिमाग चक्कर खा गया। उसने मन–ही–मन सोचा– दोनों कितने मूर्ख हैं? सूर्य सिर पर चढ़ गया है और बहू कह रही है अभी तो सवेरा ही है तथा इसका गुरु उत्तर दे रहा है कि मुझे समय का पता नहीं चला।

दोनों के प्रश्नोत्तर अभी चल ही रहे थे। मुनिराज ने सरला से पूछा– बहन! तुम्हारे पति की उम्र कितनी है? सरला ने कहा– 5

वर्ष। उन्होंने पुनः पूछा—तुम्हारी जेठानी की आयु कितनी है? उत्तर मिला—दो वर्ष। तुम्हारे जेठ की आयु कितनी है? एक साल। फिर मुनिराज ने पूछा—तेरी सास की कितनी आयु है? सरला ने आत्मविश्वास के साथ कहा कि वे तो अभी झूले में ही झूल रही हैं। पुनः मुनिराज ने कहा—तुम्हारे ससुर की कितनी आयु है? तो उत्तर मिला कि उनका तो अभी जन्म ही नहीं हुआ। मुनिराज ने पूछा— बहन ! ताजा खाती हो कि बासा? सरला ने कहा— गुरुदेव! हम लोग बासा खाते हैं और भूखे सोते हैं। इन दोनों की असंगत वार्तालाप सुनकर सेठ के हृदय में तूफान उठ गया। एक—एक शब्द उसे शूल के समान चुभने लगा। उसे यह बात बहुत बुरी लगी कि प्रतिदिन मेवा—मिष्ठान बनते हैं और बहू कह रही है कि हम तो बासा खा रहे हैं और भूखे सो रहे हैं। उसके आश्चर्य और क्रोध का ठिकाना न रहा जब उसने सुना कि उसकी सास झूले में झूल रही है और ससुर का जन्म नहीं हुआ। जबकि हम दोनों की आयु 60—70 वर्ष की है। उसका बहू पर इसलिए क्रोध आ रहा था कि उसने आज सेठ की इज्जत खाक में मिला दी और बालमुनि पर इसलिए कि साधु होकर उन्हें इस तरह के प्रश्न नहीं पूछने चाहिए।

अंत में सेठ क्रोध से दाँत पीसता हुआ मुनिराज और बहू के पास आया और आँखें लाल करके बोला कि, हे महात्मन! घर की मान—मर्यादा को खाक में मिला देनेवाली नादान छोकरी के साथ वार्तालाप करके आप अपना समय व्यर्थ में क्यों बर्बाद कर रहे हैं? आप तो समझदार हैं, इसलिए इस मूर्ख के साथ वार्तालाप न करें। मुनिराज ने कहा—सेठ! तुम्हारी बहू मूर्ख नहीं, बहुत विदुषी है, शास्त्रा है। क्रोध से तपतपाते सेठ ने कहा—इसने कौन—सी चतुराई की बात कही? दस बज रहे हैं और यह कह रही है कि अभी तो सवेरा है। इसका ससुर 70 साल का इसके सामने उपस्थित है और यह कह रही है कि अभी पैदा ही

नहीं हुआ। आप ही बताइये कि सास–ससुर के बिना इसके पति का जन्म कैसे हुआ? हमारे घर में प्रतिदिन पकवान बन रह हैं, बासी कैसे खायेंगे? और भूखे रहने का तो सवाल ही नहीं उठता।

मुनिराज ने एक–एक सवाल का उत्तर देते हुए कहा–सेठ! बहू ने मेरी युवावस्था और तेजस्विता दखकर कहा था कि अभी तो सवेरा है। अतः इस उभरती हुई अवस्था में ही सन्यास–जैसे कठोर मार्ग का अनुसरण कैसे कर लिया? मैंने इस बहन के रहस्यभरे भाव को देखकर उत्तर दिया कि काल अर्थात् मृत्यु का कोई भरोसा नहीं है। समय अपना ग्रास कभी भी बना सकता है। इसके बाद मैंने तत्त्वज्ञान की दृष्टि स और परीक्षा लेने की दृष्टि से प्रश्न पूछे कि तुम्हारे घर में कोई धर्मरुचि वाला है कि नहीं? क्योंकि जो मानव धार्मिक प्रवृत्ति वाला होता है, उसका जन्म ही सार्थक है, नहीं तो उसका जन्म पशु के समान है। भोजन करना, निद्रा लेना, कलह करना, मैथुन संज्ञा, यह तो पशु के समान हैं। धर्माचरण के द्वारा ही मानव और पशु में भेद है। इसलिए तुम्हारी पुत्रवधु से मैंने तुम्हारे बारे में प्रश्न पूछे थे। उसके उत्तर से ज्ञात हुआ कि तुम्हारा छोटा लड़का पाँच साल से धर्म रुचि करता है, तुम्हारी बड़ी पुत्रवधु दो साल स तथा बड़ा बेटा एक साल स धर्म में लगा है। तुम्हारी पत्नी को धर्म पर अभी अटल विश्वास नहीं है। धार्मिक क्रिया करती है, परन्तु देखा–देखी। संशय के पालने में झूल रही है, तुम तो धर्म के नाम से अनभिज्ञ हो। दिन–रात परिग्रह जुटाने और खाने–पीने में व्यस्त हो, इसलिए तुम्हारा जन्म नहीं हुआ है। ताजा खाते हो या बासा? इसका तात्पर्य है कि तुम्हारे घर में कोई दान, पूजा, संयमाचरण आदि अनुष्ठान होते हैं कि नहीं? इसका उत्तर था–जो पूर्वभव में उपार्जन किया हुआ पुण्य है, उसके फल को भोग रहे हैं अर्थात् बासा खा रहे हैं और भूखे सो रहे हैं।

बालमुनि के इस रहस्यपूर्ण मधुर वार्तालाप को सुनकर सेठ के क्रोध का ज्वर उतर गया और मुनिराज के चरणों में गिरकर क्षमायाचना करने लगा। वास्तव में हम लोग बासा खा रहे हैं। मनुष्य–जैसे उत्तम तन को पाकर पशु के समान आचरण कर रहे हैं। स्व क्या है, पर क्या है, इसका भेदज्ञान अभी तक मुझे नहीं हुआ। इसलिये वास्तव में अभी मेरा जन्म ही नहीं हुआ। अब मेरा हृदय पश्चात्ताप से जल रहा है। आपके और बहू के ज्ञान ने मेरे ज्ञाननेत्र खोल दिये। वह बहू की बड़ी प्रशंसा करने लगा। मुनिराज ने कहा कि अभी भी समय है। जो हुआ, सो हुआ; अब धर्म को धारण कर बचे हुये क्षणों का सदुपयोग कर अपना कल्याण करो।

जब से स्व–पर का भेदज्ञान है। तभी से जीवन में धर्म की शुरूआत मानना चाहिये। मैं ''मैं'' हूँ, मैं देहरूप नहीं, मैं मेरा हूँ, मेरे सिवाय बाहर में अन्यत्र मेरा कहीं कुछ नहीं। ऐसा भेदज्ञान ही हम, आपको शरण है। यहाँ जोड़े हुये समस्त समागम का फल तो अन्त में विघटन ही है। जैसे बच्चे लोग बरसात के दिनों में रेतीली जमीन पर पैर रखकर उस पर धूल डालकर घर बनाते हैं, जिसे घरधूला कहते हैं। वह बच्चों का घरघूला क्या है? थोड़ी देर में खेलकर वे बच्चे उसे मिटा देते हैं और अपने–अपने घर चल देते हैं। इतना श्रम करने से उन बच्चों को कुछ लाभ नहीं मिला। ऐसे ही मकान बनवाया, दुकान चलाई, अपना यश बढ़ाया, अन्त में फल क्या होगा? एक दिन सारा–का–सारा समागम वियुक्त हो जायेगा, मैदान साफ हो जायेगा। इस समागम के मोह में इस जीव को क्लेश ही मिलता है। फिर भी यह अज्ञानी प्राणी, मोही जीवों में जो स्वयं मूढ़ता के फंद मे फँसे हैं, अपना बड़प्पन चाहता है।

यह मानव मूढ़ों की मूढ़ता में होड़ मचाये है। धन, वैभव आदि के सर्व समागमों में यह व्यामुग्ध होकर होड़ करता है। दो मित्र चले।

रास्ते में एक बुढ़िया मिली। दोनों ने कहा, बुढ़िया माँ! रामराम। तो बुढ़िया ने आशीर्वाद दिया, खुश रहो बेटा। उनमें से एक ने पूछा– बुढ़िया माँ, तुमने हम दोनों में से किसे आशीर्वाद दिया? तो बुढ़िया माँ कहती है कि तुम दोनों में जो अधिक बेवकूफ है, उसे हमने आशीर्वाद दिया। तो दोनों ने बताया कि देखो बुढ़िया माँ हम अधिक बेवकूफ हैं, सुनो। एक ने बताया कि हमारी दो स्त्रियाँ हैं। एक बार हम ऊपर से नीचे उतरने लगे तो एक ने पैर पकड़कर नीचे को खींचा, दूसरी ने ऊपर को खींचा। एक कहे कि ऊपर मेरे कमरे में सोओ, दूसरी कहे कि नीचे मेरे कमरे में सोओ, तो इस खींचातानी में मेरा पैर टूट गया। सो देखो बुढ़िया माँ! मैं कितना बेवकूफ हूँ? दूसरे ने बताया–बुढ़िया माँ! मेरी भी दो स्त्रियाँ हैं। एक बार रात को मैं दोनों के बीच में लेटा था। मेरी दोनों भुजाओं पर दोनों के सर थे। एक चूहा चिराग में से जलती हुई बत्ती लेकर भागा तो वह मेरी आँख में पड़ गयी। अब मैंने सोचा कि अगर मैं दाहिना हाथ उठाकर बत्ती हटाऊँ तो दाहिनी ओर पड़ी हुई स्त्री को कष्ट होगा और अगर बाँया हाथ उठाता हूँ तो बाँयी ओर पड़ी हुई स्त्री को कष्ट होगा, सो मैंने हाथ भी नहीं उठाया, देखो इसी से मेरी यह आँख फूट गयी। तो बुढ़िया माँ! मैं कितना बेवकूफ हूँ? बुढ़िया माँ बोली–बेटा, मैंने तुम दोनों को अशीर्वाद दिया, झगड़ा न करो। यहाँ भी हम आप मूढ़ों की होड़ मच रही है। हम सबसे अव्वल दर्जे के मोही हैं, हम सबसे अव्वल दर्जे के व्यामोही हैं। किसी परवस्तु की आशा मे रात–दिन उसका ही ध्यान बनाये रहना, यह मूढ़ता ही तो है।

ये जीव मोह में तो मस्त हो रहे हैं, राग–द्वेष मोह की घटनाओं के लिये तो तन, मन, धन, वचन सब कुछ लगा रहे हैं। पर एक सही मायने में आत्महित में भाव से धर्म की ओर नहीं लगते हैं। धर्म से सुख होता है और पाप से दुःख होता है। यह बात सर्वजनों में

सुप्रसिद्ध है। इस कारण जो सुख को चाहने वाले हैं, उन्हें पाप के कार्यों को छोड़कर, धर्म के कार्यों में लगना चाहिये। आप किसी से भी पूछ लो, क्यों भाई! तुम मेरा यह पाप ले लोगे न? तो वह स्वीकार नहीं करेगा। पाप का नाम भी इतना अनिष्ट है कि लोग इतना कहने में भी भय खाते हैं कि अच्छा तुम यह काम करलो, पाप हमें लग जायेगा। हमें अत्यन्त दुर्लभता से यह मनुष्यपर्याय मिली है। इस समय कितना अच्छा अवसर है कि हम पाप को छोड़कर, धर्म का पालन कर आत्मा का कल्याण कर सकते हैं।

मनुष्य पर्याय की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। इसे प्राप्त कर हमारा मुख्य कर्तव्य आत्मा का कल्याण करना है, जो धर्म को धारण करने पर ही संभव है। जो व्यक्ति को दुःख से मुक्त कराकर मोक्ष के निराकुल अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करवा दे, उसे धर्म कहते हैं। इस धर्म के दशलक्षण कहे गये हैं– उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य। ये धर्म के दशलक्षण आत्मा के भावनात्मक परिवर्तन से उत्पन्न विशुद्ध परिणाम हैं, जो आत्मा को कर्मों के बन्ध से रोकने के कारण संवर के हेतु हैं। परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है–यदि हम संवर तत्त्व को ठीक–ठीक अपनाना चाहते हैं तो हमें "स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्रैः" रूपी हार पहनना चाहिये। गुप्ति, समिति, परीषहजय एवं चारित्र का वर्णन इस ग्रंथ के प्रथम भाग में किया जा चुका है। यहाँ धर्म के दस लक्षणों का वर्णन किया जा रहा है।

धर्म के दशलक्षण

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये धर्म के दशलक्षण हैं। यहाँ पर पूज्य मुनिराजों श्री सुधासागर जी महाराज, श्री क्षमा सागर जी महाराज, श्री समतासागर जी महाराज एवं श्री प्रमाणसागर जी महाराज के प्रवचनों के आधार पर इनका वर्णन किया जायेगा। यदि हम धर्म के रास्ते पर चलेंगे तो धर्म मिलेगा और पाप के रास्ते पर ही बढ़ते रहे तो पाप ही मिलेगा। धर्म तिराता है और पाप डुबाता है। धर्म पापमलपुंज को धोकर हमें पवित्र बना देता है। धर्म हमारे जीवन का आधार है।

एक व्यक्ति अपना मकान बनवा रहा था। मकान बनाने के लिये वह बार–बार दीवाल उठाता कि दीवाल गिर पड़ती। वह दो–चार फुट भी नहीं उठ पाई। वह काफी परेशान था। मकान बन नहीं पा रहा था। उसने उधर से गुजरते हुये एक सन्त को अपनी पीड़ा सुनाई। सन्त ने उसकी बात सुनी और बोले– भाई! दीवार उठाना है तो पहले नींव खोदो। उसने कहा– ''मैं नींव नहीं खोदता, मकान बनाने के लिए नींव की आवश्यकता ही नहीं। लोग बेवकूफ हैं, जो अपना बहुत सारा धन उस नींव में लगा देते हैं, जो दिखाई तक नहीं देती।'' सन्त उसकी अज्ञानता भरी बात सुनकर हँसते हुये बोले–अरे!

भाई ! मुझे हँसी आ रही है तुम पर, जो अपना मकान बिना नींव के खड़ा करने जा रहे हो। सन्तों को उससे भी ज्यादा हँसी तो उन पर आती है, जो अपने जीवन के महल को बिना नींव के खड़ा करना चाहते हैं। जीवन के महल को खड़ा करने के लिए आधार जरूरी है। धर्म हमारे जीवन का आधार है। इसीलिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में सबसे पहले धर्म पुरुषार्थ को रखा गया है। आचार्य गुणभद्र महाराज ने आत्मानुशासन ग्रंथ में लिखा है –

भैया! यदि विषयभोग ही भोगना है तो धर्म करते हुये भोगो; अधर्म के साथ नहीं। जैसे किसी वृक्ष पर 100 फल लगे हैं। कोई व्यक्ति वृक्ष को जड़ से काटकर फल प्राप्त करता है और कोई उस वृक्ष पर चढ़कर सिर्फ फलों को प्राप्त करता है। फल तो दोनों को उतने ही प्राप्त होंगे जितने वृक्ष में लगे हैं; पर जो वृक्ष को जड़ से काट डालता है, उसे आगे के लिये फल प्राप्त होना बन्द हो जाते हैं। इसी प्रकार जो धन–सम्पत्ति आदि प्राप्त हुई है, वह तो उतनी ही प्राप्त होगी जितना पुण्य का उदय है। पर जो उसे अधर्म के साथ भोगता है, उसे आगे के भवों में कुछ भी प्राप्त नहीं होता और जो धर्म करते हुये भोगता है, वह आगे भी स्वर्गादिक प्राप्त कर परम्परा से मोक्षसुख को प्राप्त करता है। अतः जब तक हमसे विषय–भोग ये आरम्भ–परिग्रह नहीं छूटते, तब तक हमें धर्म करते हुये इन्हें अनासक्त भाव से भोगना चाहिये।

धर्म मानव हृदय की एक उच्च और उदात्त, पुनीत और पवित्र भावना है। धार्मिक भावना से मनुष्य में सात्विक प्रवृत्तियों का उदय होता है। यथार्थ में जीव का आत्मीय स्वजन तो उत्तम क्षमा आदिक रूप दशलक्षण धर्म ही है। बताओ, वास्तविक स्वजन कौन है? जो अपनी रक्षा करे, अपने हित की बात करे, ऐसा स्वजन केवल क्षमा,

मार्दव आदि दशलक्षण धर्मरूप परिणमन है। धर्म का प्रथम लक्षण है–उत्तम क्षमा। कषायें इस जीव को बरबाद कर देती हैं। क्रोध कषाय न जगे, क्षमा परिणाम बने, तो शान्ति है। क्रोध में बुद्धि खराब हो जाती है। क्रोध में धीरता, गम्भीरता, विवेक, उदारता आदि सब गुण जल जाते हैं। स्वयं दुःखी होते हैं। जिस पर क्रोध करते हैं उससे संबंध क्या? अरे! वह जीव भी तो अनेक भवों में कुटुम्बी हुआ है, मित्र हुआ है। आज अपनी कषाय के आवेश में आकर उसको शत्रु माना जा रहा है। क्रोध में जीव को हानि ही तो है, लाभ कुछ नहीं। क्रोध का अभाव होने से जो क्षमा भाव प्रकट होता है, वही शरण है। क्षमा आत्मा का स्वभाव है और क्रोध आत्मा का विभाव। क्षमा से शांति और क्रोध से अशांति के परिणाम निकलते हैं। जगत में जो कुछ भी बुरा नजर आता है, वह सब क्रोधादि विकारों का ही परिणाम है। ''क्रोधोदयाद भवति कस्य न कार्य हानिः''। क्रोध के उदय में किसकी कार्य हानि नहीं होती, अर्थात् सभी की हानि होती है। यदि जीवन में सुखी होना चाहते हो तो क्रोध को छोड़कर क्षमा धर्म को धारण करो।

संस्कृत में 'क्ष' शब्द दो अक्षरों को मिलाकर बना है– क श। यहाँ 'क' कहता है कषायों का 'श' कहता है शमन करोगे तभी क्षमा धर्म प्रगट होगा और आत्मा के दिव्य स्वरूप का दर्शन होगा। आचार्यों ने कहा है–

कोटि पूजा समं स्तोत्रं, कोटि स्तोत्र समं जपः।
कोटि जप संम भक्ति, कोटि भक्ति समं क्षमः।।

करोड़ पूजा के समान एक स्तोत्र का फल है, करोड़ स्तोत्र के समान एक जाप का फल है, करोड़ जाप के समान एक निश्छल

भक्ति का फल है। और कराड़ भक्ति के समान एक क्षमा का फल है। अर्थात् क्षमा की अचिन्त्य महिमा है। यदि हमसे कोई गलती हो जाये तो तुरन्त सामने वाले स क्षमा माँग लेना चाहिये। अन्यथा एक गलती की छोटी–सी चिनगारी, महाविनाश का कारण बन सकती है।

महाभारत का विनाशकारी युद्ध गलती की अस्वीकृति का ही दुष्परिणाम है। द्रोपदी न मर्म भेदक शब्द ''अन्धे के अन्धे ही पैदा होते हैं'' इतना वाक्य कहकर दुर्योधन का अपमान किया था, मजाक उड़ाया था। इसी व्यंग का परिणाम इतना बुरा निकला कि दुर्योधन ने भी भरी सभा में द्रोपदी का नग्न कर अपमानित करने का प्रयास किया। छोटी–सी गलती ने रक्त की नदियाँ बहा दीं। यदि द्रोपदी उसी समय इस कटु शब्द की क्षमा माँग लेती ता यह नौबत नहीं आती। रामायण का युद्ध भी गलती की अस्वीकृति का ही परिणाम है। रावण ने सीता को चुराकर बड़ी भारी गलती की। सभी ने समझाया, इस गलती की क्षमा माँग कर सीता श्री रामचन्द्र जी को वापस सौंप दो। परन्तु अहंकारी व्यक्ति गलती मानने में अपना अपमान समझता है। रावण नहीं माना और एक गलती की अस्वीकृति ने महीनों युद्ध कराया। जिसमें हजारों व्यक्ति मरे, रावण का ताज, सिंहासन, लंका और चक्र सभी पड़े रह गये, महाविनाश का ताण्डव दृश्य उपस्थित हो गया। क्राध विनाश का कारण है, जबकि क्षमा विनाश की जड़ का विनाशक है। क्षमा वह साबुन है जो हमारे मन के मैल का धो डालने में सक्षम है। यदि क्रोध के दुष्परिणामां से बचना चाहते हो तो क्रोध को छोड़कर, सदा क्षमा धर्म का पालन करो।

क्षमा धर्म औषधि कहा, क्रोध जहर है भ्रात,
क्राध से मानव का हुआ, कई जन्मों में घात,

कई जन्मों में घात, हुआ तउ चेत न पाये,
जरा–जरा सी बात में, लड़कर ठोकर खाए।
विशद सिन्धु यह क्रोध, महा है बड़ा भयंकर,
अतः क्रोध को त्याग, क्षमा का ही धारण कर।।

धर्म का दूसरा लक्षण है–उत्तम मार्दव। मार्दव का अर्थ है, 'मृदुता' और उत्तम का अर्थ है 'श्रेष्ठ' अर्थात् जहाँ श्रेष्ठ मृदुता है, वहीं मार्दव है। मार्दव धर्म का विराधी है–अहंकार। अहंकार करना भी व्यर्थ है। अज्ञानी व्यक्ति परपदार्थों को अपना मानता है और उनका अहंकार करता है। पर घमंड के परिणाम में फल क्या होता है? लोग मुँह के सामने भले ही न कहें, परंतु परोक्ष में तो कहते ही हैं कि वह बड़ा घमंडी है, बड़ा अज्ञानी है। अहंकार उस अग्नि के समान है जो बिना ईंधन के प्रज्वलित होती है। यह आत्मा के गुणों को जलाकर भष्म कर देती है। विनय से जीवन पवित्र व उन्नतिशील बनता है, जबकि अहंकार से सदा पतन ही होता है। बड़ी–बड़ी सम्पदाओं के धनी, बड़े राजपाट के अधिकारी राज–महाराजा भी बड़ी दुर्दशा को प्राप्त हो जाते हैं। गर्व करने लायक तो यहाँ कोई बात ही नहीं हैं। गर्व करता भी कौन है? गर्व वही करता है जिसे अपनी आत्मा के ज्ञान–स्वभाव का विश्वास नहीं है। वह बाह्य दृष्टि करके गर्व करता है कि देखो मैं कितना बड़ा हूँ, कितना उच्च हूँ, अरे! जीव जाति को देखा तो प्रत्येक जीव समान हैं, स्वरूप सबका एक–सा है। रही लौकिक स्थिति की बात, सो आज जो बड़ा धनिक है, वह कल तुच्छ बन सकता है और आज जो तुच्छ है, वह कल बड़ा बन सकता है। जीवन में तो रोज परिवर्तन हो सकता है। "जो आज एक अनाथ है, नरनाथ होता कल वही। जो आज उत्सव मग्न है, कल शोक से रोता

वही''। अहंकार का विसर्जन कर देने पर छोटा व्यक्ति भी महान हो सकता है और जीवन में अहंकार आ जाये तो महान व्यक्ति भी छोटा बन सकता है। पुराणों में वर्णन आता है कि रावण नरक गया और रावण के भाई, पुत्रादि निर्वाण को गये। सबका भिन्न–भिन्न परिणाम है। सभी अपने–अपने भले–बुरे परिणाम से भली–बुरी गतियाँ प्राप्त करते हैं। यहाँ मोह करने से, गर्व करने से क्या फायदा? गर्व में केवल हानि ही है। मद का अभाव होने से जो मार्दवधर्म प्रगट होता है, वही वास्तविक शरण है।

अहंकार के भार से, दबा है सारा लोक,
जिसने जीता अहं को, उसकी होती ढोक।
उसकी होती ढोक, वही परमातम बनते,
अहंकार के धारी, जग में माथा धुनते।।
विशद सिन्धु कहते हैं भैया, मृदुता पाना,
छोड़ अहं का भार मोक्ष पद, हमको जाना।।

धर्म का तीसरा लक्षण है–उत्तम आर्जव। ऋजोभावं इति आर्जवम्। भीतर से ऋजुता को जन्म दे देना, सरलता को जन्म देना, छल–कपट को छोड़ देना आर्जव धर्म है। छल–कपट ऐसी बुरी परिणति है कि मायावी व्यक्ति सदा अशांत बना रहता है। चेहरा उदास हो जाना, भयभीत हो जाना आदि माया के लक्षण हैं। मायाचारी व्यक्ति की विशेषता यह है कि वह जो नहीं है, ऊपर से वैसा दिखना चाहता है। उसके मन में कुछ होता है और शरीर से कुछ और ही करता है। मायावी पुरुष सब जगह शंकित रहता है कि कहीं मेरी मायाचरी खुल न जाये। ये दोनों व्यक्ति परस्पर बातचीत कर रहे हैं, कहीं मेरे मायाचार का भेद न खुल जाये, इत्यादि रूप से

वह मायाचारी पुरुष शंकित रहता है। ऐसा मायाचारी पुरुष धर्म का पात्र नहीं होता। माया कषाय को शल्य में गिना गया है। धर्म का प्रारम्भ सरलता से होता है। जब हमारी आत्मा के परिणाम सरल होने लगते हैं, तब आत्मा में धर्म का बीजारोपण होता है। मन में कुछ, कह कुछ रहे, करेंगे कुछ, यह एक भीतरी विडम्बना है। जैसे माला बनाने के लिए धागे में दाने पिराये जाते हैं, तो वक्र छेद वाले दाने में धागे का प्रवेश नहीं होता, इसी प्रकार मायाचार से भरे हुये वक्र हृदय में धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता।

जग जीवों को ठग रही, माया ठगनी भ्रात,
आत्म गुणों का हो रहा, उनके सारे घात,
उनके सारे घात, रहे माया के बन्दे,
रहते हैं परिणाम, सदा ही उनके गन्दे।।
विशद सिन्धु कहते हैं, तुम माया से डरना,
करो सरलता प्राप्त, न मायाचारी करना।।

धर्म का चौथा लक्षण है–उत्तम शौच। ''शुचिर्भावं इति शौच''। आत्मा की शुचिता का, स्वच्छता का, निर्मलता का होना ही शौच धर्म है। यह धर्म लोभ कषाय के अभाव में प्रगट होता है। बाह्य वस्तु में उपादेयबुद्धि होना, उसे आसक्तिपूर्वक ग्रहण किये रहना, ये सब लोभ के परिणाम हैं। 'लोभ पाप का बाप बखाना', ऐसी प्रसिद्धि है। क्योंकि लोभ सर्व प्रकार के पापों का जनक है। इसमें तृष्णा भाव है। इस तृष्णा में यह मनुष्य पायी हुई सम्पदा को भी आराम से नहीं भोग सकता। लोभ कभी खत्म नहीं होता। इस पर Once more, once more की उक्ति चरितार्थ होती है। राजवार्तिक में अकलंक स्वामी ने लिखा है– लाभात्‌, लोभा जायेत, अर्थात्‌ लाभ से लोभ का जन्म होता है। एक बार लाभ हो गया, फिर बार–बार लाभ मिलता

रहे, ये लोभ मन में समा जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ पवित्रता में बाधक हैं। इन पर विजय प्राप्त करके ही आत्मा को पवित्र बनाया जा सकता है।

शौच धर्म पाया नहीं, किया लोभ से नेह।
अशुचि रही यह सदा ही, सारी नर की देह।।
लोभ पाप का बाप, है लोभ नरक की खान।
ज्ञान का होता नाश है, छा जाता अज्ञान।।
विशद सिन्धु कहते हैं, भैया लोभ न करना।
छूट जायेगा तू इस जग से, नहीं पड़ेगा मरना।।

धर्म का पाँचवां लक्षण है—उत्तम सत्य। कषायों के शान्त हो जाने पर अपने सत्यस्वरूप की अनुभूति हो जाती है। जिसको शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सके, वह सत्य है। सत्य अनुभूति है, जिसको केवल महसूस किया सकता है, लेकिन कहा नहीं जा सकता। जिसे सत्य की अनुभूति हो जाती है, वह राजमहल में रहता हुआ भी, भरतजी की तरह घर में रहते हुये भी वैरागी रह सकता है। कहा भी है—''भरत जी घर में ही वैरागी।'' जिसने सत्य की अनुभूति कर ली है, उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है। कबूतर भी संसार में है और तोता भी संसार में है। सत्यानुभूति करने वाला जीव संसार में तोते की तरह रहता है। जिसकी आसक्ति टूट गयी, वह तोते की तरह रह सकता है, जिसकी आसक्ति नहीं टूटी, वह कबूतर की तरह रहेगा। तोते को कितना भी खिलाओ—पिलाओ पर जैसे ही खिड़की खुली मिली कि फुर्र से उड़ जाता है। इसी तरह जिसे सत्यानुभूति हो जाती है, वह संसार में ऐसे ही रहता है। वह सदैव सोचता रहता है कि मुझे कब संसार से छुट्टी मिले और मैं मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर

होऊँ। जिसे सत्यानुभूति नहीं हुई, वह कबूतर की तरह अपने गंदे घर को छोड़कर नहीं जाता, वहाँ पड़ा रहता है। आचार्यों का कहना है—सदा हित—मित—प्रिय बचन बोलो और अपने सत्य स्वरूप को जानने का प्रयास करो।

नहीं झूठ सम पाप कोई, नहीं सांच सम ज्ञान।
सत्य से होता प्राप्त है, वीतराग विज्ञान।।
वीतराग विज्ञान, चराचर दिव्य दिखाता।
कर्म नाशकर जीव, स्वयं मुक्ती को पाता।।
विशद सिन्धु अपने जीवन में सत्य न छोड़ो।
झूठ बचन से नाता तुम हर दम का मोड़ो।।

धर्म का छठवाँ लक्षण है—उत्तम संयम। संयम सद्गति प्राप्त करने का प्रमुख साधन है। जिस प्रकार रास्ते पर चलने के लिये रास्ते के नियमों का पालन करना अनिवार्य है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग पर चलने के लिए नियम—संयम का पालन करना अनिवार्य है। इन्द्रियों एवं मन को काबू में रखने एवं कषायों पर विजय प्राप्त करने में संयम ही समर्थ है।

संयमेन नरा धीरो, गंभीरः शल्य निर्गतः।
संयमः स्वस्थितिसतस्मातस्यां स्वस्मै सुखी स्वयम।।
।।सहजानंदगीता।।

संयम में मनुष्य धीर होता है, गंभीर होता है, निःशल्य होता है और सुखी होता है। आत्मा में भली प्रकार से स्थित हो जाने को संयम कहते हैं। इस संयम के लायक हम बने रहें, ऐसी प्रवृत्ति करने का नाम भी संयम है। शुद्ध खाना, विषयों का त्याग करना, परिग्रह का त्याग करना, षटकाय के जीवों की रक्षा करना, यह सब संयम

है। इन सभी प्रवृत्तियों में रहने वाले लोग अपने अंतरंग संयम का पालन कर सकने की योग्यता रख सकते हैं। जो विषयासक्त हैं, कषायों में लीन हैं, व्यसनी हैं, अन्टसन्ट इधर–उधर बोला करते हैं, ऐसे जन क्या आत्मा में स्थिर होने का प्रयत्न कर सकते हैं? नहीं कर सकते। अतः हम संयम से रहें और अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन करें, जिससे विभाव भावों से हटकर हम अपने शुद्धचारित्र का पालन कर सकने के पात्र रह सकें।

संयम धर्म अनन्त है, नहीं है इसका अंत।
संयम धारण कर बने, वीतराग मय संत।।
वीतराग मय संत, अंत कर्मों का करते।
निर्भय होते आप, नहीं मरने से डरते।।
विशद सिन्धु कहते हैं, भाई त्याग असंयम।
मन–वच–तन से जीवन में, तुम धारो संयम।।

धर्म का सातवाँ लक्षण है–उत्तम तप। संयम की साधना तप से पूर्ण होती है। मानवजीवन एक शुद्ध स्वच्छ दर्पण के समान होता है। समय–समय पर इस पर कर्मों की धूल की परतें जमती रहती हैं। ये पर्तें तप की बुहारी द्वारा ही हटती हैं। तपरूपी बुहारी, आत्मा को स्वच्छ बनाने में परम् सहायक सिद्ध होती है। जैसे कोयले को अग्नि में जलाने से उसका कालापन खत्म हो जाता है और सफेद राख हो जाती है, इसी प्रकार आत्मा में जो कर्मों की कालिख है, वह तपरूपी अग्नि में जलने से दूर हो जाती है और आत्मा पवित्र हो जाती है।

निर्दोष तप से सबकुछ प्राप्त हो जाता है। जैसे प्रज्जवलित अग्नि तृण को जलाती है, वैसे तपरूपी अग्नि कर्मरूपी तृणों को जलाती है। तप से सभी अर्थों की सिद्धि होती है। तप का महत्त्व

बताते हुये पं0 द्यानतराय जी ने लिखा है –

तप चाहैं सुरराय, करमशिखर को बज्र है।
द्वादश विधि सुखदाय, क्यों न करें निज सकति सम।।

जिस तप को देवराज इन्द्र भी चाहते हैं, जो तप कर्मरूपी पर्वतों को भेदने वाला है, वह बारह प्रकार का तप वास्तविक सुख प्रदान करने वाला है। उस तप को अपनी शक्ति अनुसार अवश्य ही करना चाहिये, क्योंकि यही संसार को छेदनेवाला है।

जं सक्कई तं कीरई, जं च ण सक्कई तहेव सद्दहणं।
सद्दहणमाणो जीवो, पावई अजरामर ठाणं।।

अपनी शक्ति को न छिपाकर, सभी को तपस्या अवश्य करनी चाहिये। यदि शक्ति न हो तो पूर्ण रूप से श्रद्धान करना चाहिये। जो मनुष्य तप का श्रद्धान भी करते हैं, वे जीव अजर–अमर पद को प्राप्त कर लेते हैं।

तप से संवर कर्म का, और निर्जरा होय।
तप से आतम शुद्ध हो, कर्म कालिमा धोय।।
कर्म कालिमा धोय, होय ये आतम पावन।
जन्म मरण का मिटे, लोक से भी भटकावन।।
विशद सिन्धु कहते हैं, सदा सुतप ही करना।
हो कितना ही कष्ट, कभी न उससे डरना।।

धर्म का आठवां लक्षण है–उत्तम त्याग। त्याग का अर्थ है, मूर्च्छा का विसर्जन। पर–पदार्थों से ममत्व–भाव को छोड़ना। पर–वस्तुओं के रहते ममत्व–भाव छूटता नहीं, अतः इस बाह्य परिग्रह का भी त्याग किया जाता है। परिग्रह के समान भार अन्य नहीं है। जितने भी दुःख, दुर्ध्यान, क्लेश, बैर, शौक, भय, अपमान हैं, वे सभी परिग्रह

के इच्छुक को होते हैं। जैसे–जैसे परिग्रह से परिणाम भिन्न होने लगते हैं, परिग्रह में आसक्ति कम होने लगती है, वैसे–वैसे ही दुःख भी कम होने लगता है। वैसे तो सभी वस्तुयें पहले से ही अपने आप छूटी हैं, केवल पदार्थों के संबंध में 'यह मेरा है' इस तरह का भाव लेने का नाम है ग्रहण, और 'मेरा नहीं है', इस प्रकार का भाव कर लेने का नाम है त्याग। मोक्षमार्ग में त्याग का बहुत महत्त्व है। इससे सर्व संकट दूर हो जाते हैं। धर्म की इमारत त्याग की नींव पर ही खड़ी होती है। आत्मा को पवित्र करने के लिये त्याग अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि आत्मा अरूपी है, अविनश्वर है, किन्तु जड़–पदार्थों की संगति से आत्मा भी वैसी ही लगने लगती है। इसलिये आत्मस्वभाव को पाने के लिये अन्तरंग एवं बहिरंग समस्त परिग्रह का त्याग करना अनिवार्य है।

त्याग त्याग कर त्याग दूँ, सारा यह संसार।
त्याग के द्वारा ही घटे, पड़ा कर्म का भार।।
घटा कर्म का भार, आत्मा निःसंग हो गयी।
द्रव्य भाव अरु, नो कर्मों से मुक्त हो गयी।।
विशद सिन्धु कहते हैं, त्याग नहीं कर पाए।
वह चतुर्गति में, काल अनादि से भरमाये।।

धर्म का नवमां लक्षण है–उत्तम आकिंचन्य। आचार्य कुन्द कुन्द देव ने आकिंचन्य के बारे में कहा है –

ऐगो मे सासदो आदा, णाण दंसण लक्खणो।
सेसा मे बहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा।।

अविनाशी ज्ञान–दर्शन लक्षणों से युक्त एक आत्मा ही मेरी है। कर्मों के संयोग से होने वाले अन्य सभी भाव मुझसे बाह्य हैं, मेरे

नही हैं। यानी आत्मा के अलावा कुछ भी अपना नहीं है, इसी भाव एवं साधना का नाम आकिंचन्य धर्म है। त्याग करते–करते जब यह अहसास होने लगे कि यहाँ मेरा कुछ भी नहीं है, तब आकिंचन्य धर्म प्रगट होता है। जहाँ कुछ भी मेरा नहीं है, वहाँ है आकिंचन्य। खालीपन, बिल्कुल अकेलापन, यह है आकिंचन्य। विश्व के किसी भी परपदार्थ से किंचित भी लगाव न रहना, आकिंचन्य धर्म है। किंचनः इति आकिंचन्यः। मेरा मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इस भाव का नाम है आकिंचन्य। देखो, हित और अहित की ये दो ही बातें हैं। अहित की बात यह है कि मैं जिस पर्यायरूप हूँ, जिस परिणमन में चल रहा हूँ, मैं यह ही हूँ, इससे परे और कुछ नहीं हूँ, यह श्रद्धा होती है तो, संसार में रुलना पड़ता है और आकिंचन्य–स्वभावी शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ, ऐसा जिसके भाव रहता है, वह पुरुष अपनी आत्मा को प्राप्त करता है।

आकिंचन्य धर्म का विरोधी है–परिग्रह। आकिंचन्य धर्म कहता है, परिग्रह का त्याग कर आत्मा को पवित्र बनाओ। क्या परिग्रह के संचय से किसी को शान्ति मिली है? क्या जहर खाकर कोई अमर हुआ है? नहीं, तो परिग्रह का संग्रह कर सुखी रहने की कल्पना करना, अग्नि से ठण्डक प्राप्ति की आकांक्षा के समान व्यर्थ है। इस संसार में 9 ग्रह हैं। ये ग्रह बलवान नहीं हैं, इनसे बचने की चेष्टा भले न करो पर सबसे बड़ा ग्रह है परिग्रह, इससे बचो और समस्त अन्तरंग व बहिरंग परिग्रह का त्याग कर आकिंचन्य धर्म को धारण करो।

वीतराग जिन से मिले, जिनवाणी का सार,
प्रभु चरणों की किस्ती से, पार करो संसार।
पार करो संसार, स्वयं आकिंचन्य पाउँ,

धीरे–धीरे मोक्ष महल को, बढ़ता जाऊँ।
विशद सिन्धु कहते हैं भैया, मोक्ष को पाना,
धन दौलत को देख, नहीं इस जग में लुभाना।।

धर्म का दशवां लक्षण है–उत्तम ब्रह्मचर्य। शुद्ध आत्मा अथवा निज देह–देवालय में स्थित परम प्रभु परमात्मा को प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम परिग्रह आदि पापों का त्याग करो, फिर व्रती बनकर आत्मज्ञान व आत्मध्यान का अभ्यास करो। आत्मज्ञान व आत्मध्यान के दृढ़ अभ्यासी बनने पर एवं समस्त परिग्रह का त्याग हो जाने से यह आत्मा अपने स्वभाव में आ जाती है, इसी का नाम है ब्रह्मचर्य। ब्रह्म कहते हैं–सच्चिदानंद भगवान–आत्मा को। 'ब्रह्मणि आत्मनि चरतीति ब्रह्मचर्यम्।' ब्रह्म अर्थात् आत्मा में चर्या करना, रमण करना, उसमें लीन हो जाना ब्रह्मचर्य कहलाता है। आत्मा में रमण करने का नाम ब्रह्मचर्य है और इसके विपरीत राग–द्वेषादि की कारण जो पाँच–इन्द्रिय–संबंधी विषय–वासना तथा भोग–सामग्री है, उसमें रमण करना व्यभिचार कहलाता है। ब्रह्मचर्य ही संसार से तरने के लिये नौका सदृश, सुख–शान्ति का सागर है।

जब इन्द्रिय–विषयों में आनन्द आना बन्द हो जाता है, तब ब्रह्मचर्य का आनन्द आना प्रारम्भ होता है। जो ब्रह्मस्वरूप आत्मा में रमण करने का आनन्द है, वह इन्द्रिय–विषयों में किंचित् मात्र भी नहीं है।

यों चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यो।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाही कह्यो।।

जो आत्मस्वरूप में लीन श्रमण हैं, उनकी जो अनुभूति है, वो अनुभूति भोगियों के अन्दर किंचित् मात्र भी नहीं हो सकती। अतः

सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य सदा निज आत्म द्रव्य पर होता है। एक बार श्रीराम उदास बैठ हुये थे। पिता दशरथ पूछते हैं–बेटे! तू उदास क्यों है? राम कहत हैं–हे तात्! मैं उदास नहीं हूँ, मैं तो निज में वास करना चाहता हूँ। जब भीतर की बात प्रारम्भ होती है, तो बाहर की सम्पूर्ण आवाजें आना बन्द हो जाती हैं। सिनेमाहॉल में भी खिड़कियाँ बंद करनी पड़ती हैं, तब बढ़िया चित्र दिखता है। यदि निज भगवान आत्मा में रमण करना चाहते हो तो ये पाँच इन्द्रियों की खिड़कियाँ बंद करनी पड़ेंगी। जिसकी बाहर की खिड़कियाँ बंद नहीं हैं, उसे भीतर का प्रभु दिखने वाला नहीं है। विचार करो जो उपयोग पापों में लगे, दुर्भाव में रहे क्या ऐसा मलिन उपयोग अपने ब्रह्म स्वरूप का अनुभव कर सकता है? कभी नहीं। अतः हमें अपने समय को पापों, विषय–भोगों एवं प्रमाद में व्यर्थ बरबाद नहीं करना चाहिए। बल्कि अपने उपयोग को धर्म ध्यान में लगाना चाहिए।

ब्रह्मचर्य व्रत से तुरत, होवे निज का भान।
विशद ज्ञान को प्राप्त कर, आप होय कल्याण।।
होय आप कल्याण, बनेंगे श्री के स्वामी।
लोकालोक प्रकाशी, होंगे अंतरयामी।।
विशद सिन्धु कहते हैं, ब्रह्म से शिव को पाना।
छोड़ जगत जंजाल, नहीं जग में भटकाना।।

अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर हमारा कर्त्तव्य है कि अपने उपयोग को धर्मध्यान में लगायें। एक बार पिता ने अपने दो पुत्रों को सम्पत्ति सौंपने के लिये उनकी परीक्षा की। दोनों को एक–एक मुट्ठी चने दिये और कहा ये चने मैं चार माह बाद वापस लूंगा। बड़े बेटे ने वे चने एक सोने की डिब्बी में रख दिये और सुबह–शाम अगरबत्ती लगाता रहा। छोटे बेटे ने सोचा कि एक मुट्ठी

चने कहाँ रखूँ? उसने वे चने खेत में बो दिये और चिन्तामुक्त हो गया। उस वर्ष बरसात इतनी अच्छी हुई कि एक मुट्ठी चने से पैदा हुई फसल से कई बोरे भर गये। जब अवधि पूर्ण हुई, तो पिता ने कहा, बेटे! वे चने लेकर आओ, जो मैंने तुम्हें दिये थे। तो बड़ा बेटा कहता है, हे तात्! आपके दिये हुये चनों को मैंने रोज अगरबत्ती लगाई है, मैंने उन्हें सोने की डिब्बी में रखा है। बड़ा बेटा जब डिब्बी खोलकर दिखाता है, तो उसमें छिलके मात्र नजर आते हैं, क्योंकि चने तो घुन चुके थे।

पिता ने अपने छोटे बेटे को बुलाया और कहा, बेटे! चने कहाँ हैं? छोटे बेटे ने कहा, पिताश्री! मैंने तो उन चनों को खेत में बो दिया था, जिससे अनेकों बोरे चने हुये। मुझमें इतनी ताकत नहीं है कि मैं उन सब बोरों को यहाँ लेकर आ सकूँ। यदि आपको देखना है तो मेरे गोदाम तक चलना पड़ेगा। पिताजी प्रसन्न हो गये और मन–ही–मन निर्णय कर लिया, कि सारी सम्पत्ति का वारिस किसे बनाना चाहिये? मोक्षमार्ग विषय–कषायों में व्यर्थ समय बरबाद करने वाला या अगरबत्ती लगाने वाला धर्म नहीं है। अतः यदि अपनी मनुष्य पर्याय को सार्थक करना चाहते हो तो धर्म के इन उत्तम क्षमादि दशलक्षणों को अच्छे प्रकार से समझकर अपने जीवन में धारण करो। मूलतः धर्म तो एक ही है, केवल समझाने के लिये उसे दश अंगों में विभाजित किया गया है। यहाँ धर्म के प्रत्येक अंग का वर्णन किया जा रहा है।

उत्तम क्षमा

धर्म का पहला लक्षण उत्तम क्षमा है। आत्मा की स्वाभाविक परिणति का नाम क्षमा है। अपनी आत्मा के स्वभाव में स्थिर हो जाने का नाम क्षमा है। व्यवहार में क्रोध के अभाव को क्षमा कहते हैं। प्रतिकूल समागम मिलने पर विकृत परिणति का नहीं होना, खेद खिन्नता नहीं होना, क्षमा कहलाती है। अनुकूल–प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों में कषाय से जीव उद्वेलित हो जाता है। अनुकूल परिस्थिति में भी कषाय जगती है और प्रतिकूल परिस्थिति में भी कषाय जगती है। अनुकूल परिस्थिति में मान और लोभ कषाय हमें विकृत बना देती है। तथा प्रतिकूल परिस्थिति में क्रोध और माया हमें अशान्त बना देती है। इन अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थितियों में जो शान्त रहता है, वह क्षमा धर्म को प्राप्त हो जाता है। उत्तम क्षमा का मानव जीवन में वही स्थान है जो एक जीव के लिए आत्मा का। जिस प्रकार बिना आत्मा के इस मानव देह का कोई मूल्य नहीं, उसी प्रकार क्षमा के बिना आत्मा का भी कोई मूल्य नहीं। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्।' क्षमा धर्म वीरों का आभूषण है। जिसने क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली, वही वास्तव में वीर है। महाभारत की अनेक कथाओं में एक कथानक आता है कि एक बार श्रीकृष्ण, बलराम एवं सात्यकी कहीं वन में भटक गये। रात हो गई, रास्ता दिखाई नहीं दे रहा था।

इसलिये रात्रि विश्राम वहीं वन में ही एक वृक्ष के नीचे करने का विचार किया। अपने अश्वों की एवं स्वयं की सुरक्षा की दृष्टि से रात्रि का एक–एक प्रहर बारी–बारी से पहरा दने का निर्णय लिया। सबसे पहले बलराम एवं श्रीकृष्ण सो गये और सात्यकी जागकर पहरा देने लगे। अचानक वहाँ एक भयानक पिशाच प्रकट हुआ और सात्यकी से बोला कि मुझे इन दोनों को खा लेने दो तो मैं तुम्हें छोड़ दूँगा। यह प्रस्ताव भला सात्यकी को कैसे मंजूर हाता। सात्यकी और पिशाच मं भयंकर द्वंद्व युद्ध छिड़ गया। जैसे–जैसे सात्यकी का क्रोध बढ़ा, पिशाच की शक्ति भी अधिक होती गई। सात्यकी को द्वंद्व युद्ध में जगह–जगह चोट आ गई। घुटन, जंघा, कुहनी छिल गईं। जैसे–तैसे लड़ते–लड़ते एक प्रहर व्यतीत हो गया तो पिशाच भी अचानक लुप्त हो गया। सात्यकी ने बलराम को जगा दिया एवं स्वयं सो गये। यही घटना बलराम के साथ घटी। पिशाच अचानक प्रकट हुआ और उसका युद्ध बलराम से होने लगा। जैसे–जैस बलराम का क्रोध बढ़ा, पिशाच की शक्ति भी बढ़ती गई। बलराम के भी हाथ–पैर जगह–जगह छिल गये। जैस ही दूसरा प्रहर बीता, पिशाच फिर गायब हो गया। बलराम न भी दूसरा प्रहर व्यतीत हुआ दख श्री कृष्ण को जगा दिया एवं स्वयं सो गये। थोड़ी देर में पिशाच फिर से प्रकट हुआ। श्रीकृष्ण से भी उसका द्वंद्व हाने लगा, किन्तु इस बार कुछ उल्टा हुआ। ज्यों–ज्यों पिशाच गुस्से में आता, श्रीकृष्ण शांत और अधिक शांत होते गये। जैस–जैसे श्रीकृष्ण शान्त होते गये, पिशाच का बल घटता गया, पिशाच छोटा होता चला गया और अन्त में इतना छोटा हो गया कि श्रीकृष्ण ने उसे अपने वस्त्र के एक छोर में बांध लिया। तीसरा प्रहर व्यतीत होते–हाते सुबह हो गई तो बलराम और सात्यकी भी जाग गये। दोनों ने अपने–अपने घाव

दिखाकर रात्रि में हुये द्वंद्व युद्ध की चर्चा की। तब श्रीकृष्ण ने अपने वस्त्र में बांधे हुये इस पिशाच को खोलकर दिखाया और कहा कि यह वही पिशाच है। आप दोनों ने पहचाना नहीं। वास्तव में यह क्रोध पिशाच है। इसका स्वभाव ही यह है कि क्रोध करने पर यह बढ़ता है और शान्त रहने से यह शक्तिहीन होता चला जाता है।

उपरोक्त कहानी कितनी सत्य है यह तो हमें नहीं मालूम किन्तु इसका अभिप्राय अवश्य ही विचार करने योग्य है। क्रोध का मुकबला क्रोध से नहीं हो सकता, यह तो अग्नि में घी का कार्य करेगा। क्रोध का मुकाबला शान्ति से ही किया जा सकता है। यदि हम स्वयं शांत रहेंगे तो सामने वाला अधिक देर क्रोधित नहीं रह सकता। वह भी जल्दी ही शान्त हो जायेगा।

क्षमा आत्मा का स्वभाव है। यह धर्म में प्रवेश करने का प्रथम द्वार है। धर्म में प्रवेश करने की प्रथम शर्त है, क्रोध का त्याग। यदि हम क्रोध के साथ धर्म में प्रवेश करेंगे तो देव–शास्त्र–गुरु की विनय नहीं कर पायेंगे। क्रोध क्षमाधर्म का विरोधी है। क्रोध रूपी विभाव आपके हृदय में बैठा हुआ है, उसे हटाओ और उसकी जगह क्षमा को प्रतिष्ठित करो। क्षमा कहीं गई नहीं, क्षमा कहीं से आयेगी भी नहीं। वह तो आपकी आत्मा में ही विद्यमान है। अतः क्रोध को छोड़कर, क्षमाधर्म को अपनायें। क्रोध ही समस्त अनर्थों की जड़ है।

जितना अनर्थ शेर, सर्प, अग्नि, शत्रु, जहर हमारा नहीं करते, उससे कई गुणा ज्यादा अनर्थ क्रोध करता है। यह क्रोध विकार उत्पन्न करने में मदिरा का मित्र है, भय उत्पन्न करने में सर्प का प्रतिबिम्ब है, दूसरों को जलाने में अग्नि का भाई है और चैतन्य को नष्ट करने में विषवृक्ष के समान है, अपनी कुशलता की इच्छा करने

वाले कुशल मनुष्यों के द्वारा यह क्रोध जड़ मूल से उखाड़ फेकने योग्य है। आचार्यों ने कहा है किः–

नास्ति क्रोधः समं पापं, नास्ति क्रोधः समं रिपुः।
क्रोधोन्मूलं अनर्थनाम्, तस्मात क्रोधो विवर्जयत।।

संसार में क्रोध के समान कोई पाप नहीं है। क्रोध के समान कोई शत्रु नहीं है। तथा संसार में जितने अनर्थ होते हैं, वह सब क्रोध के ही कारण होते हैं। हमें ऐसे क्रोध को छोड़ दना चाहिये।

यदि शान्ति चाहिये तो क्रोध के अवसर पर गम खाने में ही फायदा है–

कम खाना, गम खाना। न हाकिम पर जाना, न हकीम पर जाना।

कम खाओगे तो बीमार नहीं पड़ोगे और गम खाओगे तो लड़ाई–झगड़े नहीं होंगे, वकील के चक्कर नहीं काटना पड़ेंगे।

क्रोध आत्मा की एक ऐसी विकृति है, कमजोरी है, जिसके कारण व्यक्ति का विवेक समाप्त हो जाता है। वह भूल जाता है कि वह क्या कर रहा है, क्या करने जा रहा है और इसका परिणाम क्या निकलेगा?

यद्यपि आँखें हैं, लेकिन वह देख नहीं सकता। कान हैं, लेकिन अब वह सुन नहीं सकता। व्यक्ति को जब क्रोध आता है तो उसके सारे गुण समाप्त हो जाते हैं।

क्रोध कितना अन्धा होता है। भरत चक्रवर्ती जब तीनों युद्धों में हार गये तो चक्र उठा लेते हैं हाथ में और उस चक्र को बाहुबली पर छोड़ देते हैं। क्या भरत को पता नहीं था कि बाहुबली चरमशरीरी हैं, मेरा और इनका एक खून है, एक खून पर चक्र नहीं चलता? परन्तु जिस समय क्रोध आता है तो विवेक शान्त हो जाता है।

भरत जी ने नहीं सोचा और चक्र छोड़ दिया। उस समय बाहुबली को भी क्रोध आ सकता था, पर उन्होंने सोचा तीन ज्ञान का धारी, छह खण्ड का स्वामी तद्भव मोक्षगामी गलती करे तो करे, पर मैं क्यों गलती करूँ? उन्होंने क्रोध के ऊपर क्षमारूपी ढाल को अड़ा दिया और पंचमुष्ठि केशलोंच कर मुनिदीक्षा धारण कर ली तथा आदिनाथ भगवान से पहले मोक्ष गये। यह सब क्षमा की महिमा है।

क्रोध आदमी की समस्या है। ये समस्या एक आदमी की नहीं, बल्कि हर आदमी की है। क्रोध हिन्दू को भी आता है, मुसलमान को भी आता है, ईसाई को भी आता है। शायद ही ऐसा कोई आदमी हो जो क्रोध की समस्या से ग्रसित न हो। क्रोध जाति–पांति को नहीं देखता, छोटे–बड़े को नहीं देखता, अमीर–गरीब को नहीं देखता, ज्ञानी–मूर्ख को नहीं देखता। क्रोध सबको आता है। क्रोध पक्षपात नहीं करता।

कभी–कभी तो आदमी इसलिये क्रोध करता है कि उसे क्रोध क्यों आता है? आदमी क्रोध को भी क्रोध से मिटाना चाहता है। पर ध्यान रखना, क्रोध से क्रोध मिटता नहीं है। जैसे अग्नि से अग्नि नहीं बुझती, वैसे ही क्रोध एक अग्नि है और यही वजह है कि जब आदमी क्रोध करता है, तो उसे लोग अक्सर कहते हैं –आदमी क्रोध में आगबबूला हो रहा है, क्रोध में अंगार बन रहा है। अगर क्रोध की ज्वाला को शान्त नहीं किया तो जिन्दगी अशान्तिमय होगी, घर में कलह का वातावरण होगा। शास्त्रों में कहा भी है–

क्रोधात् प्रीति विनाशो, मानाद् विनयोपघात माति।
मायात् विश्वासहानिं, सर्व गुण विनाशको लोभः।।

क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनय का विघात होता

है, माया से विश्वास की हानि होती है और लोभ सब गुणों का नाश करने वाला है। यद्यपि चारों कषायें हमारे लिए अहितकारी हैं, पर क्रोध एक धधकता अंगारा है। उसकी प्रचण्ड ज्वाला में सारे गुण स्वाहा हो जाते हैं। इसलिए सर्वप्रथम इसे छुड़ाया है। जिस प्रकार रक्तरंजित वस्त्र को रक्त से साफ नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार क्रोध का प्रतिकार बैर, घृणा, प्रतिशोध से नहीं किया जा सकता। क्रोध रूपी धधकते अंगारे को बुझाने के लिए क्षमा के नीर की आवश्यकता है, क्योंकि हजारों वर्षों की तपस्या को एक क्रोध क्षणांश में समाप्त करने में कारण है और हजारों वर्षों के बैर को क्षणांश में समाप्त करने में क्षमा कारण है।

क्रोध की अग्नि को बुझाने के लिये, क्रोध का पेट्राल मत डालो। क्योंकि पेट्रोल से आग बुझती नहीं है। आग का उपचार पानी है और क्रोध का उपचार क्षमा है।

सामने वाला हमारे साथ कितना भी अनुचित व्यवहार करे, यदि हमारे अन्दर क्षमा गुण है, तो वहाँ हमारा कुछ भी बिगड़नेवाला नहीं है। क्षमा हमारा स्वभाव है। उसे अनेक प्रतिकूलतायें मिलने पर भी नहीं छोड़ना चाहिये। जिसके उत्तम क्षमा होती है, वह नरक/तिर्यंच गति में नहीं जाता। उत्तम क्षमा ही मन की उज्ज्वलता है। ऐसे क्षमाधर्म को छोड़कर क्रोध करना पागलपन है।

क्रोध में व्यक्ति का विवेक काम नहीं करता। उसे भले–बुरे की पहचान नहीं रहती। जिस पर क्रोध आता है, क्रोधी उसे भला–बुरा कहने लगता है, गाली देने लगता है, मारने लगता है। क्रोध के समान आत्मा का कोई दूसरा शत्रु नहीं है। क्रोध के आवेश में व्यक्ति की विचारशक्ति समाप्त हो जाती है। क्रोध से सदा अहित ही होता

है। क्रोध हर हाल में बुरा है, चाहे वह संसारी हो या सन्यासी।

एक सन्त धूनी रमाये बैठे थे। संत जी का नाम श्री 1008 शान्तिप्रसाद जी था। एक युवक परीक्षा हेतु उनके पास गया। उन्हें प्रणाम किया। युवक ने कहा–बाबाजी ! धूनी में आग है? बाबा बोले–नहीं, इसमें कोई आग नहीं है। युवक ने सविनय कहा–बाबा! जरा कुरेद कर देखिये, शायद कुछ आग हो? बाबा ने गुस्से में कहा–कमाल के आदमी हो। अभी मैंने कहा न कि इसमें न कोई आग है और न कोई चिनगारी। युवक ने कहा–बाबा! आप मानें या न मानें, पर मुझे चिनगारी दिखाई दे रही है। बाबा ने अपना चिमटा उठाया और फटकारते हुये कहा–मूर्ख ! तो क्या मैं अंधा हूँ? क्या मुझे दिखाई नहीं देता? युवक ने कहा–बाबा! अब तो कुछ–कुछ लपटें उठती दिखाई दे रही हैं। अब तो बाबा की क्रोधाग्नि और भड़क उठी और उन्होंने एक डंडा उठाकर युवक को दे मारा। युवक भागा और भागते–भागते बोला–बाबा! अब तो अग्नि पूरी तरह भड़क उठी है। आपका नाम अगर श्री 1008 शान्तिप्रसाद की जगह श्री 1008 ज्वालाप्रसाद होता तो ज्यादा सार्थक होता।

क्रोध ज्वाला है, क्रोधी ज्वालाप्रसाद है। गुस्सा करना हर जगह बुरा है। एक चीनी कहावत है–जो व्यक्ति मुस्कराना नहीं जानता, उसे व्यापार नहीं करना चाहिए। क्रोधी व्यक्ति सफल व्यापारी नहीं बन सकता।

वैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि क्रोध से मनुष्य का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और उसके परिणाम स्वरूप उसके शरीर में रूक्षता आ जाती है। क्रोध करते समय मुख सूखता है तथा कंठ में रहने वाली जो ग्रन्थियां लार पैदा करती हैं,

प्राणप्रद रस बनाती हैं, वे अपना काम करना बन्द कर देती हैं, फल यह होता है कि लार के द्वारा भोजन में मिल जाने वाले पाचक रसों का अभाव हो जाता है और चर्म रोग, कब्जियत आदि बीमारियाँ पनपने लगती हैं। क्रोधी व्यक्ति स्वतः अनेक रोगों को आमंत्रण देता है। जो व्यक्ति क्रोध नहीं करता, उसके सभी प्राणी सहज ही मित्र बन जाते हैं।

न्यूयार्क में वैज्ञानिकों ने एक परीक्षण किया कि क्रोधी व्यक्ति के रक्त में कितना जहर फैल जाता है। उन्होंने एक क्रोधी व्यक्ति के रक्त को निकाला और उसके रक्त को एक खरगोश को लगा दिया। शान्त मजे से बैठा खरगोश गाजर खा रहा था। जैसे ही उस क्रोधी व्यक्ति के रक्त को खरगोश में लगाया, वैसे ही वह खरगोश उचकने लगा, भागने लगा, दांत किटकिटाने लगा, झपटने लगा और अपने शरीर के बालों को नोचने लगा। उसने घण्टे भर में भयंकर रूप धारण कर लिया और थोड़ी देर के बाद मरण को प्राप्त हो गया। देखो, क्रोधी का जरा सा रक्त जब खरगोश को इतना विकृत कर सकता है, तो स्वयं को कितना विकृत करता होगा। यदि एक बार क्रोधी व्यक्ति की वीडियो कैसेट बना ली जाये और कुछ घण्टों के उपरांत उसी को दिखा दी जाये तो देख लेना पुरुषों का रूप तो साक्षात् भस्मासुर, बकासुर का होगा और स्त्रियों का रूप रणचण्डी, ताड़का का होगा। एक क्षण में विकराल ''भूतनी'' का रूप धारण कर लेगी। उसी वक्त उसका विवेक, धैर्य, सौन्दर्य, समता, मुस्कान कपूर की भांति उड़ जाती है।

क्रोध से बचने के लिये हमेशा प्रसन्न रहिये, मुस्कराते रहिये; क्योंकि क्रोध और मुस्कराहट एक साथ नहीं रह सकते। क्रोध का जब जोर आता है तो आदमी कमजोर हो जाता है। जब आदमी का

विरोध होता है तो उसे क्रोध आ जाता है। जब हमारी अपेक्षा की उपेक्षा होती है, तो हमें क्रोध आ जाता है। यदि हम अपनी आकांक्षाओं को कम करें, अपेक्षाओं को खत्म करें तो क्रोध करने से बच सकते हैं। कमजोर आदमी का लक्षण ही क्रोध है। आदमी जितना कमजोर होगा, उतना ही अधिक क्रोध आयेगा। जब हमसे कोई शक्तिशाली मिलता है और जब वह हमारा प्रतिकार करता है और यदि हम उसका प्रतिकार करने में समर्थ न हुये, तो निश्चित ही हमारा मन क्रोध की अग्नि में झुलस जाता है। क्रोध से बचने के लिये हमें चाहिए कि हम कमजोर न बनें। हमारे अन्दर धैर्य, साहस और संबल होना चाहिये।

क्रोध का आवेग आये तो संयम का ब्रेक हमारे पास होना चाहिये। गाड़ी जब ढलान पर हो तो ब्रेक पर पैर होना जरूरी है, नहीं तो कभी भी दुर्घटना घट सकती है। क्रोध की गाड़ी की विशेषता है कि वह हमेशा ढलान पर चलती है। घाट (ऊँचाई) पर क्रोध चढ़ ही नहीं सकता है। अर्थात् क्रोध हमेशा अपने से नीचेवालों पर उतरता है। पति–पत्नी में यदि आपस में बातचीत हो जाये तो उनका क्रोध बच्चों पर निकलता है। बच्चा अपना क्रोध मम्मी–पापा पर नहीं निकाल सकता है, बच्चे का क्रोध नौकरानी पर निकलता है। नौकरानी अपना क्रोध कपड़ों पर निकालेगी। कपड़ों को धोते समय जोर–जोर से पीटेगी और देखना, उस दिन कपड़े कुछ ज्यादा साफ धुलेंगे। क्रोध से बचने के लिए आवश्यक है कि हम कमजोर न बनें। इस क्रोध ने आपको बहुत दुःख दिया है, अतः अब तो संभल जाओ। यदि अब भी क्रोध पर काबू नहीं किया तो अन्त में बहुत पछताना पड़ेगा। क्षमा हमारा स्वभाव है। उसे किसी भी परिस्थिति में नहीं छोड़ना चाहिये।

एक बार एक साधु जी नदी के किनारे खड़े थे। उन्होंने देखा कि एक बिच्छू नदी में बहता चला आ रहा है। उन्होंने उसे अपने हाथ में उठा लिया। हाथ में उठाते ही बिच्छू ने उन्हें डंक मार दिया, जिससे साधु जी का हाथ हिल गया और बिच्छू पुनः पानी में गिर गया। साधु जी ने फिर से उसे उठा लिया, पर बिच्छू ने पुनः उन्हें डंक मार दिया। जब 6–7 बार बिच्छू ने डंक मारा और फिर भी साधु जी उसे पानी में से उठाते रहे तो एक व्यक्ति जो यह सब देख रहा था, उससे रहा नहीं गया। वह बोला– महाराज! जब यह बिच्छू बार–बार आपको डंक मार रहा है, तब आप उसे क्यों बचाना चाहते हैं? साधु जी बोले–'जब यह बिच्छू अपना स्वभाव नहीं छोड़ रहा, तो मैं अपना क्षमा स्वभाव कैसे छोड़ सकता हूँ? यह है एक जानवर और मैं हूँ एक इन्सान।' यह कहलाती है क्षमा।

वास्तव में उत्तम क्षमा के धारी तो दिगम्बर मुनिराज ही होते हैं। इसी कारण 500 मुनिराजों को घानी में पेल दिया गया, गजकुमार मुनिराज के सिर पर जलती हुई सिगड़ी रख दी गई, पाँचों पांडव मुनिराजों को गर्म लोहे के आभूषण पहना दिये गये, पर उन महामुनिराजों ने अपने क्षमास्वभाव, समतास्वभाव को नहीं छोड़ा और अपने शुद्ध स्वरूप में लीन होकर अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया। परन्तु द्वीपायन मुनिराज ने उन पर उपसर्ग होने पर क्षमा छोड़ दी, उन्हें क्रोध आ गया, जिसके परिणामस्वरूप द्वारिका नगरी भस्म हुई और उन मुनिराज को भी दुर्गति में जाना पड़ा। क्षमा आत्मा का स्वभाव है। जिनके अन्दर क्षमाधर्म होता है, उनके प्रभाव से क्रूर–से–क्रूर प्राणी भी अपना क्रोध छोड़ देते हैं।

क्षमा भाव में हम स्वयं रहें, तो हम अपने आपकी रक्षा कर रहे हैं। क्रोध करके कौन–सा वैभव लूट लेंगे? शान्ति से रहें, न्याय–नीति

से रहें, सभी पर क्षमाभाव रखें, इससे तत्काल भी शान्ति मिलती है और भविष्य भी बहुत अच्छा रहेगा। क्रोध के फल में तत्काल भी अशान्ति है और भविष्य भी बहुत बुरा निकलता है। जो विपरीत परिस्थितियों में भी क्षमाभाव रखते हैं, वे ही क्षमावान् कहलाते हैं। क्षमागुण की वास्तविक पहचान तो विपरीत परिस्थितियों में ही होती है।

एक बार गणेशप्रसाद जी वर्णी माता चिरोंजाबाई से बोले—माँ! अब तो मेरा क्रोध बहुत शान्त हो गया है, मेरे अन्दर क्षमागुण आ गया है। माता जी बोलीं—बेटा! यह तो समय बतायेगा। एक दिन वर्णी जी को खीर खाने की इच्छा हुई, इसलिये उन्होंने खीर बनाने के लिये सुबह दूध और बाजार से मेवा आदि सभी सामान लाकर रख दिया और बोले—माँ! आज खीर बनाना। तब चिरोंजाबाई ने विचार किया कि आज परीक्षा का समय आ गया है। अतः उन्होंने खीर के साथ—साथ खाली चावल भी पानी में उबाल कर रख लिये। वर्णी जी को पहले खाली उबले हुये चावल परोस दिये और कहा—बेटा! खीर ठंडी करके खाना। जैसे ही वर्णी जी ने चावल उठाकर मुख में रखे, वे क्रोध से लाल—पीले हो गये और थाली फेंक दी। तब माता जी बोलीं—बेटा! तुम तो कहते थे कि मैंने क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली है, तो फिर यह क्या है? अनुकूल परिस्थितियों में तो सभी क्षमावान् रहते हैं, परन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों में क्षमावान् बनो, तभी सही है। और इतना कहकर जो असली खीर थी, वह परोस दी।

क्रोध को जीतना वीरों का काम है। सामर्थ्य के होने पर भी मूर्खजनों द्वारा कथित दुर्वचन आदि को समता भाव से सहन कर लेना 'क्षमा' है। आशीर्विष, दृष्टिविष आदि ऋद्धियों के होने पर भी, महात्माओं के प्राणों का नाश करनेवाले दुर्जनों द्वारा घोर उपसर्ग

किये जाने पर भी समताभाव से सह लेना उत्तम क्षमा है। कहा भी है—जो नाराज हैं, वे महाराज नहीं और जो महाराज हैं, वे नाराज नहीं।

क्रोध को जीतना उत्तम क्षमा है। इस लोक में क्रोधादि कषायों के समान अपना घात करनेवाला दूसरा नहीं है। क्रोध धर्म—अधर्म का विचार नष्ट कर देता है। क्रोधी समस्त धर्म का लोप कर देता है।

क्रोध तात्कालिक पागलपन है, उत्तेजना में किया गया एक दुष्कृत्य है। परन्तु ध्यान रखना उतावलेपन में किया गया कार्य तात्कालिक आनन्द प्रदान करता है पर अपने पीछे अनन्त पश्चाताप को छोड़ जाता है। इसलिए क्रोध को जहर कहा है, बेहोशी कहा है, अग्नि की ज्वाला कहा है, मस्तिष्क की विक्षिप्तता कहा है, क्षय रोग कहा है, क्योंकि यह क्रोध जीव को मारता है, जलाता है, तड़पाता है, पागल बनाता है, शरीर को खोखला करता है, अकुलाहट पैदा करता है, मन, बचन, काय से नियंत्रण को हटाता है, प्रेम—भाव को तिरोहित करता है। यह क्रोध महा भयंकर है। यह क्रोध अपना तथा अन्य का भी घात करता है, धर्म को छोड़ता है, पाप का आचरण करता है, निन्दनीय वचन बुलवाता है। यानि क्रोध न करने योग्य समस्त क्रिया करवा देता है। वह अपने माता—पिता व पूज्य को भी मार डालता है।

एक बार एक युवा मुनिराज राजा के उद्यान में विराजमान थे। उसी बाग में एक दिन राजा किसी कारणवश सो जाते हैं। इनकी रानियाँ भी इसी उद्यान में इधर—उधर घूम रही थीं। साधु को देख भक्तिवश वे मुनिराज के पास आती हैं और उपदेश सुनने की इच्छा से वहीं पास में बैठ जाती हैं। मुनिराज उत्तम क्षमा पर उपदेश देते

हैं। इसी दौरान राजा की आँख खुल जाती है और अपनी सब रानियों को युवा साधु के पास बैठा देख शंकालु हो जाता है।

वह क्रोध से ग्रसित हो मुनिराज के पास आकर कहता है कि तुम इन मेरी रानियों से क्या व्यर्थ की बातें कह रहे हो? शान्त प्रकृति के मुनि महाराज कहते हैं कि– "मैं इन्हें इनकी इच्छानुसार क्षमाधर्म पर उपदेश दे रहा हूँ"। राजा के मन में सन्देह भरा हुआ था, इसलिये राजा ने क्रोध में आकर एक चाँटा मुनि महाराज के गाल पर जड़ दिया और कहता है कि– मैं देखना चाहता हूँ कि तुम्हारा क्षमाधर्म कहाँ है? मुनिराज शान्तिपूर्वक उत्तर देते हैं कि–"क्षमाधर्म मेरी आत्मा में स्थित है"। राजा को फिर क्रोध आता है और पास में पड़ा एक डंडा उठाकर उन मुनिराज को मार देता है। कहता है – बताओ, क्षमाधर्म कहाँ है? मुनिराज फिर कहते हैं कि "क्षमाधर्म तो मेरी आत्मा में स्थित है, भाई! तुम्हारे इस डंडे में नहीं है।'' इसी प्रकार क्रोध से राजा क्रोधित होता हुआ तीसरी बार उनके दोनों हाथ काट देता है, चौथी बार दोनों पैर काट देता है। किन्तु मुनिराज शान्त रहते हैं और यही कहते हैं कि क्षमा तो मेरी आत्मा में स्थित है। अब राजा को होश आता है, वह सोचने लगता है कि मैंने यह क्या कर डाला? मैंने अपने भ्रमवश मुनिराज को कष्ट दिया। ये तो साक्षात् क्षमा के धारक हैं, धीर, गम्भीर हैं। वह अपने कृत्यों की क्षमा माँगता हुआ उनके सामने गिर पड़ता है। मुनिराज अब फिर कहते हैं कि राजन्! तुमने अपना कार्य किया और मैंने अपना। क्रोध की अन्तिम परिणति तो पश्चात्ताप ही होती है। राजा अनेक प्रकार से पश्चात्ताप करता रहा। हमारे पास अभी भी समय है। हम क्रोध को छोड़कर क्षमाधर्म को धारण कर अपना कल्याण कर सकते हैं। जैसे कोई विद्यार्थी पूरे साल मेहनत न करे और अन्त में परीक्षा के समय

अच्छे प्रकार से मेहनत कर ले, तो परीक्षा पास कर लेता है। इसी प्रकार मनुष्य यदि जीवन के अन्त में भी संभल जाये, तो वह अपने जीवन को सफल बना सकता है।

आयु घटत है रात–दिन, ज्यों करोंत से काठ।
अपना हित जल्दी करो, पड़ा रहेगा ठाठ।।

इस आयु का कोई भरोसा नहीं, अतः जो कुछ करना हो शीघ्र करो और इन क्षमादि धर्मों को धारण कर अपनी आत्मा को पवित्र बनाओ।

उत्तम क्षमा सभी धर्मों में सर्वोपरि है। क्षमावान् व्यक्ति के अन्दर दया धर्म स्वतः ही समाहित हो जाता है। दया का उल्टा याद है, तो उसको तीन लोक के जीव याद करते हैं और वह तीनों लोकों में पूज्य हो जाता है। क्रोध से सदा अहित और क्षमा से सदा हित ही होता है। क्रोध की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह प्रकट होने से पूर्व हमारे विवेक को दबोच लेता है। हित–अहित के विचार का मौका ही नहीं देता।

एक बार एक लड़का आग ताप रहा था। उसके पिता ने बाजार से आकर नोटों की एक गड्डी उसके पास लाकर रख दी। लड़के ने खेल–खेल में उस नोटों की गड्डी को आग में डाल दिया। यह देखकर उसके पिता को क्रोध आ गया और उसने लड़के को उठाकर कुँए में फेक दिया। जब उसका क्रोध शान्त हुआ, तब उसने विचार किया कि पैसा भी गया और पुत्र भी गया, अब मेरा जीवित रहना व्यर्थ है। उसने भी कुँए में छलाँग लगा दी। इस प्रकार क्रोध में सबकुछ समाप्त हो गया।

क्रोध करने से पहले हमें विचार करना चाहिये कि मैं किस चीज

पर क्रोध कर रहा हूँ, किस बात पर क्रोध कर रहा हूँ? क्या वह बात क्रोध करने जैसी है या नहीं? व्यक्ति ऐसी–ऐसी बातों पर क्रोध कर लेता है जिसका कोई औचित्य नहीं और फिर बाद में पछताता है। न जाने कैसी–कैसी मूर्खतापूर्ण बातों पर व्यक्ति क्रोध करने लगता है। वह व्यक्ति उन बातों पर चिंतन करे, विचार करे तो उसे स्वयं हँसी आ जायेगी कि मैं किन बातों पर लड़ रहा हूँ।

पति–पत्नी आपस में लड़ रहे हैं। बात इतनी–सी थी कि पति कह रहा है कि मैं बेटे को डाक्टर बनाऊँगा, परन्तु पत्नी कह रही है कि मैं बेटे को वकील बनाऊँगी। पत्नी बोली–नहीं, मेरा बेटा वकील बनेगा। पति बोला–नहीं, मेरा बेटा डॉक्टर बनेगा। दोनों इतने जोर–जोर से लड़ने लगे कि रास्ता चलते लोगों को आवाज सुनाई देने लगी। एक व्यक्ति अंदर आया और उनसे पूछा कि आप लोग लड़ क्यों रहे हैं? उन्होंने कहा– ये हम लोगों का आपस का मामला है, आप इसमें दखलंदाजी न करें। उसने कहा–बात तो बताओ।

पत्नी बोली– मैंने इनसे पचास बार कहा कि मेरा बेटा वकील बनेगा। पति ने कहा– नहीं, मैं इनसे हजार बार कह चुका हूँ कि मेरा बेटा डॉक्टर बनेगा। उस व्यक्ति ने कहा कि, बाबा! इसमें लड़ने की क्या बात है? आप लड़के को बुलाइये, उसी से पूछ लेते हैं कि वह क्या बनना चाहता है?

पति–पत्नी ने एक दूसरे को देखा, आपस में मुस्कुराये और शर्मिन्दा हुये, पत्नी ने कहा– भाई साहब बच्चा तो अभी पैदा ही नहीं हुआ है।

देखिये क्रोध कितना अंधा होता है, कैसी मूर्खतापूर्ण बातों पर क्रोध का जन्म हो जाता है। जिन बातों का कोई औचित्य ही नहीं

उन बातों पर व्यक्ति लड़ने लगते हैं। पचास प्रतिशत क्रोध जीवन में व्यर्थ की बातों से पैदा होता है। इसलिये कम–से–कम व्यर्थ की बातों से तो बचो और विचार करो कि मैं क्यों क्रोध कर रहा हूँ।

प्रतिकूल वातावरण हो, कोई अपशब्द भी कह रहा हो, कोई अपमानित भी कर रहा हो, तो भी उस पर क्रोध न करके अपने परिणामों को शान्त बनाये रखना, यह क्षमा भाव है। क्षमा ही इस लोक में परम शरण है। माता के समान रक्षा करने वाली है। जिन धर्म का मूल क्षमा ही है, इसी के आधार से सकल गुण हैं। कर्मों की निर्जरा का कारण है। हजारों उपद्रव दूर करने वाली है। इसलिये धन व जीवन चले जाने पर भी क्षमा को छोड़ना योग्य नहीं है। जो गृहस्थ होकर भी विपरीत परिस्थितियों में अपने क्षमा धर्म को नहीं छोड़ते, वे संत पुरुष माने जाते हैं।

दक्षिण में एक सन्त पुरुष तिरुवल्लवर गृहस्थ में रहकर व्यवसाय करते थे। उसी नगर में एक धनिक व्यापारी पुत्र देवदत्त रहता था। जो कुछ दुष्ट प्रकृति का था। एक दिन किसी व्यक्ति ने देवदत्त के समक्ष तिरुवल्लवर संत के क्षमा गुण की प्रशंसा कर दी। तब देवदत्त अंहकार पूर्वक बोला–मैं उन्हें क्रुद्ध और उत्तेजित करके दिखा दूँगा। एक दिन संत बाजार में हाथ के बुने चादर बेच रहे थे। तब देवदत्त उनके पास पहुँचा और एक चादर उठाकर बोला–कितने की है? संत बोले–दो रुपये की। तब देवदत्त ने चादर के दो टुकड़े करके आधी चादर के दाम पूँछे। संत बोले–एक रुपया। तब देवदत्त ने उसके भी दो टुकड़े करके एक टुकड़े की कीमत पूँछी। तब संत ने कहा–आठ आने। देवदत्त उस चादर के टुकड़े करता रहा और संत उसके दाम बताते रहे। परन्तु चेहरे पर जरा भी क्रोध नहीं आया। अन्त में देवदत्त बोला–मैं इनका क्या करूँगा, यह सब बेकार हैं। तब संत

बाले–तुम ठीक कहते हो। ता फिर देवदत्त बोला–अच्छा तुम इनके बदल में दो रुपये ले लो। तब संत बाले–तुम्हारे रुपय स्वीकार करने पर तुम्हारा अंहकार बना रहगा और य टुकड़े तुम्हारे किसी काम में नहीं आयेंगे। मैं तो इन टुकड़ों को सी लूँगा और स्वयं प्रयोग कर लूँगा। इतना सुनते ही देवदत्त के अंहकार के टुकड़े–टुकड़े हो गये और वह संत के पैर पकड़कर क्षमा माँगन लगा।

क्षमा सबसे उत्तम धर्म है। जिसके अंदर क्षमा आ गई, उसमें मार्दव, आर्जव और शौचधर्म भी प्रकट हो जायेंगे। क्षमा तो आत्मा का स्वभाव है परन्तु क्रोधादि कषायों क कारण यह आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर मलिन हो रही है। क्रोध करन स सदा अहित ही होता है। दरभंगा में दो भाई थे। दोनों ही इतिहास के विद्वान थ। एक दिन किसी बात पर दोनों में विवाद हो गया, दोनों में लड़ाई हो गयी। मुकदमा चला और दोनों ही जागीरदार से किसान की हालत में आ गय। प्राणियों का असली शत्रु यह क्राध ही है। क्रोध व्यक्ति के अमृतमय जीवन में विष घोल देता है। क्रोध के कारण सैकड़ां परिवार टूटते देख जाते हैं। यह क्राध मनुष्यों में परस्पर प्रम का नाशकर नित्य ही शत्रुता को बढ़ाने वाला है। नित्य प्रति होन वाले झगड़ व कलह का कारण यह क्राध कषाय ही है।

एक व्यक्ति शाम को दुकान से घर आया। उसने पाँच हजार रुपय पत्नी को दिये। पत्नी भोजन बना रही थी, वह रुपयों को वहीं छोड़कर किसी काम से बाहर गई। इतने में वहाँ खेल रहे उसक 2 वर्ष के बेट ने रुपयों की गड्डी को उठाकर जलते चूल्हे में डाल दिया। अग्नि तेज जलने लगी, जिसे देखकर वह बेटा खुश हो रहा था। इतने में माँ आ गई। उसने जब यह सब नजारा देखा तो उसे समझने में देर न लगी। क्रोध ने उसे अंधा बना दिया और वह अपना

होश खो बैठी तथा उसने अपने सुकुमार बच्चे को जलते चूल्हे में झोंक दिया।

उसका इकलौता बेटा था, जिसे क्रोध खा गया। बुढ़ापे का सहारा था, जिसे क्रोध ने छीन लिया। क्षण भर के क्रोध ने जीवन भर का दुःख पैदा कर दिया। इस दर्दनाक घटना को जब पति ने देखा तो वह क्रोध से भर गया, वह पत्नी को माफ न कर सका और उसने एक धारदार हथियार से गर्दन काट कर पत्नी की निर्मम हत्या कर दी।

क्रोध में करुणा नहीं होती। क्रोध अन्धा होता है। जब आता है तो आँखें बन्द हो जाती हैं। मुख, हाथ, पाँव खुल जाते हैं और महाअनर्थ हो जाता है। सूचना पाकर पुलिस आ गई और हथकड़ी डालकर ले गई, केस चला, मजिस्ट्रेट ने हत्या के जुल्म में उसे आजीवन कारावास की सजा सुना दी। क्रोध के कारण सैकड़ों घर परिवार बरबाद होते देखे जाते हैं। क्रोधी व्यक्ति अपने प्रिय हितैषी को भी भला–बुरा कह देता है और बाद में अपने किये दुष्कृत्य पर पछताता है, अन्त में स्वयं दुःखी होता है। क्रोध ही जीवों का महावैरी है, यह शत्रु से भी बढ़कर शत्रु है। यह क्रोध धर्म और धर्म बुद्धि का नाश जड़ से कर डालता है। क्रोध आने पर सुमति के साथ–साथ धर्म भी भाग जाता है।

आचार्यों ने कहा है –

क्रोधो नाशयते धैर्य, क्रोधो नाशयते श्रुतम्।
क्रोधो नाशयते सर्वम्, नास्ति क्रोधो समो रिपुः।।

क्रोध धैर्य को नष्ट कर देता है, क्रोध शास्त्र ज्ञान को नष्ट कर देता है, क्रोध सभी कुछ नष्ट कर देता है, क्रोध के समान कोई शत्रु

नहीं है।

वास्तव में आत्मा का सबसे बड़ा शत्रु क्रोध है। यह आत्मा के गुणों का हनन करके चतुर्गति में भ्रमण कराने में सहायक है। क्रोध के वेग में बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, वह हिताहित के ज्ञान से शून्य हो जाती है। क्रोधी तो आत्मीय जनों का भी लिहाज नहीं कर पाता, क्योंकि क्रोधी के हृदय से प्रेम की रसधारा सूख जाती है। क्रोध में पिता–पुत्र का, भाई–भाई का, गुरु–शिष्य का, मित्र–मित्र का भी शत्रु बन जाता है।

बहुत समय से चलने वाला प्रेम भी क्रोध के कारण एक क्षण में ही घृणा में परिवर्तित हो जाता है। परिणाम यह होता है कि क्रोधी व्यक्ति अपने जीवन काल में तो निन्दा का पात्र होता ही है, मरणोपरान्त भी उसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। इसलिए अपने जीवन में कैसा भी क्रोध का निमित्त मिले, सन्त जैसे हो जाओ। सन्तों को बाहर से कितना भी क्रोध का निमित्त मिले, परन्तु वे क्रोध नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि–

''क्रोध करना, स्वबोध खोना है।
इसके बाद, रोना–ही–रोना है।
इसलिए क्रोध छोड़ देना, प्यारे आत्मन्।
क्रोध करना, कर्मों का बोझ ढोना है।।''

क्रोध करना, अपनी साधना व जिन्दगी को बरबाद करना है। सत्य साधक को कोई कितनी भी गालियाँ दे, अपमान करे, पर वे तो यही विचारते हैं, यह क्रोधी जिसे सुना रहा है, वह मैं नहीं हूँ और जो सुन रहा है, उससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं। आप भी क्रोधी के समक्ष अन्धे व बहरे का रोल अदा कीजिए। न उसकी बात सुनिये, न

उसे देखिये। आप अनजान बन जाइये तो सामने वाले का क्रोध ठंडा पड़ जायेगा। क्योंकि क्रोध का जबाब क्रोध से देना, ईंट का जबाब पत्थर से देना है और अपना ही सिर फाड़ना है। इस संसार में क्रोध बहुत बुरा है। जिन्दगी में अनेक दुष्कृत्य कराने में, यह क्रोध बहुत बड़ा कारण है।

व्यक्ति कितनी जल्दी अपना नियंत्रण खो देता है। किसी ने दो कड़वे शब्द कह दिये और आप भड़क गये। किसी ने आपके खिलाफ कुछ बोल दिया और आप भड़क गये, आपकी इच्छा के विपरीत कुछ हो गया और आप भड़क गये। अपना विरोध सुनने की आदत डालो। दुनिया में विरोधियों की कमी नहीं है। हर बार अपना ही मनचाहा नहीं होता है, कभी औरों का चाहा भी होता है। हर बात का जवाब देना जरूरी नहीं है, कभी चुप रहना भी जरूरी है।

आप दुकान से घर आये। पत्नी ने आपके सामने खाने की थाली लगा दी। आपने खाना शुरू किया। खाना शुरू होते ही पत्नी ने कहा सुनो! वो बाजार से आते हुये मेरी नई साड़ी ले आये क्या? पति बोले–अरे मैं तो भूल ही गया। अब पत्नी गुर्राई : हाँ भूल गये, मेरा ही काम भूलते हो। तुम्हारी माँ का काम होता तो थोड़ी ना भूलते। अब पति का दिमाग गरम हो गया। बोला–खबरदार, जो मेरी माँ को बीच में लाई। पत्नी बोली–हूँ और जब तुम मेरी माँ को लाते हो तब? तुम्हारी माँ, माँ और मेरी माँ कुछ नहीं। अब पति गुस्से में उठा और परोसी हुई थाली को लात मार दी तथा घर से दुकान को चला गया। अब वह दुकान पर बैठा है, पर भीतर उथल–पुथल मची हुई है। सारा गुस्सा ग्राहकों पर निकाल रहा है। और ग्राहक भी कहते हैं, कैसा बदतमीज दुकानदार है। कितना गुस्सा करता है। चलो किसी और दुकान पर चलते हैं। उधर भोजन बिगड़ा, इधर

दुकानदारी बिगड़ी। गुस्सा तो सब जगह बिगाड़ ही कराता है। जरा आप ठंडे दिमाग से सोचो, क्या इसने कई बार आपका बिगाड़ नहीं किया? क्या आपके बने बनाये काम नहीं बिगाड़े?

क्रोध के बारे में जितना कहा जाये, उतना कम है। आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि –

अज्ञान काष्ठ जनितस्त्ववमान वातैः।
संधुक्षितः परन्ध वाग्गुरु विस्फुलिंड्ग।।
हिंसाशिखोऽपि भृगशुस्थित बैरधुमः।
क्रोधाग्नि रन्द्दहति धर्मवनं नराणाम्।।

जो अज्ञान रूपी काष्ठ से उप्पन्न हुई है, अज्ञान रूपी वायु से धौंकी गयी है, कर्कश वचन रूपी तिलंगों से सहित है और हिंसायुक्त ज्वाला से युक्त होने पर भी जिससे अत्याधिक बैर रूपी धुआँ उठ रहा है, ऐसी क्रोध–रूपी अग्नि मनुष्य के धर्म–रूपी वन को जला देती है।

क्षमा आत्मा का स्वभाव है और क्रोध आत्मा का विभाव। क्षमा से शांति, और क्रोध से अशांति के परिणाम मिलते हैं। यदि जीवन को सुखी बनाना चाहते हो तो क्रोध को छोड़कर क्षमाधर्म को धारण करो। क्रोध एक प्रकार की अग्नि है। आप हाथ से उठाकर किसी पर अग्नि फेकेंगे तो वह जले या न जले, आपका हाथ तो अवश्य जलेगा। उसी प्रकार जो क्रोध करता है, उससे सामनेवाले का अहित हो या न हो, क्रोध करनेवाला उस क्रोधाग्नि में अवश्य जलता रहता है।

क्रोध किसे कहते हैं –

भूख–प्यास को जो भुला देता है, उसे शोध कहते हैं।

अनन्त दुःखों को जो दिला देता है, उसे निगोद कहते हैं।
अग्नि के बिना जो जीव को जला देता है, उसे क्रोध कहते हैं।

क्रोध करने से सदा अहित ही होता है। अतः हमें क्रोध नहीं करना चाहिये। न्यूयार्क निवासी डेविड ज. पोलॉय ने लिखा है कि क्रोध से बचने की कला मैंने एक टैक्सी ड्राइवर से सीखी है। बात लगभग 16 साल पुरानी है। जब वे एक टैक्सी से ग्रैंड सेंट्रल स्टेशन पहुँचे, वहाँ पार्किंग की खाली जगह पर जैसे ही ड्राइवर ने टैक्सी पार्क करनी चाही कि तभी एक काली कार तेजी से टैक्सी के सामने आकर खड़ी हो गई। ड्राइवर ने तेजी से ब्रेक लगाया और टैक्सी घिसटते हुये कार से कुछ इंच की दूरी पर जाकर रुक गई। दूसरी कार के ड्राइवर ने खिड़की से अपना मुँह निकाला और मुड़कर टैक्सी ड्राइवर को गालियाँ देना शुरू कर दीं।

टैक्सी ड्राइवर ने मुस्कराते हुये उसका अभिवादन किया। डेविड को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उससे पूछा–आपने ऐसा क्यों किया? गलती तो उसकी थी। यदि वह कार को ठोक देता तो आपको और हमें अस्पताल पहुँचा सकता था। टैक्सी ड्राइवर ने जवाब दिया – ऐसे लोग जमाने भर की परेशानियाँ, निराशा और गुस्सा अपने सिर पर लेकर घूमते हैं। जब उनका गुस्सा सिर से ऊपर हो जाता है, तब वे उसे उड़ेलने के लिये जगह ढूँढ़ने लगते हैं। और जब आप उनके सामने पड़ गये तो फिर वे आप पर ही सारा गुस्सा उड़ेल देते हैं।

जब कोई आपसे इस तरह पेश आये तो आप इसे अपने दिल पर न लें। आप मुस्कराकर अभिवादन के साथ उसे शुक्रिया कहकर आगे बढ़ जायें। आप खुद को खुश पायेंगे, यह मेरा दावा है। उस ड्राइवर की सीख ने मुझे अनेक बार क्रोध करने से बचाया है। जब

भी लोग मेरे सामने गुस्से से भरे हुये आये, उस टैक्सी ड्राइवर की सीख को ध्यान में रखकर मैंने उसे प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं बनाया। मैंने मुस्कराकर उनका अभिवादन किया और शुक्रिया कहकर विदा हो गया। आप भी इस मूल–मंत्र का अनुसरण करें। उन्होंने लिखा है कि आप सदा खुश रहेंगे, यह मेरा दावा है। क्रोध आने के दो मुख्य कारण होते हैं। एक तो अन्तरंग कारण और दूसरा बाह्य कारण। अंतरंग कारण–अनंतानुबंधी क्रोध कषाय का उदय और बहिरंग में वैसा ही निमित्त मिल जायेगा तो निमित्त के मिलते ही क्रोध आ जायेगा। इसलिये ज्ञानी क्रोध के निमित्त से बचते हैं। यदि कहीं कर्फ्यू लगा है, पुलिस खड़ी है, पथराव हो रहा है, यदि आप वहाँ जायेंगे, तो या तो गोली लगेगी, या पत्थर लगेगा तो सिर फूट जायेगा। अतः कर्फ्यू में गोली लगने से बचने के लिये दूसरा रास्ता अपना लो। यदि वहाँ चले जाओगे तो फँस जाओगे। पुलिस आपको पकड़ लेगी, जेल में बंद कर देगी। तो क्रोध जब आता है तो ज्ञानी बुद्धिबल से बच जाता है। क्रोध थोड़े समय का होता है। यदि उससे अपने आप को हटा लिया जाये तो बच गये और उसमें आ गये तो फँस गये। अतः उन सब कारणों से दूर रहो जिनसे तुम्हें क्रोध आता है। यदि आप इन कारणों से बचते रहोगे तो क्रोध से बचे रहोगे और उसके दुष्परिणामों से बचे रहोगे।

क्रोध का प्रारम्भ नादानी से एवं अन्त पश्चाताप से होता है। पश्चाताप की नौबत आये उसके पूर्व ही क्रोध को छोड़ देना चाहिए क्योंकि जो जहर खाता है वही मरता है, खिलाने वाला कभी नहीं मरता, उसी प्रकार जो क्रोध करता है वही दुःखित एवं अस्वस्थ होता है, जिस पर किया जाता है वह नहीं। अतः अपने को कष्ट देने की मूर्खता न करें। क्रोध प्रीति को एक क्षण में ही समाप्त कर देता है।

जैसे रुई के ढेर को एक चिनगारी। ऐसे क्रोध को सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

परिवार में जरा–जरा से क्रोध के कारण जब कलह हो जाती है तो सारा वातावरण अशान्त हो जाता है। अतः, कैसी भी परिस्थिति हो, हमेशा वातावरण को शान्त बनाने का ही प्रयास करना चाहिये। यदि सामनेवाला गुस्सा कर रहा हो तो उस समय वातावरण को हल्का बनाने का प्रयास करना चाहिये।

सुकरात के जीवन में ऐसा हमेशा हुआ। उनकी जीवनसाथी बड़ा गुस्सा करती थीं और वे कहते थे कि हमने शान्ति अपनी जीवनसाथी से सीखी है। उनको देख–देखकर सीखी है। वो जितना गुस्सा करती, मैं उतना शान्त रहना सीख गया। क्या हुआ, एक बार वो खाना खाने 2 बजे आये। इतनी देर तक खाना रखा रहा तो उनकी जीवनसाथी को बड़ी गुस्सा आई कि अभी आये हो? और बहुत ज्यादा गुस्सा हुई? जब इन्होंने देखा कि अभी तो पारा बहुत गर्म है, सो ये जीना से उतरकर वापिस लौटने लगे तो। उनको लगा 2 बजे तो आये थे और अब हम गुस्सा हो गये सो ये भूखे और लौटे जाते हैं। तो पीछे रखा हुआ धोनधान उठाया और उनके ऊपर उड़ेल दिया। वे मुस्कराकर बोले–भाग्यवान्! अभी तक तो सुना था कि गरजनेवाले बादल बरसते नहीं हैं, पर आज तो बरस भी गये। उनकी जीवनसाथी को भी हँसी आ गई और वातावरण शान्त हो गया।

इस प्रकार हम भी वातावरण को हल्का बनाकर क्रोध के मौकों पर क्रोध करने से बच सकते हैं।

क्रोध नरकादि दुर्गतियों में ले जानेवाला होता है। क्रोध करने से न शरीर की रक्षा होती है, न आत्मा की। अतः, यदि क्रोध करना ही

है तो इस क्रोध पर क्रोध करो। यदि किसी को जीतना है तो क्रोध पर विजय प्राप्त करो, जिससे क्षमागुण प्रगट हो जाये। देव, मनुष्य और तिर्यंचों के द्वारा घोर व भयानक उपसर्ग करने पर भी जो क्रोध से तप्त नहीं होता, उसके निर्मल क्षमाधर्म होता है। ऐसी उत्तमक्षमा के धारी दिगम्बर मुनिराज होते हैं, जो किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में और किसी भी निमित्त के मिलने पर क्रोध नहीं करते, कषाय नहीं करते। अगर क्रोध कर लें तो वे अपने पद में स्थिर नहीं रहते, मुनि नहीं रहते। सुकुमाल मुनिराज को स्यालनी ने तथा सुकोशल मुनिराज को शेरनी ने खाया, पर उन्हें किंचित भी क्रोध नहीं आया।

एक बार एक महात्मा जी एक आम के पेड़ के नीचे बैठे थे। वहाँ आम खाने की इच्छा से कुछ उद्दण्ड लड़के पेड़ में पत्थर मार रहे थे। पत्थर मारते–मारते एक पत्थर महात्मा जी को भी लग गया, खून बह निकला। किन्तु वे कुछ न बोले। लड़के सहम गये कि महात्मा जी श्राप दे रहे हैं। वे महात्मा जी के पास जाकर क्षमा याचना करने लगे। वे बोले–बेटे! डर क्यों रहे हो? मुझे तो इस बात का दुःख है कि वृक्ष जो एकेन्द्रिय प्राणी है, उसको आप लोगों ने पत्थर मारे तो उसने आपको मीठे फल प्रदान किये। किन्तु मुझे पत्थर लगने पर मैं आप लोगों को कुछ न दे सका। लड़के महात्मा जी की वाणी सुनकर गद्गद् हो चरणों में झुक गये।

जिस प्रकार बसूला से काटे जाने पर चंदन सुगन्ध ही देता है, उसी प्रकार महापुरुष दूसरों के द्वारा पीड़ित किये जाने पर भी उन पर क्रोध न करके, उनके हित की ही कामना करते हैं।

क्रोध से अन्धा हुआ प्राणी विवेकरहित होकर पहले अपने आपको ही जलाता है, स्वयं सन्तप्त होता है, बाद में अन्य प्राणियों को

जलाता है और कदाचित् नहीं भी जलाता है। प्राणियों का वास्तविक शत्रु यह क्रोध ही है, क्योंकि वह उनके दोनों लोकों के नाश, पाप संचय, नरक प्राप्ति व स्व–पर अहित का कारण है।

क्षमा की मूर्ति सुखिया माँ की एक सत्य घटना है। सुखिया माँ मध्यप्रदेश के एक गाँव में रहती थी। उसके पुत्र का नाम किशन था। पास ही में बिरजू रहता था। किशन और बिरजू बड़े पक्के मित्र थे। साथ ही में रहते, खेलते, खाते। सुखिया दोनों को अपनी संतान मानती थी। किशन और बिरजू के खेत भी पास–ही–पास थे। दोनों की फसलें लहलहातीं और दोनों मजे से गाना गाते थे। वे कभी झगड़ते नहीं थे।

एक दिन बिरजू के बैल किशन के खेत में घुस गये। उन्होंने आधा खेत चर डाला। किशन को बहुत क्रोध आया। वह बैलों को हाँककर काँजी हाउस ले जाने लगा। इसी बीच बिरजू भी वहाँ पहुँच गया। दोनों में पहले कहा–सुनी हुई, इसके बाद दोनों ने अपनी–अपनी लाठियाँ निकाल लीं। पहली लाठी बिरजू को सामान्य रूप से कंधे पर लगी। पर इसने लाठी का जवाब जोरदार ढंग से दे दिया और किशन के माथे पर भरपूर लाठी का वार किया। किशन वहीं बेहोश हो गया। उसकी गंभीर स्थिति देखकर बिरजू भाग गया। अब तक किशन और बिरजू का झगड़ा देखकर आसपास के खेतवाले इकट्ठे हो गये थे। किशन की माँ सुखिया भी पहले ही वहाँ आ गई थी। वहाँ का दृश्य देखकर वह मूर्छित हो गई। छः किलोमीटर दूर पगारा के अस्पताल में किशन को ले जाया गया, पर सिर पर घातक प्रहार होने से वह बच नहीं सका। जब अपने पुत्र किशन की मृत्यु का समाचार सुखिया माँ को मिला तो वह पागलों की तरह प्रलाप करने लगी। चार माह बाद ही वह अपनी पुत्रवधू को लानेवाली थी। पर

अब उसे किशन की अर्थी देखने को मिली। आसपास के लोग भी सुखिया माँ के इस असामयिक दुःख से दुःखी थे। उधर पुलिस ने बिरजू को गिरफ्तार कर लिया। उस पर मुकदमा चला। सुखिया माँ की गवाही भी पुलिस ने दर्ज कर ली थी। उसने अपने पुत्र किशन पर बिरजू द्वारा किये गये प्रहार को देखा था। अतः उसने बताया कि बिरजू ने एक बड़ी लाठी से किशन के सिर पर घातक प्रहार किया है, इससे ही उसके प्राण गये। वही एकमात्र घटना की गवाह थी। अतः उसकी गवाही महत्त्वपूर्ण थी।

यह निश्चित था कि बिरजू को हत्या के अपराध में फाँसी होगी या आजीवन कारावास का दण्ड मिलेगा। इससे बिरजू की माँ बहुत दुःखी रहने लगी। कुछ समय बाद सुखिया के हृदय में बिरजू की माँ के प्रति सहानुभूति पैदा हो गई और उसने बिरजू को बचाने के लिये न्यायालय में अपनी गवाही को बदलने का निर्णय कर लिया।

निश्चित तारीख पर बिरजू की पेशी हुई। सुखिया भी गवाही के लिये बुलाई गई। उससे पूछा गया–क्या उसने बिरजू को अपने पुत्र किशन पर लाठी का वार करते देखा था? सुखिया ने कहा– मैंने किशन पर लाठी चलाते हुये किसी को देखा तो था, पर वह कौन था, मैं समझ नहीं सकी। संभवतः वह व्यक्ति पायजामा पहने था। पुलिस की गवाही बिगड़ रही थी। अतः वकील ने सुखिया का वह बयान पढ़कर सुनाया जो उसने घटना–स्थल पर दिया था। इसमें उसने कहा था कि बिरजू ने ही लाठी का घातक प्रहार किशन पर किया था। इस पर सुखिया ने उत्तर दिया कि "मेरी दशा उस समय पागलों की तरह थी। मैंने पुत्र के शोक में क्या कहा और पुलिस ने क्या लिखा? यह मैं नहीं जानती। अब जो अपने होशोहवास में कह रही हूँ, वह सच है।"

यह सुनकर सरकारी वकील चुप रह गया। बचाव पक्ष का वकील मुस्कराने लगा। न्यायालय ने संदेह का लाभ देकर बिरजू को बरी कर दिया। गाँव लौटने पर सुखिया के घर भीड़ लग गई। गाँव के सरपंच ने सुखिया से पूछा कि उसने झूठी गवाही क्यों दी? और अपने पुत्र किशन की हत्या का बदला क्यों नहीं लिया? न्यायालय में सत्य बात क्यों नहीं कही? सुखिया ने कहा–मैंने पंडित जी से कथा में सुना था किसी को क्षमा कर देना सबसे बड़ा धर्म है। मैं जानती थी कि मेरी गवाही से बिरजू को फाँसी हो जायेगी, पर उससे मेरा क्या भला होगा? जैसा मेरा संसार उजड़ गया, वैसा ही एक माँ का संसार और उजड़ जायेगा। अतः मैंने झूठी गवाही देकर बिरजू को बचा लिया।

भीड़ से निकलकर बिरजू वहाँ आ गया और सुखिया के पैरों पर गिरकर बोला–अब तुम ही मेरी माँ हो, मैं ही तुम्हारा किशन हूँ। अब मैं यहीं रहूँगा और जीवन भर तुम्हारी सेवा करूँगा। अब तुम ही मेरी सच्ची माँ हो। सुखिया ने कहा – बेटा! तुम अपनी माँ की सेवा करो, मैं तो किसी तरह अपना जीवन बिता लूँगी। इस पर बिरजू बोला–नहीं, माँ! अब मैं तुम्हारे चरणों में ही रहूँगा, तुमने मेरी रक्षा की है। बिरजू ने सुखिया के चरणों को छोड़ने से इन्कार कर दिया। बिरजू की माँ भी वहाँ आ गई। वह भी सुखिया के सामने नतमस्तक हो गई और बोली–तुम सबसे बड़ी माँ हो। बिरजू अब तुम्हारा ही है। मैं तो उसे देखकर ही सुखी रह लूँगी। गाँव के सरपंच, पंच एवं सभी नागरिक सुखिया माँ की प्रशंसा करने लगे– आज से अब तुम सिर्फ किशन की ही नहीं, सारे गाँव की माँ हो। तुम्हारे आदर्श से हमारे गाँव का सम्मान बढ़ा है। हम सब प्रतिज्ञा करते हैं कि अब कोई किसी प्रकार का झगड़ा गाँव में नहीं होगा। सभी प्रेम एवं प्रसन्नता से रहेंगे।

क्रोध में व्यक्ति अंधा हो जाता है। यदि क्रोध स्वभाव बन जाये, क्रोध आदत बन जाये, तो समझना चाहिये कि क्रोध की आग उसे तबाह करके रहेगी। उसकी खुशियाँ हमेशा के लिये विदा हो जायेंगी। शास्त्रों में तुंकारी की घटना आती है। उसे क्रोध के कारण कैसे–कैसे असहनीय दुःख सहन करना पड़े।

मणिवत नाम के एक महामुनि अनेक देशों में विहार करते हुये किसी समय उज्जैन के बाहर श्मशान में ठहर गये। वे रात्रि के समय मृतक–शय्या द्वारा ध्यान कर रहे थे। इतने में वहाँ एक कापालिक वैताली–विद्या सिद्ध करने के लिये आया। उसे चूल्हा बनाने के लिये तीन मुर्दे चाहिये थे। अतः वह कुछ दूर पड़े हुये दो मुर्दों को घसीट लाया और इन महामुनि को भी मुर्दा समझकर उसने तीनों के सिर का चूल्हा बना लिया। उस चूल्हे पर उसने नर कपाल रखा और आग जलाकर कुछ नैवेद्य पकाने लगा। थोड़ी देर बाद जब आग जोर से जलने लगी तब जीवित मुनिराज के सिर की नशें जलने लगीं और तीव्र वेदना से उनका हाथ ऊपर की ओर उठ गया, जिससे सिर पर रखा कपाल गिर गया और आग भी बुझ गई। इधर इस घटना से कापालिक ने समझा भूत आ गया, इसलिये वह वहाँ से भाग गया।

मुनिराज मेरू के समान अचल पड़े–पड़े आत्मचिंतन कर रहे थे। प्रातः होते ही आते–जाते किसी ने मुनिराज की यह दशा देखी तो झट दौड़कर मुनिभक्त सेठ जिनदत्त को सारा हाल सुना दिया। जिनदत्त सेठ उसी समय दौड़े आये और मुनिराज को अपने घर ले गये तथा वैद्य को बुलाकर इलाज के लिये पूछा। वैद्य ने कहा–सेठ जी! सोमशर्मा भट्ट के यहाँ लक्षपाक नाम का बहुत ही बढ़िया तेल है, उसे लाकर लगाओ, उससे बहुत ही जल्दी आराम हो जायेगा। इतने

अधिक जले शरीर का इसके अतिरिक्त और कोई इलाज नहीं है।

सेठ जिनदत्त उसी क्षण सोमशर्मा के घर पहुँचे। सोमशर्मा ब्राह्मण तो कहीं बाहर गया था, अतः उसकी पत्नी से सेठ जी ने तेल देने की प्रार्थना की। उस ब्राह्मणी ने ऊपर एक कमरे में ले जाकर कहा—सेठजी। यह अनेक घड़े तेल से भरे हुये रखे हैं, इनमें से एक घड़ा तेल ले जाइये।

जिनदत्त ने एक घड़ा सिर पर रखा और सीढ़ियों से उतरने लगा, किन्तु अकस्मात् उनके हाथ से घड़ा गिर गया और फूट गया। जिनदत्त को बहुत डर लगा, अब क्या होगा? उसने डरते—डरते ब्राह्मणी से घड़ा फूटने की बात कही, तब ब्राह्मणी ने कहा—कोई बात नहीं। जाओ, दूसरा घड़ा ले जाओ। सेठ के हाथ से पुनः दूसरा घड़ा भी फूट गया। बेचारे बहुत घबड़ाये, फिर भी ब्राह्मणी ने शान्ति से कहा—जावो, तीसरा घड़ा ले जाओ।

तीसरा घड़ा भी गिरकर फूट गया। अब तो सेठ जी थर—थर काँपने लगे। किन्तु ब्राह्मणी ने कहा—सेठ जी! चिन्ता की कोई बात नहीं, तुमने जानकर तो घड़े फोड़े नहीं हैं। शान्ति रखो, चौथा घड़ा ले जावो। देखो! तुम्हें जितने भी तेल की जरूरत हो, ले जाना, डरना नहीं।

अब बेचारे सेठ जी बहुत ही संभलकर चले और चौथा घड़ा तेल का लेकर अपने घर आ गये। मुनिराज के जले घावों पर लगाया, तब उन्हें कुछ शान्ति हुई। किन्तु वे मन में सोचने लगे – अहो! कोई भी महिला हो या पुरुष, उसका इतना बड़ा नुकसान हो जाने पर गुस्सा आये बगैर नहीं रह सकती। इस ब्राह्मणी में भला इतनी शान्ति, इतनी क्षमा कहाँ से आ गई?

सेठ जी पुनः सोमशर्मा के घर आये और ब्राह्मणी से पूछा–हे माँ! मेरे द्वारा इतना बड़ा अपराध होने पर भी तुम्हें क्रोध क्यों नहीं आया?

ब्राह्मणी ने कहा–सेठ जी! क्रोध का फल जैसा मिलना चाहिये, वैसा मैं भोग चुकी हूँ, इसलिये क्रोध के नाम से ही मेरा जी काँप उठता है।

सेठ की जिज्ञासा देखकर वह बोली–सेठ जी! सुनिये। चंदनपुर में एक शिवशर्मा ब्राह्मण रहता है। वह बहुत ही धनवान् है और राजा का आदर–पात्र है। उसकी भार्या का नाम कमलश्री है। उनके आठ पुत्र और एक पुत्री हुई। पुत्री का नाम भट्टा रखा, सो मैं ही हूँ। मैं बहुत ही सुन्दर थी, पर मुझ में एक अवगुण था कि मैं अत्यन्त घमंडी थी और बोलने में बहुत तेज थी इसलिये सभी लोग मुझसे डरते थे और किसी को मुझे तूँ कहने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। यदि कदाचित् कोई मुझे तूँ कहकर पुकार दे तो मैं लड़ झगड़कर उसकी सौ पीढ़ियों तक को गालियाँ दे डालती थी, जिससे भयंकर तूफान खड़ा हो जाता। इसके विपरीत मेरे पिताजी लड़ाई–झगड़े से बहुत डरते थे तथा राजा के द्वारा बहुत सम्मान मिलते रहने से वे निर्भीक भी थे। अतः एक बार उन्होंने शहर में यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि कोई भी मेरी बेटी को तूँ कहकर न पुकारे।

पिताजी ने तो अच्छा ही किया था, किन्तु मेरे दुर्भाग्य से वह उल्टा हो गया। निषेध में आकर्षण होता है। उस दिन से मेरा नाम ही तुँकारी पड़ गया और सभी लोग मुझे इस नाम से चिढ़ाने लगे। मैं चिढ़ती, लड़ती, झगड़ती और लोगों को गालियाँ देने लगती थी। युवावस्था आने पर नतीजा यह निकला कि कोई भी मेरे से विवाह करने को तैयार नहीं हुआ। बहुत दिन बाद मेरे भाग्य से इन

सोमशर्मा ब्राह्मण ने इस बात की प्रतिज्ञा की कि मैं इन्हें तूँ कहकर नहीं पुकारूँगा। तब पिताजी की चिंता मिटी और मेरा विवाह सम्पन्न हो गया। मैं यहाँ अपने ससुराल आ गई। मैं इस घर में बहुत दिनों तक सुखपूर्वक रही।

एक दिन की घटना है। मेरे पतिदेव रात्रि में देर तक नाटक देखते रहे और घर बहुत देर से आये। दरवाजा खोलो–खोलो पुकारने लगे। उस समय मुझे बहुत तेज गुस्सा आ रहा था, इसलिये मैंने दरवाजा नहीं खोला। पतिदेव जब दरवाजा खट–खटाते और पुकारते–पुकारते थक गये, तब उन्हें भी गुस्सा आ गया और बोले – 'अरे; तूँ सुनती क्यों नहीं है? मैं इतनी देर से बाहर खड़ा चिल्ला रहा हूँ।' बस, पति के मुख से तूँ निकलते ही मैं आपे से बाहर हो गयी। उस समय मैं क्रोध से अंधी हो गयी और दरवाजा खोलकर घर से बाहर भाग निकली। उस समय मुझे कुछ न सूझा कि मैं कहाँ जा रही हूँ।

मैं दौड़ते हुये शहर के बाहर जंगल की ओर निकल गयी। इसी बीच जंगल में चोरों ने मुझे देख लिया। उन्होंने मेरे सब कीमती गहने–जेवर उतार लिये और विजयसेन भील को सौंप दिया। उस भील ने मुझे सुन्दर देखकर मेरा शील भंग करना चाहा, किन्तु मेरी दृढ़ता के प्रभाव से किसी दिव्य स्त्री ने आकर मेरे शील की रक्षा की। तब उस भील ने डरकर मुझे एक सेठ को सौंप दिया। सेठ ने भी मेरा शील भंग करना चाहा, पर उस समय भी दैवी–शक्ति ने मेरी रक्षा की। तत्पश्चात् उस सेठ ने मुझे एक रंगरेज मनुष्य के हाथ सौंप दिया। वह दुष्ट मनुष्य मेरे शरीर पर बहुत सी जौंकें लगा–लगाकर मेरा रोज–रोज बहुत–सा खून निकाल लेता था और फिर उसमें कंबल रंगा करता था। इस अपार दुःख को भोगते हुये मेरे कितने ही दिन निकल गये थे।

एक दिन मेरा भाई उधर से निकला कि अचानक मैंने उसे देख लिया और जोर से आवाज देकर बुलाया। किन्तु वह मेरी इस दुर्दशा में जल्दी पहचान भी न सका। जब उसने मेरे मुख से सारा हाल सुना, तब वह रो पड़ा। पुनः उसने मुझे धैर्य बंधाया और उसी क्षण उसने राजा के पास जाकर मेरा परिचय बताकर उस पापी रंगरेज से मेरा उद्धार किया। वहाँ से लाकर मेरे भाई ने पुनः मेरे पतिदेव को समझा बुझाकर मुझे यहाँ पहुँचा दिया। इस समय मेरे शरीर का प्रायः सारा खून निकल चुका था, इसलिये मुझे लकवे की बीमारी हो गई। तब वैद्य ने यह लक्षपाक तेल बनाकर मुझे बचाया।

इसके बाद एक निर्ग्रन्थ मुनिराज से धर्मोपदेश सुनकर मैंने यह प्रतिज्ञा कर ली कि अब मैं किसी पर भी क्रोध नहीं करूँगी। अतः अब मैं बहुत ही शान्त रहती हूँ, जिससे मुझे स्वयं बहुत सुख का अनुभव होता है।

सेठ जिनदत्त इस सच्ची घटना को सुनकर बहुत प्रभावित हुये और उस ब्राह्मणी की बहुत प्रशंसा करते हुये अपने घर आकर मुनिराज की परिचर्या में लग गये।

क्रोध का फल इस भव में तो बुरा है ही, परभव में भी बहुत काल तक संसार में परिभ्रमण करानेवाला है।

क्रोध के समान अन्य कोई शत्रु नहीं। कमठ ने अपने भाई मरुभूति की स्त्री से व्यभिचार किया। तब राजा ने उसे दण्ड देकर देश से निकाल दिया। वह तापसी आश्रम में पत्थर की शिला को हथेली पर रखकर ऊँची करके तपश्चरण कर रहा था। मरुभूति भाई के मोह से उसे बुलाने गया, किन्तु उस कमठ ने क्रोध से वह शिला भाई पर पटक दी, जिससे वह मर गया। कालान्तर में मरुभूति का

जीव तो पार्श्वनाथ तीर्थंकर हो गया, किन्तु कमठ के जीव ने दश भव तक, क्रोध की आग में जलते हुये मरुभूति के जीव को सताया। अन्त में भगवान पार्श्वनाथ की पर्याय में भी उन पर भयंकर उपसर्ग किया। क्रोध के कारण कमठ ने तिर्यंच आदि गतियों में बहुत दुःख भोगे और मरुभूति क्षमा के प्रभाव से कमठ के उपसर्गों को जीतकर भगवान पार्श्वनाथ बन गये। यह सब क्षमाधर्म की महिमा है। क्षमावान् व्यक्ति कभी किसी को अपना शत्रु नहीं मानता।

जिस समय श्रीराम ने रावण पर चढाई की, तो उस समय भी उनके मन में रावण के प्रति शत्रुता का भाव नहीं था। तभी तो वे बार–बार कहते रहे कि, हे रावण! मैं तेरी लंका का राज्य नहीं चाहता, लंका का वैभव नहीं चाहता। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि तू मेरी सीता को मुझे वापिस दे–दे। यह है आदर्श पुरुषों की उत्तम क्षमा।

जब रावण बहुरूपणी विद्या सिद्ध कर रहा था तो श्रीराम के मित्रों ने कहा कि अब मौका है रावण को बांधकर लाने का, उसकी पूजा में विघ्न डालने का। तब राम ने कहा–'यह क्षत्रियों का कार्य नहीं है कि कोई धर्म करे और हम उसमें विघ्न डालें।' यह थी श्रीराम की क्षमा।

हम महापुरुषों से शिक्षा लें और क्रोध को छाड़कर सदा क्षमाधर्म को धारण करें। हमें न तो स्वयं क्रोध करना चाहिये और न ही दूसरों को क्रोध करवाने में निमित्त बनना चाहिये। केवल क्रोध करना ही कषाय नहीं है, दूसरों को क्रोध करवाना भी कषाय है।

एक घर में सास बहू की आपस में बनती नहीं थी। सास हमेशा बोलती रहती, चिल्लाती रहती। सब कहते कि यह सास महा निर्दयी

है, कितनी पापिन है? बहू के प्राण लिए लेती है। सुबह से देखो शाम तक इसका माइक (मुँह) चलता ही रहता है। लेकिन तुमने बहू को सुना नहीं है। बहू का क्रोध भी सास से कई गुना ज्यादा है। वह बहू क्या करती थी? सास के सामने जाती थी और धीरे से चुपचाप अगूँठे का ठंगा दिखा देती थी, और सास जैसे ही अगूँठ का ठेंगा देखती कि चिल्लाना शुरू कर देती। पड़ौसी कहते हैं कि ये सास कितनी पापिन है, कितनी निर्दयी है? चौबीस घंटे बोलती रहती है। सास जैसे ही चुप हुई, बहू धीरे से जाकर फिर ठंगा दिखा देती। तुम्हें वह ठेंगा देखने में नहीं आ रहा है। ध्यान रखना, ये भी एक बहुत बड़ी कषाय है।

क्षमा माँगने की अपेक्षा क्षमा करनेवाला ज्यादा धर्मात्मा होता है। क्षमा कर देना बहुत कठिन होता है। क्रोध करना बहुत सरल है, लेकिन सामनेवाला क्रोध कर रहा हो, फिर भी क्रोध को पी जाओ, यह बहुत कठिन है। तुमसे कहा जाय कि क्रोध मत करना, तो तुम एक बार यह नियम पालन कर लोगे, लेकिन तुमसे कोई यह कहे कि यदि कोई क्रोध करे तो तुम समता परिणाम रखना, यह बहुत कठिन है। तुमसे यह कहा जाय कि किसी को गाली मत देना तो तुम कहोगे कि बिल्कुल ठीक है; लेकिन यह कह दिया जाय कि कोई गाली देवे तो सुनते रहना, यह कठिन है। 'गाली सुन मन खेद न आनो' कितना कठिन है। किसी से कह दिया जावे कि एक घंटे मौन रहना, किसी को गाली मत देना, तो यह नियम पाल लोगे। किन्तु यह कह दिया जावे कि तुम्हें कोई गाली देता जाये और तुम खेद मत करना, यह कितना कठिन है? इसीलिए तो कहा है कि –

वदति वचन मुच्चैदु:श्रवं कर्कशादि।

कलुषविकलता या, तां क्षमां वर्णयन्ति।।

अर्थात्–नहीं–सुनने योग्य कर्कश, कठोर वचनों के बोलने पर भी जो कलुषता का अभाव है, उसे क्षमा कहते हैं। समता परिणाम धारण करने वाले की सूली भी सिंहासन हो जाती है, जैसे सेठ सुदर्शन। हम दुर्जनों से इसलिये घबरात हैं, क्योंकि कहीं–न–कहीं हमारे अंदर भी दुर्जनता होती है, किन्तु क्षमाशील व्यक्ति तो हर समय यह सोचकर शांत बना रहता है कि –

क्षमाखड्ग करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति?
अतृणे पतितो बह्निः, स्वयमेवोपशाम्यति।।

अर्थात् क्षमारूपी तलवार जिसके हाथ में है, दुर्जन उसका क्या कर सकता है? जैसे ईंधन से रहित स्थान में पड़ी हुई अग्नि स्वयं ही शांत हो जाती है।

दुर्योधन ने बिगाड़ना चाहा पाण्डवों का, भीम को जहर भरी खीर खिलाकर गंगा में डाल दिया। जैसे ही भीम पहुँचता है गंगा की तलहटी में (यह कहानी वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार है।) तो उसे नाग काटता है। जिसको जहर चढ़ा हो, उसको जहरवान काट ले तो जहर उतर जाता है। गर्मी को गर्मी मारती है, काँटे से काँटा निकलता है, निमित्त से निमित्त कटता है, ये नियम है। भीम को जहर चढ़ा था और जैसे ही नाग ने फण मारना शुरू किया, वैसे ही उसका जहर उतरने लगा। नाग सोचता है कि मैंने आज तक दुनिया में ऐसा नहीं देखा। मैंने जिसे फुँकार भी मार दी, वह मर गया; किन्तु मैं इसको काट रहा हूँ परन्तु यह जिन्दा हो रहा है। बेहोशी के स्थान पर होश में आ रहा है। निश्चित ही यह कोई महान आत्मा है, कोई पुण्यात्मा है। जितना मैं काटूँ, उतना ही होश में आता चला जा रहा

है। जैसे ही वह नागदेवता पूछते हैं कि सच बता, तू कौन है? मेरे जहर के कारण तेरा जहर उतर रहा है, यह मामला क्या है? वह कहते हैं कि मैं पवित्र मानव हूँ। इसी भव से मोक्ष प्राप्त करूँगा। मैं पाण्डवों में मध्यम पुत्र हूँ। मेरे साथ ऐसी घटना घटी, लेकिन मेरा दुर्योधन के प्रति कोई छल–कपट नहीं था। मैंने दुर्योधन का कभी कुछ बिगाड़ना नहीं चाहा, लेकिन दुर्योधन मेरा हमेशा बिगाड़ सोचता रहता है। इस दुर्योधन की वजह से मेरी यह दशा हुई है। लेकिन मेरा दुर्योधन के प्रति किंचित भी बैरभाव नहीं है, इसलिये मेरे अन्दर इतनी शक्ति जगी है कि मेरे अंदर विष अमृत का काम कर रहा है। जो व्यक्ति दूसरे का बुरा नहीं विचारते, जो दूसरे का अहित नहीं करते, जो दूसरे का विनाश नहीं करते, उन व्यक्तियों का दुनिया की कोई भी ताकत विनाश नहीं कर सकती। पाण्डुपुत्र कहता है–मैंने कभी दुर्योधन का अहित नहीं किया। हे नागदेवता! मैंने स्वप्न में भी किसी को मार देने का परिणाम नहीं किया, इसलिये आपके द्वारा छोड़ा गया जहर भी मुझे अमृत का काम कर रहा है। यदि मैंने किसी को जहर देने का काम किया होता तो मैं भी साधारण जहर से ही मर गया होता, तुम्हारा जहर तो बहुत बाद की बात है।

नागदेवता कहते हैं कि मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, लो ये अमृत पी लो। जितने कटोरे अमृत पी लेगा, उससे दस गुना हाथियों का बल तुझमें आ जायेगा। भीम वैसे ही बलवान, और फिर एक कटोरे में दस–दस हाथियों का बल है। भीम बैठ गया पीने और सात कटोरे बिना श्वाँस के डकार गया और जैसे ही सात कटोरे बिना श्वाँस के डकारे तो उसमें सत्तर हाथियों का बल आ गया। सत्तर हाथियों का बल लेकर गंगा में से निकलता है और कहता है–कहाँ है दुर्योधन? देख ले, तूने मुझे समाप्त करने का प्रयास किया था परन्तु अब मुझमें

सत्तर हाथियों का बल और आ गया है। तूने बिगाड़ने का परिणाम किया, क्रोध करने का परिणाम किया, लेकिन बिगाड़ नहीं पाया। इस दृष्टांत से हमें यही शिक्षा लेनी है कि क्रोध न करना ही उचित है।

'मेरी भावना' में कितनी बड़ी बात कही–'दुर्जन क्रूर कुमार्ग रतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवे।' कोई प्रश्न कर सकता है कि उन पर तो क्षोभ आना चाहिये न, जो कुमार्गी हैं? आचार्य कहते हैं – नहीं। जो कुमार्गी हैं। उन पर भी क्षोभित होने की आवश्यकता नहीं। उनके प्रति मध्यस्थ होने की आवश्यकता है। कर्मोदय में समता रखना, क्रोध नहीं करना, किसी के साथ वैर विरोध की भावना का नहीं होना, क्षमा कहलाती है।

पार्श्वनाथ के ऊपर उपसर्ग करने के लिए कमठ आया। पार्श्वनाथ चाहते तो एक टेढ़ी दृष्टि से कमठ को देख लेते तो कमठ झुक जाता। भावी जिनदेव का अकाल मरण कराने की क्षमता किसी में नहीं है। भावी जिनदेव को दुनिया की कोई ताकत भस्म नहीं कर सकती। पार्श्वनाथ एक बार टेढ़ी दृष्टि कर लेते तो कमठ भी चिल्लाता हुआ चरणों में लोट जाता। लेकिन टेढ़ी दृष्टि करके किसी को झुकाया तो क्या झुकाया? नासा दृष्टि रखकर झुकाना ही झुकाना है। टेढ़ी दृष्टि करके तो दुनिया झुका लेती है। जो नासादृष्टि करके झुकाता है, उसे अपन भगवान कहते हैं। जो टेढ़ी दृष्टि करके झुकाता है उसे खल कहते हैं, रावण कहते हैं, राक्षस कहते हैं। जो नासादृष्टि करके झुकाता है, वह राम कहलाता है। झुका दोनो ही रहे हैं, लेकिन दोनों के झुकाने का फर्क कितना है? दोनों ने आँखों–आँखों ही में झुकाया है, लेकिन एक ने टेढ़ी और कुपित दृष्टि करके झुकाया है और एक ने नासादृष्टि करके समता परिणाम से झुकाया है। जो समता परिणाम से झुकाता है, झुकनेवाला उसका उपकार

मानता है। जो टेढ़ी दृष्टि करके झुकाता है, उससे झुकनेवाला दाँतों के नीचे होंठ को दबाता है कि आने दे मेरा मौका, मैं भी बताऊँगा। क्रोधित होकर, बलवान होकर तुम किसी को झुकाओगे, तो झुकानेवाला तुम्हें बद्दुआयें देगा, तुम्हारे ऊपर हाय श्वासें छोड़ेगा और नासादृष्टि करके झुकाओगे तो तुम्हारे लिये एसी दुआएं देगा कि तुम महान बन जाओगे। इसीलिए महापुरुष अपने पर उपसर्ग करनेवालों के प्रति भी अपकार का विचार ही नहीं करते। गजकुमार मुनि, पाँचों पाण्डव, पार्श्वनाथ आदि के उदाहरण से स्पष्ट होता है कि वे कितने क्षमाशील थे? और उनके क्षमाशील स्वभाव के कारण ही वे उत्तरोत्तर सुगति को प्राप्त हुये। उपसर्गों पर विजय क्षमाशील ही प्राप्त कर सकता है। कहा भी है –

कोहेण जोण तप्पदि, सुरणरतिरिएहिं कीरमाणेवि।
उवसग्गेवि रउद्दे, तस्स खमा णिम्मला होदि।।

अर्थात् सुर, नर, तिर्यंचों के द्वारा उपसर्ग किये जाने पर भी जो क्रोध से संतप्त नहीं होते हैं और अन्य भी भयंकर उपसर्ग होने पर जो शांत रहते हैं, उनके ही निर्मल उत्तम क्षमा होती है। वह विचार करता है– सब कर्मों के मारे हैं? कोई मुझे गाली दे रहा है, तो बेचारा वह कर्मों का मारा है। वह मुझे जानता होता तो गाली नहीं देता। वह मुझे जानता नहीं है, इसलिये गाली दे रहा है। ज्ञानी कहता है कि पहचानता होता तो वह गाली दे नहीं सकता और यदि पहचानता नहीं है तो यह गाली मुझे दी नहीं जा रही है। सच्चे साधक का यह लक्षण है। लेकिन जो सही वैराग्य के बिना पलायन कर परिस्थितिवश साधु इस भावना से बनते हैं कि चलो साधु बन जाते हैं, आराम से जीवन निकल जायेगा, ऐसे ढोंगी साधुओं की

विचारधारा को किसी कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है –

मूड़ मुड़ाय तीन गुण, सिर की मिट गई खाज।
खाने को लड्डू मिलें, लोग कहें महाराज।।

ऐसा सुनकर कि चलो साधु बन जाते हैं, खूब पैर एवं पेट पूजा होगी, उसे यह मालूम नहीं कि दुनिया में प्रशंसक एवं निंदक दोनों प्रकार के लोग हैं। नया साधु बना होगा, बाजार में निकला तो लोग कह रहे हैं – नंगा, नंगा। वह कहता है–गुरु महाराज! लोग तो कह रहे थे कि दुनिया पूजेगी, इधर तो कह रहे हैं – नंगा, नंगा? तो गुरु महाराज कहते हैं – नंगा ही तो कह रहे हैं, मार तो नहीं रहे हैं। गाली ही तो दे रहे हैं, बता तुझे कहाँ चोट लग गई? बता, तुझे हल्दी चूना लगा के सेंक दें। कहाँ लगी है तुझे चोट, कहाँ दर्द हो रहा है? वह बोला–चोट तो नहीं लगी। फिर क्या बिगड़ गया? वह सोचता है कि बात तो सही है। गाली ही तो दे रहा है, और क्या कर रहा है? गाली देनेवाला सोचता है कि गाली देने का इस पर कोई असर नहीं पड़ा, तो वह डंडा मारता है। देखो, महाराज! अब तो पिटाई हो रही है। पिटाई ही तो हो रही है, प्राण तो नहीं ले रहा है? 'प्राण भी ले रहा है। गुरु बोले–अरे भाई! प्राण ही तो ले रहा है, तेरा धर्म तो नहीं ले रहा है, अतः क्रोध करना व्यर्थ है।

धर्म अनेक रूप में आता है, लेकिन हम धर्म को जान नहीं पा रहे हैं। धर्म की कोई जाति नहीं होती है। गरीब, अमीर सब स्वीकार कर सकते हैं। एक भिखारी तीन दिन का भूखा है। दरवाजे, दरवाजे घूम रहा है। कोई उसे भीख देने को तैयार नहीं। सब कह देते हैं–आगे जाइये, आगे जाइये। व्यक्ति दूसरे के ऊपर जब विपत्ति आती है तो सोच नहीं पाता। यदि वही विपत्ति तुम्हारे ऊपर आ जाये तब पता

चले। जैस कि एक भिखारी को, याचक का तुम लोग दरवाजे से लौटा देते हो। काश, तुम्हारी जिंदगी में ऐसा दिन आ जाये और तुम्हे कोई दरवाजे से लौटा दे तो उस समय की वेदना का तुम वर्णन कर पाओगे? जिस समय तुम आफत के मारे हो और कोई तुम्हारी सहायता न करे और कहे कि तुम चले जाओ यहाँ से, उस समय तुम्हारी क्या स्थिति बनेगी? वह भिखारी शाम को एक सेठ जी के दरवाजे पहुँचा, उस समय घर में मात्र सेठानी थी, जो गरम नजर आ रही थी, क्योंकि अभी—अभी सेठजी से झगड़ा हुआ है। मियाँ बीबी में झगड़ा हो गया। पति ने पत्नी को एक थप्पड़ जड़ दिया। वह महिला भी बहुत चिड़—चिड़ स्वभाव की थी। पति पर गुस्सा उतार तो डंडा पड़ जावे। जो पत्नी पति से पिटती है, वह बेट को पीट कर अपना गुस्सा शांत करती है और बेटा कहता है कि मर गये रे फालतू में। बेटा कहता है—'मम्मी! तुम पिटी तो पिटी, लेकिन मुझे क्यों पीट दिया? मैंने क्या बिगाड़ा? मैं तो भोजन ही माँग रहा था।' ऐसा होता है, महिलाओं से पूछ लेना। व न बतायें तो बच्चों से पूछ लेना, वे बता देंगे। बाहर आकर कई बार बच्चे कहते हैं कि मेरी माँ को पिताजी मारते हैं और वह मुझे मारती हैं जबकि मैं कोई गलती नहीं करता।

एक बच्चे ने महाराज से कहा—दुनिया का न्याय मुझे समझ में नहीं आता, महाराज। एक बार मैंने चाय पी और प्याला रास्ते में छोड़ दिया। माँ का पैर लग गया तो माँ ने पकड़कर मुझे मारा और कहा कि इतना विवेक नहीं है कि रास्ते में प्याला नहीं रखा जाता? मैंने भूल स्वीकार कर ली। भूल तो हो गयी। मेरी गलती थी, मैं पिट गया। कोई बात नहीं, मेरी भूल थी। लेकिन दूसरे दिन माँ ने चाय पीकर प्याला वहीं रखा और मेरा पैर लग गया तो कहती हैं —

दिखता नहीं, अंधा हो गया क्या जो प्याला फोड़ दिया? और माँ ने मुझे पकड़कर पीटा। दोनों ही तरफ से मैं पिटा। प्रायः यही होता है, सिर्फ कमजोर ही पिटता है। मुझे दुनिया की यह नीति समझ में नहीं आती।

यह आपका क्रोध है, यह आपका अहंकार है, कि दोनों ही स्थिति में बच्चा ही पिटा। कमजोर ही पिटा। हाँ, तो वह महिला तो गुस्से में थी ही, और इधर से दो–तीन आवाज लगा दीं भिखारी ने कि मिले माई। वह महिला गुस्से के मूड में पोंछा लगा रही थी चौके में कपड़े से, सो वो ही मार दिया। वह जाकर भिखारी के मुँह पर लगा। तीन दिन का भूखा भिखारी था। सेठानी ने कहा–कहाँ से आ जाते हैं यहाँ? और कोई दूसरा दरवाजा नहीं मिलता? अभी वे प्राण खाकर गये और अब तू आ गया प्राण खाने? घर भर के पेट के लिये बनाकर रखूँ और तेरी कुठिया (पेट) के लिये भी बना कर रखूँ? मैं दशलक्षण पर्व में भी थोड़ा–बहुत धर्म करूँ कि नहीं? ऐसा कह कर वह पोंछा, वह कपड़ा मार दिया, उस बेचारे भिखारी के मुँह पर। बेचारे की आँखों में पोंछे का गंदा पानी चला गया तो उस बेचारे की आखें लाल हो गयीं। तुम्हारे पास आया था पेट की आग बुझाने के लिये परंतु तुम्हारी मार ने उसकी आँखें भी लाल कर दीं। पेट की भूख से मर रहा था, तुम्हारी मार से मरने लगा।

भिखारी कहता है–'भगवन्! धन्य भाग। तीन दिन से किसी ने कुछ दिया नहीं था। आज पुण्य कर्म से कम–से–कम फर्श को साफ करनेवाला ही सही, कपड़ा तो मिला। धन्य है, धन्य है इस महिला को, धन्य है इस माँ को। इसने कुछ तो दिया।' सोचिये, क्या उस सेठानी ने ठीक किया? अच्छा तो यह था कि वह उसे दो रोटी दे देती, लेकिन यह तो तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं था कि साफ करने का

कपड़ा उसके मुख पर मार दो? यदि किसी का उपकार नहीं कर सकते तो उसका अपकार भी मत करो।

एक समय की घटना है। एक व्यक्ति पत्थर मार रहा था आम के फल गिराने के लिये। उसी समय बगीचे का माली आ गया और राजा के पास ले गया और कहा कि, हे राजन्! ये आप के बगीचे के फल तोड़ रहा था। राजा कहते हैं–इसे फाँसी पर चढ़ा दो। जब फाँसी दी जाने लगती है तो राजा कहते हैं–तेरी अंतिम इच्छा क्या है? क्योंकि जिसे फाँसी पर चढ़ाते हैं, उससे अंतिम इच्छा पूछते हैं। वह कहता है–राजन्! अंतिम इच्छा यह है कि जिस पेड़ को मैं पत्थर मार रहा था परंतु बदले में वह आम दे रहा था, मैं उससे क्षमा माँग आऊँ कि मैं उससे भी गयाबीता हूँ, कि राजा मुझे फाँसी दे रहा है और मैं उसे उसके बदले कुछ भी नहीं दे पा रहा हूँ। मेरे ऊपर कोड़े पड़ रहे हैं, परंतु मैं इसके बदले कुछ भी नहीं दे रहा हूँ। मुझ से महान तो तू (आम का पेड़) है, जिसे मैं पत्थर मारता था और तू आम के फल देता था। इतना सुनते ही वह राजा अपनी भूल मानता है और उसे फाँसी की सजा से मुक्त कर देता है।

इधर वह भिखारी कहता है–धन्य है, भगवन्! आज मेरा पुण्य उदय आया, कम–से–कम एक कपड़ा तो मिल गया। चला गया उस कपड़े को लेकर, पहुँच गया तालाब के पास। वह भिखारी कपड़े को धोकर साफ करता है और नसियाँ में आ जाता है। संध्याकाल है। पुजारी से कहता है –पुजारी जी! आप प्रतिदिन संध्या आरती करते हो, आज तुम्हारे स्थान पर मैं संध्या कर सकता हूँ? पुजारी कहता है– नहीं, तू भिखारी है। वह कहता है कि आज मेरा अंतिम दिन है और मैं अब जीवित नहीं रह सकूँगा। मेरे प्राण निकल जावेंगे। हे पुजारी! मेरी इच्छा पूरी कर लेने दो। आज की संध्या आरती हमें कर

लेने दो, तुम तो प्रतिदिन करते हो। मैंने अपनी जिंदगी में कभी भी भगवान के चरणों में दीपक नहीं जलाया है। बड़ी कृपा होगी, आज का दीपक मुझे जला लेने दो। पुजारी को दया आ गई, पहले तो वह निर्दयी बन रहा था। उसने कहा—ले यह दीपक। बस मुझे कुछ नहीं चाहिए। मुझे थोड़ा तेल और माचिस दे देना। बाती नहीं चाहिये। बाती तो मुझे आज मेरे पुण्य के उदय से मिल गई है। पुजारी से दीपक और तेल लेता है और चार बाती बनाकर पुजारी से माचिस लेकर दिया जलाता है। भगवान की आरती उतारता है। आरती उतारते समय ये नहीं कहता है कि, भगवन् ! मैं चार दिन से भूखा हूँ, मुझे भोजन मिल जावे। वह कहता है कि, हे भगवन्! जिस प्रकार उस माँ का दिया हुआ वस्त्र, इस अंधेरे को दूर कर रहा है, उसी तरह उस माँ के अंदर का अज्ञान अंधकार भी दूर करके प्रकाश कर देना। जिसके दिये हुए कपड़े ने सारे मंदिर के अंधकार को दूर कर प्रकाश कर दिया, उसके अंदर के अंधकार को भी दूर कर देना। उसका क्रोध जिस कारण से भी था, वे कारण, वह अंधकार उसके अंदर से हट जावे।

कितना पवित्र परिणाम है, उस भिखारी का कि जिसके हृदय में स्वयं की समस्त इच्छाओं को गौण कर पर के दुःख को दूर करने का परिणाम आया। यही तो श्रीराम भरत से चित्रकूट में कहते हैं कि —

न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं पुनर्भवम्।
कामये दुःख तप्तानां, प्राणिनामार्ति—नाशनम्।।

अर्थात् मैं न तो राज्य की कामना करता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ और न पुनर्जन्म; बल्कि मैं तो दुःख से तप्त प्राणियों के दुःखों का नाश करना चाहता हूँ।

बताओ, उत्तम क्षमा के दिन जिस स्त्री ने एकाशन करके, पांछा लगाकर कपड़ा भिखारी के मुँह पर मारा था, क्या वह उत्तम क्षमा की अधिकारिणी है? या वह भिखारी क्षमा का अधिकारी है जिसके मुँह पर कपड़ा मारा था? अपने शत्रु के भी कल्याण की भावना करनेवाला वह भिखारी अपने मारनेवाले के प्रति भी कितना भला सोच रहा है? आप होते तो कहते—भगवन्! आज दो रोटियाँ मिल जावें अथवा सेठानी का विनाश हो जावे। किन्तु वह कहता है कि भोजन तो अपने कर्मों से मिलेगा। भगवन्! आपकी कृपा से तो अंधकार दूर हो सकता है। उस माँ के हृदय का अंधकार दूर हो जाये। इस उदाहरण से शिक्षा लो कि यदि तुम्हें कोई गाली देता है तो तुम यह मत कहना कि भगवन्! मुझे गाली मिली है, इस गाली देनेवाले का विनाश हो जावे। तुम यह कहना कि, हे भगवन्! जिसने मुझे गाली दी है, उसका कल्याण हो जावे। अभिशाप तुम्हें मैं देता हूँ, कल्याण तुम्हारा हो जावे। अभिशाप भी किसी को देना तो क्या देना? यदि तुम्हें अभिशाप देने की आदत ही पड़ गई है तो यह देना— अभिशाप तुम्हें मैं देता हूँ, कल्याण तुम्हारा हो जावे। अभिशाप भी दो तो ऐसा दो कि शत्रु भी सुखी हो जावे। गाली देने वाले का भी कल्याण करने की भावना करो कि, भगवन्! इस गाली देने वाले का भी कल्याण हो जावे। ऐसा परिणाम तुममें आ जावे तो तुम उत्तम क्षमाधर्म के अधिकारी हो।

जगत में जो कुछ भी बुरा नजर आता है, वह सब क्रोधादि विकारों का ही परिणाम है। क्रोधी पर ही में भूल देखता है। स्वयं में देखने लगे तो क्रोध आएगा कैसे? यही कारण है कि आचार्यों ने क्रोधी को क्रोधान्ध कहा है।

क्रोधान्ध व्यक्ति क्या—क्या नहीं कर डालता? सारी दुनिया में

मनुष्यों द्वारा जितना भी विनाश होता देखा जाता है, उसके मूल में क्रोधादि विभाव ही देखे जाते हैं।

कहा भी है –

क्रोधोदयाद भवति कस्य न कार्यहानिः।

क्रोध के उदय में किसकी कार्य हानि नहीं होती, अर्थात् सभी की हानि होती है। क्रोध के कारण सैकड़ों घर परिवार टूटते देखे जाते हैं। एक सत्य घटना है –

एक महिला को क्रोध आया और कुछ भी नहीं, जरा सी बात। पति से कहा–आप रोज–रोज राजखेड़ा जा रहे हो। आज आप हमें एक साड़ी लेते आना। उसने कहा आज नहीं, आज जरा जल्दी है, मैं कल परसों पुनः जाऊँगा, तब ले आऊँगा। उसने कहा तो नहीं लाओगे साड़ी। आज तू कुछ भी कह, आज कचहरी का काम है, आज नहीं ला पाऊँगा, कल या परसों निश्चित ही ले आऊँगा। अब क्या कही आज तुम साड़ी नहीं लाते हो तो मैं आज ही तुम्हें कुछ करके दिखा दूंगी। बिचारा सीधा सादा था। नहीं समझ पाया उसकी भाषा में, वह तो गया राजखेड़ा और इधर यह दो छोटे–छोटे बच्चों को एक को काँख में दबाया एक की उंगली पकड़ी, लोटा लिया हाथ में जंगल का बहाना बनाकर चली गयी। जाकर के कुँए में दोनों बच्चों को पटक दिया और स्वयं कूंद पड़ी। जब लोगों को मालूम पड़ा तो लोग दौड़े।

जाकर के कुँए से उसे बाहर निकाला, वह तो जीवित निकल आयी, परन्तु छोटे–छोटे बच्चे तुरन्त ही समाप्त हो गये। वह महिला आज भी अपनी गलती पर, अपने द्वारा किये हुए क्रोध पर पश्चात्ताप कर रही है। किसी के सामने मुँह भी नहीं दिखा पा रही है। इस

क्रोध के कारण उसने अपना सारा जीवन बरबाद कर दिया। ऐसे क्रोध में विवेक शून्य होकर व्यक्ति अपना बड़ा अहित कर देते हैं और बाद में पछताते रहते हैं। प्राणियों का वास्तविक शत्रु यह क्रोध ही है, क्योंकि वह उनके दोनो लोकों के नाश, पाप संचय, नरक प्राप्ति और स्व–पर के अहित का कारण है।

क्रोध एक शान्ति भंग करने वाला मनोविकार है। वह क्रोध करने वाले की मानसिक शान्ति तो भंग कर ही देता है, साथ ही वातावरण को भी कलुषित और अशान्त कर देता है।

क्रोध का एक खतरनाक रूप है बैर। बैर क्रोध से भी खतरनाक मनोविकार है। वस्तुतः वह क्रोध का ही एक विकृत रूप है, बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। क्रोध के आवेश में हम तत्काल बदला लेने की सोचते हैं। सोचते क्या हैं – तत्काल बदला लेने लगते हैं। जिसे शत्रु समझते हैं, क्रोधावेश में उसे भला–बुरा कहने लगते हैं, मारने लगते हैं। पर जब हम तत्काल कोई प्रतिक्रिया व्यक्त न कर मन ही मन उसके प्रति क्रोध को इस भाव से दबा लेते हैं कि अभी मौका ठीक नहीं है, अभी तुरन्त आक्रमण करने से हमें हानि हो सकती है, शत्रु प्रबल है, मौका लगने पर बदला लेंगे, तब वह क्रोध बैर का रूप धारण कर लेता है और वर्षों दबा रहता है तथा समय आने पर प्रकट हो जाता है।

बैर क्रोध से भी अधिक खतरनाक है, यद्यपि जितनी तीव्रता और वेग क्रोध में देखने में आता है उतना बैर में नहीं, तथापि क्रोध का काल बहुत कम है, जबकि बैर पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है।

क्रोध और भी अनेक रूपों में पाया जाता है। झल्लाहट, चिड़चिड़ाहट, आदि भी क्रोध के ही रूप हैं। जब हमें किसी की कोई

बात या काम पसंद नहीं आता और वह बात बार–बार हमारे सामने आती है तो हम झल्ला पड़ते हैं, बार–बार की झल्लाहट चिड़चिड़ाहट में बदल जाती है। झल्लाहट और चिड़चिड़ाहट असफल क्रोध के परिणाम हैं। ये सभी विकार क्रोध के ही छोटे–बड़ रूप हैं। सभी मानसिक शान्ति को भंग करने वाले हैं, हमें इन्हें जीतना चाहिये। पर कैसे? पं. टोडरमल जी ने लिखा है –

अज्ञान के कारण जब तक हमें परपदार्थ इष्ट, अनिष्ट प्रतिभासित होते रहेंगे तब तक क्रोधादि की उत्पत्ति होती ही रहेगी, किन्तु जब तत्त्वाभ्यास के बल से पर–पदार्थों मं से इष्ट, अनिष्ट बुद्धि समाप्त होगी तब स्वभावतः क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होगी।

अपने अच्छे बुरे और सुख–दुःख का कारण दूसरों को मानना ही क्रोधादि की उत्पत्ति का मूल कारण है। जब हम अपने सुख–दुःख का कारण अपने में खोजेंगे, उनका उत्तरदायी अपने को स्वीकारेंगे तो फिर हमें क्रोध नहीं आयेगा।

क्षमा आत्मा का पवित्र गुण है। क्षमा के माध्यम से प्रेम भाव से हम विरोधी को भी अपना बना सकते हैं। क्षमा से हम क्रूर–से–क्रूर व्यक्ति को भी जीत सकते हैं।

एक बार मुस्लिम बहुल पानीपत में जैनों का रथोत्सव बंद कर दिया गया। जैन बंधुओं की संख्या कम थी, अंग्रेजों का शासन था लेकिन सौभाग्य से उस समय दिल्ली में सेठ सुगनचन्द्र जी थे, जो काफी प्रभावशाली थे। पानीपत का एक प्रतिनिधि मंडल रथोत्सव के सिलसिले में उनसे मिलने दिल्ली गया। सेठ जी को बड़ी पीड़ा हुई, जिनेन्द्र भगवान का रथोत्सव रुका हुआ है। सारी घटना सुनकर सेठ जी बोले–जाओ मित्रो रथोत्सव की तैयारी करो, मैं ठीक दो दिन

पहले आऊँगा। पानीपत में इस समाचार से जैन समाज में प्रसन्नता व्याप्त हो गई और सभी रथोत्सव की तैयारी में लग गये। ठीक समय पर सेठ जी पानीपत पहुँचे। सभी मुस्लिम भाइयों को बुलाया। जैसे ही मुस्लिम भाइयों को पता चला, वे विचार करने लगे जाना तो पड़ेगा ही, सरकार का आदमी है, चलो चलते हैं पर रथ नहीं निकलने देगें, चाहे कुछ भी हो जाये। सभी बड़े क्रोधित और लड़ने पर उतारू थे, अतः कुछ कसाईयों को साथ ले, जो खून से लथपथ थे, बड़े अहंकार के साथ सेठ जी से मिलने गये।

सेठ जी तो पहले से ही इंतजार कर रहे थे, लेकिन सामने जो दृश्य देखा तो सारी स्थिति भांपली कि अब क्या हो सकता है। सेठ जी ने भगवान का स्मरण किया। और दौड़ पड़े मुस्लिम भाइयों की ओर जो सबसे ज्यादा वीभत्स खून से लथपथ थे, उन्हीं को बाहुओं से लगा लिया। सेठ जी की राजसी पोशाक गंदी हो गई, मुस्लिम भाई सकपका गये। पारा नीचे उतर गया और सेठ जी को रोकने लगे कि आप क्या कर रहे हैं, हम तो आपसे ही मिलने आ रहे थे और कुछ तो सेठ जी के चरणों में गिर गये।

मुस्लिम भाइयों का मुखिया बोला आपने व्यर्थ ही कष्ट किया, आप आज्ञा करते, हम हाजिर हो जाते, आपके वस्त्र भी गंदे हो गये। बड़ी मधुर वाणी में सेठ जी बोले–वस्त्र तो धुल जाएँगे पर भाई कहाँ मिलते हैं। इतना सुनते ही मुखिया चरणों में गिर पड़ा, सेठ जी आज्ञा करो। सेठ जी बोले – आज्ञा नहीं मैं तो आपसे मिलने आया था, सो मिल लिया। पर यह जैन भाइयों का रथोत्सव का समय है, यदि आप प्रसन्न हैं तो रथ निकाला जाए। तब मुस्लिम बन्धु बोले सेठ जी रथ निकलेगा और जरूर निकलेगा, रथ में घोड़े, बैल नहीं, हम जुतेंगे, हम स्वयं खीचेंगे और उस दिन ही नहीं जैनों के समस्त

धार्मिक पर्वों में बूचड़ खाने बंद रहेंगे।

यह है क्षमा की महिमा, सारा वातावरण पवित्र हो गया, सभी भाई आपस में गले मिले, बड़ी धूम–धाम से रथ यात्रा निकली और रास्ते में जितनी मस्जिदें पड़ीं वहाँ जैन बन्धुओं का स्वागत सत्कार किया गया। रथोत्सव में मुस्लिम भाइयों का उत्साह देखते ही बनता था। सबने अपनी दुकानों के सामने यथा योग्य स्वागत किया। क्षमा की क्रोध पर विजय हुई, क्योंकि क्रोध में इतनी शक्ति कहाँ जो क्षमा के आगे टिक सके। क्षमा वह नौका है जिस पर बैठकर क्रोध के अथाह सागर को पार किया जा सकता है।

क्षमा एक पवित्र धर्म है, दशलक्षण पूजन में उत्तम क्षमा का वर्णन करते हुये द्यानतराय जी ने कहा है –

गाली सुन मन खेद न आनो, गुन को औगुन कहै अयानो।
कहि है अयानो वस्तु छीने, बाँध–मार बहूविधि करै।
घरतैं निकारै तन विदारै, बैर जो न तहाँ धरै।।

निमित्तों की प्रतिकूलता में भी जो शांत रह सके वह क्षमाधारी है। गाली सुनकर भी जिसके हृदय में खेद तक उत्पन्न न हो तब क्षमा है। किन्हीं बाह्य कारणों से क्रोध व्यक्त भी न करे, पर मन में खेद–खिन्न हो जावे तो भी क्षमा कहाँ रही? जैसे मालिक ने मुनीम को डाँटा–फटकारा तो नौकरी छूट जाने के भय से मुनीम क्रोध को प्रकट न करे, पर मन में खेद–खिन्न हो गया तो वह क्षमा नहीं कहला सकती। इसलिये तो लिखा है –

गाली सुन मन खेद न आनो।

जो गाली सुनकर चाँटा मारे, वह काया की विकृति वाला है। जो गाली सुनकर गाली देवे, वह वचन की विकृति वाला है। जो गाली

सुनकर मन में खेद लावे, वह मन की विकृति वाला है। परन्तु गाली सुन कर मन में खेद भी न आवे, वह क्षमाधारी है।

इसके भी आगे कहा है, गुन को औगुन कहै अयानो। हों हममे गुण, और सामने वाला औगुण रूप से वर्णन करे, और वह भी अकेले में नहीं भरी सभा में, फिर भी हम उत्तेजित न हों तो क्षमाधारी हैं।

कुछ लोग कहते हैं भाई। हम गालियाँ बर्दाश्त कर सकते हैं, पर यह कैसे संभव है कि जो दुर्गुण हममें नहीं हैं, उन्हें कहता फिरे। उन्हें भी अकेले में कहे तो किसी तरह सह भी लें, पर भरी सभा में कहे तो फिर तो गुस्सा आ ही जाता है।

द्यानतरायजी इसी बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि यदि गुस्सा आ जाता है, तो वह क्षमा नहीं है, क्रोध ही है। मान लो तब भी क्रोध न आवे, हम सोच लें, बकने वाले बकते हैं, बकने दो, हमें क्या है? पर जब वह हमारी वस्तु छीनने लगे, हमें बाँध दे, मारे और भी अनेक प्रकार से पीड़ा दे तब भी हम क्रोध न करें, तब उत्तम क्षमा के धारी कहलायेंगे।

क्षमा एक तप है। अगर कोई गाली देता है या खोटे वचन कहता है तो फिर उसे सहन कर जायें, यह बहुत बड़ा तप है। जो सभी पर क्षमा भाव रखता है, वह सदा सुखी रहता है। यदि सामनेवाला असमर्थ हो तो भी हमें उसे क्षमा ही करना चाहिये। वास्तव में वे ही क्षमाशील हैं जो असमर्थों को भी क्षमा कर देते हैं। जिसने क्रोध शत्रु को जीत लिया है, वही वीर पुरुष क्षमा को धारण कर सकता है। कायर मनुष्य इसे धारण नहीं कर सकता। जिसकी आत्मा बाह्य तुच्छ निमित्तों के संयोग से विकारवान् हो जाती है, वह क्रोध–शत्रु से लोहा नहीं ले सकता। क्रोध को परास्त करना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है।

सबल होते हुये भी सामनवाले को क्षमा कर देना ही सच्ची क्षमा है। कहा भी है –

क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल है।
न कि उसे जो दन्तहीन विषहीन विनीत सरल है।।

जो प्रतिकार करने की शक्ति के रहत हुये भी कमजोर व्यक्ति को क्षमा कर द, वही सच्ची क्षमा है। प्रतिकार करने की क्षमता रहते हुय भी अपने परिणामों में समता रखना, कर्मोदय की तीव्रता समझकर सहन कर लेना ही सच्ची क्षमा है।

जाप देने की जो माला होती है, उसमें 108 मोती के अलावा तीन मोती 'सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः' के होते हैं तथा जो गाँठ होती है, उसे मेरू की गाँठ कहते हैं। मेरू महाराज विमलनाथ भगवान के प्रमुख गणधर थ। वे जब ध्यान में लीन थे, तब उनके ऊपर से एक विद्याधर विमान द्वारा कहीं जा रहा था। महाराज के ऊपर आत ही उसका विमान रुक गया। अपने पूर्वभव का बैरी जानकर उसने एक ऐसा भयंकर अस्त्र महाराज के ऊपर छाड़ा कि जो महाराज के निकट आने पर 8 से 16, 16 से 32, 32 स 64, दुगना – दुगना बढ़ता ही जाता था। यदि वह अस्त्र महाराज को लगता तो वह उन्हें छलनी–छलनी कर देता। पर किसी दूसरे विद्याधर न उसे बीच में ही रोक दिया। उसी समय मुनिराज शुक्लध्यान में लीन हो गये और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। केवलज्ञान होत ही सौधर्म इन्द्र उनकी स्तुति करने नीचे आया और बाला– हे भगवन्! उस विद्याधर न ऐसा क्यों किया? विद्याधरणी के मना करने पर भी उसने वह अस्त्र क्यों छाड़ा? कवलज्ञानी भगवान् बोल–मैं पूर्व भव में राजा था और किसी अपराध के कारण मैंने उसे

सजा दी थी, इसलिये वह बैर बाँधकर यहाँ से चला गया था। इन्द्र बोला—महाराज! आपके पास तो इतनी महान शक्तियाँ व ऋद्धियाँ थीं, पर आपने उसका प्रतिकार क्यों नहीं किया? यदि आप उसकी तरफ बस आँख उठाकर भी देख लेते तो वह विमानसहित राख होकर नीचे आ जाता। हे भगवन्! आपकी क्षमा को धन्य है, जो समर्थ होते हुये भी आपने उसे क्षमा कर दिया और ध्यान में लीन होकर उस क्षमा के परिणामस्वरूप केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। उन मेरू महाराज के नाम पर सौधर्म इन्द्र ने माला में उस गाँठ का नाम मेरू की गाँठ रखा, ताकि सभी लोग युगों—युगों तक मेरू महाराज की क्षमा को याद रखें। जाप देने के बाद 'सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः,' तथा मेरू महाराज को नमस्कार कर उनकी क्षमा को अवश्य याद करना चाहिये और क्षमाधर्म को अपने जीवन में लाने का प्रयास करना चाहिये।

क्षमः श्रेयः क्षमः पूजा, क्षमः शमयः क्षमः सुखः।
क्षमः दानं क्षमः पवित्रं च, क्षमः माँगल्यं उत्तमम्।।

क्षमा ही पूजा है, क्षमा ही पवित्रता है, क्षमा ही सुख है, क्षमा ही दान है, क्षमा ही प्रकाश है। संसार में क्षमा सबसे उत्तम धर्म है। जिसके हृदय में क्षमा है, उसमें सभी धर्म हैं। अतः क्रोध को छोड़कर ऐसे पवित्र क्षमाधर्म को धारण करो।

श्री समतासागर महाराज जी ने लिखा है – क्रोधी व्यक्ति का स्वभाव अपने आप में अलग होता है। बात—बात में उसे झुंझलाहट आती है। बात—बात में उसका स्वभाव चिड़चिड़ा होता है। बड़े प्रेम से, बड़े प्यार से भी आप उनसे बात करो, पर उनका जवाब बड़ा रूखा और टेढ़ा—मेढ़ा मिलेगा।

एक सज्जन भोपाल से ललितपुर जा रहे थे। उन्होंने समय पास करने के लिये पास बैठे हुये सज्जन से पूछा—भाई साहब! आप कहाँ जा रहे हैं। वे बड़े गुस्से में बोले—क्या मतलब आपको, कहीं जा रहे हों? नहीं, साहब! ऐसे ही मैंने पूछा कहाँ जा रहे हैं? 'जहाँ गाड़ी ले जाये वहाँ जा रहे हैं।' नहीं—नहीं, मैंने बस इसलिय पूछा कि मैं ललितपुर तक जा रहा हूँ, सोचा आपसे कुछ बातचीत करूँगा तो समय आसानी से कट जायेगा, अतः पूछ लिया कि आप कहाँ तक जा रहे हैं? 'ललितपुर जा रहा हूँ।' अच्छा, आप भी ललितपुर जा रहे हैं? ललितपुर में हमारे नाना जी रहते हैं। 'तुम्हारे नाना जी रहते हैं तो इसमें मेरी क्या गलती?' नहीं; नहीं भाई! मैंने इसलिये पूछा कि शायद आप भी उसी मुहल्ले में रहते होंगे? जिस मोहल्ले में वो रहते हैं? 'तुम्हारे नाना जी उस मुहल्ले में रहते हैं तो मैं वह मुहल्ला छोड़ दूँ क्या? समझ में नहीं आता कि कहाँ—कहाँ के लोग आ जाते हैं? अरे! तुम तो नाक में दम किये हो' कहते हुए उसने अपना थैला उठाया और दूसरी सीट पर जाकर बैठ गया। अब बताओ, यह कौन—सा स्वभाव है? क्रोधी व्यक्ति को बात—बात में झुंझलाहट आती है। किसी के चेहरे को पढ़कर आप पहचान सकते हैं कि यह व्यक्ति शान्त है या उग्र स्वभावी। आँखें लाल होने लगें, भौंहें टेढ़ी होने लगें, चेहरा तमतमा जाये तो समझ जाना कि भैया जी आपे से बाहर हो रहे हैं। आपे से अर्थात् अपने क्षमा स्वभाव से बाहर हो रहे हैं। चेहरा तमतमाना, ओंठ फड़फड़ाना और शरीर से पसीना बहने लगना, यह सब क्रोधी व्यक्ति के बाहरी लक्षण हैं। अपशब्दों का प्रयोग, गाली—गलौच करना, मारपीट पर उतारू हो जाना, यह क्रोधी के लिये सामान्य—सी बात है, जिससे सदा स्व व पर दोनों का अहित ही होता है।

हमें विचार करना है कि यह क्रोध आता क्यों है? कई लोग कहते हैं कि मैं क्रोध करना नहीं चाहता फिर भी यह क्रोध क्यों आ जाता है? क्रोध आने के कई कारण बाहरी भी हैं, जैसे–

1. इच्छापूर्ति में बाधा होना।
2. मनचाहा न होना।
3. मानसिक अस्त–व्यस्तता आदि।

इच्छापूर्ति में बाधा होना क्रोधोत्पत्ति का पहला कारण है।

सेठ जी दुकान पर बैठे हुये हैं, गर्मी का मौसम है। सेठ जी ने अपने प्यारे नौकर से कहा–बेटा बिहारी! एक गिलास ठंडा पानी ला, बिहारी फौरन ठंडा पानी ले आया। सेठ जी ने पानी पिया तो सेठ जी बड़े प्रसन्न हुये, 'वाह, बेटा! वाह!' शाबासी दे दी और कहा–तू तो बड़ा अच्छा काम करता है। आधे घंटे बाद सेठ जी ने फिर आवाज दी–अरे, बेटा बिहारी! एक गिलास पानी और ला, गर्मी बहुत है। बिहारी पुनः पानी लेकर आया। पानी ठंडा था, पर जितना ठंडा पहली बार था, उतना ठंडा इस बार नहीं था। चेहरा थोड़ा–सा बिगड़ा, अब की बार शाबासी नहीं मिली, कुछ कहा भी नहीं। नौकर काम में लग गया। थोड़ी देर बाद फिर आवाज दी–अरे बिहारी! जरा एक गिलास पानी तो और ला। बिहारी काम में उलझा हुआ था, सेठ जी की दुकान का ही कार्य कर रहा था। ध्यान से बात जरा निकल गई। सेठ जी को फिर आवाज देनी पड़ी–अरे बिहारी! पानी ला। और बिहारी गिलास भर करके पानी ले आया। अब की बार पानी लाने में देर भी हो गई और पानी थोड़ा और गर्म हो गया था। सेठ जी ने बेसब्री से गिलास ओंठों से लगाया कि एक घूँट पानी पीते ही सेठ जी की भृकुटियाँ तन गईं। गिलास को जमीन पर पटकते हुये बोले कि नालायक कहीं का,

ऐसा पानी लाया है? पानी ठंडा नहीं था तो बहुत गर्म भी नहीं था, बीच का था, लेकिन सेठ जी की स्थिति यह बनी कि पानी तो कम गर्म था, सेठ जी बहुत ज्यादा गर्म हो गये। इच्छापूर्ति में बाधा हुई। सेठ जी ने चाहा था कि अच्छा ठंडा पानी मिले, लेकिन वैसी व्यवस्था तुरन्त नहीं हो पाई तो क्रोध आ गया।

मनचाहा नहीं हो पाना भी क्रोध आने का कारण है। सासू जी चाहती हैं कि जो बहू घर में आई है, हम जैसा चाहें, वह वैसा काम करे। और बहू चाहती है कि हम जैसे मम्मी–पापा के घर में रह करके आये हैं, वैसी ही सुखसुविधा यहाँ भी मिले। बस इसी में तो बात बिगड़ती है।

पिताजी चाहते हैं, कि हमारा बेटा क्लास में टॉप करे। रिजल्ट आया, पर बेटा टॉप नहीं कर पाया। क्लास में चौथा नम्बर आया तो पिता जी को गुस्सा आ जायेगी। मार्क–सीट देखेंगे तो फाड़ देने को तैयार होंगे कि मैंने क्या आशा रखी थी और हुआ क्या? साल भर तुम्हारी ट्यूशन भी कराई, इतना पैसा बर्बाद कर दिया और तुम स्कूल में भी टॉप नहीं कर पाये। बेटे को हजार बातें सुनायेंगे, गुस्सा करेंगे। ये बात अलग है कि पिताजी स्वयं एक क्लास में तीन–तीन बार फेल हुये होंगे। उनकी मार्कशीट निकालकर देखी जाये तो बात समझ में आ जायेगी। पर बेटे से तो उन्होंने अपेक्षा यही रखी थी कि बेटा स्कूल में, जिले में टॉप करे परन्तु नहीं कर पाया। बेटे ने ईमानदारी से बहुत मेहनत की, पर भाग्य ने साथ नहीं दिया। मनचाहा काम न होना क्रोध आने में कारण है।

मानसिक अस्त–व्यस्तता हो, तब भी गुस्सा आती है। आप किसी काम में उलझे हों, परेशान हो रहे हों, जरा हिसाब–किताब नहीं जम

रहा हो, उस समय यदि कोई आकर माथापच्ची करने लगे तो तुम्हें बड़ी गुस्सा आयेगी। सबको गुस्सा आती है, चाहे ऑफिस में हो, दुकान पर हो, कहीं भी हो। मानसिक अस्तव्यस्तता होती है तो स्वभावतः क्रोध आता है। नीतिकार ने एक कहानी लिखी है—

एक बार बरसात के दिनों में वया पक्षी अपने घोंसले में पानी से बचकर सुरक्षित बैठा था। बन्दर पानी से परेशान हो रहा था। कभी इस डाल पर तो कभी उस डाल पर भींगता हुआ बैठा था। मन उलझा हुआ परेशान—सा था। वया पक्षी बन्दर को समझाते हुये बोला—रे श्रीमान बन्दर! तुम तो मनुष्यों—जैसी शक्ल को लिये हो, बुद्धिमान भी दिखते हो, फिर मुझ—जैसा एक घौंसला तैयार क्यों नहीं कर लेते, व्यर्थ पानी में परेशान हो रहे हो? उस मानसिक अस्त—व्यस्तता में जबकि बन्दर बड़ा परेशान हो रहा था, वया पक्षी का हितकर उपदेश भी बन्दर को क्रोध का कारण बन गया और बन्दर ने कहा—तुझे अपने घोंसले का बड़ा गरूर है जो मुझे उपदेश दे रहा है। उस बन्दर ने गुस्से में वया पक्षी के घौंसले को तोड़कर फेक दिया। मानसिक अस्त—व्यस्तता में अच्छा उपदेश भी दिया जाये तो हमारे लिये क्रोध का कारण बन जाता है।

अपने को सही और दूसरे को गलत सिद्व करना भी क्रोध उत्पत्ति का कारण है।

पिताजी कुर्सी पर बैठे हुये अखबार पढ़ रहे थे, मम्मीजी काम में व्यस्त थीं। बेटे ने पिताजी से पूछा—पापाजी! रसिया और अमरिका में युद्ध क्यों होते रहते हैं? बहुत बार सुना है कि ये आपस में युद्ध करते रहते हैं, आखिर कारण क्या है? पापाजी कहते हैं—बेटे ! यह तो उनकी अपनी अपनी अर्थनीति है। वे एक दूसरे को समृद्ध नहीं देख पाते, इसलिये एक दूसरे को कमजोर करने के लिये आपस में

युद्ध करते रहते हैं। मम्मीजी भी जरा समझदार थीं, आजकल के जमाने की थीं, सो उन्होंने बात को काटते हुये कहा–'नहीं.......नहीं ......। अर्थनीति के कारण नहीं, युद्ध करना तो उनकी राजनीति है।'–पिताजी कहते हैं–'तुम कुछ नहीं समझतीं। मैं देश–दुनिया को जानता हूँ, अर्थनीति के कारण ही युद्ध होते हैं।' मम्मीजी कहती हैं–'मैं सब समझती हूँ। ये लोग राजनीति के कारण ही आपस में लड़ते हैं।' और कहा–सुनी के साथ जब बात बढ़ने लगी तो बेटे ने हाथ जोड़े और कहा कि मुझे मालूम हो गया कि युद्ध क्यों होते हैं। वहाँ जिस कारण से होते होंगे सो होते होंगे, लेकिन यहाँ मुझे यह अच्छे से समझ में आ गया कि युद्ध क्यों होते हैं। साफ–साफ दिख रहा है, कि जरा मैं सही, तू गलत; जरा मेरा सही, तेरा गलत और ऐसा करते–करते युद्ध की नौबत आ जाती है। सारा वातावरण तहस–नहस हो जाता है। स्वर्ग–जैसा सुन्दर घर भी क्षण भर में क्रोध के कारण नरक में बदल जाता है। जिन्दगी के महल में भी जरा तालमेल नहीं बैठाया गया तो क्रोध के आवेश में आ करके खण्डहर में बदला जा सकता है। यह हमारी कषाय का परिणाम है।

क्रोध करने से सदा अहित ही होता है, यह सभी लोग जानते हैं। कई लोग कहते भी हैं कि मैं क्रोध करना नहीं चाहता, फिर भी जरा–जरा–सी बात में क्रोध आ जाता है, ऐसा क्यों? एक बहुत अच्छे विचारक ने लिखा है कि क्रोध अज्ञानता से शुरू होता है और पश्चात्ताप पर जा करके खत्म होता है। यह सबके जीवन का अनुभव है कि क्रोध की शुरूआत अज्ञानता से, अविवेकपने से होती है और समापन पश्चात्ताप में ही होता है। अंत में वह स्वयं दुःखी होता है, उसकी वेदना उसे स्वयं होती है।

एक बार एक राजा जंगल में शिकार करने गया। सुबह से बड़ा

परेशान रहा। उसे कुछ नहीं मिला। थक करके वह एक वटवृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा। उसे बड़े जोरों से प्यास लगी। प्यास के कारण उसका कंठ सूख रहा था। उसने वृक्ष की खोह में से आती हुई पानी की धार को देखा। उठकर उसने चार–पाँच पत्ते तोड़े और दोना तैयार कर लिया। पानी की धार में दोना को लगा करके वह पानी को बूँद–बूँद इकट्ठा करने लगा। धीरे–धीरे पानी दोना में भर गया। जैसे ही राजा पानी पीने को हुआ, पता नहीं कहाँ से एक तोता उड़कर आया और उसने पंख मारकर दोना जमीन पर गिरा दिया। सारा पानी फैल गया। राजा को गुस्सा आ गई, 'मैं इतना परेशान, पानी का इंतजाम नहीं; जैसे–तैसे पानी मिला तो इस तोते ने उसे गिरा दिया। फिर उसने दोने को उठाया, पानी इकट्ठा करना शुरू कर दिया।' धीरे–धीरे पानी फिर इकट्ठा हुआ। अबकी बार जैसे ही राजा बड़ी पिपासा के साथ पानी पीने को हुआ, कि तोता उड़कर आया, उसने फिर पंख मारा और दोना गिरा दिया। अबकी बार राजा का मन क्षुब्ध हो गया–'यह तोता तो मेरे पीछे ही पड़ गया, क्या बात है? क्या यह आज पानी नहीं पीने देगा?' राजा ने सोचा कि तोता फिर आयेगा पानी गिराने, जरा सावधानी रखना चाहिये और फिर दोना उठाकर उसने पानी इकट्ठा किया। तीसरी बार जैसे ही पानी पीने को राजा हुआ कि तोता पहले से ही देख रहा था कि राजा दोना उठा रहा है। यहाँ राजा का दोने को अपने ओंठों की तरफ ले जाना हुआ कि तोता बड़ी तेजी के साथ आया, पंख फड़फड़ाये और दोने को गिराकर आगे बढ़ गया। राजा को क्रोध आ गया। ये तोता तो मेरे प्राणों ही के पीछे पड़ा हुआ है। मेरा कंठ प्यास से सूखा जा रहा है और ये बार–बार पानी को गिरा रहा है। जरूर कोई–न–कोई बदला ले रहा है। क्रोध में विवेक समाप्त हो जाता है। 'अब की बार

देखते हैं, इसे आने दो। क्रोधाविष्ट राजा दूर डाल पर बैठ तोते को देख रहा था और तोता भी राजा को निहार रहा था, मानों वह मूक प्राणी कुछ कहना चाह रहा हो। राजा ने फिर दोना को उठाया, पानी इकट्ठा किया और जैसे ही पीने को हुआ कि तोता फिर आ रहा था। अबकी बार राजा एकदम चौकन्ना/सावधान था। एक हाथ में उसने दोना ले रखा था और दूसरे हाथ में चाबुक ले लिया था। राजा ने सोच लिया था कि अबकी बार भी यदि तोता पानी गिराता है तो मैं तोते का काम तमाम कर दूँगा। तोता दोना गिराने के लिये आगे बढ़ा कि उस क्रुद्ध सम्राट ने अपने हाथ का चाबुक बड़ी निर्दयता से तोते को दे मारा। छोटा-सा तो पंछी था, मुट्ठी भर उसकी जान थी, तड़फड़ाया और जमीन पर ढेर हो गया, उसके प्राण पखेरू उड़ गये। राहत की सांस लेते हुये राजा ने सोचा कि काफी देर हो गई है, दोना-दोना करके कितनी देर में पानी पी पाऊँगा। क्यों न जहाँ पानी का स्रोत है, जहाँ से धार बहकर आ रही है, वहीं पेड़ पर पहुँचकर पानी पी लिया जाये तो ठीक रहेगा। दोना फेककर राजा शीघ्रता से पेड़ पर चढ़ा, पर वहाँ जाकर राजा ने जो देखा तो राजा फटी-फटी आँखों से देखता ही रह गया। भय से उसका शरीर काँप गया। किंकर्तव्यविमूढ़ राजा एकदम पश्चात्ताप में डूब गया, मैंने यह क्या कर दिया? राजा को सारी-की-सारी बात चलचित्र की तरह दिखने लगी। राजा कुछ सोच ही नहीं पा रहा था कि मैंने यह क्या अनर्थ कर दिया। क्योंकि जिसे वह पानी की धार समझ पीने को आतुर था, वह पानी की धार नहीं बल्कि अजगर सर्प के मुख से निकलनेवाला जहर था, जो अजगर के सोते समय उसके मुख से बह रहा था। राजा पश्चात्ताप में डूब गया। मुझे प्रजापाल समझ इस तोते ने तो मेरे प्राणों की रक्षा की और मैं प्रजापाल, रक्षक होकर भी तोते

का संहारक बन गया। मेरे द्वारा यह बहुत बड़ा अपराध हो गया। राजा क्रोध के कारण विवेकशून्य/अंधा हो गया और उसने इतना बड़ा अक्षम्य अपराध कर दिया। राजा बड़ा दुःखी हुआ, पर अब पछताये होत क्या? तोते के तो प्राणपखेरू उड़ चुके थे। इसीलिये कहा है—क्रोध अंधा होता है। क्रोध में वह क्या कर जाये, कुछ कहा नहीं जा सकता। उस क्रोध ने राजा को अविवेकी बना दिया और उससे यह अक्षम्य अपराध हो गया। तोते की मृत देह को देखकर राजा सिर्फ पश्चात्ताप के आँसू ही बहा सका, किन्तु कुछ कर न सका। तोता तो चला गया, पर उस सम्राट को हमेशा के लिये विचारकर कार्य करने की सीख मिल गई।

क्रोध की बढ़ती हुई स्थिति के बारे में 'गीता' में कहा गया है —

क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

क्रोध से मूढ़ता, मूढ़ता से स्मृति—भ्रान्ति, स्मृति—भ्रान्ति से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से प्राणी का विनाश हो जाता है। अग्नि दूसरों को तो जलाती ही है, पर खुद को भी जलाती है। क्रोध को अँगार कहा गया है। हाथ में अँगार उठाकर आप किसी के ऊपर फेकेंगे तो सामनेवाला जले, या न जले, तुम्हारा हाथ तो जलेगा ही। क्रोध को अँगार के समान माना गया है, जिससे सामनेवाला जले, या न जले पर क्रोधी अपने आप को जलानेवाला तो होता ही है।

क्रोध को जीतनेवाला ही क्षमाधर्म को धारण कर सकता है। क्षमा धर्म की महिमा के बारे में लिखा है —

नरस्याभरणं रूपं, रूपस्याभरणं गुणः।
गुणस्याभरणं ज्ञानं, ज्ञानस्याभरणं क्षमा।।

मनुष्य का आभूषण रूप है, रूप का आभूषण गुण है, गुण का आभूषण ज्ञान है और ज्ञान का आभूषण क्षमा है। ऐसे क्षमाधर्म को अपने जीवन में अवश्य ही धारण करना चाहिए।

क्षमा ही मन को शान्त व स्थिर रखने में समर्थ है। क्रोध को रखते हुये मन स्थिर नहीं रह सकता। मन की स्थिरता तो सभी चाहते हैं। मन को शान्त रखने का अच्छा उपाय है क्षमा करना। क्षमाशील व्यक्ति ही सदा सुखी रहते हैं।

एक घर में एक साँप था। जब उस घर में बच्चे को दूध पीने के लिये कटोरा भर दिया जाता तो वह साँप आये और उस दूध को पी ले। बच्चा उस साँप को हाथ से मारता जाय, मगर उस साँप ने क्षमा व्रत लिया था, सो वह खूब आराम से रहे। एक दिन दूसरे साँप ने देखा कि यह तो दूध पी आया है और मस्त है। वह बोला–यार! तुम तो बड़े मस्त हो, मुख में दूध लगा है, आप कहाँ धावा मारा करते हो? 'हम तो बच्चे के पास से दूध पी आते हैं।' हमें बता दो, हम भी पी लिया करेंगे। 'तुम नहीं पी सकते हो।' क्यों? बोला–'दूध वही पी सकता है, जिसमें क्षमा हो । वह बच्चा थप्पड़ मारता है। जिसको थप्पड़ सहने की शक्ति हो, वही दूध पी सकता है।' अरे! तो हम भी सह लेंगे । कहा– 'नहीं सह सकते हो।' द्वितीय साँप ने संकल्प लिया कि अच्छा! तो लो 100 थप्पड़ तक हम जरा भी क्रोध नहीं करेंगे, और वह दूध पीने गया। बच्चा थप्पड़ मारे, जब 80,90,95,97,99 और 100 थप्पड़ हो गये, तब तक कुछ न कहा। पर जब 101–वाँ थप्पड़ बच्चे ने मारा तो उसने फुँकार मारी, बच्चा डरकर चिल्ला पड़ा। घर के लोग दौड़े, साँप को देखा और मार डाला। तो सुख और शान्तिपूर्वक अपना जीवन चलाने के लिये क्षमा का गुण होना चाहिये। जो क्षमाशील होते हैं, वे ही सुखी और शान्त रहते हैं।

जो क्षमाशील होता है, वह दूसरों के दोषों को नहीं कहता। वह अपने निमित्त से किसी दूसरे को दुःखी नहीं करना चाहता। दूसरों के दोष देख कर चुप रहने में ही भलाई है।

एक किसान और किसानिन थे। किसान तो उजड्ड था और किसानिन शांत थी। 10–12 वर्ष दोनों को घर में रहते हुये हो गये थे, पर किसान उसे पीट न सका था। उसके मन में यह इच्छा सदा रहती थी कि कभी तो इसको दो चार मुक्के लगायें, पर उसे कभी मौका नहीं मिल पा रहा था। एक बार अषाढ़ के दिनों में दोपहर के समय किसान खेत जोत रहा था, और वह स्त्री रोज रोटी देने उसी समय आती थी। किसान ने जोतना बन्द कर दिया और एक बैल को पश्चिम की तरफ मुख करके जोत दिया और एक बैल को पूर्व की तरफ मुख करके जोत दिया और हल फँसा दिया। सोचा इस अनहोनी घटना को देखकर स्त्री कुछ–न–कुछ तो कहेगी ही। ऐसे ही बच्चों का पालन पोषण हो जायेगा, ऐसे ही काम चल जायेगा इत्यादि कुछ–न–कुछ तो बोलेगी ही, बस हमें पीटने का मौका मिल जायेगा। उसकी स्त्री रोटी लेकर आयी और दूर से ही देखकर समझ गई कि आज तो हमें पीटने के ढंग हैं। वह आयी और बोली–चाहे सीधा जोतो, चाहे उल्टा, हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं है। हमारा काम तो केवल रोटी देने का था, सो लो । यह कहकर रोटी देकर वापिस चली गई। वह किसान इस बार भी उसे पीट न सका, सोचता ही रह गया। दूसरों के दोष देखकर जो चुप रहता है, वह बड़े–बड़े उपसर्गों में भी शान्त बना रहता है। उत्तम क्षमा वहाँ होती है, जहाँ दूसरों के दोषों को नहीं कहा जाता।

यदि हम गुस्सा कर रहे हैं तो अन्ततः जिम्मेवार हम स्वयं हैं। कोई हमें गुस्सा करवा नहीं सकता। वह निमित्त मात्र बन सकता है।

ये मेरी च्वाइस (चुनाव) है कि मैं चाहूँ तो गुस्सा करूँ और चाहूँ तो गुस्सा न–करूँ।

एक बार एक महात्मा गाँव से जा रहे थे। तो गाँव के लोग बर्तन भर–भर कर मिठाई लेकर आये। महात्मा जी ने कहा–अभी हमें वक्त नहीं है, क्षमा करें; हम आपका आदर स्वीकार करते हैं, पर मिठाइयाँ आप सब खायें और खुश रहें। सभी मिठाइयाँ लौटा दी गईं। दूसरे गाँव के लोग महात्मा जी से नाराज थे, वे उन महात्मा जी को नहीं मानते थे। उन्होंने महात्मा जी को आते देखकर गालियाँ देना शुरू कर दीं, थाल–के–थाल भर करके गालियाँ दीं। महात्मा जी ने कहा–अभी हमारे पास वक्त नहीं है, कृपया क्षमा करें, हम नाराज न हो सकेंगे, हम आपकी गालियाँ ले न सकेंगे। महात्मा जी के शिष्य ने कहा–आप कहो तो मैं इन्हें ठीक कर दूँ? महात्मा जी ने कहा–नहीं, हमने जैसे मिठाइयाँ स्वीकार नहीं की थीं, तो वे किसकी हैं? जो लाये थे, उन्हीं की हैं। उसी प्रकार हमने गालियाँ स्वीकार नहीं कीं तो ये गालियाँ भी जो लाये थे उन्हीं को वापिस हो गईं। हमें इसमें ज्यादा विचार करने की आवश्यकता ही नहीं। क्या हम इतनी आसानी से क्रोध को जीत सकते हैं? जीत सकते हैं, पर हमें थोड़ी देर को बच्चों–जैसा बनना पड़ेगा। अगर बच्चों–जैसा बनकर क्रोध करेंगे तो मुश्किल से 4–5 मिनट से ज्यादा नहीं कर पायेंगे। बच्चे आपस में झगड़ा कर लेते हैं, और 2–3 मिनट बाद सब भूलकर फिर से एक–साथ खेलने लगते हैं।

शान्तस्वभावी जीव की स्वयं की आत्मा में शान्ति रहती है और जो भी उसके पास पहुँचता है उसकी आत्मा में भी स्वतः शान्ति आ जाती है।

इन कषायों को जीतकर अपने जीवन को सरल बनाने का प्रयास

करें। जो सरल व शान्त होते हैं, वे विपरीत परिस्थितियों में भी सदा सुखी रहते हैं। एक बेटा खेलता रहता है। वह पेड़ पर पत्थर फेकता है कि उसमें से आम टूटकर गिरें और हम खायें। अचानक क्या होता है कि राजा की सवारी निकलती है और वह पत्थर जाकर के राजा के माथे पर लग जाता है तो सारे लोग दौड़ पड़ते हैं कि अरे, राजा को पत्थर मार दिया और उस लड़के को पकड़ लेते हैं। उसकी माँ भी साथ में थी। वह घबराई कि अब क्या होगा? अब तो गया काम से। घबरा ही जायेगा, कोई भी हो। वह राजा के सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गई। किसने मारा है यह पत्थर? इस मेरे बेटे के हाथ से लग गया है। तो इसे सजा देनी चाहिये। हाँ, भगवन्! सजा दीजियेगा। राजा बोले–इतनी आसानी से सजा माँग रही हो? वह बोली–हाँ, आसानी से ही तो सजा माँग रही हूँ, क्योंकि जब –जब भी मेरा बेटा इस पेड़ को पत्थर फेककर मारता है तो पेड़ एक मीठा फल उसे देता है, आज तो उसका पत्थर आपसे टकराया है। मैं देखूँगी कि आज आप उसे क्या देते हैं? जब एक छोटा–सा पेड़ उसके पत्थर फेकने से मीठा फल देता है, तब आपके सिर से टकरानेवाला पत्थर तो कुछ विशेष ही देगा। कहते हैं कि राजा सजा देना भूल गया, राजा उसे इनाम दे बैठा। ऐसे ही हम यदि अपने जीवन को बनायें, इन कषायों को जीतने का प्रयास करें तो निश्चित ही हमारा जीवन धार्मिक बन सकता है।

श्री क्षमासागर जी महाराज ने लिखा है – क्रोध आने का सबसे प्रमुख कारण है हमारी अपनी अपेक्षाओं की पूर्ति न होना । यदि हमारी अपेक्षाओं की पूर्ति होती रहती है तो हम बड़े शान्त, बड़े सज्जन दिखाई पड़ते हैं; लेकिन जब हमारी अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं होती है, तब हमारी अपनी वास्तविकता सामने आना शुरू हो जाती

है। अपेक्षायें पूरी न होने पर हमारे भीतर कषायें बढ़ती हैं और धीरे–धीरे हमारे जीवन को नष्ट कर देती हैं। जिसकी जितनी ज्यादा अपेक्षा है, वह तुरन्त ही उतने ज्यादा क्रोध से घिर जायेगा।

एक व्यक्ति रास्ते में चला जा रहा था। उनका बेटा भी साथ में था। पॉकिट से रूमाल निकालकर मुँह पोंछते समय दस का एक नोट नीचे गिर जाता है। बेटा नहीं देख पाता यह वह स्वयं भी नहीं देख पाता। पीछे से आनेवाला एक अन्य व्यक्ति वह नोट उठाकर उन सज्जन को दे देता है। सज्जन उन्हें धन्यवाद कहते हैं और बेटे को गुस्से से देखते हैं –क्यों रे! इतना भी नहीं देख सकते थे? इससे अपेक्षा है। जिससे अपेक्षा है, उसके प्रति क्रोध है। जिससे कोई अपेक्षा नहीं थी, उसने उठाकर दे दिया तो उसे धन्यवाद।

थोड़ा और आगे बढ़े ! अबकी बार चश्मा पौंछने के लिये फिर रूमाल निकाला, फिर एक नोट गिर गया। अबकी बार बेटा सावधान था। उसने वह नोट उठाकर पिता जी को दे दिया। पिता ने उसे कोई धन्यवाद नहीं दिया। उसे तो यह करना ही चाहिए था। तुम नहीं करोगे तो कौन करेगा? जिससे अपेक्षा है, उसके प्रति अपेक्षा पूरी होने पर कृतज्ञता का भाव भी नहीं है और अपेक्षा पूरी न होने पर तुरन्त क्रोध आ जाता है। हमें दिन भर में यह विचार करना है कि मैं कहाँ – कहाँ अपेक्षायें रखता हूँ, और उनकी पूर्ति न होने पर किस तरह से क्रोध करता हूँ।

यदि हम वास्तव में क्रोध को बुरा समझते हैं और उससे बचना चाहते हैं तो अपनी अपेक्षाओं को कम करना शुरू कर दें। कभी–कभी हम लोग क्षमा भी धारण कर लेते हैं, लेकिन हमारी क्षमा बहुत अलग ढंग की होती है। रास्ते में चले जा रहे हैं, किसी का धक्का लग

जाता है, तो मुड़कर देखते हैं। यदि धक्का लगानेवाला अपने से कमजोर है तो वहाँ अपनी ताकत दिखाते हैं—क्यों रे, देखकर नहीं चलता? यदि वह ज्यादा ही कमजोर है तो शरीर की ताकत भी दिखा देते हैं। लेकिन अपन बहुत होशियार हैं। अगर वह पहलवान है तो अपन क्षमाभाव धारण कर लेते हैं, कहते हैं—कोई बात नहीं, भाई साहब! होता है ऐसा। वहाँ एकदम क्षमा धारण कर लेते हैं। यह मजबूरी में की गई क्षमा है। यह कोई क्षमा नहीं है।

दुकान पर ग्राहक आये हैं। वे कहते हैं—ये चीज दिखाओ।

हाँ। देखो, साहब।

— ये नहीं वह चीज दिखाओ।

— हाँ, देखो, साहब।

— ये नहीं, वह। ऐसे पचास चीजें देख लीं, बाद में उठते हुये धीरे से कहा—फिर कभी आऊँगा, अभी तो पसंद नहीं आया। तब भी आप उस पर क्रोध नहीं करेंगे। जिस दुकानदार को क्रोध आयेगा, उसकी दुकानदारी मिट जायगी। कोई दुकानदार क्रोध नहीं करेगा। ऐसे स्वार्थवश भी हम क्षमाभाव धारण करते हैं, अपनी मजबूरी से। किसी सांसारिक आकांक्षा को लेकर भी हम क्षमाभाव धारण करते हैं। अपने मान—सम्मान के लिये भी हम चार लोगों के बीच क्षमाभाव धारण कर लेते हैं। पर यह सब सच्ची क्षमा नहीं है।

क्रोध करने से सदा अहित ही होता है। हमें क्रोध नहीं करना चाहिये—यह कहना तो बहुत आसान है, लेकिन अगर क्रोध आ जाता है तो हमें क्या करना चाहिये? इसका साल्यूशन (समाधान) क्या है? क्रोध से बचने के लिये अलग—अलग लोगों ने अलग—अलग उपाय बताये हैं। श्री क्षमासागर जी महाराज ने लिखा है —

क्रोध से बचने का पहला उपाय है, जब भी क्रोध आये तो थोड़ा विलम्ब करो। क्रोध में शीघ्रता न करो। आचार्यों का उपदेश है कि शुभ करना है, तो तुरन्त करो और अशुभ करना है तो विलम्ब करो, कल पर छोड़ दो।

दार्शनिक गुरजिएफ के दादा जी मरने लगे तो उन्होंने गुरजिएफ को वसीयत में एक सीख दी—बेटे! इतना याद रखना कि अगर कभी किसी पर क्रोध आये तो उससे इतना कहना कि मैं चौबीस घंटे बाद आपकी बात का जवाब दूंगा, इतना कहकर चौबीस घंटे के लिये उससे विदा ले लेना। फिर चौबीस घंटे में विचार कर लेना क्रोध के कारणों पर क्रोध के औचित्य पर और क्रोध के परिणामों पर।

गुरजिएफ ने अपनी जीवनी में लिखा है – इस सूत्र ने, इस सीख ने मेरे जीवन को स्वर्ग बना दिया। मेरे जीवन में खुशियाँ भर दीं, क्योंकि चौबीस घंटे बाद जवाब देने जैसा कुछ लगा ही नहीं। जवाब देने जैसा कुछ रहा ही नहीं।

क्रोध से बचने का दूसरा उपाय है—सकारात्मक सोच, पॉजीटिव थिंकिंग। जब कोई भी घटना हमारे सामने घटित होती है, तो हम उसमें जो भी खराबियाँ है, कमियाँ है, उन पर बहुत ध्यान देते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे अंदर क्रोध आये बिना नहीं रहेगा। उसमें जो अच्छाइयाँ हैं, अगर हम उनकी तरफ देखें तो हमारे भीतर सौहार्द आये बिना नहीं रहेगा। कमियाँ देखकर घृणा भी आती है, क्रोध भी आता है और अच्छाइयाँ देखकर सौहार्द और प्रेम आता है। तो क्रोध से बचने के लिये हम किसी भी घटना की बुराइयाँ देखना बंद करें और उसकी अच्छाइयाँ देखना शुरू कर दें।

अनादि काल से बुराइयाँ देखने के ही संस्कार हैं, अब मैं

नकारात्मक सोच बंद करूँगा और सकारात्मक सोच शुरू करूँगा, ताकि मेरे भीतर क्षमा धारण करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो। सामर्थ्यवान ही क्षमा धारण कर सकता है, यदि क्षमा धारण हो जाये तो सामर्थ्य और बढ़ जाती है।

क्रोध को कम करने का तीसरा उपाय है—वातावरण को हल्का बनाना। हमेशा इस बात का ध्यान रखना कि जब भी क्रोध आयेगा तब मैं उसमें ईंधन नहीं डालूँगा, और यदि दूसरा कोई ईंधन डालेगा तो मैं वहाँ से हट जाऊँगा। क्रोध एक तरह की अग्नि है, ऊर्जा है, वह दूसरे के द्वारा भी एक्सटेंड हो सकती है और मेरे द्वारा भी एक्सटेंड हो सकती है, ऐसी स्थिति में वातावरण को हल्का बनाने का प्रयास करें।

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर एक साहित्यकार थे। उनके पिता जी एक दिन घर देर से लौटे। उनकी जीवन साथी भूखी बैठी उनका इन्तजार कर रही थीं। तब ये रिवाज था कि जब तक परिवार के सभी लोग खाना न खा लें तब तक माँ खाना नहीं खाती थीं। माँ का स्वभाव ही ऐसा होता है, वह सबको खिलाकर फिर खाती है। घर में शेष सबने खाना खा लिया पर अभी जीवनसाथी नहीं आये, बैठी हैं वे, दो बज रहे हैं। इतने में आये जनाब जल्दी–जल्दी हाथ–पाँव धोकर जैसे ही बैठे कि भोजन करने से पहले ही, जो भी मन में था वह सब इनने सुनाना शुरू कर दिया। अब चले आ रहे हैं, सुबह के गये, किसी का ध्यान नहीं है। हमने कहाँ से ये गृहस्थी कर ली। हमारे पिताजी को भी क्या सूझी। लेकिन ऐसी स्थिति में करें क्या? इसका साल्यूशन क्या है—अपन को तो ये सोचना है।

सामने वाला बिल्कुल चुप है, सकते में है, समझ तो आ गया कि

गलती तो हो गई, बात तो सही है, दो बज चुके हैं। पर अब वातावरण को हल्का कैसे करें? इस समय समझाने–बुझाने से काम नहीं चलेगा। उन्होंने सामने रखी थाली उठाई और जीवनसाथी के सिर पर थोड़ा टिका दिया। वे कहने लगीं–अरे–रे! ये क्या कर रहे हैं? मजाक कर रहे हैं। इतनी देर से आये और अब भी मजाक सूझ रहा है।

कुछ नहीं खाना गर्म कर रहा था, ठण्डा हो गया न खाना। तो क्या गर्म यहाँ होगा?

हाँ अभी तो तुम्हारा माथा ही ज्यादा गर्म हो रहा है, मैंने सोचा सिगड़ी की जगह यहीं गर्म कर लूँ।

अब बताइये, ऐसे में कोई कैसे गुस्सा कर पायेगा? नहीं कर पायेगा। ये वातावरण को हल्का बनाने के ढंग है। ऐसे समय हम इतना सजग और सावधान रहें कि कैसे भी वातावरण बोझिल न हो पाये। दूसरे की कषाय हमें भी कषाय करने के लिये प्रेरित न कर सके, बल्कि हमारी शान्ति, हमारा क्षमाभाव बना रहे और उस क्षमा और शान्ति से दूसरे को भी संदेश मिले। हमारा प्रयास होना चाहिये कि सामने वाले के क्रोध की इन्टन्सिटी (तीव्रता) व ड्यूरेशन (अवधि) कम हो।

एक बार क्षमासागर जी महाराज के पास एक बहन आई और बोली– महाराज वे आफिस से लौटकर आने पर रोज दो–चार कड़वी बातें कह देते हैं। हम समझते रहे कि दिन भर के थके–हारे होते हैं, गुस्सा आ जाता है तो कह देते हैं – इसलिये सहन करते रहे। पर अब हमसे सहन नहीं होता रोज–रोज ये। अब हमको भी गुस्सा आ जाता है। बाद में तो बहुत गिल्टी फील करते हैं हम। पर इसका

अभी तक कोई उपाय नहीं मिला। अब आप ही कुछ उपाय बताइये।

जब उन्होंने कहा कि दो चार बातें तो मैं सहन कर लेती हूँ उसके बाद सहन नही होतीं तो हम भी एक आध बात कड़ी कह देते हैं, बस बात और बढ़ जाती है, फिर बमुश्किल सम्हलती है। यहाँ तक कि फिर बाद में दोनों जन बैठकर रो भी लेते हैं कि चार बातें तुमने कहीं, हम ही कुछ सम्हल जाते तो ....। ऐसा एक दूसरे से बाद में कहते भी हैं। ऐसा नहीं है कि प्रेम नहीं है, लेकिन वह उस समय कहाँ चला जाता है।

सबके भीतर अच्छाइयाँ हैं, लेकिन वे उस समय कहाँ चली जाती हैं जब बुराई अपना पूरा जोर हमारे ऊपर जमा लेती है? बस उस समय ही तो हमें अपने को जीतना है। महाराज ने उससे कहा–आप दो चार बातें तो सहन कर ही लेती हैं, अब ऐसा करना जब दो चार बातें हो जायें और आपको भी लगने लगे कि अब आगे सहन नहीं होंगीं तब बोलना कि अब आप शान्त हो जाइये, जो कुछ कहना रह गया हो वह बाद में कह लेना, अभी तो अंदर चलते हैं, भोजन करते हैं। इतना भर आप कर लेना।

वह बोली–महाराज! ऐसा करना है तो कठिन पर आज करके देखेंगे, क्या होता है।

शाम को थका हारा वह व्यक्ति जैसे ही घर आया, जरा–जरा–सी, छोटी–छोटी–सी बात पर शुरू हो गईं कड़वी बातें, चार–पाँच बातें हुईं, गुस्सा बढ़ता जा रहा था पर आज सामने वाला सावधान था, रोज की तरह गाफिल नहीं था, वह बोली सुनो, हाँथ–मुँह धो लो, खाना बन गया है, पहले खाना खा लो, फिर जितना कहना हो, जो भी कहना हो, सब बाद में कह लेना।

इतना सुनते ही पारा और भी गर्म, मुझे समझाती है। किसने कहा ये सब?

कुछ नहीं, आज हम महाराज के पास गये थे। हमने उनसे कहा था, उन्होंने ही यह उपाय बताया था।

बस, इतना सुनना पर्याप्त था। घड़ों पानी पड़ गया मानों उनके ऊपर। शान्त हो गये। हाँ, बात तो सही ही कही है। क्यों मैं व्यर्थ क्रोध करता हूँ? और उस दिन से सब ठीक है।

हम भी ध्यान रखें। ऐसी परिस्थिति निर्मित हो जावे तो उस समय तुरन्त बँधे–बँधाये उत्तर नहीं, समाधान खोजें? ऐसी परिस्थिति आ जाने पर जल्दी से समाधान खोजें–ये क्रोध से बचने का तीसरा उपाय है।

प्रभाकर जी के पिता जी का ही एक संस्मरण है–उनके पास सुबह–सुबह एक व्यक्ति आता है, जब चाय का समय होता है उस समय। बड़ा अच्छा समय होता है वह। सुबह किसी को ज्यादा गुस्सा आता भी नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर ही कषाय आती है। थोड़ा कमजोर शरीर वाला हो तो चिड़चिड़ा व क्रोधी होने की संभावना ज्यादा होती है। यह द्रव्य की अपेक्षा से है। क्षेत्र की दृष्टि से अच्छा स्थान हो तो भी कषाय की संभावना कम होती है। काल की अपेक्षा सुबह का समय हो तो गुस्सा कम आयेगा। शाम को थके–हारे होंगे तो गुस्सा जल्दी आयेगा। भाव की अपेक्षा भाव यदि नकारात्मक हों तो वातावरण को और अधिक तनावयुक्त बना देगा। यदि क्रोध को हल्का बनाने का भाव नहीं है तो वह बढ़ता ही चला जायेगा। क्रोध जरा–सी ताकत/शक्ति से शुरू होता है और बढ़ते–बढ़ते आग लग जाती है, फिर तो आपे से बाहर हो जाता है।

हम सोचते जरूर हैं कि जरा–सा ही तो गुस्सा किया है, अभी संभाल लूँगा, लेकिन यदि हमने सावधानी नहीं रखी तो वह बढ़ता ही चला जायेगा और हमारे जीवन को तहस–नहस कर देगा। हमारा प्रयास होना चाहिये कि हम इसे कैसे हल्का करें।

हाँ, तो वह व्यक्ति आता है। सुबह का इतना बढ़िया समय है, चाय का समय है और वह गालियाँ देना शुरू कर देता है। पूजन में लिखा तो है रोज पढ़ते भी हैं कि 'गाली सुन मन खेद न आनो।' हाँ, पूरी याद भी है। याद करने से नहीं होगा कुछ, दोहरा लेने से भी नहीं होगा कुछ। जिस समय ऐसी परिस्थिति आये, उस समय हम इसका उपयोग कर लें– इसके लिये है ये, पूजा। पूजा तो अभ्यास है। हम अभ्यास कर रहे हैं ये ताकि बाहर जब मैदान में उतरें तो ठीक से व्यवहार कर सकें। लेकिन हम वहाँ चूक जाते हैं।

वह आगन्तुक व्यक्ति गालियाँ दे रहा है, और ये सामने बैठे मुस्कराये चले जा रहे हैं। जब कोई गाली दे और सामनेवाला मुस्कराता रहे तो और तेजी से गुस्सा बढ़ता है। अब उन्होंने मुस्कराना बंद कर दिया, फिर धीरे से कहा–सुनो, तुम्हारी बात अगर पूरी हो गई हो तो ....। देखिये मजा। सामनेवाला गाली देनेवाले से कह रहा है–यदि तुम्हारी बात पूरी हो गई हो तो जरा हमारी बात सुनो। उठो, चलो, जरा बाहर तक घूम कर आयें। उसने कहा–क्या मतलब?

– मतलब क्या, थोड़ा घूमकर आते हैं। बाहर बाय के कुआँ तक।

– वहाँ पर क्या है?

– वहाँ पर अखाड़ा है– अखाड़ा।

— अखाड़ा! क्या मतलब?

— सुनो, तुम्हारा मन है लड़ने का। वहाँ तुम्हारा जोड़ीदार मिला दूँगा, क्योंकि मैं तो हूँ कमजोर।

अब जो गुस्सा कर रहा था उसका सारा गुस्सा ठंडा हो गया और चेहरे पर मुस्कराहट आ गयी। बस, फिर क्या था, बोले—'हो गया बाय का कुआँ, अपन यहीं बैठें और चाय पियें।' ये क्या चीज है? ये है कि सामने वाले ने ईंधन डाला, चिनगारी भी लगाई, पर आप निरन्तर सावधान हैं पानी डालने के लिये। ऐसी तैयारी होनी चाहिये। इस प्रकार हम भी वातावरण को हल्का बनाकर क्रोध के मौकों पर क्रोध करने से बच सकते हैं।

चौथा उपाय थोड़ा कठिन है, अगर ये सब न बने। सकारात्मक सोच का परिणाम भी नकारात्मक आ रहा हो, तुरन्त कुछ उपाय भी नहीं सूझ रहा हो, वहाँ बहस करके ही शांति होगी, गुस्सा करके ही जी ठंडा होगा, चार बातें कहकर ही मन को शांति मिलनेवाली हो, तब मेरा काम इतना ही है कि मैं चुप रहूँगा। मैं चार बातें नहीं कहूँगा। भीतर—भीतर मन मसोसकर रह जाऊँगा, लेकिन बात बिगड़ने नहीं दूँगा। क्योंकि चार बातें मैं भी कहूँगा तो बात आगे बढ़ जायेगी, बिगड़ जायेगी, फिर बात को सम्हालने में बहुत दिक्कत होगी। अभी अपने को जरा सम्हाल लूँ। चुप रह जाँऊ तो बाहर की बात अपने आप सम्हल जायेगी, और भीतर की थोड़ी देर बाद सम्हल जायगी। किसी भी कषाय का तीव्र उदय अड़तालीस मिनट से अधिक नहीं रहता। उसके बाद उसमें कमी आयेगी ही। फिर मैं अपने को सम्हाल लूँगा। अभी क्रोध का आवेग है, इस आवेग में मैं जरा—सा मौन धारण कर लूँ—ये उपाय हैं क्रोध से बचने के।

एक और उपाय है—थोड़ा—सा अपने भीतर प्रेम विकसित करना सीख लें। अपने मन में सबके प्रति थोड़ा—सा प्यार आ जाये, क्योंकि प्रेम करने वाला क्रोध नहीं कर सकता। जिसने समता की साधना की है, ऐसा साधु कभी भी अपने क्षमाभाव को नहीं छोड़ता।

एक साधु जी नाव से यात्रा कर रहे थे। उसी नाव में बहुत सारे युवक भी यात्रा कर रहे थे। वे युवक साधु जी को तंग करने लगे—बाबाजी! आपका तो अच्छा बढ़िया खाना—पीना मिलता होगा, आपके तो ठाठ होंगे? इस तरह खूब तंग करते रहे। पर साधुजी चुप थे। वे तंग करते—करते गाली—गलौच पर आ गये। यहाँ तक कि एक युवक ने अपना जूता साधुजी के पैर पर चढ़ाने की कोशिश की। इतने में नाव डगमगाई और एक आकाशवाणी हुई कि, बाबाजी! अगर आप कहें तो हम नाव को पलट दें? सब डूब जायेंगे, लेकिन आप बच जायेंगे, हम आपको बचा लेंगे। साधुजी के मन में बड़ी शांति थी, या कि उनका समता का अभ्यास था। साधुता यही है कि विपरीत परिस्थिति में, विषमताओं के बीच भी मेरी समता, मेरी अपनी क्षमा न गड़बड़ाये।

ऐसा है, तब तो साधुता है। नहीं तो साधु का वेश भर है। ऐसी आकाशवाणी सुनकर मालूम है, हम और आप होते तो क्या कहते? कहते—पलट दो। पर वे साधुजी सचमुच साधु थे, शांत रहे और बोले—अगर आप सचमुच पलटना चाहते हैं, तो नाव मत पलटो, इन युवाओं की बुद्धि पलट दो। यदि हम समता की साधना करें तो हमारे भाव भी पवित्र हो सकते हैं। उस समय जबकि कोई हमारे सामने क्रोध कर रहा हो तब मैं भावना भाऊँ कि इस व्यक्ति का क्रोध शांत हो जाये, इसका अच्छा हो जाये।

धर्म को जीवन में धारण करने के लिये आवश्यक है कि हम अपनी कषायों को धीरे–धीरे कम करते जायें। वास्तव में हमें कहीं बाहर से धर्म लाना नहीं हैं, बल्कि हमारे भीतर जो लोभादि कषायें हैं उनको हटाना है। जैसे–जैसे हम उनको हटाते जायेंगे, धर्म अपने आप हमारे भीतर प्रगट होता जायेगा। इसीलिये बड़े वर्णी जी ने लिखा है–मूल में तो चारों कषायों पर विजय प्राप्त करना ही धर्म है।

कषाय की कणिका मात्र भी व्यक्ति का विनाश करने में सक्षम है। ये शुरू में बहुत छोटी लगती हैं, लेकिन बढ़ते–बढ़ते इतनी बढ़ जाती हैं, कि हमारे सारे जीवन को नष्ट कर देती हैं। अतः इनसे सदा सावधान रहना चाहिये।

अणथोवं वणथोवं अग्निथोवं कषाय थोवं च।
ण हु ये वीसियव्वं थोवं पि हु तं बहू होई।।

ऋण को थोड़ा, घाव को छोटा, आग को तनिक और कषाय को अल्प मानकर निश्चिन्त होकर नहीं बैठ जाना चाहिये, क्योंकि ये थोड़े–थोड़े भी बढ़कर बहुत हो जाते हैं। कषाय तो कषाय होती है। उसे कमजोर या थोड़ी समझकर कभी नजर–अंदाज नहीं करना चाहिये।

कभी उधारखाते को थोड़ा नहीं समझना। हम सोचते हैं कि थोड़ा–सा ही तो ऋण लिया है, लेकिन वह थोड़ा–सा ऋण बढ़ते–बढ़ते एक दिन इतना हो जाता है कि मूलधन नहीं चुक पाता, ब्याज चुकाते–चुकाते पूरी जिन्दगी निकल जाती है। ऐसा है यह ऋण, ऐसीं ही ये कषायें हैं। दिखता थोड़ा है कि जरा–सा तो गुस्सा किया है, अभी सम्भाल लूँगा; लेकिन नहीं, बढ़ता ही चला जाता है।

घाव को कभी छोटा नहीं समझना। अगर थोड़ी भी असावधानी

हुई तो वह छोटा–सा घाव नासूर बन जायेगा।

अग्नि थोवं, जरा–सी तो चिनगारी है, यह क्या करेगी? यदि ऐसा सोचकर आपने उसे पनपने का जरा भी अवसर दिया तो फिर देखो वही चिनगारी लपट और ज्वाला बनेगी, जो सबकुछ खाक करने की क्षमता रखती है। इसी तरह कषाय की परिणति भी है। यदि हमने उसे वश में नहीं किया, काबू में नहीं रखा तो निश्चित मानिये कि वह हमारे जीवन को तहस–नहस कर देगी।

जैसे कि घाव, ऋण, अग्नि ये तीनों चीजें बहुत थोड़ी मालूम पड़ती हैं, लेकिन इनके असर बहुत अधिक होते हैं। ठीक इसी तरह कषायें बहुत थोड़ी दिखाई पड़ती हैं, पर उनके असर बहुत अधिक दिखाई पड़ते हैं। कषायों की तासीर को यदि कोई जान ले तो फिर वह कषाय क्यों करेगा? आग की तासीर मालूम पड़ गई तो कौन आग में हाथ डालता है? हमें इन कषायों की तासीर को पहिचान लेना है। ये कषायें हमें बार–बार धोखा देती हैं। ये आ जाती हैं और कहती हैं–थोड़ा–सा ही तो है, अभी ठीक हो जायेगा; लेकिन नहीं, बढ़ती चली जाती हैं। जैसे जरा–सी सुई होती है, डाक्टर बच्चे को समझाता है कि इतनी–सी तो सुई है। पर उतनी–सी सुई से ही वह डाक्टर पुरी दवाई अन्दर कर देता है।

जैसे बट का वृक्ष बहुत बड़ा होता है, लेकिन उसका बीज कितना छोटा, खसखस के दाने के बराबर होता है। ठीक ऐसे ही इन कषायों का स्वभाव है। होती हैं ये खसखस के दाने के समान, लेकिन इनको भीतर प्रवेश मिलता चला जाये तो ये बढ़कर वटवृक्ष के समान फैलकर हमारे पूरे जीवन को आच्छादित कर देती हैं और हम इनकी पकड़ में आ जाते हैं। हमारी जरा सी देर की कमजोरी हमें मजबूर बना देती है

इन कषायों को करने के लिये। इसलिये बहुत सावधानी की आवश्यकता है। यदि हम कषाय कर रहे हैं तो अन्ततः जिम्मेवार हम स्वयं हैं, कोई हमसे कषाय करवा नहीं सकता। ये मेरा चुनाव है कि मैं चाहूँ तो कषाय करूँ, और न चाहूँ तो न करूँ।

जिसने क्रोध–शत्रु को जीत लिया है, वही वीर–पुरुष क्षमा को धारण कर सकता है। एक बार एक व्यक्ति ने आधे घण्टे तक एक महात्मा जी को गालियाँ दीं, पर वे कुछ नहीं बोले। कमठ ने पार्श्वनाथ पर कई–कई दिन तक उपसर्ग किये, उनको तकलीफ पहुँचाई, पर उन्होंने कुछ नहीं कहा। वे हमेशा अपने मन में क्षमाभाव ही धारण करते रहे और इतना ही नहीं, जिस व्यक्ति ने उनके प्रति अपने मन को खराब किया था वे उसके कल्याण की भावना भाते रहे। बहुत बड़ी चीज है यह। पार्श्वनाथ को केवलज्ञान होते ही कमठ को भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया। ये है महापुरुषों की क्षमा। कोई हमारे प्रति कलुषता भी रखता हो तो हमारे आचरण से वह भी निष्कलुष हो जाये। हमारी निर्मलता उसकी कलुषता को हटाने में कारण बने। हमारा क्षमाभाव उसकी शत्रुता को नष्ट कर दे। यदि हमने अपने मन में उसके प्रति क्षमाभाव धारण कर लिया है तो उसे मजबूर होकर मुझे क्षमा करनी पड़ेगी।

वह व्यक्ति महात्मा जी को जब आधा घण्टे तक गालियाँ देता रहा, पर सामने से कोई जबाव नहीं मिला, तो उसे कुछ समझ नहीं आया, उसने महात्मा जी के ऊपर थूँक दिया। उन्होंने ने दुपट्टे से उसे पौंछ लिया। फिर इतना ही कहा–कुछ और तो नहीं कहना? दंग रह गया वह, कि अब क्या कहूँ? इतना कुछ करने के बाद भी ये कह रहे हैं कि कुछ और तो नहीं कहना? इतनी पेशन्स (सहनशक्ति), इतना धैर्य? मन की इतनी निर्मलता? ऐसा क्षमाभाव। क्या इसका

एक प्रतिशत भी हमारे भीतर आ सकता है? जब वह वापिस घर लौटा, तब उसके विचार बदलने लगे—मैंने इस व्यक्ति को कितनी बातें कहीं, पर उसने कुछ भी जवाब नहीं दिया। फिर उसे लगा कि मुझे ऐसा नहीं करना चाहिये था। मैंने ठीक नहीं किया। घर पहुँचते—पहुँचते तो बेचैन हो गया वह।

अभी गालियाँ दे रहा था, अब बेचैन हो रहा है। गाली क्यों दी? अब इस बात की बेचैनी थी। और वह व्यक्ति रात भर सो नहीं पाया। सुबह चार बजे उठकर दौड़ पड़ा वह। अभी पहुँचना है उस बाबा के पास। वह इतना शान्त रहा, मैं क्षमा माँगूंगा उससे। वह महात्मा जी से क्षमा माँगने लगा। महात्मा जी ने उसे गले लगा लिया और कहा—क्षमा माँगने की आवश्यकता नहीं है। तुम वह नहीं हो जिसने गाली दी थी। वह गाली देने वाला दूसरा था। उस समय तुम्हारे ऊपर क्रोध का भूत सवार था। तुम क्षमा माँगनेवाले दूसरे हो।

यदि हम क्षमाधर्म को धारण करें तो इस तरह का क्षमाभाव, इतनी निर्मलता हमारे भीतर भी आ सकती है। यदि हम गुस्सा कर रहे हैं तो यह मेरी कमजोरी है। क्योंकि कोई हमसे गुस्सा करवा नहीं सकता, वह केवल निमित्त मात्र बन सकता है। ये हमारे ऊपर है, मैं चाहूँ तो गुस्सा करूँ और न चाहूँ तो गुस्सा न करूँ।

क्रोध करना हमारी मजबूरी नहीं, कमजोरी है। यदि सामनेवाला हमें गाली दे और हम उससे हाथ जोड़कर कहें कि, भईया जी! क्षमा करना, हम आपसे गुस्सा नहीं हो पायेंगे, आप अपनी गाली वापिस ले लीजिये। आपने दी तो इसलिये होगी कि हम गुस्सा करेंगे, लेकिन क्षमा करिये, हम गुस्सा नहीं हो पायेंगे। आपको तकलीफ तो पहुँचेगी

कि गाली दी और कोई परिणाम ही नहीं निकला। हाँ, कोई दे, और अपन स्वीकार न करें तो तकलीफ तो होगी ही तो हम उनसे क्षमा माँग लें उस तकलीफ के लिये कि हम आपसे गुस्सा नहीं हो पायेंगे। यदि हम इस प्रकार कषायों को जीतने का प्रयास करें तो निश्चित ही हम अपने जीवन को धार्मिक बना सकते हैं।

अगर तुम्हें क्रोध से बचना है तो क्रोध का जवाब, गाली का जबाव, पाँच मिनट बाद दें। कोई तुम्हें गाली दे तो कहना कि ठीक है, भाई! तूने अपना काम कर लिया, अब मेरी बारी है। मैं भी अपना काम करूँगा, मगर अभी नहीं, पाँच मिनट बाद, और पाँच मिनट बाद आप गाली का जवाब गाली से नहीं दे सकते, क्योंकि क्रोध तो एक तात्कालिक पागलपन है। अगर उस पागलपन के क्षण में जवाब दे दिया, तो दे दिया वरना फिर आप चाहकर भी क्रोध नहीं कर सकते और यह भी तो संभव है कि इस 5 मिनट के दौरान उसी व्यक्ति को, जिसने तुम्हें गाली दी है, अपनी भूल का एहसास हो जाए और वह तुमसे माफी माँग ले। तो यह जो पाँच मिनट का संयम है, संतुलन है, साधना है – यह जीवन के लिये बड़े काम की चीज है। यह पाँच मिनट की साधना 50 फीसदी झगड़ों, झंझटों, परेशानियों से आपको बचा लेगी। यह जीवन के लिये बड़ा उपयोगी सूत्र है।

यदि हम गुस्सा कर रहे हैं तो अन्ततः जिम्मेवार हम स्वयं हैं। यदि किसी ने गाली दी, तो आपने ली क्यों? गाली देना उसकी मर्जी है, मगर लेना या न लेना यह आपकी मर्जी है। आप न लें तो आपका क्या बिगड़ जायेगा? गाली तो एक वैरंग चिट्ठी है, जो आपके घर के पते पर आती है और यदि आप उसे लेना चाहो तो डबल टिकिट के पैसे अदा करने पड़ते हैं और यदि उसे न लो तो फिर वह चिट्ठी भेजनवाले के पास ही वापिस चली जाती है। तो इस गाली/क्रोधरूपी

वैरंग चिट्टी को लेने में इतने उत्सुक क्यों होते हो? इसे लेने से इंकार कर दो, बस झगड़ा खत्म।

एक व्यक्ति ने अपने किसी परिचित को पत्र लिखा। वह पत्र बड़े गुस्से में लिखा था। पत्र में पचासों गालियाँ और कठोर भाषा थी। संयोग से महाराज वहाँ पहुँच गये। उन्होंने वह पत्र पढ़ा और उससे कहा—अगर तुम मेरा कहना मानो तो मैं एक बात कहूँ? वह बोला—आपकी सब बात मानूँगा, लेकिन इस पत्र में कुछ भी परिवर्तन नहीं करूँगा। यह पत्र उसे जरूर दूँगा। महाराज ने कहा—ठीक है। आप पत्र जरूर भेजें और जो पत्र लिखा है, आपकी इच्छा है तो यही पोस्ट करें, मगर इसे पोस्ट आज नहीं कल करना और कल पोस्ट करने से पहले इसे दुबारा पढ़कर पोस्ट करना। वह बोला—ठीक है। वैसे तो मैं अभी और इसी वक्त इसे पोस्ट करनेवाला था, मगर अब इसे कल डालूँगा। दूसरे दिन शाम को वह महाराज के दर्शन करने आया। उन्होंने उससे पूछा—पत्र डाल दिया? उसने शर्मिन्दगी से कहा—डाल दिया। उन्होंने पूछा—कहाँ? वह बोला—कचरे के डिब्बे में। महाराज ने कहा—लेकिन आपने लिखा तो उसे लेटर बाक्स में डालने को था, फिर आपने उसे डस्टबिन में क्यों डाल दिया? वह बोला—क्षमा करना। दूसरे दिन सुबह जब मैंने वह पत्र पढ़ा तो शर्म से मेरा सिर झुक गया। मुझे अपने लिखे पर विश्वास नहीं हो पा रहा था। पता नहीं मुझमें कौन—सा भूत सवार था जो मैंने इतनी कड़वी और ओछी भाषा का प्रयोग कर डाला। आपने मेरी आँखें खोल दीं। मैं आपका किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ? मैं बड़े अनर्थ से बच गया। महाराज बोले—जब तुम पत्र लिख रहे थे, तब तुम पर क्रोध का भूत सवार था और तुम्हें यह पता नहीं था कि तुम क्या लिख रहे हो और इसका परिणाम क्या होगा? शराबी पर शराब का नशा और क्रोधी पर

क्रोध के भूत का नशा सवार होता है। दोनों ही हकीकत से बेखबर होते हैं। वे इस नशे और बेहोशी में कुछ भी कर डालते हैं और बाद में होश में आने पर पश्चात्ताप की अग्नि में जलते रहते हैं।

क्रोध से बचने का उपाय है विलम्ब करना, उस क्षेत्र का परित्याग कर देना। यदि हम 5 मिनट भी विलम्ब करेंगे तो क्रोध पर नियंत्रण पा लेंगे, क्योंकि क्रोध क्षणिक होता है, आवेश मात्र होता है। उस आवेश में कुछ कर लो तो कर लो। आवेश उतर जाने के बाद आप चाहकर भी क्रोध नहीं कर सकते।

मानवजीवन में दो बुराइयाँ हैं, जिसकी वजह से सभी परेशान हैं। एक गुस्सा और दूसरी जिद। महिलायें अगर जिद करना छोड़ दें और पुरुष गुस्सा करना छोड़ दें तो जीवन में सुख–शान्ति आ सकती है। जिद एक ऐसी दीवार है कि अगर पति–पत्नी के बीच में आ गई तो वह तोड़ना मुश्किल है। यों तो दुनिया की सबसे बड़ी दीवार चीनकी दीवार है। इस दीवार को बनाने में सेकड़ों साल लगे और जिसे हजारों मजदूरों ने मिलकर बनाया। मगर इस चीन की दीवार से भी बड़ी जिद की दीवार होती है। इसे बनाने में ज्यादा देर नहीं लगती। सैकेण्डों में बन जाती है और फिर इसे ढहाने (गिराने) में पूरी जिन्दगी भी कम पड़ जाती है।

एक पति–पत्नी रेलगाड़ी में सफर कर रहे थे। पत्नी ग्रामीण थी। रेल में यात्रा करने का उसका यह पहला अनुभव था। वह बड़ी खुश थी। पति भी पत्नी का पूरा दीवाना था। दोनों में बड़ा प्यार था। ट्रेन अपनी रफ्तार से दौड़ रही थी। चेन को देखकर पत्नी ने पति से पूछा–यह क्या लटक रही है? पति ने कहा–यह चेन है। पत्नी ने पूछा–इससे क्या होता है? पति ने बताया–इसको खींचने से ट्रैन रुक

जाती है। पत्नी को आश्चर्य हुआ, इतनी बड़ी ट्रेन जरा–सी चेन खींचने से रुक जाती है। पत्नी ने कहा–तब तो यह मुझे खींचनी है। पति ने कहा–नहीं, यह नहीं हो सकता। पत्नी ने कहा–नहीं, मैं तो चेन खींचूँगी, चाहे आप कुछ भी कर लो। लो बन गई जिद की दीवार। अब यह दीवार नहीं टूट सकती। पति ने प्यार से समझाया–अरे भाग्यवान्! चेन ऐसे नहीं खींची जाती है। पत्नी ने गुस्से से पूछा–तो फिर कैसे खींची जाती है? पति ने कहा–जब कोई गिर जाये, या कोई चीज रह जाये तब खींची जाती है। पत्नी ने कहा–तो फिर तुम जरा गेट पर खड़े हो जाओ। पति ने पूछा–क्यों? पत्नी ने कहा–तुम गेट पर खड़े हो जाओ तो फिर मैं तुम्हें धक्का मारूँगी और तुम नीचे गिर जाओगे तो मैं आराम से चैन खींच लूँगी। पति ने माथा ठोकते हुये कहा–अरे पगली! चलती ट्रेन में तू मुझे धक्का देकर गिरायेगी तो क्या मैं मर नहीं जाऊँगा? पत्नी ने कहा–तो क्या हुआ? क्या तुम मेरे लिये इतना भी नहीं कर सकते? महिलाओं की जिद ऐसी होती है।

पति परेशान, अब क्या करूँ? इसे कैसे समझाऊँ? पति ने कहा–देखो, जिद मत करो। तुम थोड़ी पढ़ी–लिखी हो तो यह पढ़ो, क्या लिखा है? 'अकारण चेन खींचना कानूनन अपराध है, अकारण चेन खींचने पर 500 रु. का जुर्माना है।' पत्नी बोली–500 रु. दे देना, पर मुझे तो चेन खींचना है। पति बोला–मेरे पास तो पैसे भी नहीं हैं, मैं दूसरा पेंट पहन कर आ गया हूँ। पत्नी बोली–ये देखो, मेरे पास 500 रु. हैं। इनमें से 250 रु. अपने पास रख लो, कोई अधिकारी आये और जुर्माना के रुपये माँगे तो तुम उसे 250 रु. दे देना। 250 रु. में काम हो जाये तो ठीक, और नहीं माने तो मुझे इशारा करना, 250 रु. मैं भी दे दूँगी। पर चेन तो खींचूँगी।

पति ने झुंझलाते हुये कहा–ठीक है देवी! जैसी तेरी इच्छा।

पत्नी ने चेन खींची तो ट्रेन रुक गई। अधिकारी आ गया। उसने पूछा चैन किसने खींची? अब तो पति–पत्नी दोनों घबरा गये। ऊपर की बर्थ पर एक व्यक्ति सो रहा था। दोनों ने इशारा किया–इसने खींची। बेचारे उसने तो नहीं खींची थी। अधिकारी ने उसे उठाया और पूछा–क्या तुमने चैन खींची है? उसने कहा जी हाँ। उसका जवाब सुनकर पति–पत्नी बड़े खुश हुये, सोचा कि बच गये। अधिकारी ने उसे डाँटते हुये कहा–क्या तुम्हें पता नहीं है कि अकारण चैन खींचने पर 500 रु. का जुर्माना है? उस व्यक्ति ने कहा, साहब! मैंने अकारण नहीं, किसी कारण से चैन खींची है। अधिकारी ने पूछा–क्या कारण है? वह व्यक्ति बोला–साहब! मैं यहाँ सोया था, तकिये के नीचे मेरे 500 रु. रखे थे, मुझे नींद आ गई और इन दोनों पति–पत्नी ने चुपके से मेरे रुपये चुरा लिये। कृपया मेरे रुपये वापिस दिला दीजिये, इसलिये मैंने चैन खींची है। अधिकारी ने पूछा–तुम्हारे रुपये इन दोनों ने चुराये हैं, इसका तुम्हारे पास क्या प्रमाण है? व्यक्ति बोला–साहब! प्रमाण? प्रमाण यही है कि 250 रु. तो इनके पास हैं और 250 रु. इनकी पत्नी के पास हैं। दोनों की तलाशी ली गई तो दोनों के पास 250–250 रु. निकले।

अधिकारी ने उन दोनों को खूब डाँटा और पाँच सौ रुपये लेकर ऊपरवाले को दे दिये। ऊपरवाले ने फिर अपनी बर्थ पर लेटते हुये कहा–कि, 'भाई साहब! नमस्कार। जरूरत पड़े तो फिर याद करना।' तो यह है जिद का फल। बच्चे जिद करें तो बात समझ में आती है, पर बड़े जिद करें तो बात समझ से परे है। इसलिये कहा है–महिलायें जिद करना छोड़ दें और पुरुष गुस्सा करना छोड़ दें तो जीवन में खुशियाँ बढ़ जायें। घर–परिवार में सुख–शान्ति हो जाये।

क्रोध कषाय एक ऐसी अग्नि है जो अपने को तथा दूसरों को भस्म

कर देती है। क्रोधी व्यक्ति न तो स्वयं कुछ विचार सकता है और उस समय न किसी दूसरे का उपदेश उसके लिये कार्यकारी होता है, उसके हृदय की महानशीलता जाती रहती है, किसी की भी तीखी हितकारी बात उसे सहन नहीं होती। यदि साधु भी क्रोध करते हैं तो उनके भी सारे गुण समाप्त हो जाते हैं।

भगवान नेमिनाथ से जब ये पूछा कि सुन्दर विशाल द्वारिका नगर इसी तरह हरा–भरा कब तक बना रहेगा? भगवान नेमिनाथ ने उत्तर दिया कि जब तक इसी नगर का निवासी द्वीपायन मुनि शान्त है, तब तक द्वारिका शान्त रहेगी। जिस दिन द्वीपायन मुनि की क्रोध–अग्नि प्रज्वलित होगी, तब द्वारिका भी उसके क्रोध से अग्निमय होकर भस्म हो जायेगी। शराब पीकर उन्मत्त हुए व्यक्ति द्वीपायन मुनि का क्रोध जागृत करेंगे। यह कार्य 12 वर्ष में होगा। बारह वर्ष में द्वारिका नगर जलकर भस्म हो जायेगा।

यथार्थ भविष्यवक्ता भगवान नेमिनाथ के वचन सुनकर द्वारिका के अनेक नर–नारी संसार का वैभव विनश्वर समझकर विरक्त हो गये और अपना आत्म–कल्याण करने के लिये मुनि, आर्यिका आदि की दीक्षा लेकर द्वारिका से बाहर चले गये। द्वीपायन मुनि ने अपने ऊपर से द्वारिका नगर जलाने का कलंक दूर करने के लिये बारह वर्ष तक द्वारिका से दूर रहना कल्याणकारी समझा, अतः वे द्वारिका से बहुत दूर देश–देशान्तरों में विहार कर गये। उधर कृष्ण, बलभद्र ने द्वारिका नगर से सारी शराब निकलवाकर द्वारिका के बाहर कुण्डों में फिकवा दी। इस प्रकार द्वारिका की रक्षा के लिये प्रयत्न किये गये।

किन्तु भवितव्यता दुर्निवार है, होनहार घटना होकर रहती है। तदनुसार द्वीपायन मुनि देश–देशान्तरों में विहार करते हुए एक–एक

दिन गिनते रहे और अपनी समझ के अनुसार बारह वर्ष पूरे हुए जानकर द्वारिका की ओर चल पड़े। अधिक मास (मलमास, लोंद का महीना) का उनको ध्यान न रहा इस कारण वे बारह वर्ष से पहले ही द्वारिका की सीमा में आ गये,

कवि ने ठीक कहा है –

सा सा सम्पद्यत बुद्धिः, सा गतिः सा च भावना।
सहायास्तादृशाज्ञेया, यादृशी भवितव्यता।।

यानी – जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है, वैसी ही मनुष्य की विचारधारा बनती है, वैसी ही मति और भावना होती है तथा समस्त सहायक सामग्री भी वैसी ही आ मिलती है।

उधर महाराज कृष्ण ने द्वारिका की समस्त शराब जो नगर के बाहर कुण्डों में फिकवा दी थी, कभी सूख गई, कभी जल वर्षा से फिर नशीली हो गई, उन कुण्डों में महुए के फल गिरते रहे जिससे कुण्डों का जल और अधिक मादक (नशीला) बन गया।

संयोग से उन ही दिनों द्वारिका के यदुवंशी राजकुमार वनक्रीड़ा के लिये द्वारिका के बाहर वन में घूमते–फिरते क्रीड़ा करते रहे। खेलते–कूदते उनको प्यास लगी, तब उन्होंने अपनी प्यास बुझाने के लिये उन कुण्डों का जल पी लिया। कुण्डों का जल शराब और महुओं के कारण नशीला हो गया था, अतः उस जल को पीकर वे तरुण राजकुमार नशे में झूमने लगे। उसी समय उनको द्वीपायन मुनि मिल गये। नशे के झोंके में उन राजकुमारों ने द्वीपायन पर, यह कहते हुए कि द्वारिका को जलानेवाला यह द्वीपायन आ गया, इसको मारकर यहाँ से भगा दो। ईंट, पत्थर, मिट्टी के ढेले फेंके, जिससे द्वीपायन मुनि का क्रोध भड़क उठा। द्वीपायन मुनि की क्षमा, शान्ति

जाती रही, उनके नेत्र लाल हो गये, भौहें चढ़ गईं, क्रोध से शरीर काँपने लगा। उन्होंने क्रूर दृष्टि से द्वारिका की ओर देखा।

द्वीपायन मुनि को तप के प्रभाव से तेजस् ऋद्धि प्राप्त हो गई थी, अतः जैसे ही उन्होंने द्वारिका नगर की ओर क्रोधित होकर देखा कि बाएँ कन्धे से सिन्दूर के रंग का प्रज्जवलित गोला निकला और उसने द्वारिका में चारों ओर आग भड़का दी।

उधर यदुकुमारों ने घर जाकर द्वीपायन मुनि के आने तथा उन पर ईंट, पत्थर बरसाने की घटना सुनाई। इस दुर्घटना को सुनकर कृष्ण और बलभद्र बहुत घबड़ाये। उन्हें द्वारिका के भस्म हो जाने की आशंका होने लगी। उन्होंने भड़कती हुई आग को बुझाने का बहुत यत्न किया। समुद्र के जल से भी उसे शान्त करना चाहा, किन्तु वह जल तेल की तरह से आग को और भी अधिक भड़काने लगा। आग बुझाने के जब सब यत्न व्यर्थ हुए, तब वे दोनों भाई भागकर द्वीपायन मुनि के पास गये और उनसे क्रोध शान्त करने तथा द्वारिका को भस्म होने से बचाने की प्रार्थना की, मरणोन्मुख द्वीपायन ने अपने हाथ की दो उँगलियाँ उठाकर संकेत किया कि द्वारिका में से अब केवल दो ही व्यक्ति बच सकोगे।

तब दुःखी होकर कृष्ण व बलभद्र फिर दौड़कर घर आये और अपने माता–पिता को उस धधकती हुई महाअग्निकाण्ड से बचाने के लिये उन्हें रथ में बिठाकर ले जाने लगे, तो रथ के पहिये पृथ्वी में अड़ गये, रथ जरा भी आगे न बढ़ सका। उधर उनके माता–पिता आग की लपटों में आ गये। तब हारकर भग्नहृदय होकर कृष्ण व बलभद्र रोते–बिलखते, द्वारिका को भस्म होते देखते हुए द्वारिका से बाहर चले गये। वन में जरतकुमार ने हिरण समझकर प्यास में लेटे

हुए कृष्ण पर बाण चलाया, जिससे बिना पानी पिये ही उनका निधन हो गया। द्वीपायान भी अपने तेजस गोले से स्वयं भस्म हो गये।

इस तरह क्रोधी मनुष्य क्रोध में आकर अपना तथा दूसरों का विनाश कर डालता है। रीछ को क्रोध के समय यदि आस–पास कोई प्राणी न दिखे तो वह अपना ही शरीर चबा डालता है। सिंह, चीता, भेड़िया आदि क्रोधी दुष्ट स्वभाव से कितनी हिंसा किया करते हैं?

'सूक्ति मुक्तावली' में कहा है –

> सन्तापे तनुते भिंनत्ति विनयं सौहार्दमुत्यादय।
> त्युद्वेंग जनयत्यवद्याचनं सूते विधत्ते कलिम्।
> कीर्ति कृन्तति दुमतिं वितरति व्याहन्ति पुण्योदयं,
> दत्ते यः कुगतिं स हातुमुचितो रोषः सदाषः सताम्।।

यानी – क्रोधकषाय सन्ताप फैलाती है, विनय को नष्ट कर देती है, मित्रता भंग कर देती है, व्याकुलता उत्पन्न करती है, अपशब्द मुख से निकलवाती है, कलह उत्पन्न कराती है, यश का नाश करती है। दुर्बुद्धि वितरण करती है, पुण्यकर्म को नष्ट करती है, दुर्गति में पहुँचाती है। बताओ ऐसा क्रोध करने से इस जीव को क्या लाभ मिलता है? अपने मे एक गुण होना चाहिये सहन शीलता का। जब आप जानते हैं कि यहाँ पर किसी का किसी पर कुछ अधिकार नहीं तो फिर उनके पीछे अपने परिणाम बिगाड़ने से क्या फायदा है। जब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर कुछ अधिकार ही नहीं है, तब फिर दुनिया में किसी भी वस्तु का कुछ भी परिणमन हो, उससे मेरा क्या वास्ता? यों सहन–शीलता होना, जीव को सुखी बनाती है। कैसा भी प्रसंग हो सदा क्रोध–कषाय को छोड़कर क्षमाधर्म का धारण करना चाहिये।

उत्तम मार्दव धर्म

धर्म का दूसरा लक्षण है–उत्तम मार्दव। मार्दव संस्कृत भाषा का शब्द है। मृदोर्भावः कर्मवा मार्दवम्। जो मृदु है, कोमल है, उसका जो भाव है, उसे मार्दव कहते हैं। मद के कारण मृदुता का अभाव हो जाता है। मद का अर्थ होता है नशा। मद के नशे में व्यक्ति मदमत्त हो जाता है और वह अपने को उच्च तथा दूसरों को तुच्छ समझने लगता है। वह अपनी प्रतिष्ठा के लिये दूसरों की निन्दा व अपनी प्रशंसा करता है।

मानी व्यक्ति मान–सम्मान की प्राप्ति के लिये सबकुछ करने को तैयार रहता है। यहाँ तक कि अत्यन्त मेहनत से कमाये धन को भी पानी की तरह बहाने को तैयार हो जाता है। मानकषाय का छोड़ना अत्यन्त कठिन है। घर–बार, स्त्री–पुत्रादि सब छोड़ देने पर भी मान नहीं छूटता। अच्छे–अच्छे महात्माओं को भी आसन की ऊँचाई के लिये झगड़ते देखा जा सकता है।

कंचन तजना सहज है, तज नारी को नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या, दुर्लभ तजना ऐह।।

जिस प्रकार क्षमाधर्म का विरोधी क्रोध है, उसी प्रकार इस मार्दवधर्म का विरोधी मान है। मान–कषाय का मर्दन करना ही मार्दवधर्म है। यह संसारी–प्राणी अनादिकाल से मान–अपमान के

झूले में झूल रहा है और इसीलिये दुःखी हो रहा है। हमारे दुःख का मूलकारण हमारा अपना अहंकार है। हम सर्वत्र प्रत्येक क्षत्र में मान चाहते हैं और यही चाहना ही हमारे समस्त दुःखों का मूलकारण है। मद आठ प्रकार के होते हैं और सब डुबोनेवाल हैं। मद का नशा डुबोता है और मृदुता हमेशा तिराती है। अहंकार इस जीव का सबसे बड़ा शत्रु है, जो सारे गुणों को क्षण भर में नष्ट कर देता है।

आदिनाथ भगवान के साथ चार—हजार राजाओं ने बिना समझे—बूझे दैगम्बरी दीक्षा ले ली। भगवान छह महीने तक ध्यान में लीन थे, तब ये साधु भूख—प्यास की वेदना से भ्रष्ट हो गये। उनमें से मारीचकुमार महामानी था। मान कषाय से उसने अनेकों पाखण्ड मत चलाये। भगवान को केवलज्ञान होने पर सब भ्रष्ट साधु फिर से दीक्षित होकर स्वर्ग चले गय, किन्तु मारीच ने पुनः दीक्षा नहीं ली और कहा कि मैं भी अपने मत का प्रसार करके इन्द्र द्वारा पूजा को प्राप्त करूँगा। इस प्रकार से उसने भगवान के वचनों का अनादर कर दिया तथा मिथ्यात्व का त्याग नहीं किया। इस मान कषाय और मिथ्यात्व के कारण वह असंख्यात भवों तक त्रस व स्थावर योनियों में भटकता रहा और बहुत दुःख उठाया। कालान्तर में सिंह की पर्याय में ऋद्धिधारी मुनिराजों के विनयपूर्वक उपदेश को सुनकर, सम्यक्त्व और पाँच अणुव्रत को ग्रहण कर, अन्त में मरकर स्वर्ग चला गया। वही जीव सिंह से आगे दसवें भव में तीर्थंकर महावीर बना। देखो, जब अहंकार किया, तो पतन हुआ और जब विनय को धारण किया, तो आत्मा का कल्याण करके भगवान बन गया। अतः हमें इस मान कषाय को सदा के लिये छोड़ देना चाहिये।

देखो, जरा—सा मान का अंश ही बाहुबली स्वामी को कितना बाधक रहा। उन्हें एक वर्ष तक खड़्गासन से (खड़े होकर) इस

अल्पमान के कारण ही तपश्चरण करना पड़ा। जरा ही तो विकल्प था कि यह भूमि जिस जगह मैं खड़ा हुआ हूँ, यह तो भरत की है। इसी थोड़े से विकल्प के कारण उन्हें एक वर्ष तक कठिन तपश्चरण करना पड़ा था और जैसे ही उनका विकल्प खत्म हुआ। उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। अतः मानकषाय कितनी दुःखदायी है? बड़े–बड़े पुरुष भी मानकषाय के चंगुल में फँसकर परेशान हुये हैं।

मान कषाय को छोड़ना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इसकी सूक्ष्म कणिका आत्मा में बैठी रहती है और आँखों में पड़ी किरकिरी की भांति कष्ट पहुँचाती रहती है। जिस प्रकार अंक के अभाव में शून्य का कोई महत्त्व नहीं होता उसी प्रकार मृदुता के अभाव में अन्य किसी क्रिया का कोई महत्त्व नहीं है। उपवास आदि धार्मिक क्रियाओं को करके यदि कोई कहता है, देखो मैंने यह किया, वह किया तो यह भी अहंकार है। जहाँ पर भी मैं, मेरेपन की भावना है वहीं अहंकार का प्रदर्शन है। स्वयं को जाने बिना मैं कि घोषणा मात्र अहंकार का प्रदर्शन है। इसलिए स्वयं के परमात्मा को प्रगट करने के लिए शारीरादि पर–पदार्थों में, मैं और मेरेपन की बुद्धि छोड़नी आवश्यक है।

एक बार इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया और उनके पति अल्बर्ट प्रिंस में कुछ कहा–सुनी हो गई थी, विवाद हो गया, कुछ वाचनिक प्रहार हो गया। दोनों में जैसे टकराहट हुयी कि महारानी विक्टोरिया अपने कक्ष से बाहर चली गई। काफी समय तक बाहर भटकती रही, जब उसके भीतर का क्रोध शान्त हुआ अरे .... मुझे तो इन्हीं के साथ जिन्दगी गुजारनी है, क्यों फालतू का विवाद बढ़ाऊँ और अपने कक्ष की ओर बढ़ चली, द्वार बन्द था, उसने द्वार खटखटाया, भीतर से आवाज आई, कौन? उत्तर मिला "मैं इंग्लैण्ड

की महारानी विक्टोरिया।'' अलबर्ट प्रिंस ने द्वार नहीं खोला। विक्टोरिया सोचती है कि अभी उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ। वह पुनः द्वार खट–खटाती है, भीतर से वही आवाज, कौन? मैं महारानी विक्टोरिया, पुनः द्वार नहीं खुलता। अर्द्ध रात्रि बीत चुकी, फिर द्वार खटखटाती है। वही आवाज कौन? मैं विक्टोरिया, फिर भी द्वार नहीं खुलता। विक्टोरिया सोचती है कारण क्या है, इतने नाराज तो कभी नहीं हुये, आज द्वार ही नहीं खोल रहे। पुनः साहस जुटाती है और द्वार खटखटाती है, भीतर से वही आवाज कौन? विक्टोरिया कहती है ''आपकी पत्नी विक्टोरिया।'' जैसे ही समर्पण भरे शब्दों को प्रिंस सुनते हैं तुरन्त द्वार खोल देते हैं। जब ''मैं'' की दीवार टूट जाती है, तब परमात्मा का द्वार अपने–आप खुल जाता है। जब–जब विक्टोरिया अहंकार को लेकर पहुँची, तब–तब उसे द्वार बन्द मिले। हम भी जब परमात्मा के द्वार पर अहंकार को लेकर जाते हैं, तो हमें द्वार बन्द मिलते हैं। साधना करने के उपरान्त भी परमात्मा के दर्शन नहीं मिलते। अहंकार का विसर्जन करने के बाद ही परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। हमें परमात्मा के दर्शन हों इसके लिए हमें विक्टोरिया के समान अपने ''मैं'' को मिटाना होगा।

अहंकार का हमारी आत्मा पर इतना अधिक बोझ है कि वह हमें परमात्मा से मिलने नहीं देता। व्यक्ति का तौल तो संभव है, मगर उसका अहंकार बेतौल है। अहंकार के बोझ के कारण व्यक्ति दबा जा रहा है, मरा जा रहा है। दुनिया में आज तक ऐसी कोई मशीन नहीं बनी जो व्यक्ति के अहंकार को तौल सके। झूठी शान और प्रदर्शन की भावना व्यक्ति को बहुत दुःख देती है।

एक मेंढक था। एक बार उसने हाथी को रौब और मदमस्त चाल से चलता हुआ देखा तो उसके दिमाग में एक धुन सवार हो गई कि

मैं भी हाथी–जैसा दिखूँ, मेरा भी हाथी–जैसा विशाल शरीर हो और हाथी जैसी मदमस्त चाल चलूँ। बस, फिर क्या था। वह मेंढक साइकिल की दुकान पर पहुँच, बोला–भैया! मेरे शरीर में इतनी हवा भरो कि मैं हाथी जितना बड़ा हो जाऊँ। दुकानदार ने मेंढक को बहुत समझाया–तू अपने होने में ही खुश रह, हाथी–जैसा बनने का ख्याल छोड़ दे। मगर मेंढक की समझ में कुछ नहीं आया। दुकानदार ने मजबूरन पम्प उठाया और मेंढक के शरीर में हवा भरना शुरू किया। मेंढक ने कहा–और भरो। उसने एक दो पम्प और मारे। मेंढक बोला–और भरो। दुकानदार ने एक दो पम्प और मारे। मेंढक बोला–और भरो, बस भरते जाओ, रुको मत। जब तक मैं फूलकर हाथी–जैसा बड़ा न हो जाऊँ, भरते जाओ। उसने एक दो पम्प और मारे कि मेंढक का पेट फट गया और उसके प्राणपखेरू उड़ गये। वह मेढ़क कोई और नहीं, हम लोग ही हैं। हम लोग भी झूठे रौब और प्रदर्शन में मरे जा रहे हैं, अहंकार की झूठी हवा में फूले जा रहे हैं।

पर ध्यान रखना, दुनिया में आज तक किसी भी अहंकारी व्यक्ति का कल्याण न हुआ है, और न होगा। अहंकारी व्यक्ति नियम से दुर्गति में ही जाता है। यह पक्की गारन्टी है। अहंकार पापों को बढ़ानेवाला है। जब तक वह समाप्त नहीं होगा, तब तक परमात्मा से दूरी बनी रहेगी।

द्रोपदी का अहंकार जब तक चूर नहीं हुआ, तब तक नारायण उसकी रक्षा के लिये नहीं आये। द्रोपदी को बड़ा घमण्ड था अपने गांडिवधारी पति अर्जुन पर, कि वह दुर्योधन को परास्त कर देगा; परन्तु चीरहरण के वक्त अर्जुन तो क्या धर्मराज युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव सहित महारथी भीष्मपिता, गुरु द्रोणाचार्य, कृपाचार्य

भी बैठे रहे। अन्त में जब द्रोपदी का अहंकार टूटा और नारायण को पुकारा, तभी तो नारायण मदद के लिये पहुँचे। इसी प्रकार भगवान तभी मिलते हैं, जब अहंकार समाप्त हो जाता है।

जब दिन बदलते हैं, तो एक दिन में ही व्यक्ति आसमान में पहुँच जाता है। जब बिगड़ते हैं, तब व्यक्ति आकाश से जमीन पर आ जाता है। कोई नहीं जानता था कि राम को राजा दशरथ से जो राजसिंहासन की गद्दी मिली है, वह दूसरे दिन ही छिन जायेगी और अपनी माता–समान केकई के द्वारा महलों से उल्टा 14 वर्ष का वनवास मिलेगा। यही तो कर्मों की विचित्रता है। धन और सत्ता का अहंकार एक दिन हँसाता है, तो वह एक दिन रुलायेगा, यह गारन्टी है।

आचार्यों ने कहा है –

'मानेन सर्व जन निन्दितः वेश रूपः'

अहंकार से सभी मनुष्यों के द्वारा निन्दा का ही पात्र बनना होता है। यह अहंकार कागज की नाव के सदृश है जो एक दिन अवश्य ही ले डूबेगी। सारी महत्त्वाकांक्षाएं समाप्त हो जायेंगी। अभिमानी व्यक्ति के तो लोग बिना कारण बैरी बन जाते हैं। उसका बुरा चाहने लगते हैं। यह अहंकार, यह ईगो, यह मान, यह 'मैं' महाभयानक राक्षस है। यह प्रत्येक व्यक्ति के पीछे लगा हुआ है।

रावण, कंस, दुर्योधन का विनाश अहंकार के कारण ही तो हुआ। जब तक जीवन में अहंकार रूपी अधर्म बैठा है, तब तक धर्म प्रवेश नहीं कर सकता। इसलिये जीवन के उत्थान के लिये अहंकार को छोड़ना अनिवार्य है। जितनी भी महान आत्माएँ संसार में उत्थान को प्राप्त हुई हैं, वे सब विनम्र थीं, अहंकार से शून्य थीं। अहंकार के रथ

पर सवार व्यक्ति अपने जीवन में सुख–शान्ति नहीं पा सकता। वे ही महान होते हैं, जो झुकने की कला जानते हैं।

यदि जीवन में उन्नति करना चाहते हो तो झुकने की कला सीखो। सबने बेंत को देखा होगा। जब आँधी, तूफान आता है तब बेंत पूरा–का–पूरा जमीन की ओर झुक जाता है। ऐसा लगने लगता है मानों नष्ट हो गया हो। लेकिन जैसे ही आँधी–तूफान रुकता है, वह पुनः यथावत् खड़ा हो जाता है। आँधी–तूफान उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाता, जबकि उसके आसपास उगे बड़े–बड़े वृक्ष धराशायी हो जाते हैं। जो झुक नहीं पाता, वह टूट जाता है या उखड़ जाता है और जो झुक जाता है, वह बच जाता है। जो झुकना जानता है, उसका कोई भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

एक दार्शनिक हुये हैं कन्फ्यूशियस। एक दिन एक राह चलते व्यक्ति ने उनसे पूछा कि झुकने से क्या होता है? कन्फ्यूशियस ने अपना मुख खोलकर कहा कि इसमें झाँको। वह व्यक्ति बड़े असमंजस में पड़ गया। कन्फ्यूशियस ने कहा–भाई! तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दे रहा हूँ, झाँककर तो देखो। उस व्यक्ति ने जैसे ही झाँककर देखा, दार्शनिक ने पूँछा–क्या दिख रहा है? व्यक्ति ने कहा–आपके मुँह में दाँत तो एक भी नहीं दिख रहा है, अकेली जीभ दिख रही है। दार्शनिक ने कहा अच्छा बताइये पहले कौन आता है, दाँत या जीभ? वह बोला–दाँत बाद में आते हैं और जीभ तो जन्म से ही रहती है। कन्फ्यूशियस ने हँसकर कहा कि लीजिये, आपका उत्तर मिल गया। दाँत बाद में आये, लेकिन पहले ही टूट गये, क्योंकि उन्हें झुकना नहीं आता, उनमें कठोरता है। जीभ में लचीलापन है, मृदुता है, वह झुकना जानती है, इसलिये बची हुई है। यह झुकने या विनय का महत्त्व है। विनय करने से कोई छोटा नहीं होता। विनय करनेवाला

सदा बड़ा ही माना जाता है।

अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन रास्ते से गुजरते समय सामान्य राहगीर के द्वारा प्रणाम करने पर अपना हेट उतारकर और झुककर उसके प्रणाम का जबाव देते थे। जो लोग उनके साथ चलते थे, उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता था। एक बार किसी ने उनसे कहा कि आप इतने बड़े पद पर हैं, आपको इस तरह सामान्य व्यक्ति के सामने झुकना शोभा नहीं देता। अब्राहम लिंकन ने कहा– 'भाई ! व्यक्ति तो गुणों से महान होता है और विनय भी तो एक गुण है। क्या आप चाहते हैं मुझमें विनय गुण न रहे? मैं अगर आपकी दृष्टि में बड़ा और महान हूँ तब मुझ में विनय गुण ज्यादा होना चाहिये।' इससे यह स्पष्ट होता है कि जो जितना विनयवान् है, वह उतना ही गुणवान् और महान् है।

'मृदोर्भावः मार्दवम्' अर्थात् जहाँ मृदुता का भाव है, वहाँ मार्दवधर्म होता है। अनादिकाल से यह जीव अहंकार में जिया, उसने अहंकार को कभी नहीं छोड़ा। आचार्य कहते हैं–कभी भी उच्च कुल का, धन का, ज्ञान आदि का अहंकार मत करना; बल्कि अपने आचरण को पवित्र बनाना। भविष्य के कर्मों का लेखा जोखा कुल व जाति पर नहीं, बल्कि अपने आचरण पर आधारित है। यदि हमारा आचरण पवित्र है, तो कल्याण होगा और यदि आचरण भ्रष्ट है, तो पतन होगा। उसे कोई बचा नहीं पायेगा। सबसे बड़ा निकृष्ट वह कहलाता है, जिसका कुल तो उच्च हो और आचरण नीच हो। ऐसा व्यक्ति स्वयं तो दुर्गतियों में जाता ही है, और अपने कुल को भी कलंकित करता है।

रावण का कुल उच्च था, परन्तु आचरण नीच था, इसलिये सारी

लंका को डुबा बैठा। रावण उच्च कुल का ब्राह्मण, विद्याधर था, किन्तु वह जब दुराचारी हो गया तो सबने उसे नीच कहा। उसकी भक्ति व शक्ति की तीनलोक में गूँज होती थी, परन्तु जब उसका आचरण पापमय व दुराचारयुक्त हो गया तभी तो उसे सारे संसार ने पापी/दुरात्मा कहा। महान् ज्ञानी रावण की दुर्गति उसके अन्यायपूर्ण आचरण से हुई।

साक्षात् तीर्थंकर के कुल में उत्पन्न हुये मारीच को उसके दुराचरण के कारण कोई भी दुर्गति में जाने से नहीं रोक पाया। कर्मों की यही तो विचित्रता है कि जैसा आचरण होगा, वैसे परिणाम भुगतने पड़ेंगे। रावण इसीलिये तो नरक गया कि उसके परिणाम बिगड़ गये और रावण का भाई विभीषण मोक्ष गया, क्योंकि उसके परिणाम सुधर गये। विनय से जीवन पवित्र व उन्नतिशील बनता है, जबकि अहंकार से पतन होता है, यह नियम है।

जो ज्ञानी पंडित हों, उन्हें भी ज्ञान का मद नहीं करना चाहिये। यह विचारना चाहिये कि मेरे से बड़े–बड़े और भी बहुत से ज्ञानी लोग हैं। बड़े–बड़े ऋषि, मुनि, केवली भगवान ये सभी चिदात्मज्ञानी हैं। मैं एक अल्पज्ञानी हूँ। ज्ञान का मद करना मेरी मूर्खता है। व्यर्थ ज्ञान का मद करना मुझे शोभा नहीं देता।

धन का मद करना भी व्यर्थ है। पूर्वोपार्जित पुण्य से मिली सम्पदा क्षणिक है, और इन्द्रिय वासनाओं को बढ़ानेवाली है। जब बड़े–बड़े सम्पत्तिशाली चक्रवर्ती, स्वर्ग में कुबेर आदि की सम्पत्ति स्थिर नहीं रही, एक दिन पुण्य समाप्त होते ही उनको छोड़कर जाना पड़ा, फिर मैं क्षणिक सम्पत्ति को पाकर गर्व करूँ तो मेरे समान अधम या मूर्ख कौन होगा? ये मद स्थिर रहनेवाले नहीं हैं तथा

दुर्गति में ले जानेवाले हैं। ऐसा विचार कर ज्ञानी लोग कभी भी गर्व नहीं करते।

अहंकारी मनुष्य मानकषाय के कारण दूसरों के प्रति झुकता नहीं है और आपस में नमस्कार इत्यादि भी अहंकार की वजह से नहीं करता है। सूखे बाँस के समान सीधा ही रहता है। जैसे सूखा बाँस नम्र नहीं होता है, अगर उसको ज्यादा जोर से झुकाया जाये तो बीच में से टूट जाता है, उसी प्रकार अहंकारी मनुष्य अन्दर नम्रता न होने के कारण अहंकार से किसी के साथ नम्रता का व्यवहार नहीं करता।

मान कषाय सदाचरण को, विनय को नष्ट करने के लिए तूफान के समान है। आज व्यक्ति जरा सा वैभव, बल आदि प्राप्त कर लेता है तो अहंकार करने लगता है, मूँछों पर ताव देने लगता है। पर ध्यान रखना यह मूँछ बहुत खतरनाक है। मेरी मूँछ कहीं नीची न हो जाये इसके लिये व्यक्ति अत्यन्त मेहनत से कमाये धन को भी पानी की तरह बहा देता है।

व्यक्ति परपदार्थों को अपना मानता हुआ झूठा अहंकार करता है, जिसका कोई मूल्य नहीं, कोई आधार नहीं। माँगकर पहने हुये गहनों पर गर्व कैसा? यह सब वैभव पुण्यरूपी साहूकार से उधार माँगकर लाये हो, जिस दिन वह माँग बैठेगा तब वापिस देना पड़ेगा। फिर उस पर इतना गर्व क्यों? यह लक्ष्मी तो न आज तक सदा किसी के पास रही है और न आगे रहेगी।

एक सेठ जी थे। दुर्भाग्यवश वे दरिद्र हो गये। जब घर में कुछ नहीं रहा तो किसी राजा के न्यायालय में बैठकर अर्जीनवीसी करने लगे। जो कुछ मिल जाता, उससे अपनी गुजर करने लगे। कुछ दिन बाद जब सेठ जी घर पर जीने से ऊपर चढ़ रहे थे तब लक्ष्मी ने

आवाज दी—मैं आऊँ? सेठ जी लक्ष्मी से कहते हैं—आओ तो इस शर्त पर आना कि मैं लौटकर नहीं जाऊँगी। लक्ष्मी बोली—मैं ऐसा वायदा तो नहीं कर सकती, पर इतना अवश्य कहती हूँ कि जब जाऊँगी तब कहकर जाऊँगी। इस बीच राजा कहीं बाहर गया था। रानी ने इस अर्जीनवीस को बुलाकर राजा को बुलाने के लिये इस ढंग से पत्र लिखने को कहा जिससे राजा को बुरा भी ना लगे और राजा पत्र पढ़कर तुरन्त घर वापिस आ जायें।

अर्जीनवीस ने बड़ी कुशलता के साथ कलापूर्ण पत्र लिखा, राजा पत्र पढ़कर वापिस आ गया। घर आकर रानी से बोला—अभी काम तो बहुत बाकी पड़ा था, मैं अभी नहीं आ सकता था पर, प्रिये! तुम्हारे पत्र ने आने को विवश कर दिया। किस कुशल व्यक्ति से यह पत्र लिखवाया था? रानी ने अर्जीनवीस का नाम बता दिया। राजा ने खुश होकर उसे दीवान बना दिया। अब क्या था, अर्जीनवीस के दिन फिर गये। दिन—पर—दिन लक्ष्मी आने लगी और वह मालामाल हो गया। एक दिन उसने सोचा कि कहीं लक्ष्मी चली न जाये, इसलिये ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि कभी वह जा न सके। ऐसा सोचकर उसने एक बड़ा पक्का मकान बनवाया, तहखानों में बड़े—बड़े भण्डार धन रखने के लिये बनवाये। पीतल, ताँबा के हण्डों में धन भर—भरकर और मुखों को अच्छी तरह बन्द करके तहखाने में बन्द करवा दिया और सोचने लगा कि देखें, अब लक्ष्मी कैसे जाती है?

एक दिन की बात है, राजा उसे अपने साथ शिकार खेलने ले गया। राजा भागते—भागते थक गया और वहीं जंगल में विश्राम करने के लिये लेट गया। दीवान ने भक्तिवश राजा का सिर अपनी जाँघ पर रख लिया। लेटते ही राजा को नींद आ गई। इतने में लक्ष्मी आई और दीवान से बोली—लो सावधान, मैं अब जाती हूँ।

दीवान चौंका और अहंकार स बोला –'मैं भी देखता हूँ, कि तू कैसे जाती है?' उसे तो यह विश्वास था कि मैंने लक्ष्मी का जमीन के भीतर गाड़ करके रक्खा है, यह कैसे जा सकती है? इस प्रकार लक्ष्मी और दीवान के बीच बातचीत बढ़ चली। तब दीवान कमर में बँधी तलवार निकालकर बोला–ला मैं दखता हूँ तू किस प्रकार जाती है? इतने में राजा की आँख खुली तो वह अपने ऊपर तलवार देखकर विचारने लगा कि यह मेरा ही दीवान यहाँ मेरी हत्या करना चाहता था, अभी इसको यहाँ कुछ कहना उचित नहीं, क्योंकि बात बढ़ने पर यह मुझे यहीं मार डालेगा। दीवान यह सोचकर कि मैं यदि सत्य बात कहूँ तो राजा तो क्या किसी को भी विश्वास नहीं हो सकता, तो दोनों चुपचाप चले। राजा न दरबार में आते ही हुक्म दिया कि दीवान को दश से निकाल दो और उसकी सारी सम्पत्ति राज़सात कर लो। ऐसा ही किया गया।

बड़े–बड़े राजा महाराजा जिनमें कोटि सुभटों के बराबर बल था, उन्होंने अपनी लक्ष्मी को स्थिर रखने क लिये पट्ट बाँध लिया, लेकिन यह लक्ष्मी उन बड़ों की भी स्थिर नहीं रह सकी । इस लक्ष्मी को सदा रखने के लिये बड़े–बड़े श्री मन्तों द्वारा ऐस सुभटों, जिनमें महान बल था, उनके द्वारा रक्षा करायी गयी, फिर भी यह लक्ष्मी इतनी चंचल है कि लोगों क देखते – देखते ही विलय का प्राप्त हो गयी।

इन परपदार्थों का क्या विश्वास? हमारे मन में यह बात दृढ़रूप से जम जानी चाहिये कि मरा उत्थान और पतन मेरे ही हाथ है। हमें अपने ज्ञान की महिमा को स्वीकार कर इन जड़ पदार्थों की महिमा को छोड़ देना चाहिय। इसी का नाम है मृदुता या मार्दव – परिणाम।

मैं ही दुनिया का कर्ता–धर्ता हूँ, ऐसा अभिमान मत करो। पैदा होते ही एक झाड़ी में फेक दी गयी कन्या पीछे भारत–सम्राट जहाँगीर की पत्नी नूरजहाँ बनी। किसने किया उसका पालन–पोषण? विमान से गिरे हनुमान की किसने की रक्षा? यह संस्था मेरे बिना न चलेगी–यह कहते–कहते अनेक चले गये, पर वह संस्था ज्यों–की–त्यों चल रही है। पिता के अनेक उपाय करने पर भी मैना सुन्दरी का भाग्य किसने बनाया? मेरे द्वारा कुटुम्ब का पालन–पाषण होता है, इस मिथ्या अभिमान को छोड़ दो।

अहंकार के कारण ही व्यक्ति अपने को दुनिया का कर्ता–धर्ता मानता है। कुत्ता गाड़ी के नीचे चलता है और सोचता है कि गाड़ी मेरे ऊपर चल रही है, यदि मैं खिसक जाऊँ गाड़ी नीचे आ जायेगी। ऐसा ही दुनिया का अहंकार है। अहंकारी व्यक्ति सोचता है यदि हम नहीं रहेंगे तो यह दुनिया नहीं चलेगी।

एक बुढ़िया के पास एक मुर्गा था। मुर्गा बोलता था, सुबह हो जाती थी। उस बुढ़िया को सारे नगरवासी चिढ़ाते थे। एक दिन नगरवासियों ने जरा जोर से चिढ़ा दिया। बुढ़िया विनय को भूलकर अहंकार में चली गई और बोली–'तुम मुझे चिढ़ाते हो? मालूम नहीं, मेरा मुर्गा बोलता है, इसलिए सबेरा होता है? यदि तुमने ज्यादा गड़बड़ की तो मैं मुर्गे को बोलने नहीं दूँगी और तुम सब लोग अंधेरे में बैठे रहोगे?' लोगों ने और ज्यादा चिढ़ा दिया। उसने कहा–आज तो मैं इस नगरवालों को मजा चखाऊँगी। और उसने अपना मुर्गा उठाया और चली गई दूसरे गाँव में। वहाँ जाकर मुर्गा बोला और सबेरा हो गया। बुढ़िया कहती है–अब आ रही होगी उनको मेरी याद, क्योंकि मुर्गा यहाँ बोला तो यहाँ सबेरा हो गया और वहाँ मुर्गा है नहीं, इसलिए वहाँ पर अंधकार होगा। अब आयेंगे वे सब लोग मेरे

पास कि, हे अम्मा! मुर्गे का लेकर चल, तेरा मुर्गा नहीं बोला तो सबरा नहीं हुआ।

बताओ क्या यह सच है कि मुर्गा नहीं बोला तो सबेरा नहीं हुआ होगा? लकिन अहंकार हमें ऐसा ही रहता है कि हम घर पर नहीं रहंगे तो घर नहीं चलेगा। हर नेता की मृत्यु हाती है, ता यही कहा जाता है कि अब क्या होगा? कुछ नहीं होगा, वही होगा जो भाग्य में होगा। चिन्ता मत करा। नेहरु जी गुजर गये तब सब लोग घबड़ा गए कि अब देश का क्या होगा? लालबहादुर शास्त्री गुजर गये तो कहा कि अब देश का क्या होगा? अब पुनः गुलाम होगा? अरे! इंदिरा गाँधी आ गई। इंदिरा गाँधी गुजर गई, तो दूसरे लोग आ गये। किसी के जाने से कुछ नहीं होता। तुम्हारे पहले भी दुनिया थी, तुम्हारे बाद भी दुनिया रहगी। अतः अहंकार करना व्यर्थ है। यह अहंकार खारा पानी है, जितना पिआगे उतनी ही प्यास बढ़गी।

जो अपने अहंकार को नहीं छोड़ता, उसका नियम स संसार में पतन होता है। विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है। विश्वविजय का स्वप्न देखनेवाले अहंकारी नेपोलियन की विजय ने सम्पूर्ण यूरोप को थर्रा दिया था, परन्तु अन्तिम दिनों में वह एक समुद्री टापू की जेल में सड़कर मरा।

इसी प्रकार मदान्ध मुसोलिनी भी किसी दानव से कम नहीं था। अपनी वायुसेना पर उसे अपार गर्व था। छोटे–से देश अबीसिनिया पर विषैली वायु छोड़कर मनुष्यों को तड़फा–तड़फाकर मारने में उसे आसुरी आनन्द प्राप्त होता था। अन्त में वह स्वयं भी फाँसी के तख्ते पर लटका दिया गया।

एक हाथ में हथकड़ी और दूसरे हाथ में बम लेकर सम्पूर्ण विश्व

को अभूतपूर्व चुनौती देनेवाला हिटलर कहता था कि मेरी अधीनता स्वीकार कर लो, अन्यथा बमवर्षा करके तुम्हें भस्मीभूत कर दूँगा। विश्व को भय से थर्रा देनेवाला आतंक का प्रतीक हिटलर भी दुनिया से ऐसा गायब हुआ कि उसके शव तक का पता नहीं चला। दुनिया में जहाँ भी द्वेष है, ईर्ष्या है, प्रतिस्पर्धा है, प्रदर्शन है, वह सब अहंकार की देन है।

अनादिकाल से यह जीव कषायों से कसता आया है, इसलिये यह दुःखी है। नरकगति में क्रोध, देवगति में लोभ, तिर्यंचगति में माया चरम–सीमा पर पहुँच जाती है और मनुष्यगति में मान–सम्मान की फिकर पड़ जाती है। एक सेठ के पास अपार धन–संपत्ति थी। सेठ की एकमात्र इच्छा थी कि प्रचुर धनराशि का प्रदर्शन कुछ इस ढंग से किया जाये कि दुनिया सदा उसका यशोगान करती रहे। उसके जीवन के पचास वर्ष इसी उधेड़–बुन में बीत गये थे, किन्तु अभी तक उसे कोई उचित अवसर नहीं मिल पाया था।

आखिर समय ने उसे मौका दे दिया। उसकी इकलौती बेटी की शादी का प्रसंग था। वह मन–ही–मन सोचने लगा कि धन–प्रदर्शन के माध्यम से यश पाने का यह उत्तम अवसर है। उसने दूसरे दिन अपने सभी मित्रों को बुलाकर कहा – मित्रो! मैं अपनी लाड़ली बेटी की शादी ऐसे अनूठे ढंग से करना चाहता हूँ जैसी आज तक किसी ने कहीं न देखी हो, न सुनी हो। चाहे जितना खर्चा हो जाये, उसकी मुझे परवाह नहीं है। मैं यही चाहता हूँ कि सभी मेरी प्रशंसा मुक्तकंठ से करते रहें। शादी इतनी शानदार हो जिसे लोग युग–युगान्तर तक याद करते रहें।

सेठ के उन मित्रों में से एक बुजुर्ग मित्र ने अपना अनुभव व्यक्त

करते हुए कहा – मित्र ! इस दुनिया में किसी को भी यश नहीं मिलता। तुम चाहे कितने भी अच्छे से अच्छा कार्य करो, किन्तु ये दुनिया किसी को यश नहीं देती। दुनिया की तो ये रीति है कि अच्छे–से–अच्छे कार्य में भी लोग त्रुटियाँ निकाल ही लेते हैं।

यह सुनकर सेठ ने झल्लाकर कहा – दुनिया त्रुटियाँ तो तब निकालेगी जब मैं किसी कार्य में कुछ कमी रखूँगा। जब शादी के आयोजन में कोई कमी रहेगी ही नहीं, तो दुनिया दोष भी कैसे निकालेगी? उस अनुभवी मित्र ने अंत में भी यही कहा – मित्र! याद रखना कि आदमी की प्रकृति कुछ ऐसी ही है जो दोष देखना ही जानती है।

सेठ ने शादी की तैयारियाँ छह महीने पूर्व ही प्रारंभ कर दीं। मन में यश की आकांक्षा को लेकर सेठ ने शादी की रूपरेखा खूब सोच–विचारकर तय कर ली। उसने सोचा, आनेवाले सभी बारातियों की खातिरदारी इस तरह करूँगा कि प्रत्येक बाराती स्वयं को धन्यभागी समझेगा। विवाह की प्रशंसा ऐसी होगी कि जो विवाह में नहीं आयेंगे वे अपने को दुर्भाग्यशाली महसूस करेंगे। समय पर बारात आई। सेठ ने पहले से ही आगत–स्वागत की ऐसी तैयारियाँ कर रखी थीं कि सारे बाराती देखकर दंग रह गए। फिर उनके खान–पान, आमोद–प्रमोद, हास्य विलास और सुख सुविधाओं के समस्त साधन प्रचुर मात्रा में जुटाये हुए थे। एक–एक बाराती को इतना प्रेम, आदर और आग्रहपूर्वक सम्मान दिया जा रहा था कि सभी मन–ही–मन सेठ की प्रशंसा कर रहे थे।

विवाहकार्य ठाठ–बाट से सम्पन्न हुआ। जब बेटी के विदा होने का समय आया तो सेठ ने समस्त बारातियों को एक बड़े सभागृह में

बैठाया। सबसे नम्र निवेदन करते हुये कहा—आदरणीय महानुभावो! आपके आगत—स्वागत और खातिरदारी में कोई त्रुटि रह गई हो तो मैं आप सबसे हाथ जोड़कर क्षमायाचना करना चाहता हूँ। मुझे इस बात का अफसोस है कि हम जितना चाहते थे उतनी आपकी सेवा नहीं कर सके।

अंत में सेठ ने कहा — आज आप यहाँ से प्रस्थान कर रहे हैं। अतः जाते—जाते सभी से मेरा सविनय निवेदन है कि इस सभागृह के बाहर दोनों ओर घड़े रखे हैं, जो सच्चे मोतियों से भरे हुए हैं, जिसकी जितनी मर्जी हो उतना वह उपहार के रूप में अवश्य लेकर जाएँ।

सारे बाराती यह कथन सुनकर दंग रह गये। मन—ही—मन सेठ की सराहना करने लगे—क्या दरियादिल आदमी है ये? कुछ व्यक्ति सोचने लगे, ऐसी शादी तो हमने न कहीं देखी है और न सुनी है कि आनेवाले बारातियों को सच्चे मोती मुक्त हाथों से बाँट जाएँ। सब ने मनमर्जी के मुताबिक अपनी जेबें भर लीं और बिदा हो गई।

सब के जाने के बाद सेठ ने अपने अंतरंग मित्रों को बुलाकर कहा कि तुम्हें उन बारातियों के पीछे—पीछे जाना है। रास्ते में इनकी भोजन व्यवस्था का पूरा ध्यान रखना और अपने कानों को भी सतर्क रखना। क्योंकि आते हुए बाराती कुछ नहीं बोलते, परन्तु जाते हुये बाराती बहुत कुछ बोलते हैं। अतः तुम कान खोलकर उनकी बातें सुनना। इस तरह सेठ ने अपने मित्रों को बारातियों की प्रतिक्रिया जानने के लिए भेजा ताकि पता लगे कि लोग सेठ के बारे में क्या—क्या कहते हैं।

सेठ के कहे अनुसार मित्र पूरा ध्यान रख रहे थे। जहाँ भी

दो–चार बाराती इकट्ठे होकर बैठ जाते, वहीं वे मित्र भी पहुँच जाते। इतने में बारात का एक प्रमुख व्यक्ति ठहाका मारते हुए कह रहा था–यारो ! कुछ भी कहो, सेठ ने शादी तो बहुत बढ़िया की, परन्तु सारे काम बनियाबुद्धि से हुए थे। सेठ ने प्रदर्शन तो इतना किया कि मोती बाँटे जा रहे हैं, किन्तु घड़े का मुँह इतना छोटा रखा, कि कोई पूरी मुट्ठी भरकर मोती निकाल ही न सके। मोती बाँटने का तो सिर्फ दिखावा ही किया था।

सेठ के मित्र इस बात को सुनकर दंग रह गये। जब मित्र लौटकर सेठ के पास पहुँचे तो सेठ उनसे बहुतकुछ सुनने को उत्सुक था। मित्रों की बात सुनकर सेठ ने कहा–मित्रो ! दुनिया के लोग सिर्फ दोष ही निकाल सकते हैं, प्रशंसा नहीं करते। अच्छा होता मैं तुम्हारी बात मान लेता। आज से संकल्प करता हूँ कि यश पाने के लिये कोई भी कार्य नहीं करूँगा।

यह संसार असार है, यहाँ मान करना मूढ़ता की बात है। मानकषाय करनेवाला घमंडी व्यक्ति अन्त में नष्ट हो जाता है। इस मनुष्यपर्याय में मानकषाय की मुख्यता होती है। व्यक्ति सब कुछ छोड़ सकता है, पर मान को छोड़ना अत्यन्त दुर्लभ है। व्यक्ति मरते समय तक भी मानकषाय को नहीं छोड़ पाता।

माँगीबाई नाम की एक बुढ़िया थी। जब वह मरने के समीप हुई तो उसके लड़कों ने कहा कि कोई आखिरी इच्छा हो तो बताओ। बुढ़िया ने कहा–मुझे मन्दिर ले चलो, बस और कुछ नहीं चाहिए। वे बुढ़िया को मन्दिर ले गये। वह खिसक–खिसक कर मन्दिर पहुँच गई। उसने लौटते वक्त देखा कि सीढ़ी पर जो उसका नाम लिखा था वह मिट गया है। माँगीबाई के स्थान पर मानीबाई हो गया है,

जो उसकी पड़ोसन का नाम था। पचास वर्ष पहले की याद पुनः हरी हो गई, मान उद्दीप्त हो गया। बेटे से बोली—बस, तू मेरा यह नाम ठीक करा दे और कुछ नहीं चाहिए मुझे। इस प्रकार व्यक्ति मरते—मरते भी मानकषाय को नहीं छोड़ पाता।

अभिमानी कभी धर्म का पात्र नहीं होता। जैसे पाषाण में जल प्रवेश नहीं करता, वैसे ही सद्गुरुओं का उपदेश भी कठोर/मानी पुरुषों के हृदय में प्रवेश नहीं करता, वे संसार में ही ठोकरें खाते रहते हैं।

फुटबाल को दुनिया ठोकर मारती है। पता है क्यों? फुटबाल के पेट में अंहकार की हवा भरी हुई है। जब तक यह हवा भरी रहती है, तब तक वह ठोकरें खाती है। ठोकरें खा—खाकर इधर—उधर उछलती है, कूँदती है और दुनिया उसका तमाशा देखती है।

आज के आदमी का भी लगभग यही हाल है। आदमी ठोकरें खा रहा है। कारण? आदमी, आदमी न रहा, वह फुटबाल हो गया। आदमी में भी अहंकार की हवा है, दंभ और गुमान की हवा है, पद और मद की हवा है। आदमी फुटबाल हो गया। झूठी शान—शौकत और शोहरत की हवा से फूला नहीं समा रहा।

फुटबाल में जब तक हवा भरी रहती है, तब तक ठोकरें खाती है। हवा निकल जाये तो फिर उसे कोई नहीं छेड़ता। आदमी में से भी यदि अहंकार की हवा निकल जाये तो जिन्दगी के सारे दुःख—दर्द पीड़ायें और संघर्ष आज अभी और इसी वक्त खत्म हो जायें। जीवन और जगत में तमाम संघर्षों और तनावों की वजह आदमी का अहम् और वहम् है।

आचार्यों ने जीवनविकास का मूलमंत्र बताते हुये कहा है— यदि

जीवन में उच्च स्थान प्राप्त करना चाहते हो तो झुकने की कला सीखो। रावण जो अभिमानी था, वह नष्ट हो गया और विभीषण जो विनम्र था, वह लंका का राजा बन गया। राम को भी लंका पर विजय विनम्र हृदय के कारण मिली थी, जिस विनम्रता से उन्होंने विभीषण को गले लगाया था।

संसार में प्रत्येक प्राणी मुक्ति चाहता है। पर मुक्ति अंहकार के रथ पर आरूढ़ होकर नहीं मिल सकती। इसके लिये तो विनम्र होकर सच्चे वीतरागी गुरु की शरण में जाना होगा। भगवान महावीर स्वामी ने अपनी देशना में कहा–भव्य प्राणियो! संसार के कष्टों से यदि मुक्ति चाहते हो, तो मुक्ति के सोपान 'विनय' अर्थात् उत्तम मार्दवधर्म को स्वीकार करो। विनय से जीवन पवित्र व उन्नतिशील बनता है, जबकि अहंकार से पतन होता है। अहंकार किसी का नहीं टिकता। अहंकार कच्चे घड़े के समान होता है, वो कब टूट जाये, कहा नहीं जा सकता। अहंकार इन्द्रधनुष के समान है कब मिट जाये कहा नहीं जा सकता। इतिहास साक्षी है कि जिसने भी अहंकार किया, उसका निश्चित रूप से पतन हुआ, चाहे वह रावण हो या कंस या दुर्योधन।

मान एक मीठा जहर है, जो मिलने पर अच्छा लगता है, पर है बहुत दुःखदायक। मान एक कषाय है। यह जिसके पास भी आ जाती है, उस पर अपना प्रभाव अवश्य डालती है। चाहे वह श्रावक हो या मुनि। यदि यह मुनियों के पास भी आ जाती है तो उनको भी मार्दवगुण से वंचित करा देती है। मान–सम्मान की आकाँक्षा पूरी न होने पर उन्हें भी क्रोध आ जाता है। जो पतन का कारण बनता है।

द्वीपायन मुनिराज पर जब यादव राजकुमारों ने पत्थर फेके, उन्हें गालियाँ दीं, तो उन्हें भी क्रोध आ गया। मन में पर्यायबुद्धि जागृत हो

गई कि मेरा अपमान किया जा रहा है। पर्यायबुद्धि ही मान को पैदा करनेवाली है। पर्यायबुद्धि के कारण उनके मन में आ गया कि मेरे ऊपर पत्थर फेंके जा रहे हैं, मुझे गाली दी जा रही है। उपयोग आत्मचिंतन से हटकर बाहर पर्याय में लग गया और उन्हें क्रोध आ गया, जिसके परिणामस्वरूप द्वारिका नगरी भस्म हुई और अन्त में स्वयं भी समाप्त हो गये।

यह पर्यायबुद्धि ही संसार का कारण है। हम अपने स्वरूप को भूलकर इन परपदार्थों में अंहकार/ममकार करते हैं। हम लोग कहते जरूर हैं कि शरीर जड़ है और आत्मा चेतन। परन्तु सच कहो तो अपना बड़प्पन शरीर से मानते हो, जड़ से मानते हो या उस चैतन्य प्रभु आत्मा से? अपने मन से पूछो तो आपका मन जवाब देगा कि अगर हमारे पास पर्याप्त धन है, शरीर स्वस्थ है, समाज में हमारी प्रतिष्ठा है, हमारा सम्मान है तो हम समझते हैं कि हम भी कुछ हैं। और अगर यह सब नहीं हैं तो हम समझते हैं कि हम हैं ही क्या? कुछ भी नहीं। पर ध्यान रखना, यह सारी–की–सारी वस्तुएँ जड़ हैं, इनसे आत्मा का कोई नाता नहीं है। आत्मा तो तब महान बनता है, जब उसमें उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि गुण हों।

आचार्यों ने मान को मीठा जहर कहा है। जहर दो प्रकार का होता है–एक मीठा और एक कड़वा। कड़वे जहर से तो सभी बच जाते हैं, परन्तु मीठे जहर से बचना विद्वानों के लिये भी दुःसाध्य है। क्रोध को तो हम बुरा मानते हैं, परन्तु मान को हम सभी अच्छा मानते हैं। जगह–जगह हमारी प्रशंसा हो, हमें मानपत्र दिये जायें, तो हम बड़े प्रसन्न होते हैं और अपने आप को महान मानते हैं। मानपत्र सभी चाहते हैं। कभी किसी ने यह नहीं कहा कि हमें क्रोधपत्र दे दो, लोभपत्र दे दो, हम सबसे बड़े लोभी हैं। क्रोधपत्र लेकर के क्या

करेंगे? क्रोध को तो कड़वा जहर समझकर छोड़ सकते हैं, पर मान तो ऐसा मीठा जहर है कि इसे जितना अपनाते जाओ, उतना–उतना आनन्द आता है। इसलिये इस मान को क्रोध से अधिक खतरनाक माना जाता है। मान छोड़ने की ओर हमारा उपयोग ही नहीं रहता। वह छूटे तो कैसे छूटे? भीतर में जो मानकषाय बैठी है, वह झुकने नहीं देती।

एक गाँव का मुखिया था। सरपंच था। एक बार उससे कोई गलती हो गई और उसे दंड सुनाया गया। समाज गलती सहन नहीं कर सकती। ऐसा कह दिया गया और कुछ लोगों ने इकट्टे होकर उसके घर जाकर सारी बात कह दी। घर के भीतर उसने भी स्वीकार कर लिया कि गलती हो गई, मजबूरी थी। पर इतने से काम नहीं चलेगा। लोगों ने कहा कि यही बात मंच पर आकर सभी के सामने कहना होगी कि मेरी गलती हो गई और मैं इसके लिये क्षमा चाहता हूँ। फिर दण्ड के रूप में एक रुपया देना होगा। एक रुपया कोई मायने नहीं रखता। वह व्यक्ति करोड़ रुपया देने के लिये तैयार हो गया, लेकिन कहने लगा कि मंच पर आकर क्षमा माँगना तो संभव नहीं हो सकेगा। मान खंडित हो जायेगा, प्रतिष्ठा में बट्टा लग जायेगा। आज तक जो सम्मान मिलता आया है वह चला जायेगा।

सभी जीवों की यही स्थिति है। पाप हो जाने पर, गलती हो जाने पर कोई अपनी गलती मानने को तैयार नहीं है, क्योंकि भीतर मानकषाय बैठा है, वह झुकने नहीं देता। भगवान महावीर स्वामी ने मान को हलाहल समझा और उसका परित्याग कर दिया, सदा के लिये छोड़ दिया, लेकिन जिसे महावीर स्वामी विष समझकर छोड़ गये, उसे हम अमृत समझकर पी रहे हैं।

पर ध्यान रखना, जब तक मार्दवधर्म का विरोधी यह मान विद्यमान है, तब तक जीवन में मृदुता नहीं आ सकती। यदि मार्दवधर्म को प्राप्त करना है तो यह मन जो मानकषाय का स्टोर बना हुआ है, पहले उसे खाली कर दो। यदि मानकषाय की हानि हो जाती है तो मार्दवधर्म प्रकट होने में देर नहीं लगती। पर आज तो मानकषाय की हानि होने पर कोर्ट में मान–हानि का दावा किया जाता है। कोई भी मान को छोड़ने को तैयार नहीं है।

शास्त्रों में 8 प्रकार के मद बताये गये हैं अर्थात् व्यक्ति आठ बातों को लेकर अपने को उच्च और दूसरों को तुच्छ समझने लगता है।

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बल ऋद्धि तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्व मानित्वं, स्मय माहुर्गतस्मयाः।।

व्यक्ति को ज्ञान का, पूजा का, कुल का, जाति का, बल का, ऋद्धि का, तप का, शरीर की सुंदरता का मद हो जाता है। इन आठ मदों को छोड़ने पर ही मृदुता आती है।

जिस जाति व कुल का हम मद करते हैं, वह शाश्वत नहीं है। बड़े–बड़े तीर्थंकर और चक्रवर्ती भी पूर्व में पशुओं की पर्याय में एकइन्द्रिय आदि पर्यायों में उत्पन्न हुये। आज हम जिस उच्च कुल का अभिमान कर रहे हैं, कल हमें भी नीच कुल में जन्म लेना पड़ सकता है। आज हम जिस उच्च कुल का अभिमान कर सबको तुच्छ मान रहे हैं, कल हमारा जीवन भी तुच्छ हो सकता है, और जिसे हम तुच्छ मान रहे हैं, वह सर्वोच्च स्थान पर आसीन हो सकता है। जैन धर्म तो यह कहता है कि एक निगोदिया जीव भी मनुष्य होकर उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

इस कुल व जाति की उच्चता का कोई महत्त्व नहीं है। उच्च तो

वह है, जिसका आचरण श्रेष्ठ है। जिसका आचरण उच्च है, वही वास्तव में उच्च है। यदि हमारा आचरण उच्च नहीं है तो उच्च कुल में उत्पन्न होने का कोई महत्त्व नहीं है। कौआ यदि शिखर पर बैठ जाये तो वह उच्च नहीं बन जाता। वहाँ बैठकर भी वह काँव–काँव ही बोलेगा। जिस प्रकार शिखर पर बैठने से कौआ उच्च नहीं बन जाता, उसी प्रकार व्यक्ति कितने ही बड़े कुल में जन्म ले–ले, पर यदि उसका व्यक्तित्त्व श्रेष्ठ नहीं है, उसका आचरण अच्छा नहीं है, तो उस उच्च कुल का कोई महत्त्व नहीं है। यदि हमें उच्च कुल मिला है तो हम उस उच्च कुल का अभिमान न करें, बल्कि अपने कुल की गरिमा के अनुरूप अपने आचरण को पवित्र बनाने का प्रयास करें। जीवन में तो राज परिवर्तन होता है। 'जो आज एक अनाथ है, नरनाथ होता कल वही। जो आज उत्सव मग्न है, कल शोक से रोता वही।' एक अनाथ भी नरनाथ बन सकता है। एक पल में कुछ भी हो सकता है। यदि जरा–सा भूकम्प आ जाये तो जहाँ पहाड़ है, वहाँ खाई बन सकती है और जहाँ खाई है, वहाँ पहाड़ बन सकता है। यह कुल व जाति का अहंकार बिल्कुल व्यर्थ है।

अहंकार का विसर्जन कर देने पर छोटा व्यक्ति भी महान हो सकता है और जीवन में अहंकार आ जाये तो महान व्यक्ति भी छोटा बन सकता है। समन्तभद्र महाराज ने लिखा है –

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा, जायते धर्म किल्विषात्।
कापि नाम भवेदन्या, संपद धर्माच्छरीरिणाम्।।

अगर धर्म का आश्रय लेता है, तो कुत्ता देव बन जाता है और यदि अधर्म का आश्रय लेता है, तो देव भी कुत्ता बन जाता है।

भोपाल शहर में एक झुग्गी/झापड़ी में एक छोटी–सी लड़की

रहती थी। उसके घर के सभी लोग सुअर का माँस खाते थे, लेकिन वह बच्ची मना करती थी कि मैं नहीं खाऊँगी। उन लोगों ने पूछा—तू क्यों नहीं खायेगी? वह बोली—मैं ब्राह्मण हूँ, तू ब्राह्मण है? कौन है तेरे माँ बाप? तो वह पूरा वर्णन करती थी। जातिस्मरण से वह जान रही थी कि मैं ब्राह्मण हूँ।

यहाँ यह बात विचारणीय है कि उसका वहाँ जन्म कैसे हुआ? निश्चित है कि पूर्व जन्म में उसने अपने कुल का अभिमान किया होगा और किसी के साथ दुर्व्यवहार किया होगा, जिसके कारण आज उसे यहाँ जन्म लेना पड़ा। छोटों के साथ दुर्व्यवहार करनेवाला स्वयं छोटा बन जाता है। फिर किसी के साथ हम दुर्व्यवहार क्यों करें? धर्म तो कहता है कि अपराध से घृणा करो, अपराधी से नहीं। अपराधी तो अपराध को छोड़कर निरपराध हो सकता है। और यही कार्य अपने को करना है। हम इस कुल व जाति के अहंकार को छोड़कर अपने आचरण एवं विचारों को पवित्र बनाने का प्रयास करें।

रूप का अहंकार भी बड़ा गहरा अंहकार है। व्यक्ति थोड़ा—सा रूप क्या पा लेता है, अहंकार करने लगता है कि मेरे जैसा रूप किसी का भी नहीं है। जब मैं सड़क पर निकलता हूँ तो सभी लोग मुझे देखने लगते हैं। आचार्य कहते हैं—किस रूप का अहंकार कर रहे हो?

आज जिस रूप पर तुम इतना इतरा रहे हो तो 25 साल आगे के रूप को देखोगे तो तुम्हारे चेहरे पर 1760 झुर्रियाँ दिखाई पड़ेंगीं और थोड़ा आगे जाकर देखोगे तो तुम्हारे इस सुंदर सलोने शरीर को एक अच्छी चिता पर सुलाया जायेगा, जिसे तुम्हारे ही घरवाले अग्नि देंगे। जो—जो व्यक्ति अपने चैतन्य स्वरूप को भूले हैं और

इस रूप पर अहंकार किया है, उस रूप की अंतिम परिणति यही रही है। किस रूप का अहंकार कर रहे हो? मक्खी के पंख के समान इस पतली चमड़ी की एक परत को यदि अलग कर दिया जाय तो तुम्हें इसका असली रूप समझ में आ जायेगा। जिस पर आज इतरा रहे हो, उसके अंदर के रूप को देखकर स्वयं अपनी ही आँखों को बंद कर लोगे। यह रूप का अभिमान करना भी व्यर्थ है।

गीता प्रेस से निकली एक पुस्तक में हनुमान प्रसाद पोतदार ने लिखा है कि भारतीय संस्कृति एक पवित्र संस्कृति है। भारतीय सतीनारी रूप–प्रदर्शन को शील का अपमान समझती है। उससे मद जागृत होता है और उसके बहुत सारे दुष्परिणाम निकलते हैं। यह भारतीय संस्कृति नहीं है। शा पाश्चात्य संस्कृति का अंग है। भारतीय संस्कृति में कदम–कदम पर मर्यादायें हैं।

रुक्मणी को पूर्व पर्याय में, जब उसका लक्ष्मीमती नाम था, अपने रूप का बड़ा अहंकार था। एक बार जब वह साज–श्रृंगार कर रही थी, उसी समय एक मुनिराज आहारचर्या के लिये वहाँ से निकले। दर्पण में मुनिराज के मलिन शरीर को देखकर उसे बड़ी ग्लानि हुई, उस समय उसके बड़े क्लिष्ट परिणाम हो गये, जिसके परिणामस्वरूप उसे उसी पर्याय में कुष्ट रोग हो गया और पर्याय–दर–पर्याय निम्न–निम्न पर्यायों में जन्म लेती रही और फिर एक दुर्गन्धा नाम की धीवर की कन्या हुई, जिसके शरीर से बहुत दुर्गन्ध आती थी। उसके माता–पिता उसे बहुत दूर छोड़ आये थे। एक बार उन्हीं मुनिराज को देखकर उसे लगा कि मैंने इन मुनिराज को कहीं देखा है उसने विनम्रता से पूछा–महाराज! मुझे लगता है कि मैंने आपको कहीं देखा है? मुनिराज अवधिज्ञानी थे, उन्होंने अपने अवधिज्ञान को लगाकर उसकी पूर्व पर्याय को जान लिया। मुनिराज ने उसे समझाकर कुछ व्रत दिये।

इन व्रतों का निर्दोष पालन कर उसने धीरे–धीरे विकास किया और बाद में श्रीकृष्ण की पत्नी रुक्मणी बनी। इन रूप आदि का अहंकार करना व्यर्थ है। जो भी अहंकार करता है, उसका पतन हो जाता है और जब सद्बुद्धि/सद्ज्ञान आता है, तो उसका विकास शुरू हो जाता है।

चौथा अहंकार है ऐश्वर्य का, पूजा–प्रशंसा का। व्यक्ति यदि थोड़ा–सा ऐश्वर्य पा ले, थोड़ा–सा वैभव पा ले, तो ऐसा इतराता है कि उस–जैसा दुनिया में कोई है ही नहीं। पर ध्यान रखना, जो अपने आपको बड़ा मानता है, उससे छोटा कोई नहीं है। आचार्यश्री ने एक जगह लिखा है–'जो मानता स्वयं को सबसे बड़ा है, वह धर्म से अभी बहुत दूर खड़ा है।' जो अपने ऐश्वर्य पर अभिमान करते हैं, वे ईश्वर को भूल जाते हैं। बड़े–बड़े ऐश्वर्यशाली राजा–महाराजाओं का ऐश्वर्य भी नहीं रहा। चक्रवर्ती की विभूति भी उनके साथ नहीं गई। जो आज राज्य का अधिपति है, कल वही अपने प्राण बचाने में भी असमर्थ होकर इधर–उधर छिपता फिरता है। 'जो आज एक अनाथ है, नरनाथ होता कल वही। जो आज उत्सव–मग्न है, कल शोक से रोता वही।'

'ज्ञानार्णव' ग्रंथ में कहा है –

क्व मानो नाम संसारे, जन्तु व्रजविडम्बके।
यत्र प्राणी नृपो भूत्वा, विष्टामध्य कृमिर्भवेत।।

संपूर्ण जीवों की विडम्बना करानेवाले इस संसार में मान किस वस्तु का किया जावे? इस संसार में राजा भी मरकर विष्टा में कीड़ा उत्पन्न होता देखा जाता है। फिर अभिमान किस बात का किया जाये?

अहंकार की अन्तिम परिणति तो सिर्फ इतनी ही होती है कि उसका पुण्य क्षीण हो जाता है। किसी का भी ऐश्वर्य स्थिर नहीं रहता। चक्रवर्तियों का ऐश्वर्य भी साथ नहीं गया, फिर हमारे पास है ही क्या? चक्रवर्ती के चपरासी के बराबर भी हमारे पास नहीं होगा। वह छः खण्ड के अधिपति चक्रवर्ती और यहाँ हमारा छः खण्ड का मकान भी नहीं है, फिर भी कितना इतराते हैं।

प्रतिष्ठा के मद में व्यक्ति छोटों का तिरस्कार करता है, पर कभी–कभी ऐसा भी होता है कि जिसका आज हम तिरस्कार कर रहे हैं, कुछ समय बाद वह मालिक बन जाता है और तिरस्कार करनेवाले की स्थिति बिगड़ जाती है। आज मंत्री हैं तो हेलीकोप्टर में चलते हैं और कल चुनाव हार गये तो पुनः रिक्शा पर आना पड़ता है। धन का नशा भी व्यक्ति के ऊपर बहुत अधिक होता है। दौलत के नशे में वह अंधा हो जाता है, उसे कुछ दिखता नहीं है। कहा गया है –

कनक–कनक तें सौ गुनी, मादकता उपजाये।
यह खाये बौराये नर, वो पाये बौराय।

धतूरा को कनक कहते हैं। उसे जो खाता है, वह बौराने लगता है। और जो सोना को थोड़ा पा लेता है तो वह भी बौराने लगता है। गरीबों की ओर नहीं देखता, मस्तक ऊपर उठाकर चलता है। पैसे के मद में भक्ष्य अभक्ष्य का ज्ञान नहीं रहता। पर ध्यान रखना, यह धन स्थिर रहनेवाला नहीं है। इसका कोई भरोसा नहीं है, कर्माधीन है, कब हमारे पास से चला जाय।

जबलपुर में एक बहुत बड़े व्यापारी थे, जिनके नाम से सैकड़ों ठेले चलते थे। लेकिन उनकी मृत्यु के बाद उनके भाइयों ने सब हड़प लिया और उनके बेटे को रोड पर हाथठेला चलाने का काम

करना पड़ा। ये जो कर्मोदय से प्राप्त होनेवाली सम्पदा है, इसका कोई भरोसा नहीं है। यह मनुष्य की बहुत बड़ी भूल है जो वे समझते हैं कि लक्ष्मी मेरा साथ दे रही है। लक्ष्मी कभी किसी का साथ नहीं देती, वह तो स्वयं पुण्य के पीछे चलती है। जब तक पुण्य रहता है तो उसके पास लक्ष्मी रहती है और जब उसका पुण्य नष्ट हो जाता है तो उसे स्वयं समझ में आ जाता है कि मेरी औकात क्या है, मेरी हैसियत क्या है। पहले करोड़पति थे, अब रोड़पती बन गये। तो एसी स्थिति में किसका अभिमान किया जाये? अतः यह धन का, पूजा/प्रतिष्ठा का अभिमान भी व्यर्थ है, जो हमारे लक्ष्य की पूर्ति में बाधक बनकर मात्र लोकेषणा में फँसा देती है। सदा इस लोकेषणा से बचना चाहिये। ये प्रतिष्ठा करनेवाले लोग तो मोही हैं, स्वयं कर्म के पेरे हैं। यहाँ तो माया की माया से पहचान हो रही है। ज्ञानी पुरुष ऐसा जानकर इस लौकिक प्रतिष्ठा की भावना को छोड़ देते हैं।

छटवाँ अहंकार है बल का। व्यक्ति थोड़ा–सा शारीरिक बल पा लेता है तो उसे इतना अहंकार हो जाता है जैसे मेरे बराबर कोई है ही नहीं। अरे! इस बल का क्या अहंकार करना। आज शरीर तगड़ा है, पर जोर का मलेरिया आ जाये, चार–छः लंघन हो जावें, तो सूरत बदल जाये, उठते न बने।

रावण को ही देख लो, उसे अपने बल का बड़ा अहंकार था। तीन खंड का स्वामी रावण जब सीता का हरण कर लंका पहुँचा तब मन्दोदरी समझाती है–यह आपने अच्छा नहीं किया, सीता जी को वापिस कर दो। यह सुनकर रावण उत्तर देता है–सीता को युद्ध किये बिना वापिस कर देना मुझे सम्भव नहीं है। पहले मैं राम को जीतकर लक्ष्मण और हनुमान को कैद करके विजय प्राप्त करूँगा,

फिर सीता को वापिस कर दूँगा। देखो, सीता को वापिस करना स्वीकार है, पर जीतकर, हारकर नहीं। सवाल सीता का नहीं, मूँछ का था, मान का था। मूँछ के सवाल पर सैकड़ों घर बर्बाद होते देखे जाते हैं।

रावण से बढ़कर वैभवशाली शायद कोई नहीं होगा जो इतना अभिमान कर सके। रावण–जैसों का अभिमान स्थिर नहीं रहा, मिट्टी में मिल गया, लेकिन घमंड नहीं छोड़ा।

इक लख पूत, सवा लख नाती, ता रावण घर, दिया न बाती।
लंका–सी कोट, समुद्र–सी खाई, ता रावण की खबर न आई।।

बल के मद में अंधा हुआ व्यक्ति स्व–पर के हित–अहित का विचार नहीं करता। अंत समय में सभी का बल समाप्त हो जाता है। अतः बल का अहंकार करना भी व्यर्थ है।

दतिया राज्य का एक पहलवान था। इसने अनेक जगह कई कुश्तियाँ लड़ीं। कई कुश्तियों में वह हारा भी, पर आगे चलकर वह विश्वविजेता बना। उसका नाम गामा पहलवान था। उसका चित्र देखने पर ऐसा लगता है जैसे चौथेकाल में पाँच पाँडवों में से भीम का ही चित्र हो। वैसी ही मूँछें, सीना एकदम तना हुआ, भुजायें फौलादी और पैर मजबूत खम्बों के समान। उस गामा पहलवान की एक बार सन् 1910 में लन्दन में कुश्ती हुई थी और जो दूसरा पहलवान था, वह अमेरिका से आया जिबिस्को नाम का पहलवान था। काफी देर तक कुश्ती चली, शायद दो से ढाई घंटे हो गये। सारी जनता रूमाल हिला रही, कब खत्म होगी यह कुश्ती? अन्त में रेफरी ने दोनों के हाथ उठाकर कहा–ये मुकाबला ड्रा रहा। जब मुकाबला ड्रा हो गया, तो गामा ने उस अखाड़े की मिट्टी अपने सीने

पर लगाते हुये जिबिस्को से कहा–मैं तुम्हें चैलेंज करता हूँ, 7 दिन बाद फिर कुश्ती होगी। उसने कहा–मुझे मंजूर है। दोनों चले गये।

गामा ने अपने उस्ताद से कहा–य कुश्ती मुझे हर हालत में जीतनी है। उस्ताद ने भी उसे अच्छी तालीम दी। 7 दिन बाद वह मुकाबला उसी स्थान पर रखा गया। लेकिन 7 दिन बाद जिबिस्को कुश्ती लड़ने नहीं आया। गामा विजेता घोषित हुआ। बाद में सन् 1928 में पटियाला में फिर दोनों की कुश्ती हुई। जिसमें गामा ने 42 सेकण्ड में जिबिस्को को हरा दिया। फिर गामा के जितने भी मुकाबले हुये, वह सभी में विजयी रहा। वह ओलम्पिक में भारत की टीम की ओर से कुश्ती लड़ा था और अन्त में विश्वविजेता बना। बाद में बंटवारे के समय वह पाकिस्तान चला गया।

कहते हैं बाद में जब गामा पहलवान बीमार पड़ गया तो उसकी आँखों के आसपास मक्खियाँ बैठ जाती थीं और उसका हाथ बाजू में पड़ा रहता था। हाथ उठाकर मक्खियाँ भगाने की ताकत भी उस गामा पहलवान में नहीं रह गई थी। जब गामा पहलवान जैसों की यह हालत हो सकती है तो बाकी लोग लगते कहाँ हैं? बल का मद विवेकीजनों को कैसे आ सकता है?

राजा दशरथ के वैराग्य की घटना बड़ी विचित्र है। एक बार एक वृद्ध राजा दशरथ के पास आया और बोला–महाराज! जवानी में मैं दौड़ते हुये घोड़े को रोक देता था। लोग हाथी की सवारी सीखने मेरे पास आते थे। पर आज वृद्धावस्था में मेरा वह सारा–का–सारा बल पता नहीं कहाँ चला गया? मैं कई जगह बैठ–बैठकर बड़ी मुश्किल से यहाँ तक आया हूँ। उसकी बात सुनकर राजा दशरथ विचार करने लगे अब मेरे भी तो बाल पक गये हैं। और उसी समय

उन्होंने अपने राज्य का भार अपने बड़े पुत्र राम को देकर सन्यास धारण करने का विचार कर लिया। यह राजा दशरथ के वैराग्य की घटना है।

संसार में तो कुछ भी स्थायी नहीं है। शाम को जिन रामचन्द्र जी के राज्य की तैयारियाँ हो रही थीं, उन्हीं रामचन्द्र को सुबह बनवास जाना पड़ा।

ज्ञान का मद भी बहुत बड़ा मद है। ज्ञान तो हमारे मद को हरने का साधन है। ज्ञान हमारी जन्म–जरा की व्याधि का निवारण करनेवाला है, ज्ञान को कल्याण का साधन कहा गया है, पर आज व्यक्ति ज्ञान का भी अभिमान करने लगा है। जो यथार्थ ज्ञानी होते हैं, वे कभी ज्ञान का मद नहीं करते। जो ज्ञान का मद करता है, वह तो अभी अज्ञानी ही है। ज्ञान का मद अल्प ज्ञानियों को ही होता है।

कहावत है – अधजल गगरी छलकत जाये।

अर्थात् जब गगरी में जल थोड़ा होता है तो वह गिरता है और जब गगरी जल से लबालब भरी रहती है तो छलकने का नाम नहीं लेती। किसी नीतिकार ने लिखा है –

जब मुझे थोड़ा–सा ज्ञान हुआ तो मैं हाथी की तरह मदोन्मत्त होकर अपने को सर्वज्ञ समझने लगा, परन्तु जैसे–जैसे विद्वानों की संगति से थोड़ा–थोड़ा ज्ञान बढ़ता गया, वैसे–वैसे 'मैं सर्वज्ञ हूँ' यह मदरूपी ज्वर विदा होने लगा।

जिनसेनाचार्य जी ने लिखा है कि ज्ञान का अभिमान करना ज्ञान पर आवरण डालना है। जो भी ज्ञान का मद करता है, उसका पतन हो जाता है। ज्ञान के मद के बड़े ही बुरे दुष्परिणाम निकलते हैं। मान लीजिये ज्ञान के मद में आपने किसी–त्यागी व्रती का, किसी

साधु का तिरष्कार कर दिया कि ये विचारे क्या जानें, इन्हें तो कुछ नहीं आता। तो आपका ज्ञान लोप हो जायगा।

शिवभूति महाराज के ज्ञान का एकदम लोप हो गया। वे बहुत बड़े विद्वान् थे, पर अकस्मात उनका सारा ज्ञान लापता हो गया। फिर जब किन्ही अवधिज्ञानी मुनिराज से प्रश्न किया कि क्या कारण है, ऐसा कौन–सा दोष हुआ है मुझसे कि हम कुछ भी याद नहीं कर पाते, हमारी स्मृति शून्य हो गई, क्या कारण है? तो महाराज बताते हैं–तुमने उस समय ज्ञान के मद में आकर मुनिराजों के समूह में कोई ऐसे वाक्य कह दिये थे कि, अरे! ये तो अनपढ़ हैं, इन्हें तो कुछ नहीं आता, ये तो जबरदस्ती दीक्षा ले लेते हैं। आपने ज्ञान के मद में आकर एसे अपशब्द निकाल दिये थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि तुम्हारा ज्ञान नष्ट हो गया। मद का परिणाम कभी अच्छा नहीं होता।

यदि आत्मज्ञान नहीं हुआ तो अल्पज्ञानियों का वह ज्ञान भी मद का कारण बन जाता है। और वह मद के कारण अपने को बहुत बड़ा विद्वान् तथा दूसरों को मूर्ख समझने लगता है। इन्द्रभूति गौतम को भी अपने ज्ञान का बहुत अहंकार था। लेकिन अपनी योग्यता का भान तो व्यक्ति को तब होता है जब ऊँट पहाड़ के नीचे आता है। एक नीतिकार ने लिखा है कि मूर्ख को आसानी से समझाया जा सकता है, विद्वान् को उससे भी अधिक आसानी से समझाया जा सकता है, किन्तु थोड़े से ज्ञान के मद में विमूढ़ (भ्रमित) हुये लोगों को भगवान भी समझाने में समर्थ नहीं हैं। कभी भी ज्ञान का मद नहीं करना चाहिये। ज्ञान का फल तो यही है कि जीवन में उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि गुण आयें। वास्तव में ज्ञानी तो वही है जिन्होंने अपने जीवन को सरल वा शान्त बना लिया।

आचार्य विद्यानन्दि जी महाराज, जिन्होंने 'श्लोकवार्तिक' ग्रंथ की रचना की थी, अपने पूर्व जीवन में बहुत बड़े विद्वान् थे। एक बार एक मुनि महाराज मंदिर में 'देवागम स्तोत्र' का पाठ कर रहे थे। मंदिर के बाहर से गुजरते समय विद्यानन्दि नाम के इन विद्वान् ने उस पाठ को सुना और सुन करके वहीं खड़े हो गये। उन्हें बड़ा अच्छा लगा। वे मन्दिर में महाराज के पास गये और हाथ जोड़कर बोले—महाराज जी! आप मुझे इसका अर्थ समझा दीजिये, मुझे यह स्तोत्र अच्छा लगा। देखिये, इतने ऊँचे पद पर रहते हुये भी वे महाराज बड़ी सहजता से कह देते हैं कि इसका अर्थ मुझे नहीं मालूम। कितनी सरलता है? महाव्रती हैं, राजा महाराजा भी जिनके चरणों में अपना मस्तक झुकाते हैं, वे इतनी सहजता से कह देते हैं कि मुझे नहीं मालूम। वो ये नहीं सोचते कि यदि मैं कहूँगा कि मुझे नहीं मालूम तो ये क्या सोचेंगे कि इतने बड़े महाराज और नहीं मालूम? इस प्रकार की बात उनके मन में नहीं आती और बिलकुल शिशु के समान निर्विकार उनका जीवन होता है। उन्होंने बिलकुल स्पष्ट कह दिया कि इसका अर्थ मुझे नहीं मालूम। तब वे विद्यानन्दि जी विद्वान् पुनः प्रार्थना करते हैं—महाराज जी! आप एक बार और पाठ कर लीजिये, मैं सुनकर उसके अर्थ को लगाने का प्रयास करूँगा।

तब महाराज पुनः पाठ करते हैं, जिसे सुनकर सुननेवाले का मिथ्यात्व रूपी अंधकार नष्ट हो गया। वे महाराज के चरणों में गिरकर बोलते हैं कि, महाराज जी! आप मुझे भी अपने—जैसा बना लीजिये, मैं भी मुनि अवस्था में रहना चाहता हूँ। आज तक मैं भ्रम में था, आज तक मैं अपने आप को विद्वान् मानता था, अब मुझे सच्चे विद्वान् का परिचय प्राप्त हुआ है, आप मुझे दीक्षा दे दीजिये। दीक्षा

लेकर वे आगे चलकर बहुत बड़े आचार्य बने, जिन्होंने 'श्लाक–वार्तिक' ग्रन्थ की रचना की। वास्तव में जिसने इन क्रोध, मान आदि कषायों को जीत लिया, वही सच्चा विद्वान् है।

तप का भी मद होता है। जो लोग रसों का त्याग कर लेते हैं, उपवास आदि कर लेते हैं, कभी–कभी उनके अंदर भी एक बड़प्पन–जैसा आने लगता है कि मैं बाकी लोगों से बड़ा हो गया हूँ। संयम व तप तो आत्म कल्याण करने के साधन हैं, पर आज तो लोगों को तप का भी अभिमान हो जाता है। अपने अंदर कुछ तपश्चरण की शक्ति होने पर यह कहना कि मेरे समान तपस्वी कोई नहीं है, मैं महीनों–महीनों का उपवास कर लेता हूँ, मैं छहों रसों का त्यागी हूँ, मैं गर्मी में धूप में बैठकर घंटों ध्यान लगाता हूँ, मैं यह करता हूँ, मैं वह करता हूँ, यह सब तप का अभिमान है, जो सब किये कराये पर पानी फेर देता है।

यह तप का मद भी हितकारी नहीं है। मैं साल में 50 उपवास कर लेता हूँ, ऐसा अहंकार मत करो। मल्लिनाथ भगवान केवल तीन उपवास करके अर्थात् उन्होंने दीक्षा ली, 3 उपवास किये, फिर आहार किया और बस छटवें दिन तो उनको केवलज्ञान हो गया। बड़े–बड़े महापुरुषों का जब स्मरण करते हैं तो पता चलता है कि मैं जो अपने को सीनियर समझने लगा हूँ, यह एक बहुत बड़ी भ्रान्ति है। 'मूलाचार' ग्रंथ में आचार्य वट्टकेर स्वामी ने मुनिराजों को भी सचेत किया है। वो कहते हैं कि 'हो हा वास गणना न तत्थ वासाणि परिगणित चिंति कित्तिय तप्ति उत्ता निट्ठिय कदला पुराजादा।' हे साधु! तू वर्षा की गिनती क्यों लगा रहा है कि अब मेरी दीक्षा को 27 साल हो गये, मैं बहुत ज्येष्ठ हो गया हूँ, मैं बहुत पूर्व का दीक्षित हूँ। 'न तथ्य वासाणि परिगणित चिंति।' इस मोक्ष के मार्ग में साल नहीं गिनते।

एसे मुनिराज भी हो गये हैं जो 3 दिन में मोक्ष चले गये। सिर्फ 3 दिन और 3 रात उन्होंने तपस्या की और पार हो गये। तुम सालों की गिनती लगा रहे हो। मैं तपस्या में बड़ा हूँ, ऐसा हिसाब मत जोड़ो। अन्तर्मुहूर्त की तपस्या करके भी कल्याण हो सकता है और वर्षों की तपस्या करके मद करे तो अकल्याण भी हो सकता है। इसलिये तप करके तप का मद मत करो।

जो सच्चे तपस्वी होते हैं, वे कभी भी तप का मद नहीं करते। विष्णु कुमार मुनिराज को ऋद्धि होते हुये भी उन्हें उसका पता तक नहीं था। असंयमी सम्यग्दृष्टि भी मद नहीं करता। 'त्रिमूढापोढमष्टांगम् सम्यग्दर्शनमस्मयम्।'

सम्यग्दर्शन में मद नहीं होता। यह तप का मद भी व्यर्थ है। जो मद करता है, वह साधुपद से च्युत हो जाता है। एक आचार्य जी के पास दो शिष्य आशीर्वाद लेने आये। एक को तो आचार्य जी ने दो बार आशीर्वाद दिया और दूसरे की तरफ देखा भी नहीं। वह शिष्य बोला–महाराज! आप रागद्वेष करते हैं। इनको दो बार आशीर्वाद दिया और मुझे एक बार भी नहीं दिया, जबकि वह माल खाकर आया है, श्रावकों के यहाँ चातुर्मास करके आया है और मैंने चार महीने सिंह की गुफा में तपस्या की है। आचार्य जी बोले–बस, इतनी–सी बात थी, तेरी तपस्या की परीक्षा करनी थी। तूने तपस्या नहीं की, शरीर को सुखाकर अभिमान खड़ा किया है। तुझे मद हो गया है तपस्या का कि मैं बड़ा तपस्वी हूँ, चार महीने के उपवास करके आया हूँ। इसलिये तुम साधु पद से च्युत हो गये हो। अब तुमको प्रायश्चित्त लेना पड़ेगा, तब फिर से तुम साधु बन पाओगे।

जो भी इन आठ बातों को लेकर मद करते हैं, वे अभी पर्याय में

ही मूढ़ हैं। पर्यायबुद्धि को छोड़कर अपने स्वभाव को देखो। मैं बड़ा बलवान हूँ, विवेकी हूँ, चतुर हूँ,—यह सब पर्यायबुद्धि मान के उदय से होती है, जो सदा अहित करनेवाली होती है। जब तक मान रहता है, पर्यायबुद्धि रहती है, तब तक परिणामों में निर्मलता नहीं रह सकती। अहं करोति इति अहंकारः। 'मैं' करता हूँ, यह जो भाव है, यही अहंकार का भाव है। हम दो तरह से जीवन जी सकते हैं, एक तो अपने आप को इस संसार का कर्ता—धर्ता, सबकुछ मानकर जीना। ऐसे भी लोग हैं जो इस तरह का जीवन जीते हैं। वे ऐसा माना करते हैं कि हम ही परिवार को चलाते हैं, हम ही अपने समाज को चला रहे हैं, देश को चला रहे हैं। ये जो फीलिंग है, ये ही अहंकार है। इसके रहते हमारी मृदुता चली जाती है। हम कठोर हो जाते हैं।

मैं और मेरेपन का भाव ही पर्यायबुद्धि है, जो सदा दुःख देनेवाली है। मैं कुछ हूँ, यह एक तरह का पागलपन है और मैं कुछ नहीं हूँ, ये दूसरी तरह का पागलपन है। I am something and I am nothing. देखिये मैं कितना विनयवान हूँ, यह भी कम अहंकार नहीं है। मैं और मेरेपन को तोड़ने की प्रक्रिया ही मृदुता की प्रक्रिया है। मन्दिर, भगवान ये सब काहे के लिये हैं? हमारे अपने 'मैं' और 'मेरेपन' को तोड़ने के लिये। जितना—जितना हम अपने 'मैं' को बड़ा करते जाते हैं, उतना—उतना हमारा 'मेरापन' भी बड़ा होता जाता है।

मेरे पास एक कार है, इसलिये मैं बड़ा हो गया। मेरे पास एक बहुत अच्छा घर है, इसलिये मैं बड़ा हो गया। इस मैं और मेरेपन को दूर करने के लिये भगवान की पूजा है, भगवान की स्तुति है। पर हम किसी की पूजा भी नहीं कर पाते, किसी की स्तुति के भाव ही नहीं होते। दूसरे की निन्दा के भाव तो होते हैं, पर प्रशंसा के भाव नहीं होते। शायद इसीलिये यह प्रक्रिया रखी गई है कि भगवान के सामने

जाकर करनी अपनी निन्दा और भगवान की प्रशंसा।

'प्रभु पतित पावन, मैं अपावन।' बस इतनी ही है पूजा। पूरी हो गई पूजा। बाकी तो सब इसी का विस्तार है और कुछ नहीं है। पूजा तो इसी लाइन में हो गई कि प्रभु पतित पावन, हम प्रशंसा कर सकें आपकी, और मैं अपावन, हम निन्दा कर सकें अपनी। पर बनना है मुझे भी पावन। 'यों विरद आप निहार स्वामी मेट जामन–मरण जी।' आप अपना कर्तव्य पहचानो, ऐसा भगवान से कह रहे हैं इतना कहने का साहस किसके पास है? जो मृदु हो, श्रद्धावान् हो।

हम मृदु बनें, श्रद्धावान बनें। अहंकार से तो सदा अहित ही होता है। अहंकार की कसौटी क्या है? हम कैसे पहचानेंगे कि अब हमारे भीतर अहंकार आ गया? जब भी दूसरे के तिरस्कार करने का भाव, दूसरे के गुणों को सहन न करने का भाव, दूसरे से ईर्ष्या का भाव अपने भीतर दिखने लगे तो समझना कि अहंकार है। हम जरा–जरा सी चीज में अपना तिरस्कार महसूस करने लगते हैं या जैसे ही दूसरे के गुण बढ़ते देखते हैं तो अपने को हीन समझने लगते हैं। ये जो हीनता की भावना हमारे भीतर आती है, ये ही अहंकार को जन्म देती है।

कोई हमारा सम्मान करे या न करे, हमें इसकी चिन्ता ज्यादा नहीं है, हमें चिन्ता यह हो जाती है कि हमारे सामने दूसरे का सम्मान न हो जाये।

दूसरे का हो रहा सम्मान,
हमें लगता है जैसे
हो रहा हमारा अपमान।

यदि दूसरे के सम्मान में अपना अपमान महसूस करने का भाव है तो मान लो कि अहंकार है।

अहंकार में आकर हम दूसरे के गुणों की अवहेलना कर देते हैं। आपने मुझसे दो बातें कहीं, दोनों बातें अच्छी थीं। लेकिन मैंने सोचा—अरे! वाह, इनकी दोनो बातें अच्छी हो जायेंगी तो मेरी तो बेज्जती हो जायेगी, इसलिये हमने आपकी दोनों बातें नकार दीं। अब क्या हुआ? इससे मेरे पास जो दो अच्छी बातें आ सकती थीं, वे नहीं आईं। अगर मैं थोड़ा विनम्र होकर इन दो बातों को स्वीकार कर लेता और कहता कि मेरे पास भी दो अच्छी बातें हैं, वे आप ले लीजियेगा, तो दोनों के पास चार—चार अच्छी बातें हो जातीं। इस तरह हम एक दूसरे के गुणों को बढ़ाने में निमित्त बन सकते थे, अगर थोड़े से विनयवान् होते तो।

यदि हम बाह्य वस्तुओं के कारण अपने आपको बड़ा मानते हैं तो यह अहंकार है। बाह्य वस्तुओं से अपने को बड़ा मानना, अपना बड़प्पन मानना, यह अपनी एक कमजोरी है। अपन ऐसा करते हैं कि नहीं करते? करते हैं। जब नई गाड़ी खरीदकर लाते हैं तो गाड़ी का सुख तब मिलता है जब लोग देखें, नहीं तो सुख नहीं मिलता। कोई गाड़ी नहीं देखे तो गाड़ी चलाने का जो आनन्द आना चाहिये, वह नहीं आता। बस कोई गाड़ी देख ले, तब आता है आनन्द। और कोई पूछ लेवे कि यह नया माडल कब लिया आपने? तब तो क्या कहना। तब तो बस यह लगता है कि सार्थक हो गया गाड़ी लेना। मान का मजा यही है कि सुख वस्तुओं में नहीं मिलता, सुख तो उसके प्रदर्शन में मिलता है।

एक अम्माजी थीं। उन्होंने पान रखने का एक बढ़िया—सा पानदान

(मतला) बनवाया। उस पर लखनवी नजाकत की बहुत बढ़िया नक्काशी थी। अम्माजी पान खाने की शौकीन थीं। उन्होंने उसमें से पान निकालकर खाया, लेकिन किसी न उस पर (मतले पर) ध्यान ही नहीं दिया। अब ये तो बड़ी मुश्किल हो गई। अपने पास इतना सुन्दर मतला है और किसी न उस पर ध्यान ही नहीं दिया। किसी ने देखा तक नहीं, प्रशंसा तक नहीं की। अब दो तीन दिन तो उन्होंने बर्दाश्त किया, पर कोई देख तक नहीं रहा। फिर एक दिन हल्ला मचा। उस बूढ़ी अम्मा ने बाहर आकर हल्ला मचाया। आग लग गई–आग लग गई, बचाओ–बचाओ। अब सब लोग भागे–भागे उसके घर आये। देखा कि थाड़े–से कपड़ों में आग लगी थी, थोड़े–से कागज जल गये थे। पर अब आग बढ़ती ही जा रही थी, जल्दी–जल्दी पानी लाया गया। तभी बाजू से एक अम्मा आईं और उन पानवाली अम्माजी के पास खड़ी हो गईं। अब उन पानवाली अम्मा जी ने अपना पान का मतला निकाला और उसमें एक पान निकालकर खाया। उधर लोग आग बुझा रहे हैं और यहाँ अम्मा पान खा रहीं हैं। इसी से मालूम हो गया कि वे क्या चाहती हैं? पास में खड़ी दूसरी अम्मा जी बोलीं–अरे! आपका मतला तो बड़ा सुन्दर है। कब लिया? हमने तो आज देखा।

अम्मा जी बोलीं–ये अगर पहले पूछ लिया होता तो ये आग काहे को लगती।

आजकल हम लोग दूसरों से प्रशंसा सुनने के मोहताज हो गये हैं? मेरे गुण जब तक दूसरे के द्वारा सम्मानित न हों, तब तक मानों वे मेरे गुण ही नहीं हैं। मनुष्यपर्याय में मानकषाय मुख्यरूप से रहती है।

अगर घर आते ही साथ छोटे–से बेट की तरफ ध्यान न दें तो वह चीख–चिल्लाकर सारे घर को सिर उठा लेता है, क्या समझते हो मुझे! लगता है वह अपनी किसी वजह से चीख रहा है। नहीं, वह तो मानकषाय के कारण चीख रहा है, क्योंकि हम उसे इग्नोर (उपेक्षित) करते हैं। छोटे से बच्चे को उपेक्षित कर दीजिये, उसके अहं को चोट पहुँचती है। यह नहीं समझना चाहिये कि वह अभी छोटा है, समझता नहीं है। सब समझता है वह, बहुत पुराना आसामी है वह, संसार देखा है उसने, अनेक जन्मों में बहुत घूम–धाम के आ रहा है वह, दिखता छोटा–सा है। यह मानकषाय छोटों से लेकर बूढ़ों तक सभी में पायी जाती है।

हम इस संसार में कैसे जीते हैं, इसका एक छोटा–सा उदाहरण है। एक साधु जी को राजा ने अपने यहाँ बुलाया। साधु को राजा बुलायेगा तो उसका कोई–न–कोई इन्टेशन (प्रयोजन) तो होगा ही। राजा चाहता था कि वे साधु जी बिल्कुल फक्कड़ हैं, उनके पास कुछ भी नहीं है, इसलिये जरा एक आध बार मेरे महल में तो आकर देखें कि मैं कैसे जीता हूँ। उन्होनें तो कभी ऐसा देखा तक न होगा। आता है कई बार अपने भी मन में ऐसा भाव। अपने घर में दूसरों को बुलाने के पीछे कौन–सा भाव रहता है? कभी–कभी, हमेशा नहीं। अपनी बहुत सारी चीजें जब हम दूसरों को दिखाते हैं तब ऐसा नहीं लगता कि दूसरों को ये चीजें दिखाकर मैं प्रशंसा हासिल करूँ?

तो उन साधु जी को राजा ने बुलाया। उनका उद्देश्य भी यही था कि उन्हें दिखाऊँगा कि मेरा महल कितना बड़ा है। मैंने मनोरंजन के कितने साधन अपना रखे हैं। बाबाजी आप कितने दुःख में रहते होंगे। आपके पास कुछ नहीं है। और राजा जी उन साधु जी को अपने महल में ले गये। उनके महल के पास ही समुद्र था। राजा

साधु जी को महल की छत पर ले गये और बोले—बाबाजी! देखिये समुद्र में ये जो जहाज हैं, वे सब मेरे हैं। और उन जहाजों में जानते हैं क्या है? सबमें हीरे—जवाहरात, बेशकीमती। बाबाजी ने गौर से देखा। राजा खुश। राजा फिर बोले—देखा, ये इतने सारे जहाज हैं, सब अपने हैं। बाबाजी ने बहुत गौर से देखा।

राजा ने पूछा—क्या देख रहे हैं आप?

बाबाजी बोले – मुझे तो दो ही जहाज दिखाई दे रहे हैं।

राजा ने चौंकते हुये कहा—क्या मतलब?

क्या आपकी आँखें खराब हो गई हैं?

इलाज करवाऊँ उनका?

बाबाजी बोले—मतलब ये कि जहाज दो ही प्रकार के हैं – एक नेम अर्थात् नाम का और दूसरा फेम अर्थात् प्रसिद्धि का। मेरा नाम हो, मेरी प्रसिद्धि हो, बस ये सब इसी के लिये तो हैं।

चाहे कितने ही जहाज हों, चाहे कितना ही बड़ा महल हो, ये इन्हीं दो चीजों के लिये तो हैं कि मुझे ज्यादा—से—ज्यादा लोग जाने और ज्यादा—से—ज्यादा लोग मानें। बस ये दो ही जहाज हैं जो चौबीस घंटे अपने जीवन में यहाँ से वहाँ घूमते रहते हैं। इस चीज को अपने भीतर झाँक कर देखें कि कहीं ऐसा जहाज हमारे अपने भीतर तो नहीं है। अगर है, तो उसे निकालने का प्रयत्न करें।

हमें अपने जीवन में इस अहंकार को धीरे—धीरे घटाना है और विनय को धीरे—धीरे लाना है।

विनय आती कैसे है? बहुत आसान तरीका है। पहला उपाय है हम धर्म और धर्मात्मा का सम्मान और प्रशंसा करना शुरू कर दें।

दिन भर में जितने अवसर मिलें, दूसरों के गुणों की प्रशंसा करना शुरू कर दें। मन–ही–मन करना, उसके सामने मत करना, नहीं तो उसका गड़बड़ हो जायेगा। मन–ही–मन करें, इसमें क्या दिक्कत है? देखो, कितने बढ़िया गुण हैं। अपने मन–ही–मन विचार कर रहे हैं। दुनिया भर की और मिथ्या बातें तो मन में नहीं आयेंगी कम–से–कम। पहला उपाय है कि जहाँ–जहाँ गुण दिखाई पड़ते हैं उन सबकी अपने भीतर प्रशंसा करना शुरू कर दें।

दूसरा उपाय है– भगवान के गुणगान करें। भगवान से प्रार्थना करें कि हमारे भीतर भी ऐसे ही गुण आना शुरू हो जायें। विनयवान् होने के लिये, अहंकार से बचने के लिये सबसे अच्छा है भगवान की प्रार्थना।

तीसरा उपाय है–कृतज्ञता। दिन भर में आपके प्रति दूसरों ने जो उपकार किये हैं, दिन में एक बार उनका विचार कर लें। किस–किस ने उपकार किये हैं। ऐसा विचार करने पर कृतज्ञता आ जायेगी, जो अपने अहंकार को हटाने में सहायक होगा।

चौथा उपाय है–दूसरों की गलतियाँ न देखकर धीरे–धीरे अपनी गलतियाँ देखने का स्वभाव बनाएँ तो अहंकार कम हो जायेगा। गलती करना मानव का स्वभाव है, पर उसे स्वीकार करना देवत्व है। मनुष्य गलतियाँ करेगा, यह स्वाभाविक है; लेकिन उन गलतियों को वह स्वीकार कर ले तो वह देवता के बराबर हो जायेगा। ये चौथी बात अपने मन में, अपने ध्यान में बनी रहे। गलती हो जावे अपने से, तो विनयपूर्वक तुरन्त स्वीकार कर लें। देर नहीं करना। शाम हो गई। तो समझो देर हो गई। बस, जब ध्यान में आ जावे तुरन्त अपनी गलती को स्वीकार कर लें। हम दूसरों के दोषों को देखना

बंद करें और उनके गुणों को देखने का प्रयास करें।

यदि मार्दवधर्म को प्राप्त करना चाहते हो तो इस मानकषाय से दूर रहो। जिनका शारीरिक स्वास्थ्य ठीक नहीं होता, उन्हें गर्म व ठंडी दोनों हवायें परेशान करती हैं। गर्म हवा लगने पर उन्हें लू लग जाती है और ठंडी हवा लगने पर जुकाम हो जाता है। इसी प्रकार जिनका आत्मिक स्वास्थ्य ठीक नहीं होता उन्हें निन्दा और प्रशंसा दोनों परेशान करती हैं। निन्दा की गर्म हवा लगने पर उन्हें क्रोध की लू लग जाती है और प्रशंसा की ठंडी हवा लगने पर मान का जुकाम हो जाता है। इस निन्दा व प्रशंसा से बचो। दुनिया में निन्दा–प्रशंसा तो सुनने को मिलती ही रहती है। निन्दा शत्रु करते हैं और प्रशंसा मित्र करते हैं, पर यह दोनों ठीक नहीं हैं। दोनों से बचकर रहना चाहिये। बड़े–बड़े महात्माओं तक को अपनी निन्दा सुनकर क्रोध व प्रशंसा सुनकर मान आ जाता है। इसीलिये कहा है –कंचन तजना सहज है, अरु नारी को नेह। मान बड़ाई ईर्ष्या, दुर्लभ तजना येह।

एक साधु घर, परिवार, धन, स्त्री, सभी कुछ छोड़ देता है, लेकिन वह भी इस मानकषाय को नहीं छोड़ पाता।

एक साधु था। उसने अपनी कठोर तपस्या से सम्पूर्ण देश में प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। सभी जगह उसकी प्रसिद्धि का गुणगान होने लगा। उस देश का राजा उसका बचपन का मित्र था। उसकी प्रसिद्धि सुनकर राजा भी श्रीफल लेकर साधुजी के श्रीचरणों में पहुँचा। उसने साधुजी से अपने नगर में पधारने का आग्रह किया। साधुजी ने हाँ या न कुछ नहीं कहा। 'मौनम् सम्मति लक्षणम्' समझकर वे अपने नगर लौट आये।

एक दिन राजा की भावना पूर्ण हुई। साधु महाराज ने उनके

नगर की ओर प्रस्थान किया। राजा ने अत्यन्त प्रसन्न होकर नगरद्वार से राजमहल तक मखमल के सुन्दर कालीन विछवा दिये। समस्त नगरवासियों ने भी अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपने–अपने घरों में घी के दीपक जलाये। राजा ने सड़कों पर इत्र छिड़कवाया, पूरा नगर दुल्हन की तरह सजाया गया। परन्तु इस संसार में विघ्नसंतोषी भी कम नहीं होते। अच्छे कामों में विघ्न डालने में ही उन्हें वास्तविक आनन्द आता है। कोई भी कार्य सुचारु रूप से आनन्दपूर्वक सम्पन्न हो, यह उन्हें फूटी आँख भी नहीं सुहाता। बस, वे नारद जी बन जाते हैं। लोगों को आपस में लड़ाने में उन्हें बड़ा मजा आता है।

बस, इसी प्रकार एक विघ्नसंतोषी व्यक्ति ने साधु महाराज के कान भर दिये, जैसे मंथरा ने केकई के कान भरे थे। बोले–महाराज! आप वास्तव में अत्यन्त भोले और सीधे हैं, परन्तु यह दुनिया इतनी सीधी नहीं है। यह राजा आपका बचपन का मित्र है, यह अपना वैभव दिखाकर आपको नीचा दिखाना चाहता है। इसने नगर को इसलिये सजाया है कि उसकी चमक–दमक के सामने आपकी तपस्या फीकी दिखाई पड़े। कितना घमण्ड है, उन्हें अपने वैभव का?

साधु महाराज ने जैसे ही यह सब सुना तो उनकी मानकषाय उद्दीप्त हो गई और गुस्से से बोले–ठीक है, उन्हें कर लेने दीजिये अपने वैभव का प्रदर्शन। मैं भी कम तपस्वी नहीं हूँ। मैं भी उन्हें बता दूँगा।

और जब साधुजी नगर के तोरणद्वार पर पहुँचे तो वहाँ पर नगर के समस्त प्रतिष्ठित नर–नारियों ने, वृद्धों ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनका भाव–भीना स्वागत किया। ग्रीष्म ऋतु थी, चिलचिलाती धूप थी, किन्तु जब सबने देखा कि साधु महाराज के पैरों में घुटनों तक

कीचड़ लगी हुई है, तब उनके आश्चर्य की सीमा न रही। लोग सोच रहे थे कि यहाँ तो वर्षा के दिनों में भी इतना पानी नहीं बरसता कि सड़कों पर इतनी कीचड़ हो जावे। यह तो रेतीला, मरुस्थलीय प्रदेश है। फिर कीचड़ कहाँ से आ गई? महाराजश्री के चरणों में इतनी ढेर सारी कीचड़ कहाँ से लग गई? राजा ने भी देखा, परन्तु उन्होंने सोचा जनसमूह में सबके सामने कुछ पूछना उचित नहीं होगा, एकान्त में इसका रहस्य पूछेंगे।

साधु महाराज अत्यन्त शान से गर्व के साथ उन सुन्दर–सुन्दर कालीनों पर अपने कीचड़सने पैर रखते हुये चल रहे थे और जब राजमहल में प्रवेश किया तो बची हुई समस्त कीचड़ को उन अत्यन्त सुन्दर कालीनों से रगड़–रगड़ कर, पोंछ कर साफ करने लगे।

एकान्त पाते ही राजा ने महाराज से अत्यन्त विनम्रतापूर्वक पूछा–स्वामी! क्या मार्ग में किसी प्रकार का कोई संकट उपस्थित हो गया था जिसके फलस्वरूप इन श्रीचरणों में इतनी कीचड़ लग गई है?

साधु महाराज इस उत्तम स्वागत को अपनी तपस्या की चुनौती मानकर अहं की चोट से उफन रहे थे। वे रुष्ट तीखे स्वर में बोले–

तुम अपने आपको समझते क्या हो? जब तुम सड़कों पर मखमली कालीन बिछवाकर अपने वैभव का प्रदर्शन कर सकते हो तो मुझ जैसा महान तपस्वी भी उन पर कीचड़सने पैरों से चलकर तुम्हारे गर्व को चूर–चूर कर सकता है।

राजा तुरन्त समझ गये कि यह सब अहंकार की ही परिणति है। सम्पूर्ण स्थिति उनके समक्ष एकदम स्पष्ट हो गई। वे मधुर स्वर में बोले–मित्र! मैं तो सोच रहा था कि साधु बनने के उपरांत तुम पूर्ण

रूप से बदल गये होगे, अब तुम नित्य आत्मानंद में लीन रहते होगे, आध्यात्मिक क्षेत्र में पर्याप्त स्थान पर होगे; किन्तु हम दोनों आज भी पूर्ववत उसी स्थान पर खड़े हैं, जहाँ से हमने विदा ली थी। हम दोनों ही उससे रंचमात्र भी आगे नहीं बढ़े।

मैं सोचता था कि मैं अपने साम्राज्य को विशाल विस्तार प्रदान कर रहा हूँ, विजयपताकायें चहुँओर फहरा रहा हूँ, इसलिये अत्यन्त अहंकारी बन गया हूँ; किन्तु तुम तो मुझसे भी बाजी मार ले गये। क्या यही तुम्हारी तपस्या की उपलब्धि है? अहंकार का यह प्रदर्शन तो यही प्रमाणित करता है कि तुम्हारी तपस्या मात्र दिखावा है, बनावटी है। इस वेष में भी यदि अहंकार का परित्याग नहीं कर सके, तब फिर इसे कब छोड़ पाओगे? मित्र! याद रखो, यह अहंकाररूपी नाग एक दिन तुम्हें अवश्य ही डस लेगा। तुम इस तपस्या के माध्यम से किसी अन्य को नहीं, अपितु स्वयं को ही ठग रहे हो। यह निश्चित मानो कि इस उग्र अहंकार ने तुम्हारी तपस्या को बिलकुल ही निष्फल बना दिया है। इसे अब त्याग दो, इस पर विजय प्राप्त करो। तभी तुम्हारा, मेरा, सबका कल्याण है। तुम्हें इस प्रकार उपदेश देने की मेरी तनिक भी पात्रता नहीं है, किन्तु एक सच्चे मित्र के नाते ही मैं यह सब तुमसे कह रहा हूँ। इसे अन्यथा मत लेना।

यह मैं और मेरा ही हमें हमारी अन्तरात्मा से दूर कर रहा है। इससे हमारी अन्तः दृष्टि कभी नहीं खुलेगी। हम इसी तरह भटकते रहेंगे। जन्म–जन्मान्तरों की हमारी यह भटकन कभी समाप्त नहीं होगी। हमारा यह अहंकार ही अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति में बाधक बनता है। यह मैं ही हमारे हृदय में धर्म के वास्तविक स्वरूप को प्रविष्ट नहीं होने देता।

संसारी जीवों के अनादिकाल से मिथ्यादर्शन का उदय हो रहा है। उसके उदय के कारण वे इन परपदार्थों को अपना स्वरूप मानकर इनका गर्व करते हैं। उसे यह ज्ञान नहीं है कि ये जाति, कुलादि सब कर्म के उदय के अधीन हैं। इस संसार में स्वर्गलोक का बड़ा देव भी मरकर एक समय में एकेन्द्रिय में आकर उत्पन्न हो जाता है तथा कूकर, शूकर, चांडाल आदि पर्यायों को प्राप्त हो जाता है। अहंकार करने से सदा अहित ही होता है। अहंकार मानव को कमजोर बनाता है। कमजोर मानव को आदर, मान, प्रतिष्ठा की अत्यधिक चाह होती है। अहंकार उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है। वह इस कमजोरी के लिये जीता है और इसीके खातिर मर जाता है। मैं भी कुछ हूँ, बस इसी की पुष्टि के लिये वह जीवनपर्यन्त संघर्षरत रहता है, अथक परिश्रम करता है। परिणामस्वरूप उसके जीवन में दुःखों का, अनन्त पापों का आस्रव ही होता है। जीवन में दुःख, पीड़ा, संताप आदि के अलावा उसके जीवन का और कोई सार नहीं रहता। इतिहास उठाकर देख लो, जिन्होंने भी मान किया, उनका पतन हुआ। आज तक किसी का भी मान स्थिर नहीं रहा।

मान रावण ने किया। रावण कहता रहा कि राम–लक्ष्मण तो भूमिगोचरी हैं, ये मच्छर के समान हैं, ये मुझे कैसे जीत सकते हैं? वह रावण उन्हीं राम–लक्ष्मण के द्वारा मारा गया और मरकर नरक में जाना पड़ा। रावण और बाली का विरोध था। बाली तो मुनि बन गये। एक दिन रावण का विमान पर्वत के ऊपर से जा रहा था। विमान रुक गया। उसने उतरकर देखा कि बाली बैठा है। मुझे इसे कष्ट देना चाहिये। रावण ने पहाड़ उठा लिया। बाली विचारने लगे कि पर्वत पर जितने जीव हैं, वे सब मारे जायेंगे और यहाँ के सभी जिनमंदिर नष्ट हो जायेंगे। बाली को करुणा आई और उन्होंने पैर

का अँगूठा थोड़ा—सा दबा दिया। रावण पर्वत के नीचे दबकर रोने लगा। तभी से इसका नाम रावण पड़ा। मंदोदरी ने बाली महाराज से प्रार्थना की कि इन्हें माफ कर दो, तो बाली ने अपना अँगूठा उठा लिया। रावण का मान खंडित हो गया। सनतकुमार चक्रवर्ती ने रूप का मान किया, खण्डित हुआ। एक बार देवों में चर्चा हुई कि सनतकुमार चक्रवर्ती बहुत रूपवान् हैं। एक देव देखने आया। सनतकुमार कहने लगे कि इस समय मेरा रूप क्या देखते हो, कल राज—सभा में देखना। सनतकुमार अगले दिन श्रृंगार करके राजसभा में आये और बैठे। वह देव उनका रूप देखकर बोला—जो रूप मैंने कल अखाड़े में देखा था, वह आज नहीं है। तभी उसके रूप का गर्व खंडित हो गया। उन्हें वैराग्य हो गया। मैं इस नश्वर शरीर का अभिमान कर रहा हूँ जो प्रतिपल बदल रहा है। और उन्होंने दीक्षा ले ली। बाद में मुनि अवस्था में उन्हें उसी सुंदर शरीर में कोढ़ हो गया था, जो लगभग 700 वर्ष तक रहा। देवों में पुनः चर्चा हुई कि शरीर से यदि कोई निर्मोही है तो वे सनतकुमार मुनिराज हैं। उस देव को आश्चर्य हुआ। इन्हें तो अपने रूप का इतना अहंकार था। ये शरीर से इतने निर्मोही कैसे हो गये? उसने वैद्य का रूप बनाया और उन महाराज के आस—पास घूमने लगा और जोर—जोर से बोलने लगा कि मेरे पास कोढ़ की दवा है। उसे लगा ये महाराज मुझे अपने पास बुलायेंगे, पर महाराज ने उसकी तरफ देखा भी नहीं। तब वह स्वयं महाराज के पास जाकर बोला—मैं आपके इस रोग को ठीक कर सकता हूँ। महाराज बोले—यह रोग तो शरीर को है, मुझे नहीं है। मुझे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। सबसे बड़ा रोग तो जन्म—मृत्यु का है। यदि आपके पास इसकी दवा हो तो बताओ।

वह देव महाराज के चरणों में गिर गया और बोला—महाराज!

इसकी दवा तो आपके पास ही है। मैं तो आपकी शरीर के प्रति निर्मोहिता की प्रशंसा सुनकर देखने आया था। आप धन्य हैं, आपकी शरीर के प्रति निर्मोहिता धन्य है। वह महाराज की प्रशंसा करता हुआ चला गया। जिसने भी पर्यायबुद्धि छोड़ दी, अहंकार छोड़ दिया, वे ही धन्य हैं। आज तक जिसने भी अहंकार किया, निश्चित रूप से उसका पतन हुआ। अहंकार के कारण व्यक्ति दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं, वे चाहते हैं कि येन–केन–प्रकारेण सामनेवाले को हम किसी प्रकार से भी मात दे दें। पर सामनेवाला नीचे गिरे या न गिरे, पर जो दुनिया को नीचे गिराने का प्रयत्न करता है, वह स्वयं नीचे अवश्य गिर जाता है। और जो दूसरों को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है, वह निरन्तर ऊँचा उठता जाता है।

एक आदमी कुआँ खोदता है तो जितना–जितना खोदता है, वह उतना–उतना नीचे जाता है और एक आदमी दीवाल चुनता है तो जितनी–जितनी उसकी दीवाल ऊँची होती जाती है, वह स्वयं भी उतना–उतना ऊँचा उठता जाता है। जो दूसरे को गिराने की कोशिश करेगा, वह उतना ही नीचे गिरता जायेगा और जो दूसरे को उठाने की कोशिश करेगा, वह उतना ही ऊँचा उठता जायेगा।

आचार्य कुन्द–कुन्द स्वामी ने तिरुकुरल नामक ग्रंथ में बड़ी अच्छी बात लिखी है। यह ग्रंथ बड़ा अलौकिक ग्रन्थ है, इसे तमिल का वेद माना जाता है। इस ग्रन्थ में लिखा है कि जो व्यक्ति ईर्ष्या करते हैं, उनके घर से लक्ष्मी चली जाती है, और वह अपनी छोटी बहिन दरिद्रता को उनकी देखरेख के लिये छोड़ जाती है। उसके जीवन का विकास वहीं समाप्त हो जाता है। अपने ऐश्वर्य का विकास करना चाहते हो तो, ईर्ष्या पर अंकुश लगाने की जरूरत है। पर

आज आदमी का अहंकार बड़ा सूक्ष्म है। उसको पकड़ना और देखना आसान नहीं है। सलामत खाँ से किसी ने पूछा कि सदर बाजार में जो अहमद खाँ रहता है, क्या आप उसके भाई हैं? सलामत खाँ ने कहा—नहीं, मैं उसका भाई नहीं हूँ, वह मेरा भाई है। देखो, आदमी का अहंकार कितना सूक्ष्म है। मैं उसका भाई कैसे हो सकता हूँ? यह तो मेरे लिये अपमान की बात है। वह मेरा भाई है। इससे आदमी के अहंकार को बल मिलता है।

एक भिखारी ने दरवाजे पर दस्तक दी और कहा—भिक्षामि देही। घर से बहू निकलकर आई और उसने कहा—चले जाओ, यहाँ कुछ नहीं मिलने वाला। भिखारी आगे बढ़ गया। रास्ते में उसे बहू की सास मिल गई। भिखारी ने कहा—अम्मा! मैं आपके घर गया था, बहू ने भीख देने से मना कर दिया। सासू जी बोलीं—अच्छा, बहू ने भीख देने से मना कर दिया? तू चल मेरे साथ। और वह उस भिखारी को अपने साथ पुनः घर ले आई। घर आकर उसने पहले तो बहू को खूब डाँटा कि तूने भिखारी को भीख देने से इंकार क्यों किया? फिर भिखारी से बोली कि तू जा, मुझे भीख नहीं देनी। भिखारी ने पूँछा—यदि भीख नहीं देनी थी तो मुझे लौटाकर फिर यहाँ तक क्यों लाईं? पता है सासू ने क्या जवाब दिया? उसने कहा—'बहू कौन होती है मना करनेवाली? मना भी करूँगी तो मैं ही करूँगी।' तो अहंकार बड़ा सूक्ष्म होता है। उसे देखना और पकड़ना दोनों ही कठिन हैं।

मानव श्रेष्ठ—दान के माध्यम से लोभ पर विजय प्राप्त कर सकता है। अहिंसा के द्वारा हिंसात्मक प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अपरिग्रह के माध्यम से परिग्रह का त्याग संभव है। क्षमा से क्रोध पर विजय प्राप्त की जा सकती है। सत्य असत्य को पराभूत कर सकता है। पुण्यकर्मों के संचय से पाप का क्षय हो सकता है।

यह सब अत्यन्त आसान है, सरल है; किन्तु अहंकार को पराजित करना अत्यन्त कठिन काम है। यह आपके अन्तःकरण के किस कोने में कहाँ छिपकर आपको ललकारेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता।

आप अल्प भी दान करते हैं तो तुरन्त कहने लगते हैं कि मैंने अमुक व्यक्ति को या अमुक संस्था को इतना दान दिया। धर्मशाला का निर्माण करते हैं तो उसपर आपका नाम अंकित होना अनिवार्य हो जाता है। आप समस्त पापों को समाप्त करने का दम्भ तो भरते हैं, परन्तु आपका चिर–परिचित 'मैं' आपके साथ छाया की तरह लगा रहता है। एक पल के लिये भी वह आपसे जुदा नहीं होता। यह 'मैं' ही समस्त पुण्य संचय पर पानी फेर देता है।

प्रत्येक प्राणी में यह 'मैं' ही वह भयंकर अहंकार है, उसका 'ईगो' है। इससे मुक्ति पाना ही है, अन्यथा यह हमें पतन की किसी भी सीमारेखा तक ले जा सकता है।

अहंकार उस अग्नि के समान है जो बिना ईंधन के प्रज्वलित होती है। यह आत्मा के गुणों को जलाकर भस्म कर देती है। अहंकार के कारण ही व्यक्ति में ईर्ष्या, मात्सर्य आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ईर्ष्या के कारण व्यक्ति अपना सबकुछ नष्ट करने पर भी तुल जाता है। उसकी ईर्ष्या बढ़ते हुये मात्सर्य का रूप धारण कर लेती है। और जब व्यक्ति के ऊपर मात्सर्य हावी होता है तो वह अपना ही सर्वनाश करने को तैयार हो जाता है। मेरा सबकुछ नष्ट हो जाये तो हो जाये, पर उसका विकास नहीं होना चाहिये–ऐसी वृत्ति जन्म ले लेती है। अपना सर्वनाश भले ही कर ले, लेकिन दूसरे का विकास नहीं देख सकता।

दो व्यक्ति थे। एक लोभी था, दूसरा मत्सरी था। दोनों ने एक बार

एक देवी की आराधना की। आराधना से देवी प्रसन्न हुई और प्रकट होकर बोली–तुम दोनों की आराधना से मैं प्रसन्न हूँ। माँगो, क्या चाहते हो? पर एक शर्त है–तुम दोनों में से जो पहले माँगेगा दूसरे को मैं उससे दुगना दूँगी। इतना सुनना था कि लोभी ने सोचा यह तो बड़ा गड़बड़ हो जायेगा। मैं अगर पहले माँगता हूँ तो सामनेवाले को दुगना मिल जावेगा, ये तो मुझे सहन नहीं होगा। वह एकदम चुप हो गया कि माँगने दो इसे पहले। और मत्सरी ने सोचा कि यह कैसे होगा, मैं पहले मागूँगा तो वह आगे निकल जायगा। यह मुझसे सहन नहीं होगा। थोड़ी देर प्रतीक्षा के बाद भी जब दोनों ने कुछ नहीं माँगा तो देवी झल्लाती हुई बोली–तुम लोगों को माँगना हो तो माँगो, नहीं तो मैं चली। तब मत्सरी सोचता है– अच्छा, यह लोभी लोभ के कारण पहले नहीं माँग रहा है। ठहरो, इसको लोभ का मजा चखाता हूँ। और उसने देवी से कहा–क्या तुम ठीक कहती हो कि जो पहले माँगेगा दूसरे को उससे दुगना दोगी? देवी बोली–हाँ, मैं बिलकुल दुगना दूँगी। तो उसने कहा–ठीक है, देवी! यदि तुझे दूसरे को मुझसे दुगना देना है तो ऐसा कर दे कि मेरी एक आँख फोड़ दे और मेरे घर के बाहर एक कुआँ खोद दे। इतना सुनना था कि लोभी आदमी देवी के चरणों में गिर पड़ा, बोला–माता! ऐसा मत करना, क्योंकि इसकी एक आँख फूटेगी तो मेरी दोनों ही फूट जाएँगी और घर के बाहर यदि दो कुँए खुद जायेंगे तो मेरा क्या होगा? इसलिये, मेरे साथ ऐसा कभी नहीं करना। लेकिन देवी ने कहा–तुम्हें तुम्हारी करनी का फल मिल गया, अब मैं कुछ नहीं कर सकती। और कहते हैं कि उसने तथास्तु कह दिया। इसकी एक आँख फूटी, एक कुआँ खुदा और उसकी दोनों आँखें फूट गयीं, दो कुँए खुद गये।

ये हमारी कषाय का परिणाम है। पता नहीं इस कहानी में

कल्पना है या सच्चाई, पर ऐसा देखा जाता है व्यक्ति दूसर के नुकसान के लिये अपना नुकसान सहने को भी तैयार हो जाता है।

अहंकार के कारण व्यक्ति अपने को सबकुछ समझन लगता है। वह अन्त तक भी इस अहंकार का छाड़ नहीं पाता। अहंकारी मनुष्य अपने उपकारी की भी निन्दा करने से नहीं चूकता। वह कृतघ्न बन जाता है। अहंकारी व्यक्ति अपने उपकारी का मूल्य भी नहीं आँकता। उसके ऊपर काई कितना भी बड़ा उपकार करे, वह उसके प्रति भी बहूमान का भाव नहीं रख सकता। इसीलिये कहा जाता है कि कृतघ्न की स्थिति तो उस साँप क जैसी होती है जिसे दूध पिलाने के बाद भी वह जहर ही उगलता है।

एक कवि ने कृतघ्नी को कुत्ते से भी नीचा बतात हुआ लिखा है—कुत्ते को किसी ने नीच कह दिया तो कुत्ता बड़ा शोकमग्न हो गया। शोकमग्न देखकर उस कवि ने कहा कि, रे कुत्ते! तू शोकमग्न मत हो। तू ही नीच नहीं है, तुझसे भी बड़ा नीच तो वह अहंकारी कृतघ्न है। क्योंकि कुत्ता तो दो रोटी खिलानेवाले के लिये, जीवनपर्यन्त दुम हिलाता है, पर कृतघ्नी व्यक्ति तो अपने जन्म देनेवाले माता—पिता तक को भूल जाता है कृतघ्नता मनुष्य को पशुओं से भी नीचे गिरा देती है। इतिहास में ऐस उदाहरण मिलते हैं कि पशुओं ने भी मनुष्यों के उपकार का बदला चुकाया है।

यूनान की एक घटना है, जब दासप्रथा प्रचलित थी। डायजनिस एक दास था। अपनी गुलामी स तंग आकर एक दिन वह भागा। पीछे—पीछे सैनिक उसका पीछा कर रहे थे। भागता—भागता वह एक जंगल में पहुँच गया। देखता है, कि एक झाड़ी के नीचे एक शर कराह रहा है। उसने शेर को देखा तो पहले तो घबराया, फिर शर

की कराह को सुनकर उसके अंदर करुणा उमड़ आयी। सारा भय त्यागकर वह शेर के सामने पहुँच गया। शेर ने अपना पंजा उसकी ओर कर दिया। उसके पंजे में एक तीखा काँटा चुभा हुआ था। उससे शेर को बहुत पीड़ा हो रही थी। शेर इसीलिये कराह रहा था। उसने उसकी स्थिति देखी तो समझ गया कि शेर मुझसे सहयोग चाहता है। उसने सबकुछ भूलकर उसके उस काँटे को बाहर निकाल दिया। जैसे ही काँटा बाहर निकाला, शेर की पीड़ा कम हो गई। उसने उसकी तरफ कृतज्ञता भरी नजरों से देखा और चुपचाप अपने रास्ते चला गया।

कहते हैं कुछ दिन बाद वह डायजनिस पकड़ा गया और उसे सजा में यह कहा गया कि इसे भूखे शेर के पास छोड़ दिया जाये, भूखा शेर इसे खा लेगा। उसे प्राणदण्ड दे दिया गया। बीच चौराहे पर उसे सजा देने के लिये एक पिंजरे में तीन दिन के भूखे शेर को लाया गया और उसे पिंजरे में धकेल दिया गया। पहले तो शेर जोर से दहाड़ा, पर जैसे ही उसके पास आया तो बिलकुल शान्त हो गया। बहुत प्रयत्न किया गया कि किसी तरह से शेर उसका भक्षण कर ले, पर शेर ने उसे सूँघा, उसकी परिक्रमा लगायी और अपने स्थान पर आकर बैठ गया। भूखे रहने के बाद भी शेर ने उसका भक्षण नहीं किया, क्योंकि शेर को मालूम पड़ गया था, उसने पहचान लिया था कि यह वही डायजनिस है जिसने मेरे पैर से काँटा निकाला था। पशुओं के अंदर भी कृतज्ञता होती है। वे भी कृतघ्न नहीं होते।

चोर, लुटेरे भी यदि उनके ऊपर कोई उपकार करता है तो जीवन-पर्यन्त उसके कृतज्ञ रहते हैं। एक बार एक डाक्टर साहब अपने परिवार के साथ कहीं जा रहे थे। कार में उनके बच्चे और

पत्नी भी साथ में थ। रास्ते में बीच जंगल में उनकी गाड़ी खराब हो गई। डाक्टर साहब को बड़ी परेशानी हुई। उन्होंने अपनी पत्नी और बच्चों से कहा तुम यहीं रहो, मैं पास के गाँव से कुछ लोगों को लेकर आता हूँ। पत्नी और बच्चे जंगल में अकेले रह गये। अचानक जंगल की झाड़ियों से लुटेरों का एक दल आ गया। उन्होंने गाड़ी को चारों ओर से घेर लिया। गाड़ी में एक महिला और बच्चों को देखकर एक ने कड़कते स्वर में कहा–निकाल दो जो कुछ भी है। बंदूक–धारियों को देखकर डॉ. साहब की पत्नी और बच्चे सकपका गये। उन्होंने अपने जेवर और रुपये जो कुछ भी थे सब उतार कर दे दिये। इसी बीच डॉ. साहब भी आ गये। उसे गाँव में कोई सहयोगी नहीं मिला था, इसलिये वह अकेला ही आया था। लुटेरों को देखकर वह एकदम घबरा गया। तभी लुटेरों के सरदार ने डाक्टर साहब को पहचान लिया। पहचानते ही उसने हाथ जोड़कर कहा– डॉ. साहब! मुझे क्षमा कर दीजिये। मुझे मालूम नहीं था कि यह आपकी गाड़ी है अन्यथा उसे हाथ भी नहीं लगाता। मुझसे गलती हो गयी। मुझ पर तो आपका बड़ा उपकार है। आपने तो मेरे बेटे को बचाया था। हम सबकुछ कर सकते हैं, पर कभी किसी के उपकार की अवमानना नहीं कर सकते, क्योंकि कृतघ्नता तो नरक का द्वार है। इसलिये मुझे क्षमा कीजिये। आपका जो समान है, हम सब आपको लौटाते हैं। इतना ही नहीं, उसने साथियों से गाड़ी को धक्का दिलवाते हुये गाड़ी को जंगल से बाहर करवा दिया।

आज मनुष्य के पास सबकुछ है, भरा–पूरा परिवार है, धन–वैभव है, समाज में नाम/प्रसिद्धि है; परन्तु मन में शान्ति नहीं है? क्योंकि मानकषाय के कारण परस्पर में प्रतिस्पर्धा है। हम यह सोचते हैं कि जीवन की इस दौड़ में दूसरा मेरा साथी मुझसे आगे न निकल जाये।

एक नगर में दो पंडित रहते थे। एक का नाम नाम्बियार और दूसरे का कुलशेखर था। नाम्बियार कुछ कम बुद्धिमान था अपेक्षा कुलशेखर के, इसलिये कुलशेखर की सभा में अधिक श्रोता पहुँचते थे। इस कारण नाम्बियार ईर्ष्या की आग में जलता रहता था और कहता कि दुनिया पागल है, इसलिये पागल की बात सुनती है। एक दिन वह असमय घर पहुँच गया तो वहाँ पर उसकी पत्नी नहीं थी। पड़ोसी से पूछने पर पता चला कि वह तो कुलशेखर की सभा में गई है। उसको सुनते ही बहुत गुस्सा आया और गुस्से में वहीं सभा में पहुँच गया तथा भरी सभा में अपनी पत्नी पर बरस पड़ा व सभा को भंग कर दिया। बाद में नाम्बियार को बड़ा पछतावा हुआ कि मैंने ईर्ष्यावश मानकषाय के कारण सभा भंग की और उसका अपमान किया। कुलशेखर मुझसे ज्यादा विद्वान् तो है ही। रात्रि में वह कुलशेखर से माफी माँगने उसके घर चला गया। उधर कुलशेखर के मन में भी बहुत दुःख हो रहा था कि मेरे कारण नाम्बियार को दुःख पहुँचाा। तभी नाम्बियार कुलशेखर के घर पहुँच जाता है और बड़ी विनम्रता से अपनी गलती की माफी माँग लेता है।

मानकषाय के कारण व्यक्ति को अच्छे—बुरे की पहचान नहीं होती और जो अच्छा—बुरा नहीं सोच सकता, वह न तो अपना आत्मकल्याण कर सकता है और न ही वह दूसरों को कोई फायदा पहुँचा सकता है।

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर।।

भगवान महावीर स्वामी ने अपनी देशना में कहा—हे भव्य प्राणियो! संसार के कष्टों से यदि मुक्ति चाहते हो तो मुक्ति के सोपान विनय

अर्थात् उत्तम मार्दवधर्म को स्वीकार करो। विनय से जीवन पवित्र व उन्नति शील बनता है, जबकि अहंकार से पतन होता है। 'विनय महाधारे जो प्राणी, शिव–वनिता की सखी बखानी।' इतिहास साक्षी है जिसने भी अहंकार किया, उसका निश्चित रूप से पतन हुआ, चाहे वह रावण हो, कौरव हो या कंस हो।

मान करन ते मर गये, रहा न जिनका वंश।
तीनन को तुम देख लो, रावण कौरव कंस।।

गंगा और गंधवती नदियों के संगम पर जहर कौशिक नामक तपसी की कुटी पर वशिष्ट नामक तपस्वी पंचाग्नि तप कर रहा था। उसने गुणभद्र चारण मुनि से उपदेश सुनकर दीक्षा ले ली। इसके बाद मासोपवास सहित आतापन योग तप से उन्हें सात व्यन्तर ऋद्धि प्राप्त हो गई। राजा उग्रसेन ने आहार देने के विचार से नगर में घोषणा करवा दी कि इन मुनि को मेरे अलावा और कोई आहार न दे।

पारणा के दिन मुनिराज नगर में आहार हेतु आये, मगर उस दिन नगर में अग्नि का उपद्रव हो जाने के कारण राजा पड़गाहने खड़ा नहीं हो सका। महाराज वापिस चले गये। फिर मासोपवास के बाद पारणा के दिन नगर में आये पर उस दिन हाथी का उपद्रव हो गया, जिससे राजा फिर पड़गाहने खड़ा नहीं हो पाया। महाराज पुनः बिना आहार किये वापिस चले गये। फिर से मासोपवास किया, पारणा के दिन नगर में आये। तब राजा जरासिंध के पत्र से राजा का चित्त व्यग्र था, इसलिये फिर से मुनिराज का पड़गाहन नहीं हो सका। महाराज जब लौटकर वापिस जा रहे थे तो उन्होंने लोगों को कहते सुना कि राजा स्वयं मुनिराज को आहार दे नहीं रहा और

दूसरे देनेवालों को मना कर दिया है। लोगों के ऐसे वचन सुनकर मुनिराज को राजा पर क्रोध आ गया और उन्होंनें यह निदानबंध कर लिया कि इस राजा का पुत्र होकर राजा का निग्रह कर मैं राज करूँ।

इस प्रकार राजा उग्रसेन की रानी पद्मावती से वह पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ, जिसकी क्रूर दृष्टि देखकर उन्होंने संदूक में रखकर उसे यमुना नदी में बहा दिया, जो कोशाम्बीपुर में मन्दोदरी नामक कलाली के घर प्राप्त हो गया और कंस नाम रखा गया।

बड़ा होने पर इसके उत्पाद से दुःखित होकर मन्दोदरी ने उसे घर से निकाल दिया। तब वह शौर्यपुर के राजा वसुदेव का सेवक बन गया। राजा जरासिंध प्रतिनारायण के पत्र आने पर उसने पोदनपुर के राजा सिंहरथ को बाँधकर जरासिंध को सौंप दिया।

जरासिंध ने खुश होकर उसका विवाह अपनी पुत्री जीवयंशा से कर दिया और उसे आधा राज्य दे दिया। इस प्रकार कंस ने मथुरा का राज्य प्राप्त कर राजा उग्रसेन और माता पद्मावती को बंदी बनाकर कारागार में डाल दिया। वह बड़ा अभिमानी था। उसने श्रीकृष्ण को मरवाने के लिये अनेक प्रयास किये, पर अन्ततः श्रीकृष्ण द्वारा अपमानित होना पड़ा और प्राण गँवाये।

यह लोक बहुत विशाल है। समस्त लोक के आगे यह दो हजार मील की पृथ्वी जिसमें हम अपनी कीर्ति बढ़ाने की इच्छा रखते हैं, इसकी माप इनती भी नहीं है जितनी माप बड़े समुद्र में एक बूँद की है। और यदि किसी की थोड़ी बहुत कीर्ति होती भी है तो वह कितने दिन रहती है। कौन जानता है कि अतीत काल के 24 तीर्थंकरों का नाम क्या है? उनका नाम थोड़े ग्रन्थों में लिखा है सो पढ़कर सुना दें किन्तु उससे पहले के चौबीस तीर्थंकरों का नाम क्या है? कुछ

पता नहीं। सभी यश चंद ही वर्षों में मिट जाता है। अतः यश की वाँछा करना व्यर्थ है।

यह जीव चाहता है कि मेरा नाम बहुत से पुरुषों में हो जाय। ठीक है, करले कोशिश। क्या ऐसा हो सकेगा कि सभी पुरुषों में उसका नाम हो जाये? कभी न होगा और इस थोड़ी–सी जगह के मनुष्यों में नाम होता है तो कुछ में नाम होता है, कुछ में बदनाम होता है, सबकी यह बात है। कोई यश गाता है तो कोई अपयश गाता है। तू यश और अपयश दोनों की परवाह मत कर। अज्ञानियों, मोहियों, मायाचारियों के बीच यश की चाह किस मतलब की। जो आत्महित के लिये मार्ग निर्णीत किया है अटल होकर उस मार्ग पर चल। मान लो कदाचित् बहुत से मनुष्यों में इज्जत नाम हो गया तो अब पशु पक्षियों में तो तेरा नाम नहीं चला। कदाचित् कल्पना कर लो कि सब मनुष्य मेरा नाम गाने लगे तो अभी ये गाय, भैंस, घोड़ा, गधा ये तो तेरा नाम नहीं गा रहे। इनमें भी नाम जमा ले तब तारीफ है। क्या ये जीव नहीं हैं? जैसे मनुष्य मायारूप हैं, इन्द्रजाल हैं, वास्तविक पदार्थ नहीं हैं, ऐसे ही ये भी हैं, उन मनुष्यों में नाम चाहते हो। इन गधा घोड़ों में भी नाम हो जाय तब तारीफ है, पर ऐसा कभी हो नहीं सकता। थोड़ी–सी अपनी गोष्ठी के अथवा स्वार्थी जनों में नाम की चाह करना ठीक नहीं है। यहाँ आज जो अच्छा कह रहा है कल वही बुरा भी कहने लगता है।

रावण और विभीषण का बहुत बड़ा अगाध प्रेम था। जब विभीषण को किसी साधु से विदित हुआ कि मेरे भाई रावण की मृत्यु राजा दशरथ के पुत्र और राजा जनक की पुत्री के निमित्त से होगी, तो उसने अपने भाई के प्रेम में आकर मनमें यह निर्णय किया कि मैं

राजा दशरथ और जनक का सिर ही न रहने दूँगा, फिर कहाँ से पुत्र होगा और कहाँ से पुत्री होगी? मेरे भाई की जान बच जायेगी। यह समाचार दोनों जगह विदित हो गया। तो इनके मंत्रियों ने ठीक उन्हीं का शक्ल का लाख का पुतला किसी प्रकार बनवा दिया और ये दोनों गुप्त हो गये। कई महीनों तक प्रयास करके विभीषण ने उन दोनों का (पुतलों का) सिर काट लिया और समुद्र में फेक दिया और रावण को हर्षमयी समाचार सुनाया। अब राजा दशरथ और जनक, ये दोनों मरे तो थे नहीं। होनहार बचने का था, सो बच गये। अंत में हुआ भी वही सीताजी के हरण के प्रसंग को लेकर रावण और राम में महायुद्ध ठन गया। रावण की वहाँ मृत्यु हुई। तो जो विभीषण रावण को इतना प्यारा था वह सीताजी का हरण किये जाने से रावण का साथ छोड़ देता है। रावण बड़ा विद्वान था पर जब उसने परस्त्री के हरण का अपराध किया तो सगे भाई ने ही उसे बुरा कहा और उसका साथ छोड़ दिया। मान कषाय छूटे तो शान्ति का मार्ग मिलेगा अन्यथा संसार में भटकना ही बना रहेगा।

अहंकार करने से सदा पतन ही होता है। मुक्त वही हो सकता है, जिसने इस मानकषाय को छोड़कर मार्दवधर्म को जीवन में धारण किया। जो विनयवान् होता है, उसी के अंदर मार्दवधर्म आ सकता है। जिनके अंदर मार्दवधर्म होता है, उन्हें कभी भी नाम की चाह नहीं होती।

दिल्ली में लाला हरसुखराय ने सन् 1807 में एक दर्शनीय एवं भव्य जैनमंदिर बनवाया था, जिसकी उस समय की लागत 8 लाख रुपये थी। यह मंदिर 6 वर्ष में बनकर तैयार हुआ था। एक दिन लोगों ने देखा कि मंदिर का सारा काम पूर्ण हो चुका है, केवल

शिखर का एक–दो दिन का काम बाकी है; किन्तु काम बंद पड़ा है। लाला हरसुखराय जो सर्दी गर्मी बरसात में हर समय मजदूरों के बीच में खड़े होकर के काम करवाते थे, वे आज वहाँ नहीं हैं।

लोगों का अनुमान लगाते देर न लगी कि जब हर मुस्लिम राज्य में पुराने जैन मन्दिरों की रक्षा करना मुश्किल हो रहा है, तब नया जैनमंदिर कौन बनने देगा? फिर शिखरबंध मंदिर कैसे बन सकता है? किसी ने कहा–अरे भाई! लाल जी का क्या बिगड़ा? वे तो मुँह छिपाकर घर बैठे हैं, नाक तो हमारी कटी। भला हम किसी को क्या मुँह दिखायेंगे? इस दुर्दशा से तो अच्छा यही था कि नींव ही नहीं खुदवाते।

जिन्हें धर्म से अनुराग था, उन्होंने सुना तो अन्न–जल का त्याग कर दिया और अपना दुःख लेकर लाला हरसुखराय के पास पहुँचे और बोले–आपके रहते जिनमंदिर अधूरा पड़ा रह जाय तो समझो कि भाग्य ही हमारे प्रतिकूल है। आप तो कहते थे कि बादशाह सलामत ने शिखरबंध मंदिर बनवाने की इच्छा प्रकट की है, फिर शिखर अधूरा रहने का रहस्य क्या है? सेठजी मुँह लटकाकर सकुचाते हुये बोले–भाइयो! अब पर्दा रखना ठीक नहीं है। दरअसल यह बात है कि मेरी जितनी सामर्थ्य थी, वह मैंने पूरी कर दी और मैं कर्ज लेने का आदी नहीं हूँ। अतः सोचता हूँ कि समाज से चंदा इकट्ठा कर लूँ, मगर कैसे? हिम्मत नहीं हो रही है।

यह सुनकर सभी बोल पड़े–बस, लाला जी साहब! इतनी–सी बात है? ऐसा कहकर एक सज्जन ने अशर्फियों का ढेर लगा दिया और कहा कि आप चंदा माँगने जायेंगे? धिक्कार है जो हम आपको चँदा माँगने भेजें। तब लाला हरसुखराय बोले–अब इस मंदिर में जो

भी पैसा लगेगा वह समाज से लूँगा, किसी एक व्यक्ति से नहीं। आखिर ऐसा ही हुआ। प्रत्येक घर से नाममात्र चन्दा लिया गया। जब कलशारोहण का समय आया तो हरसुखराय जी ने स्पष्ट कह दिया–यह मंदिर समाज के चन्दे से बना है। अतः वे ही कलशारोहण करें। तब सभी लोगों की आँखों में आँसू आ गये और उन्हें चंदा लेने का रहस्य समझ में आ गया।

मार्दवधर्म ही इस लोक और परलोक में इस जीव का परम हितैषी मित्र है और अहंकार उस कागज की नाव के समान है जो एक–न–एक दिन हम सबको ले डूबेगी, हमारी समस्त महत्त्वाकाँक्षाएँ बिखर जायेंगी।

अहंकार करना अपने कल्याण के मार्ग को अवरुद्ध करना है। चाहे वह ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, शरीर आदि कोई भी मद हो, पतन का ही कारण है।

ज्ञान का मद इन्द्रभूति गौतम ने किया था और समवसरण में मानस्तम्भ को देखकर उसका मान गलित हुआ और जब अहंकार को छोड़कर भगवान के चरणों में समर्पित हुआ तो दैगम्बरी दीक्षा धारण कर गौतम गणधर बने और भगवान की वाणी को सुनाकर अपना तथा सबका कल्याण किया।

मस्करी ने पूजा का मद किया, भगवान महावीर स्वामी को ढोंगी कहा और भ्रष्ट होकर अनेक कुमत चलाये, आखिर आत्मकल्याण नहीं कर पाया और अनन्तसंसार में भटक गया।

अर्ककीर्ति ने कुल का मद किया और सेनापति जयकुमार से युद्ध में हारा। इस प्रकार उसका मान खंडित हुआ।

जाति का मद कंस ने किया और उसने अपने पिता उग्रसेन को

बंदी बनाकर कारागार में डाला, अन्ततः श्रीकृष्ण द्वारा अपमानित होना पड़ा और प्राण गँवाये।

बल का मद रावण ने किया, जिससे वह अपमानित हुआ और अन्त में नरक जाना पड़ा।

रूप का मद सनतकुमार चक्रवर्ती ने किया और उसका मान सभा में खण्डित हुआ। यह रूप आदि सभी क्षणभंगुर हैं, अनित्य हैं। ऐसा विचारकर उसे वैराग्य हो गया और उसने मुनिदीक्षा लेकर अपना कल्याण किया।

तप का मद सन्यासी ने किया, जिसके कारण वह शीलवन्ती नारी से अपमानित हुआ।

एक दिन एक सन्यासी तपस्या कर रहा था। ध्यान से उठा और उसकी नजर आकाश में उड़ते हुये पक्षी पर पड़ गई। वह पक्षी तुरन्त नीचे गिर पड़ा, सो उस साधु को घमंड हो गया कि मैं जिसको चाहूँ नीचे गिरा सकता हूँ। एक बार वह एक बस्ती में भिक्षा लेने के लिए आया, तब एक महिला से अकड़कर बोला—जल्दी दे दो जो देना है। तब महिला ने कहा—मैं पक्षी थोड़े ही हूँ जो देख लोगे तो गिर जाऊँगी। तब उस साधु ने कहा—तुझे कैसे मालूम? वह महिला बोली—मैं शीलवन्ती महिला हूँ, मुझे सब मालूम है। तब उस साधु की गर्दन शर्म से झुक गई।

धन का मद एक महिला ने किया, जिसके कारण उसने आग लगाकर अपना नुकसान किया। अहंकार कोई भी हो, पतन का ही कारण होता है।

एक बार एक किसान महिला पहाड़ी पर अपने खेत में फसल काट रही थी कि उधर से एक दुष्टप्रकृति वाले व्यक्ति ने अकेली

महिला जानकर उसको पकड़ना चाहा। जब उस महिला ने अपने को अशक्त महसूस किया तो उसने शील की रक्षा के लिये ऊपर से छलांग लगा दी। उस महिला को खरोंच तक नहीं आई तो उसे अपने को पतिव्रता होने का घमण्ड हो गया। वह घमण्डपूर्वक सबसे इस घटना को कहा करती कि मैं इतनी शीलवन्ती हूँ कि पहाड़ से गिरने पर भी मुझे चोट नहीं आई। सब से कहती फिरती। तब लोगों ने कहा कि हम जब तक अपनी आँखों से नहीं देख लेंगे, तब तक कैसे मानेंगे? तब उस महिला ने मान के वश पहाड़ी पर से छलांग लगा दी। नतीजा उसकी टांग टूट गई और सबके सामने अपमानित होना पड़ा। पहली बार वह महिला शीलधर्म की रक्षा के लिये अपने प्राणों की परवाह किये बिना कूद गई थी तो धर्म के कारण उसकी रक्षा हो गई थी। दूसरी बार वह अपने घमण्ड के पोषण के लिए कूदी, जिसके कारण उसकी टांग टूट गई, क्योंकि मान कभी स्थिर नहीं रहने देता, खंडित जरूर होता है। अहंकार, अकड़, घमण्ड आदि ही समस्त विपदाओं की जड़ हैं। जो प्राणी अपना कल्याण करना चाहता है अथवा विपदाओं से बचना चाहता है, उसे अहंकार को छोड़कर मार्दवधर्म को अंगीकार करना चाहिये। मार्दवधर्म से ही स्वर्ग व मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

यह मानकषाय बड़ी सूक्ष्म होती है। बहूरूपणी विद्या की तरह अपना रूप बदलती रहती है। एक व्यक्ति घोषणा करता है कि हम अपने नाम का पटिया नहीं लगवायेंगे, किन्तु सभा में घोषणा, वीडियो, फोटो आदि की चाहना है। पर ध्यान रखना, यह भी अहंकार ही है। आज का व्यक्ति धार्मिक कार्यों में भी अहंकार नहीं छोड़ता। मंदिर या धार्मिक आयोजनों में अभिमान का पोषण चाहता है। यह तो पाप की, कषाय की पुष्टि करना है। जहाँ जिसको छोड़ना चाहिये, वहाँ उसे

ग्रहण करना ठीक नहीं है। धर्म तो तभी आयेगा, जब अहंकार का विसर्जन होगा। जब भी देव–शास्त्र–गुरु के पास जायें तो अहंकार को बाहर ही छोड़ देना चाहिये।

प्राचीन मंदिर में देखेंगे तो द्वार छोटा मिलेगा। मूर्ति तो 18 फुट की होगी, पर द्वार 3 फुट का, ताकि आप मंदिर में प्रवेश करो, तो झुको। झुके बिना भगवान के दर्शन संभव नहीं। धर्म के सम्पूर्ण पाठों में प्रथम पाठ झुकना बतलाया है। अभिमान का विसर्जन ही जीवन में धर्म का सूत्रपात है।

पर आजकल कोई भी झुकने को तैयार नहीं है। आज तो एक विद्वान् भी दूसरे विद्वान् को नीचा दिखाने हेतु प्रयत्नशील रहते हैं। एसे ही दो विद्वान् थे, जिन्हें अहंकार की बीमारी थी। वे सदा एक दूसरे को गिराने की भावना रखते थे। एक बार दोनों विद्वानों को राजा ने राज्यसभा में सम्मान के लिये बुलाया। दोनों उपस्थित हुये। राजा ने पहले विद्वान् से कहा–आप स्नान आदि करके तैयार हो जाइये एवं दूसरे से चर्चा प्रारंभ कर दी। राजा बोले–'जो आपके साथी हैं, वे बड़े ही सुविख्यात विद्वान् हैं। उनकी ख्याति चारों ओर फैल रही है।' उस विद्वान् को साथी विद्वान् की प्रशंसा सहन नहीं हुई। उसने कहा–'राजन्! वह विद्वान् नहीं, बैल है। उसे कुछ भी ज्ञान नहीं है।' तब तक वे विद्वान् महोदय स्नान करके आ गये। उसी प्रकार जब दूसरे विद्वान् स्नान क्रिया को गये तब राजा ने उस विद्वान् की प्रशंसा प्रारंभ कर दी। तब दूसरा विद्वान् बोला–'राजन्! वह तो अनपढ़ है। न बाप पढ़ा, न उसके बाप का बाप। वह तो गधा है।' इस प्रकार राजा ने दोनों का परिचय ले लिया। एक दूसरे की बुराई–कटाई में दोनों ने अपना परिचय दे दिया। व्यक्ति का परिचय व्यक्ति की भाषा एवं विचार हैं। जब वे भोजन करने बैठे तो राजा ने

दोनों की थाली में घास, भूसा परास दिया। वे विद्वान् आश्चर्यचकित हुय। 'राजन्! आपने हमारा सम्मान करने क लिये बुलाया था या तिरस्कार करने को?' राजा ने कहा–'इसमें मेरी क्या गलती है? आपने ही एक दूसरे का परिचय देकर बैल एवं गधा बतलाया है। इसलिय हमने आप लोगों को उच्च क्वालिटी का घास–भूसा परोसा है।' अब तो दोनों का माथा शर्म स झुक गया। जो भी अहंकार करता है, नियम से उसका पतन होता है। अहंकार में कभी भी परमात्मा की प्राप्ति संभव नहीं। अहंकार खोकर ही परमात्मा को पाया जा सकता है। जो भी इस मानकषाय को छोड़ देता है, उसको मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है और जो अहंकार करता है, उसकी दुर्गति हाती है।

फूल न रास्ते में पड़ पत्थर का देखकर अहंकार से कहा–'देखा मेरा भाग्य और तेरा भाग्य? मेरे लिये सब चाहते हैं और तू रास्ते में पड़ा रहता है। तुझे सब लोग ठोकर ही मारते हैं।' पर समय पलटते देर नहीं लगती। कहते हैं घूरे के भी दिन बदलते हैं। एक बार एक शिल्पी न उस पत्थर को देखा और प्रसन्नता से उछल पड़ा। उसने पत्थर को उठा लिया और घर ले जाकर उसे तराशना शुरू कर दिया। तराश–तराश कर उसन उस पत्थर को एक प्रतिमा का रूप दे दिया और उसे एक वेदी पर विराजमान कर दिया। एक भक्त गया और उसने उस इठलात फूल को तोड़कर प्रतिमा के चरणों में चढ़ा दिया। फूल ने जब पत्थर क इस रूप को देखा तो उसका मस्तक शर्म से झुक गया। मूर्ति ने बड़ी विनम्रता से कहा कि, बंधु! अहंकार करना व्यर्थ है। मेरा भाग्य जागा है और मैं पाषाण से भगवान बन गया और तू टूट करक आया और मेरे चरणों में चढ़ गया।

तीन लोक के सामने हमारा यह परिचित स्थान एक अणु के

बराबर भी नहीं है। फिर भी व्यक्ति इस थोड़े से वैभव का कितना अहंकार करते हैं। एक बड़ा जागीरदार अपने आफिस में बैठकर किसी संत को बड़े अभिमानपूर्वक अपनी जागीर का बखान कर रहा था। मेरे पास ये है, मेरे पास वो है। वहीं पर एक एटलस रखा था। संत ने उस एटलस को उतरवाया और कहा–बताओ, इसमें तुम कहाँ हो? वह बोला–मैं इंडिया में रहता हूँ। इंडिया में कहाँ रहते हो? बोला–मैं सागर में रहता हूँ, तुम कहाँ रहते हो? बोला–मैं कटरा में रहता हूँ। संत बोला–इस एटलस में बताओ कहाँ है तुम्हारा स्थान? विश्व के नक्शे में तुम कहाँ हो, तुम्हारा वैभव कहाँ है? जरा विचार करो। कुछ नहीं है। उसकी आँखें खुल गईं कि मैं जो अहंकार कर रहा हूँ वह व्यर्थ का अहंकार है। ऊँट जब पहाड़ के नीचे आता है तब उसे अपने ऊँचे होने के अंहकार का पता चलता है। जब तक ऊँट पहाड़ के नीचे नहीं आता, तभी तक अहंकार करता है। यह उसके अज्ञान का अहंकार है।

जो मनुष्य संसार में अपने आपको सबसे बड़ा वैभवशाली या सबसे बड़ा बलवान् मान बैठता है, वह कूपमण्डूक के समान क्षुद्रदृष्टिवाला होता है।

एक बार समुद्र के किनारे रहनेवाला एक राजहंस उड़कर एक कुँए पर जा बैठा। राजहंस का भव्य आकार–प्रकार देखकर उस कुँए में रहने वाले एक मेंढक ने उससे पूछा कि, भाई! तुम कहाँ पर रहते हो? राजहंस ने उत्तर दिया कि मैं समुद्र के किनारे रहता हूँ। मेंढक ने पूछा कि समुद्र कितना बड़ा है? राजहंस ने कहा कि बहुत बड़ा है।

तब मेंढक ने कुँए में अपने स्थान पर उछलकर उस कुँए में ही एक हाथ भर छलांग मारी और राजहंस से पूछा कि समुद्र इतना

बड़ा है? राजहंस ने कहा कि नहीं, इससे बहुत बड़ा है। तब मेंढक ने एक और छलांग मारकर उस दो हाथ पानी की ओर संकेत करके पूछा कि क्या इतना बड़ा समुद्र है? राजहंस ने उत्तर दिया कि नहीं, इससे भी बड़ा है। तब मेंढक ने एक दो छलांग और मार कर राजहंस से पूछा कि, क्यों भाई! समुद्र इतना बड़ा है? राजहंस ने गंभीरता से कहा कि नहीं, इससे बड़ा है।

अंत में मेंढक ने समस्त कुँए की परिक्रमा देकर राजहंस से फिर पूछा कि समुद्र इतना बड़ा है? राजहंस ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया कि नहीं, भाई! समुद्र इससे भी बहुत बड़ा है। राजहंस की बात सुनकर मेंढक ने झल्लाकर कहा कि तुम्हारा कहना सर्वथा असत्य है। इससे बड़ा जलाशय और हो ही नहीं सकता। राजहंस ने कहा कि तुम इस कुँए से बाहर निकले ही नहीं, तब तुम क्या जान सकते हो कि समुद्र कितना बड़ा है। यह कह कर वह वहाँ से उड़ गया।

जो मनुष्य अपने आपको सबसे बड़ा व्यक्ति समझ लेते हैं, उनकी समझ भी कुँए के मेंढक की तरह संकुचित होती है। उन्हें जब अपने से अधिक शक्तिशाली व्यक्ति मिलता है उस समय उन्हें अपनी गलत धारणा का पता चलता है। अतः इन क्षणभंगुर पर्यायों तथा चंचला लक्ष्मी का अहंकार करना छोड़ दो।

जिस प्रकार इस अभिमानी मनुष्य का जीवन क्षणभंगुर/नश्वर है, इसकी धन–सम्पत्ति/लक्ष्मी भी चंचल/चलायमान है। उसको न आते हुए देर लगती है, न जाते हुए कुछ देर लगती है। नीतिकार ने कहा है–

सदायति यदा लक्ष्मी नालिकेर फलाम्बुवत्।
विनिर्याति यदा लक्ष्मीर्गज भुक्तक पित्थवत्।।

यानी—जब धन आता है तो छप्पर फाड़कर ऊँचे वृक्ष पर लगे हुए नारियल के फल में आये हुए पानी की तरह चुपचाप आ जाता है और दुर्भाग्यवश जब वह धन चले जाने का समय आता है तब ऊपरी सब ठाठ बने रहते हुये भी ऐसे चला जाता है जैसे खाये हुए कैथ को हाथी शौच करते समय निकाल देता है। हाथी कैथ का फल बिना तोड़े—फोड़े साबुत खा जाता है। जब वह खाया हुआ कैथ शौच करते समय हाथी के पेट से बाहर निकलता है तब वह वैसा ही पूरा साबुत निकलता है। टूटा—फूटा या छेददार नहीं होता, परन्तु भीतर से बिलकुल पोला, रबर की गेंद की तरह खाली होता है। उसमें से गूदा किस तरह हाथी के पेट में निकल जाता है यह पता नहीं चलता।

भारत में पाकिस्तान बनने से पहले सिन्ध, पंजाब आदि पाकिस्तानी प्रान्त में बड़े सेठ, जमींदार, उद्योगपति धनिक हिन्दू थे। पाकिस्तान बनते ही उनकी सम्पत्ति नष्ट—भ्रष्ट हो गई। उनके दरिद्र होने में कुछ भी देर न लगी। भारत में लगभग 600 राजा लोग थे, उनका राज्य छिनते एक वर्ष भी न लगा। आज वे ही राजा—महाराजा अपने निर्वाह के लिये भी परमुखापेक्षी बन गये हैं। जमीदारों की जमीनें छिन जाने से, जागीरदारों की जागीरें छिन जाने से, जमीदारों व जागीरदारों की ऐसी दुर्दशा हुई कि उनमें से बहुत से पागल हो गये। इस प्रकार लक्ष्मी के आते—जाते देर नहीं लगती। लक्ष्मी सदा किसी के पास स्थिर नहीं रहती।

जिस युवा अवस्था (जवानी) पर मनुष्य को अभिमान होता है, एक साधारण से रोग के लग जाने पर जवानी का जोश कपूर की तरह उड़ जाता है।

मित्र, स्त्री, पुत्र, परिवार के बिछुड़ते देर नहीं लगती। अच्छे स्वस्थ बलवान मनुष्य जरासी दुर्घटना से मृत्यु के मुख में चले जाते हैं। इस प्रकार इस संसार में सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं, क्षणस्थायी हैं। फिर मनुष्य का गर्व करना वृथा है।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर मनुष्य को अपने जीवन में झटपट अच्छे कार्य कर डालने चाहिये, क्योंकि जीवन प्रत्येक क्षण में ऐसा बीतता जाता है, जिस तरह फूटे हुए घड़े में से एक–एक बूँद पानी टपक–टपक कर कम होता जाता है। आलस्य में एक सैकण्ड भी न खोना चाहिए।

मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा काम आत्मा की शुद्धि करना है। आत्मा पापाचरण द्वारा मलिन होती है और धर्माचरण द्वारा स्वच्छ होती है। इस कारण जिस तरह बाहरी शान के लिये स्वच्छ वस्त्र पहनते हो, उसी तरह भीतरी शान के लिये धर्माचरण से आत्मा को स्वच्छ बनाते रहो। और मान कषाय को छोड़कर अपने हृदय में सदा विनय को धारण करो।

आज सारी दुनिया अहंकार में डूब रही है। कोई धन का अहंकार कर रहा है तो कोई जाति का अहंकार कर रहा है, कोई ज्ञान का अहंकार कर रहा है। अहंकार के अन्दर सभी डूबते चले जा रहे हैं। पर ध्यान रखना अहंकार एक–न–एक दिन टूट जाता है, समाप्त हो जाता है। इससे मुक्त होना ही यथार्थ में मार्दवधर्म की प्राप्ति करना है।

अहंकार करने से सदा पतन ही होता है। मार्दवधर्म केवल उसी के अन्दर आ सकता है, जो विनयवान् होता है। हमारा यह अहंकार ही अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति में बाधक बनता है। यह अहंकार ही हमारे

हृदय में धर्म के वास्तविक स्वरूप को प्रविष्ट नहीं होने देता। व्यक्ति अपने अहंकार की पूर्ति के लिये जीता है, और इसी खातिर मर जाता है। 'मैं भी कुछ हूँ' बस इसी की पुष्टि के लिये वह जीवनपर्यन्त संघर्षरत रहता है। परिणाम–स्वरूप वह अशुभ कर्मों का आस्रव करता है और अपनी इस दुर्लभ मनुष्य पर्याय को व्यर्थ ही समाप्त कर देता है।

100–50 लोगों में झूठी ख्याति का मान करना ठीक नहीं है। जरा विश्व में दृष्टि पसारकर तो देखो कि कौन जानता है तुम्हें? और ये 100–50 लोग भी कब तक साथ रहेंगे? 25–30 साल बाद तो यहाँ से अकेले ही जाना पड़ेगा। आगे की अनन्त यात्रा में ये कोई साथ नहीं देंगे। हम लोग दुनिया के झूठे अभिमान के प्रदर्शनार्थ व्यर्थ बरबाद होते हैं। जो अभिमान रखता है, वह अपने आपको ही बरबाद करता है। अतः मेरी आन, मेरी शान, मेरा रूप, मेरा धन, मेरा वैभव, मेरी जाति, मेरा कुल, मेरा व्रत–तप, मेरी समृद्धि इत्यादि रूप अहंबुद्धि को छोड़कर मार्दवधर्म को धारण करो।

उत्तम आर्जव

धर्म का तीसरा लक्षण है—उत्तम आर्जव। जैसे मृदु शब्द से मार्दव बना है, उसी प्रकार ऋजु शब्द से आर्जव बनता है। ऋजोर्भावः कर्मवा आर्जवं। ऋजुता का भाव ही आर्जव है। जिसमें किसी प्रकार का छल नहीं, कपट नहीं, किसी प्रकार के धोखा देने की भावना नहीं, ऐसी जो आत्मा की शुद्ध परिणति है, उसका नाम आर्जव है। ऋजुता का अर्थ होता है सरलता।

सरलता के मायने है—मन, वचन, काय की एकता। मन में जो विचार आया हो, उसे वचन से कहा जाय और जो वचन से कहा जाये, उसी के अनुसार काय से प्रवृत्ति की जाये। जब इन तीनों योगों की प्रवृत्ति में विषमता आ जाती है, तब माया कहलाने लगती है।

मायाचारी व्यक्ति का व्यवहार सहज एवं सरल नहीं होता। वह सोचता कुछ है, बोलता कुछ है, और करता कुछ है। उसके मन, वचन, काय में एक–रूपता नहीं होती। जिसके पास माया कषाय रहती है, वह इस जीवन में और अगले जीवन में भी कांटे के समान चुभती रहती है। मायावी व्यक्ति सुख–शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। इसी कारण यह माया शल्य भी कहलाती है।

कषाय तो कषाय होती है, चाहे वह क्रोध हो, चाहे मान हो, चाहे

माया हो, सभी आत्मा का अहित करने वाली होती हैं। हमें सदा इनसे बचने का प्रयास करना चाहिये।

जिसके विचार, कथनी व करनी में एकरूपता होती है, वह सदाचारी कहलाता है। इसी से जीवन ऊँचा उठता है। चोर बहुत डरता है, यहाँ तक कि अपने पैरों की आवाज से, अपनी छाया से भी डरने लगता है, क्योंकि उसके सदाचार नहीं है। हमें मायाचार को छोड़कर, सदाचार को अपनाना चाहिये।

मन में कुछ, वचन में कुछ और क्रिया में कुछ, यही तो पतन व दुर्गति का कारण है। मन, वचन, काय के टेढ़ेपन से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। मायाचारी से हम दूसरों को ठगने में सारा जीवन खो रहे हैं, पर ध्यान रखना हम दूसरों को नहीं, स्वयं अपनी आत्मा को ही ठग रहे हैं। अतः 'मुँह में राम और बगल में छुरी' की कुटिलता को छोड़ दो। हमारा जैसा पवित्र जीवन मन्दिर के अन्दर है, वैसा ही निश्छल, निष्कपट, सरल जीवन मन्दिर के बाहर भी होना चाहिए। मन्दिर के अन्दर का जीवन कुछ, और मन्दिर के बाहर का जीवन कुछ, यह मायाचारी है। मायाचारी व्यक्ति बाहर से कुछ होता है, और अन्दर कुछ और ही रहता है।

कौरवों की मायाचारी के कारण ही गीता का उपदेश देना पड़ा। दुष्ट कौरवों ने लक्षागृह बनाकर अपने ही भाइयों को जलाकर भस्म करने का मायाजाल रचाया था।

मायाचारी व्यक्ति दोहरा जीवन जीता है। वह मंदिर के अन्दर कुछ और होता है, और बाहर कुछ और होता है।

एक पिता ने अपने बेटे से कहा—क्यों बेटे। तेल में मिलावट कर ली? कहा—कर ली। दाल में मिलावट कर ली? कहा—कर ली।

मसालों में मिलावट कर ली? कहा—कर ली। तो चलो अब महाराज जी के प्रवचन सुन आयें, प्रवचन का समय हो गया है। ऐसे आदमी महाराज के प्रवचन में भी मिलावट कर डालेंगे। हम लोग क्या सुन रहे हैं और क्या गुन रहे हैं? हमें अपने मन से पूछने की जरूरत है। हम दोहरा जीवन जीने के अभ्यासी हो गये हैं। प्रत्येक बात का अर्थ हम अपने मन के अनुसार निकाल लेते हैं।

एक जगह महाभारत की कथा हुई। कथा के श्रोताओं में एक सेठ जी थे, वे बड़ी तल्लीनता से कथा सुन रहे थे। उनकी कथा सुनने की ललक को देखकर एक दिन कथावाचक ने पूछा—सेठ जी! आपने इस भागवत की पूरी कथा को सुना है, आपने क्या निष्कर्ष निकाला है? आपको क्या अच्छा लगा? सेठ जी बोले—इस पूरी कथा में मुझे दुर्योधन के चरित्र ने सबसे ज्यादा प्रभावित किया है। श्री कृष्ण जी के कहने पर भी दुर्योधन ने 5 गाँव की जगह, सुई की नोक के बराबर भी जगह देने से इंकार कर दिया। अब मैंने तय किया है कि आज के बाद मैं भी किसी को कुछ भी नहीं दूँगा। कथावाचक ने अपना सिर पकड़ लिया। ऐसी कथा सुनने तथा सुनाने से क्या फायदा है? यह अपने जीवन के साथ छलावा और भुलावा है, और कुछ नहीं। दो प्रकार का धर्म होता है। एक बहिरंग धर्म और दूसरा अन्तरंग धर्म। हमारा जो बाह्य क्रिया आचार है, वह बहिरंग धर्म है। जो बाहर से देखने में आता है। और हमारे मन की, विचारों की जो पवित्रता है, वह अन्तरंग धर्म है। हमारे मन की सरलता ही वास्तविक अन्तरंग धर्म है। मायाचारी करना ही अधर्म है।

लंका के अत्यन्त शक्तिशाली राजा रावण ने मायाचारी से नकली साधु का वेष बनाकर सीता का हरण कर लिया था। रावण अत्यन्त मायाचारी था। युद्ध के अवसर पर भी उसने राम के समक्ष सीता का

सिर काटकर दिखाया था, तब विभीषण ने तत्काल ही राम को सचेत किया था कि वे रावण की मायाचारी का विश्वास न करें। यह सीता का सिर नहीं है, यह रावण की मायाचारी है। अपनी छलविद्या से वह कपट कर रहा है। वह इस विद्या में अत्यन्त कुशल है। विभीषण ने रावण की मायाचारी का पर्दाफाश कर दिया था। उसने युद्धभूमि में राम को साहस बंधाया था। रावण की मायाचारी के कारण ही उसका पतन हुआ था।

मायाचारी पुरुष बिल्ली के समान होता है। अत्यन्त कृतघ्न बिल्ली जिस मालिक का दूध पीती है, उसी मालिक की आँखें फूटने की माला जपती है। जब वह दूध पीती है, तब आँखें बंद कर लेती है और मन में सोचती है कि मुझे कोई नहीं देख रहा, पर जब पीछे से डंडा पड़ता है, तब समझ में आता है।

ठीक इसी प्रकार मायावी पुरुष भी नित्य सोचता रहता है कि उसकी मायाचारी को कोई नहीं देख रहा है। परन्तु जब कर्मों की मार का डंडा उसे पड़ता है, तब वह अत्यंत दुःखी हो जाता है।

हमारा मन अनादिकाल से अत्यन्त टेढ़ा है, वचन एवं काय भी टेढ़े हैं। हम जो कहते हैं, उसे करते नहीं हैं। प्रसिद्ध साहित्यकार यशपाल जैन ने बहुत अच्छे तरीके से उदाहरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है–

एक बालक स्कूल गया। तो स्कूल में पहले दिन उसे पाठ पढ़ाया गया कि सदा सत्य बोलना चाहिये। बच्चा घर आया। शाम को मकान मालिक किराया वसूलने के लिये आया और बोला कि पिता जी कहाँ हैं? बेटा अन्दर आया, पिता जी ने कहा – जाओ, कह दो बाहर गये हैं। बेटे ने आकर कहा – पिताजी बाहर गये हैं। दूसरे

दिन स्कूल में बच्चे को पढ़ाया गया – सबसे प्रेम करना चाहिये। यह पाठ पढ़कर बेटा स्कूल से घर आया तो देखता है कि मम्मी–पापा आपस में झगड़ रहे हैं। तीसरे दिन उसे स्कूल में पढ़ाया गया – सब जीवों पर दया करो। घर लौटकर आया तो देखता है कि उसका बड़ा भाई एक अपंग भिखारी को पीट रहा है। चौथे दिन जब उस बच्चे से स्कूल जाने को कहा गया तो उस बच्चे ने कहा – पिताजी मैं स्कूल नहीं जाऊँगा, क्योंकि गुरुजी ठीक नहीं पढ़ाते। वे जो पढ़ाते हैं, हम वह नहीं करते और जो हम करते हैं, वैसा वे पढ़ाते नहीं हैं।

हमारे वचनों में और क्रियाओं में कितना अन्तर है, इससे बड़ा व्यंग और क्या होगा। जीवन का यह दोहरापन ही हमारे जीवन की दुविधा का मूल कारण है।

एक दर्जी था। उसने रात में एक स्वप्न देखा कि वह मर गया। उसकी कब्र बनाई गई। कब्र में उसे दफनाया गया। कब्र पर बहुत सारी रंग–बिरंगी झंडियाँ गड़ी हुई थीं। वह सोचने लगा कि मेरी कब्र पर ये झंडियाँ क्यों गाड़ीं गईं। तभी एक फरिश्ता प्रकट हुआ। फरिश्ते से पूछा– भाई! ये झंडियाँ क्यों गाड़ी गईं हैं? फरिश्ता बोला–भाई! ये तुम्हारे जीवन की बेईमानी का हिसाब है। तुमने जितने लोगों के कपड़े चुराये हैं , जितने रंग के कपड़े चुराये हैं, उन सबकी झंडियाँ यहाँ गाड़ी हुई हैं। कयामत के दिन जब अल्ला आयेगा तो तुम्हारे एक–एक गुनाह का हिसाब माँगेगा।

वह जागा तो घबड़ा गया। बोला–मुझे ऐसी बेईमानी नहीं करनी। आया और अपने नौकरों से कहा कि मैं कभी भी किसी कपड़े को काटने लगूँ तो कहना – उस्ताद जी! झंडी, ऐसा याद दिलाना। फिर

क्या था, कोई भी कपड़ा आता, उसका मन ज्योंही कपड़े को मारने का होता, कि नौकर उसे सावधान करते–उस्ताद जी! झंडी। उस्ताद जी तुरन्त सावधान हो जाते। ये रोज का क्रम था। एक दिन बढ़िया मलमल का कपड़ा आया। उस कपड़े को देखते ही दर्जी के मुँह में लार टपक आई। जैसे ही वह कपड़े को काटने लगा तो नौकर ने कहा–उस्ताद जी झंडी। तो उस्ताद जी भी पूरे उस्ताद थे, कहने लगे – अरे ! इस रंग का कपड़ा वहाँ थोड़े है।

यही हमारे मन की दुर्बलता है, मायाचारी है, जो हमारे स्वयं के साथ हमारे द्वारा ही नाइंसाफी, बेईमानी का कारण बन जाती है। दूसरों को ठगकर, धोखा देकर हम भले थोड़ी देर के लिये आनन्दित हो जायें और अपने को चतुर मानने लगें, पर यह ध्यान रखना भले ही हम दूसरों को छलें, पर छाले तो हमारी अपनी आत्मा पर ही पड़ेंगे। यदि हमारे मन, वचन, काय टेढ़े रहेंगे, तो आत्मा व परमात्मा के दर्शन करना कभी भी संभव नहीं है। जो दूसरों को गड्ढा खोदता है, वह स्वयं ही उसमें गिरता है। मायाचारी करते समय व्यक्ति सोचता है, मेरी मायाचारी को कोई नहीं देख रहा, पर ध्यान रखना यह मायाचारी छिपाये छिप नहीं सकती।

कपट छिपाते न छिपे, छिप न मोटा भाग।
दाबी दूबी न रहे, रुई लपेटी आग।।

मनुष्य अपने पाप को छिपाने का प्रयत्न करता है, पर वह रुई में लपेटी आग के समान स्वयमेव प्रकट हो जाता है। किसी का जल्दी प्रकट हो जाता है और किसी का विलम्ब से, पर यह निश्चित है कि प्रकट अवश्य होता है। पाप के प्रकट होने पर मनुष्य का सारा बड़प्पन समाप्त हो जाता है और छिपाने के कारण संक्लेशरूप

परिणामों से जो खोटे कर्मों का आस्रव करता है, उसका फल व्यर्थ ही भोगना पड़ता है।

श्री समता सागर जी महाराज ने लिखा है – निष्कपट व्यवहार के समान इस विश्व में कोई भी प्रशंसनीय नहीं है और मायाचार के समान निन्दनीय नहीं है। कपटी का व्रत पालन, दान, पूजा, तीर्थाटन आदि करना निष्फल है। जो दूसरों को मायाजाल में फँसाने का प्रयत्न करता है, वह स्वयं उसमें फँस जाता है। जो दूसरों को गड्ढा खोदता है, वह स्वयं उस गड्ढे में गिरता है। दूसरों को धोखा देने के लिये यदि हमने किसी व्यूह की रचना की है, तो निश्चित ही हम मकड़ी की तरह स्वयं उसमें फँसकर रह जायेंगे। और भोले के तो भगवान हुआ करते हैं? जो सरल होता है, उसके जीवन में भले ही कोई न हो, पर भगवान उसका साथ हमेशा देता है।

एक गाँव के ठाकुर साहब का दूसरे गाँव के एक व्यापारी से लेन–देन रहा करता था। एक दिन व्यापारी के मन में आया उधारी बहुत हो गई है, ठाकुर साहब के यहाँ से पैसा ले आयें तो अच्छा रहेगा। और व्यापारी अपने गाँव से पैदल चलकर ठाकुर साहब के गाँव आया। रात में सारा हिसाब–किताब किया। लाखों रुपये की वसूली हुई। रात ज्यादा हो जाने से व्यापारी ने सोचा सुबह–सुबह मुँह अंधेरे में निकल जायेंगे। अभी रात ज्यादा हो गई है अतः यहीं आराम कर लेता हूँ। वह सारे पैसे रखकर के सो गया। ठाकुर साहब के मन में पाप आया और उसने सोचा कि व्यापारी सुबह–सुबह मुँह अंधेरे अपने गाँव जायेगा क्यों न इसे रास्ते में ही खत्म करवा दिया जाये। ठाकुर साहब ने अपने नौकर के लिये समझा दिया कि देख मुँह अंधेरे ये व्यापारी सारे पैसे लेकर जायेगा, रास्ते में छिपकर बैठना है। जैसे ही वह रास्ते से निकले सीधा निशाना साध देना और

सारे पैसे वापस लेकर आना। ध्यान रखना, देरी नहीं होनी चाहिये। और नौकर रात में जाकर झाड़ियों में छुपकर बैठ गया। इसी रास्ते से व्यापारी के लिये निकलना था। व्यापारी सुबह उठा, भगवान का नाम लिया, पैसों का थैला उठाया और आगे बढ़ गया। पता नहीं व्यापारी के मन में आज सुबह कुछ अलग भाव ही आया। व्यापारी जब भी गाँव जाता था, उस एक ही रास्ते से जाया करता था। पर आज जैसे ही वह हवेली के बाहर निकला, उसे अन्तः प्रेरणा–सी हुई। उसे ऐसा लगा कि कोई अदृश्य शक्ति उसके साथ काम कर रही है और वही उसकी रक्षा कर रही थी। व्यापारी के मन में भाव आया कि बहुत दिन हो गये इसी रास्ते से आते–जाते, चलो आज रास्ता बदल कर चलते हैं। और वह व्यापारी उस रास्ते को बदलकर दूसरे रास्ते से आगे बढ़ गया।

नौकर निशाना साधे हुये बैठा था, प्रतीक्षा कर रहा था, पर अभी तक कोई निकला ही नहीं। यहाँ ठाकुर साहब के लिये बैचेनी बढ़ रही थी कि अभी तक नौकर नहीं आया, आखिर बात क्या है? ठाकुर साहब का इकलौता जवान बेटा था। ठाकुर साहब ने उस बेटे से कहा कि जरा देख, नौकर अभी तक नहीं आया, आ रहा कि नहीं, क्या देरी है? जरा पता लगाओ। और वह बेटा सुबह–सुबह झुरमुटे में नौकर को देखने के लिये गया। पहचान में कोई भी नहीं आ रहा था। और जैसे ही उसके आने की पगचाप सुनाई दी, नौकर सावधान हो गया। और जैसे ही बेटा आगे बढ़ा कि उस नौकर ने समझा कि व्यापारी को आज आने में देरी हो गई है, कोई बात नहीं, उसने आव देखा न ताव और बन्दूक का घोड़ा चटका दिया। उठकर देखा तो बेटा धराशायी हो गया था। और व्यापारी सही सलामत अपने घर पहुँच गया। ठाकुर साहब को जब मालूम हुआ तो छाती पीटकर रोने

के अलावा उसके पास बचा ही क्या था। सच ही कहा है – दूसरों के बारे में सोचा गया अहित, स्वयं का ही अहित करता है।

माया कषाय से इस जीव का अनर्थ ही होता है। ज्ञानार्णव ग्रंथ में कहा है – ''इहाकीर्ति समादत्ते, मृतो यात्येव दुर्गतिम्। मायाप्रपंचदोषेण जनोप्यं जिह्मिताशयः।'' जिसका कुटिल अभिप्राय है, हृदय छोटा है, उसको इस लोक में भी बदनामी है, अपयश है और मरकर दुर्गतियों में जायेगा। लोग वैभव सम्पदा के लिये अनेक प्रकार से मायाचारी करते हैं, इसलिये इस धन–सम्पदा का नाम ही माया रख दिया। उसके तो बड़ी माया है। अरे! माया नाम तो कपट का है। देखो धन–वैभव का ही नाम कपट रख दिया। इस माया में सार कुछ भी नहीं है।

भारतीय संस्कृति में जहाँ आत्मा और परमात्मा को महत्त्व दिया जाता था, आज उसका स्थान पैसे ने ले लिया है। पैसा ही परमेश्वर बन गया है। अब तो व्यक्ति का एक ही लक्ष्य है जैसे तैसे कैसे भी हो, बस पैसा हो। किसी भी मार्ग से आये, पर पैसा हो। आज व्यक्ति ने पैसे को इतनी प्रतिष्ठा दे दी है कि वो परमेश्वर की तरह पूजा जाने लगा है। जिस देश में पहले कभी कहा जाता था –

भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढ़मते।

उस देश में लोग गाने लगे हैं –

भज कलदारं, भज कलदारं, कलदारं भज मूढ़मते।

पैसा भजो, यह सोच बन गई है, क्योंकि पैसे को हमने अपनी प्रतिष्ठा का आधार बना लिया है। पर ध्यान रखना, पैसा तुम्हें इस लोक में प्रतिष्ठा दिला सकता है, पर परलोक में कोई पक्षपात नहीं होता। वहाँ तो जैसी करनी, वैसी भरनी के आधार पर न्याय होता है।

एक किसान था। उसने स्वप्न देखा कि मैं मरकर स्वर्ग पहुँच गया हूँ। आदमी कैसे भी काम करे पर सपने तो स्वर्ग के ही देखता है। स्वप्न में स्वर्ग पहुँचा। वहाँ जाकर वह देखता है कि पूरे स्वर्ग को सजाया गया है। उसने स्वर्ग के किनारे पर बैठे एक व्यक्ति से पूछा कि आज यहाँ क्या हो रहा है? वह बोला—भाई! आज मृत्युलोक के एक सेठ ने स्वर्ग में जन्म लिया है, उसके जन्मोत्सव की यह खुशी मनाई जा रही है। उसने सोचा कि स्वर्ग में जन्म लेने वाले के स्वागत की यही परंपरा होगी और वह एक किनारे पर बैठ गया, इस आशा में कि थोड़ी देर बाद मेरे लिये भी ऐसा ही जलसा किया जायेगा, ऐसे ही ठाट—बाट वाले गाजे—बाजे आयेंगे और लोग मुझे ले जायेंगे। काफी देर प्रतीक्षा करने के बाद सिर्फ दो द्वारपाल आये और उन्होंने उससे कहा कि आपका स्वर्ग में आमंत्रण है, प्रवेश कीजिये। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि वह तो इस आशा में था कि हजार दो हजार की भीड़ आयेगी, पर वहाँ सिर्फ दो। वह बहुत संकोच में था। उसके संकोच को देखकर द्वारपालों ने कहा – 'आप चलिये, हम आपको ही लेने आये हैं।' मुझे लेने आये हो? हद हो गई बेईमानी की। मैंने तो सुना था कि सिर्फ मृत्युलोक में पक्षपात होता है, पर तुम्हारे स्वर्ग में भी पक्षपात होने लगा। द्वारपालों ने पूछा— क्यों क्या बात हो गई? किसान ने कहा – अभी—अभी मैंने देखा कि एक सेठ ने स्वर्ग में जन्म लिया तो उसके लिये इतना ज्यादा जलसा किया गया, जन्मोत्सव मनाया गया, और मैं सीधा—सादा किसान जिसने आज तक कोई अन्याय—अनीति नहीं की, कोई पाप का कार्य नहीं किया, उसके लिये सिर्फ दो जन, वह भी बिना गाजे—बाजे के। यह पक्षपात नहीं तो और क्या है? उन्होंने समझाया कि भाई, पक्षपात की बीमारी तो मनुष्यों में है, स्वर्ग में नहीं, हमारे यहाँ कोई

पक्षपात नहीं होता। बात सिर्फ इतनी है कि आप–जैसे सीधे– साधे ईमानदार लोग तो रोज ही इस स्वर्ग में जन्म लेते रहते हैं, इसलिये हम लोगों को कोई खास फर्क नहीं पड़ता। पर ये सेठ लोग साल, दो साल में एकाध कोई पैदा होता है, अतः हम लोग भी थोड़ी खुशी मना लेते हैं। कितना तीखा व्यंग है। पाप के रास्ते पर चलने वाला कभी स्वर्ग नहीं पहुँच सकता। यदि हमें इन दुर्गतियों के दुःखों से बचना है, तो इस मायाचारी, अन्याय व अनीति को छोड़ना ही होगा।

मन, वचन, काय में एकता का न होना ही मायाचारी कहलाती है। आज व्यक्ति कितने विकृत हो गये हैं। उनका चेहरा कुछ और रहता है, उनके विचार कुछ और रहते हैं, उनकी चाल कुछ और होती है और वे कुछ और होते हैं। मायाचारी व्यक्ति का व्यवहार सहज एवं सरल नहीं होता। वह सोचता कुछ है, बोलता कुछ है और करता कुछ है। उसके मन, वचन, काय में एकरूपता नहीं रहती।

एक व्यंग्य है कि ब्रह्माजी को एक विकल्प हो गया कि मुझे बहुत कार्य होते हैं, एक ऑडिटर रख लूँ। ऑडिटर रख लिया, और कहा–देख, तेरा काम यह है कि मैं दुनिया की चीजें बनाता हूँ, कोई चीज गड़बड़ हो जाये तो मुझे बताना कि महाराज यह गड़बड़ हो गई। ब्रह्माजी ने सबसे पहले एक हाथी बनाया और हाथी बनाने के बाद ऑडिटर को सौंप दिया कि देखो, कोई गड़बड़ तो नहीं है? ऑडिटर साहब कहते हैं – भगवन्! बाकी सब ठीक है, लेकिन इसकी नाक इतनी लम्बी कर दी कि वह जमीन में लटकती रहती है। ब्रह्माजी कहते हैं कि गलती हो गई, वह तो बन गया, मिटेगा नहीं। पर अब अब अगला जानवर ऐसा बनाऊँगा कि उसमें कोई गलती नहीं होगी। तो उन्होंने एक ऊँट बनाया, जिसकी कूबड़ ऊपर उठी थी। ऑडिटरजी बोले–महाराज! सब ठीक बनाया, लेकिन इसकी

कूबड़ ऐसी बनाई कि सबकी कूबड़ टूट जाये। ब्रह्माजी ने कहा कि बिल्कुल गलती हो गई। उन्होंने तीसरे नम्बर पर बंदर बनाया। ब्रह्माजी ने सब ठीक किया लेकिन उसे इतना चंचल बना दिया कि उसकी चंचलता का कोई ठिकाना नहीं। चौथे नंबर पर उन्होंने मनुष्य बनाया। सब बिल्कुल सोच–समझकर, विचार कर बनाया और ऑडिटर से बोले खबरदार, अब इसमें दोष निकाला तो? मैंने बहुत सावधानी से बनाया है। ऑडिटर सोचता है कि यदि मैंने दोष नहीं निकाला, तो मेरा ऑडिटरपना किस काम का? बोले–ब्रह्माजी! इसमें तो बड़ा दोष है। दोष यह है कि इसमें बाहर कोई भी कमी नहीं दिखती है, अतः इसके हृदय में एक खिड़की बना देते हैं, जिससे यह पता चल जाये कि मानव बाहर से क्या दिखता है और अंदर क्या करता है? यह कोई नहीं जान पाता, यह सबसे बड़ी कमी मानव की है। लेकिन ऑडिटर का सुझाव नहीं माना गया। परिणाम यह हुआ कि मनुष्य के मन में कुछ, वचनों में कुछ और क्रिया कुछ की कुछ होती है। बस एक कमी है और यही सबसे बड़ी कमी है। बाहर से तो वह बड़ा सरल दिखता है और अंदर से गरल का घड़ा रखे रहता है। एक खिड़की बना दो इसके हृदय में, जिसमें सब देख सकें कि अन्दर क्या है, बाहर क्या है? लेकिन यह संभव नहीं है। इसलिये मनुष्य बाहर कुछ रहता है और अन्दर से कुछ और ही रहता है।

मीरा प्रभु के भजन में मग्न रहती थी। 'मीरा हो गई मगन, ऐसी लागी लगन। वह तो गली–गली, प्रभु गुन गाने लगी।' मीरा की शादी राजघराने में हुई थी। पर राणा को यह सहन नहीं हुआ कि मेरी रानी कुल की मर्यादा को छोड़कर गली–गली भिक्षा से भोजन करे। राणा ने जहर मिलाकर दूध का कटोरा प्रसाद के रूप में मीरा के पास भेजा और कहा कि तेरे राजमहलों में कथा हुई है, यह

उसका प्रसाद है।

मीरा को क्या पता था कि ये मानव बाहर से प्रसाद कहते हैं और अंदर से जहर घोलकर देते हैं। पी गई बेचारी। प्रसाद मानकर पी गई और मरी नहीं। मरी नहीं, यह क्या हो गया? राणा ने कहा – मैंने बिल्कुल जहर दिया था, फिर मीरा कैसे बच गई? एक धर्म मार्गी है, एक कपट मार्गी है। एक निश्छल आत्मा को दुनिया की कोई ताकत नहीं मार सकती। जहर दिया था, मीरा पी गई, क्योंकि मीरा के पास धर्म मार्ग था और राणा के पास कपट मार्ग था। राणा देखता रहा और मीरा बच गई।

जैन धर्म में एक सोमा सती का उदाहरण आता है। पति ने लाकर एक घड़ा दिया उसे मारने के लिए, जिसमें नाग रखा था। वह कहता है कि तुम्हारे लिए हार लाया हूँ। वह निकालती है तो वह नाग 'हार' बन जाता है। पत्नी कहती है इतना सुन्दर हार तो मैं पहले तुम्हें पहनाऊँगी। और उसे पहनाती है। पति के लिए वह हार 'नाग' बन कर डस लेता है। कपटी के गले में हार भी नाग बन जाता है और आर्जव धर्म वाले के मन, वचन, काय सरल हैं, अतः उसके गले में नाग भी हार बन जाता है।

यदि मायाचारी छोड़ना है तो मन, वचन, काय की एकता लाओ। अपनी आत्मा का स्वाद लेना है, अपने भीतर जाना है, तो सरल बनो। साँप जब बिल में जाता है, तो सीधा हो जाता है। यदि अपने बिल में सर्प प्रवेश करेगा, तो उसे सीधा होना ही पड़ेगा। सर्प की चाल टेढ़ी है। सर्प हमेशा टेढ़ा चलता है, लेकिन वह अपने घर (बिल) में जाता है, तो सीधा होना ही पड़ता है। इसी प्रकार जब तुम दुनिया में चलो, दुनिया के काम करो, तब तक भले ही टेढ़े बने

रहना, लेकिन धर्म का काम हो, जब अपने अन्दर जाने की बात आए, तो जरूर सीधे बन जाना।

यह मायाचार जिस किसी के भी अन्दर आ जाता है, वहाँ आर्जव धर्म नहीं हो सकता, वहाँ सरलता नहीं होगी, चाहे वह गृहस्थ हो अथवा साधु। जिस प्रकार बिच्छू का डंक सारे शरीर में जलन पैदा कर देता है, उसी प्रकार यह माया कषाय व्यक्ति के समस्त गुणों को नष्ट कर देती है।

रानी पुष्पदन्ता के पति ने जब दीक्षा ले ली तब पुष्पदंता ने सोचा मुझे भी दीक्षा ले लेनी चाहिये। उसने आर्यिका माता की दीक्षा ले ली। परन्तु उसके मन में किंचित मात्र भी वैराग्य नहीं था। वह दिन भर अपने शरीर का श्रृंगार करती रहती थी और शरीर पर सुगन्धित तेल लगाती थी। एक दिन आर्यिका ब्रह्मिला ने उससे कहा कि यह कार्य तुम्हारे योग्य नहीं है। यह सुनकर पुष्पदन्ता ने बृह्मिला से कहा कि मेरे शरीर में यह स्वाभाविक सुगन्ध है, मैं तेल आदि नहीं लगाती हूँ। इस मायाचार के कारण वह मरकर एक सेठ के यहाँ पुत्री हुई, जिसके सारे शरीर से दुर्गन्ध आती थी। उससे नगर के सारे लोग घृणा करते थे, उसे हेय दृष्टि से देखते थे। उसने मायाचार किया था और वह भी गुरु के साथ। इसका फल उसे ही भोगना पड़ा। जो भी ऐसा करेगा, उसको भी उसका फल भोगना पड़ेगा। भले ही वर्तमान में पूर्व पुण्य कर्म के उदय से हमारा कुछ कार्य मायाचारी से होता हुआ दिखे। लेकिन अन्त मे उसका परिणाम बुरा ही निकलता है।

आचार्य पद्मनन्दी महाराज ने लिखा है—यह मायाचारी तो दुरात्माओं का लक्षण है।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मरायेकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मरायन्यत् दुरात्मनाम्।।

मन में कुछ, वचन में कुछ और काय से कुछ, इसे कहते हैं मायाचारी, यह दुष्टों का लक्षण या स्वभाव है। मन में वही, वचन में वही और शरीर से उसी प्रकार की चेष्टा करना, इसे कहते हैं आर्जव धर्म, यह सन्तों का स्वभाव है। आर्जव धर्म के लिये कहा है–

'मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सों करिये।'

मन, वचन और काय की सरलता का अर्थ है–हमारा मन इतना पवित्र हो कि जो मन में आये, उसे वाणी से कह सकें और जो वाणी से कहें, उसे शरीर से करने में किसी की भी क्षति न हो। हमारी अपनी भी नहीं और दूसरों की भी नहीं। यह अर्थ है मन, वचन, काय की सरलता का। ऐसा नहीं है कि जो मन में आया गड़बड़–सड़बड़, वह वचन से कह दिया। जैसे आपके मन में आ रहा है कि आप किसी को धक्का दें और आपने धक्का दे दिया, क्योंकि आपने ही तो कहा था कि सरलता होना चाहिए। जो मन में आया कर देना चाहिये। यह अर्थ नहीं है सरलता का। हमारी सरलता गड़बड़ा गई है। थोड़ा दिखावा, थोड़ा प्रदर्शन, बनावटीपन–ये सारी चीजें हमारे जीवन में शामिल हो गईं हैं। इन चीजों से हम कैसे बचें? दूसरों के साथ छल करने की, उन्हें धोखा देने की, ठगने की एक आदत हो गई है, उसे हम कैसे बदलें? यदि हमारी यह आदत छूट जावे तो सरलता तो अपना स्वभाव है। यही आर्जव धर्म है। हमारा व्यवहार सरल व मधुर होना चाहिये! माता–पिता का जैसा आचरण होता है, वैसे ही संस्कार बच्चों में भी आ जाते हैं। बुन्देलखण्ड में एक कहावत है "जाके जैसे बाप–मतारी, वाके वैसे लड़का।"

एक बहुत विख्यात चोर था। वह ट्रेन में चोरी करता था। एक बार वह ट्रेन में बैठकर दिल्ली से मुम्बई जा रहा था। एक चोरनी आई और उसके सामने वाली सीट पर आकर बैठ गई। चोर ने देखा कि यह महिला बहुत से गहने पहने है, आज रात में मैं इन्हें ही चुराऊँगा। चोरनी उसके हाव–भाव को देखकर समझ गई कि यह चोर है। थोड़ी देर बाद चोर बाथरूम गया। इतने में चोरनी ने अपने सारे गहने उतारकर एक थैले में रखकर चोर के सामान के बीच में रख दिये। चोर ने आकर देखा कि इसने अपने सारे गहने उतार कर रख लिये हैं। जब चोरनी बाथरूम गई, तो चोर ने उसका पूरा सामान देख लिया, पर उसे वे गहने नहीं मिले। सुबह जब चोर फिर से बाथरूम गया, तब चोरनी से वह गहनों का थैला निकालकर पुनः सारे गहने पहन लिये।

वे दोनों मुम्बई स्टेशन पर एक साथ उतरे। चोर ने उस महिला से पूछा–तुम कौन हो? रात में तुम्हारे गहने कहाँ चले गये थे? वह बोली–मैं चोरनी हूँ। मैं समझ गई थी कि तुम चोर हो, अतः मैंने अपने सभी गहने उतार कर एक थैले में रखकर तुम्हारे सामान के बीच में ही रख दिये थे और सुबह उठाकर पहन लिये। चोर बोला–मैं विख्यात चोर हूँ, पर आप तो हमसे भी बड़ी चोरनी निकलीं। क्या आप मुझसे शादी करना चाहतीं हो? चोरनी बोली–मुझे आपसे अच्छा सुन्दर हट्टा–कट्टा पति कहाँ मिलेगा? दोनों ने शादी कर ली। कुछ दिन बाद चोरनी डिलेवरी के लिये हास्पिटल में भर्ती हो गई। डाक्टरनी उसे डिलेवरी रूम में ले गई। डिलेवरी से पहले डाक्टरनी ने अपनी एक लाख रुपये की हीरे वाली अँगूठी उतारकर वहीं रख दी। बच्चा हो गया। डाक्टरनी ने देखा कि मेरी अँगूठी यहाँ नहीं है, तो वह चोरनी से बोली–इस कमरे में मैं, तुम

और यह बच्चा है, इसके अलावा अभी और कोई यहाँ आया नहीं, फिर मेरी अँगूठी कहाँ चली गई? चोरनी बोली—मैं चोरनी हूँ और मेरा पति चोर है। अतः हम दोनों के संस्कार इस बच्चे में भी आ गये हैं। इस बच्चे ने ही आपकी अँगूठी चुराई होगी। उस बच्चे की मुट्ठी खोलकर देखी तो उसमें वह अँगूठी मिली। बच्चे ने पैदा होते ही अँगूठी पर हाथ मारा और उसे अपनी मुट्ठी में बन्द कर लिया।

हमारे आचरण का प्रभाव बच्चों पर भी पड़ता है। इसलिये यदि हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे संस्कारवान बनें, तो हम अपने जीवन को सरल व पवित्र बनायें।

एक बार नैनागिर जी में शिविर लगा था। वर्णी जी ने एक बच्चे से पूछा कि ये बताओ जब तुम तीन वर्ष के थे, तब झूठ बोलते थे? वह बोला—नहीं। 4 वर्ष के हुये तब? नहीं। पाँच—छह वर्ष के हुये तब? थोड़ा—थोड़ा। और अब? अब तो भरपूर। उन्होंने हजारों व्यक्तियों की उस भरी सभा में उससे पूछा कि यह तो बताओ कि तुमने यह झूठ बोलना कहाँ से सीखा? वह बोला— मम्मी को देखकर, मम्मी जब पापा की जेब में से रुपये निकाल कर रख लेतीं और पापा जी पूछते, तब कह देतीं कि मैं क्यों निकालती? आपने किसी काम से खर्च कर दिये होंगे। जब मम्मी ऐसा करतीं तो मैंने भी मम्मी के पर्स में से पैसे निकालना शुरू कर दिया। जब वह मुझसे पूछें—क्यों, तुमने पैसे निकाले हैं? तब मैं भी कह देता कि मैं आपके पैसे क्यों निकालता? आप कहीं मंदिर में डाल आयीं होगी। इस तरह मम्मी पापा से झूठ बोलतीं और मैं मम्मी से झूठ बोल देता था। बस धीरे—धीरे आदत बन गई।

हमारे व्यवहार से बच्चे तुरन्त प्रभावित होते हैं। अगर बड़ों ने

सरलता नहीं सीखी, आर्जव गुण को नहीं समझा, तो बच्चों में भी आने वाला नहीं है।

आचार्य श्री ने लिखा है "A good mother is better then hundred teachers" एक अच्छी माँ उन सौ अध्यापकों से श्रेष्ठ है, जो शिक्षा देते हैं। अगर आप पर घर के कुसंस्कार पड़े हैं, फिर आप कितने ही उपदेश सुनो कोई असर होने वाला नहीं। मिट्टी जब तक कच्ची रहती है, गीली रहती है, तब तक उससे चाहे घड़ा बनो लो, चाहे कोई दूसरा बर्तन बना लो। पर बन जाने के बाद और अवा में पक जाने के बाद फिर परिवर्तन नहीं हो सकता, भले ही उसके टुकड़े हो सकते हैं।

मायाचारी व्यक्ति दूसरों को नहीं स्वयं को ही ठगता है। उसे दुर्गतियां में जाकर कष्ट भोगना पड़ते हैं। उसका कोई नाम तक नहीं लेना चाहता।

रावण ने छल करके सीता का हरण किया था। वह साधु–वेष बनाकर आया था। यदि वह साधु–वेष में नहीं आता तो क्या सीता उस रेखा को पार करतीं? नहीं।

अगर कोई सबसे अधिक विश्वासपात्र है, तो वह है साधु और उसमें आकर कोई ठग बन जाय, तो वह ठग नहीं रहा, उल्टा ठगाया जा रहा है। रावण ने सीता को नहीं ठगा, बल्कि वह स्वयं ठगाया गया। आज भी कोई अपने पुत्र का नाम रावण नहीं रखता, सूर्पनखा नहीं रखता। दोनों भाई बहिन थे। रावण की बहिन सूर्पनखा ने लक्ष्मण के साथ छल किया था, मायाजाल रचा था। वे दोनों नरक के घोर दुःख सहन कर रहे हैं। आजतक कोई भी रावण के नाम का व्यक्ति न हुआ है और न होगा।

मन में (हृदय में) हमेशा पवित्र विचार रखें और वाणी के द्वारा उन्हें बाहर प्रकट करें, यही आर्जव है, यही धर्म है। इसके विपरीत करने से अधर्म है। धर्म से स्वर्ग व मोक्ष तथा अधर्म से नरक व तिर्यंच गति का मार्ग प्रशस्त होता है। मायाचारी का फल तिर्यंच गति होता है। "माया तैर्यग्योनस्य"। यदि मायचारी करेंगे तो तिर्यंच गति का बन्ध होगा। और तिर्यंच माने क्या? पशु, पक्षी, घोड़ा, गधा, कुत्ता, सूकर आदि। कोई गधा बनना चाहता है क्या? नहीं, बिल्कुल नहीं, हम गधा आदि भी नहीं बनना चाहते, गाय, भैंस, भेड़ आदि भी नहीं बनना चाहते और मायाचारी भी नहीं छोड़ना चाहते।

आचार्य कहते हैं कहाँ जाना है? स्वर्ग में। पर टिकिट तो बताओ, कहाँ का है? टिकिट मायाचारी से खरीदी गई है। पहले गाड़ी तो देख लो कहाँ जा रही है यह, जिसमें बैठकर हम सफर कर रहे हैं। वह तो सीधी तिर्यंच गति की ओर जा रही है, गाड़ी का मुख तिर्यंच गति की ओर है। गाड़ी छूट भी गई है, चल भी रही है और हम कह रहे हैं कि हम स्वर्ग जा रहे हैं। मतलब यह है कि किसी को जाना है बाम्बे और वह बैठ जाये दिल्ली की गाड़ी में, तो क्या वह बाम्बे पहुँच जायगा? नहीं! बाम्बे जाने वाला देहली की गाड़ी में बैठा है और देहली का टिकिट खरीदा है तो वह बाम्बे नहीं पहुँचेगा।

इसी प्रकार जिसने तिर्यंच गति का टिकट खरीद लिया हो, मायाचारी कर रहा हो, वह स्वर्ग पहुँच जायेगा क्या? वह तो मूर्ख था। बम्बई जाना है और दिल्ली की गाड़ी में बैठ गया है और फिर भी कह रहा है कि मैं बम्बई जाऊँगा। पर हम भी कम नहीं हैं। मायाचारी छोड़ेंगे नहीं, क्रोध से मुख मोड़ेंगे नहीं, अभिमान को नीचा होने देंगे नहीं, लोभ को कम करेंगे नहीं और फिर भी यह दावा करते हैं कि हम जिनेन्द्र भगवान के भक्त हैं और हम भगवान बनकर

दिखायेंगे। पर ऐसा बिल्कुल नहीं हो सकता। मायाचारी से तिर्यंचगति का बन्ध होता है। एक बार मृदुमति मुनिराज ने मायाचारी की थी, जिससे उन्हें हाथी की पर्याय में जाना पड़ा।

हमारा ज्ञान थोड़ा है। हमें पता ही नहीं चलता कि हम मायाचारी कर रहे हैं। पैसे के कारण, यश के कारण हमारा रात–दिन इस मायाचारी में निकल रहा है और हमें पता भी नहीं चलता।

जब अपन लोग जाप देते हैं, तो वैसे बैठे होंगे आराम से, घूम रहे होंगे मन से कहीं, परन्तु किसी के पैर की आवाज मिलते ही सीधे बैठ जाते हैं। आप माला फेरकर देखना। जब माला फेरते हैं तो वैसे तो इधर–उधर देख लेंगे, नींद का झोंका भी लेते जावेंगे, परन्तु यदि कोई आपकी ओर देख ले, तो सीधे तनकर बैठ जायेंगे। यह क्या है? यह भी मायाचारी है। मायाचारी करने से स्वयं का ही अहित होता है।

आर्जव धर्म के सम्बंध में कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में एक गाथा आती है–

जो चिंतेई ण वक्कं ण कुणदि वक्कं ण जम्पदे वक्कं।
णय गोवदि णियदोषं, अज्जव धम्मो हवे तस्स।।

जो मन में कुटिल चिंतन नहीं करता, कुटिल कार्य नहीं करता, कुटिल वचन नहीं बोलता और अपने दोषों को नहीं छिपाता, उसके ही आर्जव धर्म होता है।

जो व्यक्ति सरल होता है, उसकी सल्लेखना अच्छी होती है। मरते समय उसे परेशानी नहीं होती। कम–से–कम मृत्यु के नाते ही अपने जीवन को सरल बना लें। सरलता आत्मा का स्वभाव है, वक्रता आत्मा का विकार। अनादिकाल से हमने वक्रता को ही सहचारी

बनाया है। अब यदि हमें मोक्ष मार्ग पर चलना है, तो वक्रता को छोड़कर सरलता को जीवन में अपनाना होगा। पानी का स्वभाव यद्यपि ठंडा होता है, परन्तु जब पानी अग्नि के सम्पर्क में आता है तो गरम हो जाता है। इसी प्रकार हमारी आत्मा का स्वभाव सरल है, मृदु है, कुटिलता से रहित है, परन्तु कषायों की संगति के कारण वह विकृत हो गया है। प्रायः देखा जाता है जिसको जैसा संग मिल जाता है, वह वैसा ही बन जाता है।

यूनान देश में एक चित्रकार ने एक सुंदर स्वस्थ बालक का चित्र बनाया। बालक के मुखमण्डल पर सरलता और सौम्यता झलक रही थी। अतः वह चित्र सजीव–सा प्रतीत होता था। सभी ने उसके चित्र को बहुत पसंद किया और उसे मुँहमाँगे पैसे दिये।

कुछ वर्षों के बाद उस चित्रकार ने सोचा पहले मैंने सुन्दर–से–सुन्दर बालक का चित्र बनाकर पुरस्कार प्राप्त किया था, अब मुझे भयानक–से–भयानक कुरूप व्यक्ति का चित्र बनाना चाहिये। वह चित्रकार सबसे भयानक व कुरूप व्यक्ति की खोज देश–विदेशों में करता–करता एक बंदीगृह में पहुँच गया। वहाँ उसे एक काला कलूटा बहुत ही डरावना कैदी नजर आया। वह चित्रकार ऐसे ही भयानक व्यक्ति की खोज में था। उसने पेपर और तूलिका लेकर उस वीभत्स मनुष्य का चित्र बनाना प्रारंभ किया।

वह कैदी बोला–आप मेरा चित्र क्यों बना रहे हैं? मुझ–जैसे कुरूप व्यक्ति का चित्र बनाकर आपको क्या मिलेगा? चित्रकार बोला बहुत वर्षों पहले मैंने एक बहुत ही सुन्दर बालक का चित्र बनाया था, अब मैं उसके विपरीत सबसे भयानक व कुरूप व्यक्ति का चित्र बनाना चाहता हूँ। मैं सभी जगह भटका, लेकिन तुम्हारे–जैसा कुरूप

आकृति वाला क्रूर व्यक्ति कोई नहीं मिला, अतः मैंने तुम्हारा ही चित्र बनाने का निश्चय किया है। कैदी ने कहा–चित्रकार जी! क्या आप उस बालक का चित्र दिखा सकते हैं? चित्रकार ने उस बालक के चित्र को निकालकर उसे दिखाया। चित्र देखते ही उसकी आँखों से आँसू टपकने लगे। वह दुःख के महासागर में डूब गया, चेहरे पर उदासीनता झलकने लगी। चित्रकार ने पूछा–आप चित्र देखकर रुदन क्यों कर रहे हैं? क्या बात है? कैदी बोला–चित्रकार जी क्या कहूँ? बालक का यह चित्र मेरे ही बचपन का है। कुसंग के प्रभाव से मैं ऐसा बन गया। मैं पहले कैसा था और आज कैसा हो गया हूँ? मेरी वह सुंदरता, सहजता, सरलता अब कहाँ चली गई? पहले लोग मुझे प्यार से देखते थे और आज घृणा से।

जिसको जैसा संग मिल जाता है, वह वैसा ही बन जाता है। भले व्यक्ति की संगति से मनुष्य भला बन जाता है तथा बुरे व्यक्ति की संगति से बुरा। अतः सभी को मायाचार और मायाचारी करने वाले व्यक्तियों की संगति छोड़कर, सरल परिणामों के द्वारा अपनी आत्मा की उन्नति और शिवगति का पात्र बनना चाहिये।

जैसे पाषाण में, पाषाण की सब प्रतिमायें हैं, जिसका विकास कर लो वही प्रकट हो जाती है। वैसे ही हम आत्माओं में भी हमारा सब कुछ है, जिसका विकास कर लो वही प्रकट हो जाता है। अतः सभी को सदा सत्–संगति करके अपने जीवन को पवित्र व सरल बनाना चाहिये।

मायाचारी व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति को सदा कुटिल बनाये रखते हैं और धोखा देकर एवं झूठ बोलकर अपनी कुशलता या चतुराई पर मुग्ध रहते हैं। पर उन्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि पर का ठगा जाना

या धोखे में आना तो उस व्यक्ति के कर्मोदय के अधीन है, परन्तु मायाचार करने वाले ने अपने आपको ठग लिया है और मायाचार के फलस्वरूप नरक तिर्यंचादि दुर्गतियों में जाकर असहनीय दुःख उठाना पड़ेंगे। यह मायाचारी हमेशा आत्मवंचना ही कराती है।

दुर्योधन ने पाण्डवों के प्रति मायाचारी करके उन्हें लाख के बने घर में भेज दिया था और एक लोभी ब्राह्मण को कुछ रुपये देकर उस मकान में आग लगवा दी थी। पाण्डव अपने पुण्य से महामंत्र के प्रभाव से बच निकले, परन्तु दुर्योधन की निन्दा आज तक हो रही है और वे सभी नरक में दुःख उठा रहे हैं।

मनुष्य मायाचार अनेकों कारणों से करता है। कभी अपने शत्रु से बदला लेने के लिये, कभी अपना बड़प्पन दिखाने के लिये, कभी दूसरे का धन विविध उपायों से छीनने के लिये और कभी वैभव वृद्धि के लिये मायाचार करता है। ये सभी जीव तिर्यंच गति की खोटी योनियों का कर्मास्रव करते हैं।

आर्जव धर्म को प्राप्त करने की प्रथम शर्त है, अपने भीतर से समस्त जड़ता को, मन की सारी कुटिलता को, वक्रता को हम हटा दें, हमेशा–हमेशा के लिये दूर कर दें, सरल परिणामी बनें, भोले–भाले बच्चों के समान एकदम निष्कपट सरल बनें। यदि हम सरल होकर जिनवाणी का स्वाध्याय करेंगे, तो अवश्य ही तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर दुःखों से मुक्त होकर सच्चे सुख को प्राप्त कर सकते हैं। दुःखों का मूल कारण तो हमारी अज्ञानता ही है।

एक आदमी नींद में सो रहा है। सपने में देखता है कि उसके मकान में आग लग गई। आग की लपटें निरन्तर बढ़ती जा रही हैं। उसका कमरा पूरी तरह आग की चपेट में आ गया है। वह चीख रहा

है। आप बताइये कि उस आग को बुझाने के लिये कितनी बाल्टी पानी की आवश्यकता है? एक भी बूंद पानी की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है केवल उस व्यक्ति को झकझोर कर जगाने की। नींद खुलते ही सारी आग स्वयमेव बुझ जायेगी। इसी तरह संसार का जितना भी दुःख है, वह सब अज्ञानता से प्ररित है। सच्चा ज्ञान होते ही संसार का सारा दुःख स्वयमेव नष्ट हो जाता है।

लोग कहते हैं कि जो सरल होता है, वह ठगाया जाता है। पर विचार करो कि सरल पुरुष ठगाया जाता है या मायाचारी पुरुष स्वयं ठगाया जाता है? सरल पुरुष के तो मान लो कुछ धन कम हो जायेगा, पर जिसने ठगा, वह तो बड़ा खोटा कर्म बंध करता है, संक्लेश करता है। एक बार चिरोंजाबाई वर्णीजी से बोलीं कि तुम जहाँ–चाहे ठगाये जाते हो, 10 आने सेर अनार मिलते हैं और तुम 12–13 आने सेर खरीदते हो। तो वर्णी जी बोले–माँ ठगाये जाते हैं, दूसरों को ठगते तो नहीं हैं। दूसरों को ठगने में पाप है, स्वयं ठगाये जाने में कोई पाप नहीं है। हम ठगाये गये तो हममें क्रूरता तो नहीं आई, पाप बंध तो नहीं हुआ, भविष्य का मार्ग तो साफ रहा। अगर दूसरों को ठगना चाहें, तो लुटिया डूब जाती है और दूसरे अपने को ठग लें, तो अपने ऊपर कोई पाप नहीं लगता।

थोड़ी–सी मायाचारी भी बहुत अनर्थ करने वाली है। अतः चाहे जितनी कठिनाइयाँ हो, परन्तु छल–कपट को मन से निकाल दो। जिसके प्रति भी कपट किया हो, उसको जाकर बता दो मेरा आपसे ऐसा कपट हुआ है।

कपट (छल) को कितना ही छिपाओ, पर वह ज्यादा देर तक छिप नहीं सकता और जब प्रकट होता है, तो इससे हमारी प्रामाणिकता,

हमारी विश्वासनीयता धीरे–धीरे करके नष्ट हो जाती है। बच्चों की कहानी में आता है –

एक आदमी हमेशा दूसरों को तंग करने के लिये खेत में से आवाज देता कि बचाओ–बचाओ, मुझे बचाओ, भेड़िया आ गया, मेरी भेड़ों को ले गया। आस–पास के सब लोग आकर इकट्‌ठे हो जाते, तो वह हँसने लगता कि अच्छा बुद्धू बनाया, भेड़िया नहीं आया। जब एक दिन सच में ही भेड़िया आ गया, तो कोई मदद करने नहीं आया।

यह बहुत सीधी–सी चीज है कि हम दूसरों के साथ छल–कपट करेंगे, धोखा देंगे और इसमें आनन्द मानेंगे, तो हमारी विश्वसनीयता और प्रामाणिकता दोनो ही धीरे–धीरे खत्म हो जायेंगीं।

माया कषाय का वर्णन करते हुये आचार्य शुभचन्द्र महाराज ने लिखा है–

जन्मभूमिर विद्यानाम कीर्तेर्वास मंदिरं,
पापपंक महागर्तो निकृतिः कीर्तिता बुधैः।
अर्गले वाप वर्गस्य पदवी श्वभ्रवेश्मनः
शीलशालि वने वह्निर्मायेे वैभव गम्यताम्।।

मायाचारी को इस प्रकार जानो–वह समस्त अविद्याओं की जन्मभूमि है, अपयश का निवास स्थान है, पापरूप कीचड़ का महान गड्ढा है, मुक्तिद्वार की अर्गला है, शीलरूपी शालिबन को जलाने के लिये अग्नि के समान है। ऐसी मायाचारी से सदा दूर रहना चाहिये।

मायाचारी ज्यादा समय तक नहीं चलती। एक पिता अपने लड़कों से कहता था कि भाई, तुम लोग पढ़ा करो। यदि पढ़ोगे–लिखोगे

नहीं तो अज्ञानी रह जाओगे और अज्ञानियों की कोई पूछ नहीं होती।

जब बच्चे छोटे होते हैं, माता–पिता पढ़ने को कहते हैं, तब वह यह समझते हैं कि यह अपने लिये पढ़ा रहे हैं, इसलिये वह स्कूल नहीं जाते। एक राजपुरोहित के चार लड़के थे। वे स्कूल नहीं जाते थे। जाते भी थे तो रास्ते में खेलने लग जाते थे। थोड़े बड़े हुए तो किताबों के पैसे लिये, फीस के पैसे लिये और कहाँ जा रहे हैं? पिक्चर हाल में। एक दिन पिता का स्वर्गवास हो गया। पिता राज्य पुरोहित था, राजा ने सोचा उसी ब्राह्मण के पुत्रों में से किसी को राज्य पुरोहित का पद दे दिया जाय। चारों लड़कों ने मीटिंग की कि भइया, राजपुरोहित बनना है, अपन तो कुछ जानते नहीं। तब बड़ा लड़का बोला कि मैं तो जानता हूँ। एक बार पिता जी के साथ गया था, ज्यादा तो याद नहीं रहा है, "ओम् नमो स्वाहा" ऐसा मुझे याद है, तो इण्टरव्यू में पहला नम्बर मेरा आयेगा। दूसरा बोला–जब तुम बोलोगे "ओम् नमो स्वाहा" तब मैं कहूँगा, जो तुमने कही, वो ही स्वाहा। तीसरे ने कहा–तुम दोनों का नम्बर नहीं, इण्टरव्यू में पहला नम्बर मेरा आयेगा, राजपुरोहित की पगड़ी मेरे सिर पर बंधेगी। दोनों बोले–भाई तुम क्या कहोगे? वह बोला–बड़े भइया कहेंगे ओम् नमो स्वाहा, तुम कहोगे जो इनने कही, वो ही स्वाहा और मैं कहूँगा कि ऐसी कब लों चलेगी स्वाहा। और तब चौथा बोला–आप तीनों फैल होंगे, इण्टरव्यू मे पहला नम्बर मेरा आने वाला है। राजपुरोहित मैं बनूँगा। वे तीनों बोले–भाई! तुम क्या कहोगे? कैसे राज्य पुरोहित का सेहरा तुम्हारे सिर पर बँधेगा? वह बोला–जब तुम लोग अपनी–अपनी बात कहोगे, तो मैं धीरे से कहूँगा कि जब लौं चलेगी तब लौं ही स्वाहा। यहाँ बात हँसने की नहीं, जरा समझने की है।

यह हमारी धोखा–धड़ी, यह हमारी मायाचारी, यह हमारा छल–कपट कब तक चलेगा?

लोक में कोई ऐसा पदार्थ नहीं, जिसको पाने के लिये छल–कपट करना चाहिये। सरल भाव में रहोगे, तो सदा आनन्द रहेगा और भविष्य भी अच्छा रहेगा। छल–कपट न करना, इस सरलता में मनुष्य कितना प्रसन्न रहते हैं? जबकि मायावी पुरुष सदा आकुलित रहते हैं। और वे एक माया को छुपाने के लिये अनेक मायाचार करते हैं। मायाचारी मनुष्य अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये अधम–से–अधम कार्य करने के लिये भी तैयार हो जाता है।

किसी जंगल में एक आदमी भटक गया, रास्ता भूल गया। वह भाग रहा है। सुबह से शाम हो गई, लेकिन रास्ता नहीं मिला। आदमी की दौड़ बड़ी अंधी होती है। वह भागता है लेकिन पहुँचता कहीं नहीं है। इतना ध्यान रखना, भागने से कुछ नहीं मिलेगा। कितना भी भागो, लेकिन भागकर जाओगे कहाँ? भागने से आदमी नहीं पहुँचता, बल्कि ठहरने से आदमी पहुँचता है। ठहरने का अर्थ यही है कि वह पहुँच गया, अब कहीं नहीं जाना। पसीने से लथपथ घबराया हुआ वह आदमी भाग रहा है, क्योंकि उस आदमी के पीछे शेर लगा हुआ है। भागते–भागते वह एक पेड़ के नीचे पहुँचता है और देखता है उस पेड़ पर एक बंदर बैठा है। बंदर आदमी की भाषा समझता है। उस आदमी ने आवाज लगाई कि मेरी रक्षा करो, मुझे बचा लो, शेर मेरे पीछे लगा हुआ है, वो मुझे खा जायगा, मुझ पर दया करो।

आज आदमी एक जानवर से सहायता माँग रहा है। आदमी भी कितना मूर्ख है कि वह अपना भविष्य जानवर से पूछता है। सड़क के

किनारे एक ज्योतिषी तोते को लेकर बैठता है। कुछ पर्चियां में आदमियों का भविष्य लिखा है। वह तोता एक चिट उठाता है और आदमी के भविष्य का निर्माण कर देता है।

एक नासमझ कहलाने वाला नांदिया सिर हिलाकर आदमी के बिगड़े काम बना देता है। पाँच का नोट दिखाओ तो बैल सिर हिलाकर हाँ कर देगा, नोट न दिखाओ तो सिर न हिलाकर न कर देगा। कितना अज्ञानी है आदमी कि वह एक बैल के सिर हिलाने न हिलाने पर अपनी जिन्दगी का फैसला कर लेता है। समझदार आदमी का भविष्य एक नासमझ कहे जाने वाले जानवर के हाथ में हो गया है।

उस आदमी ने बंदर से सहायता माँगी। बंदर को दया आ गई और उसने अपना हाथ बढ़ाकर उस आदमी को पेड़ पर बिठा लिया। शेर ने देखा कि बंदर आदमी को पेड़ पर चढ़ा रहा है, तो उसने कहा–मूर्ख बंदर! यह मेरा शिकार है और तू इसे पनाह दे रहा है, इस आदमी से बच। आदमी जानवर से भी ज्यादा खतरनाक होता है। आदमी जानवर को ही नहीं, आदमी को भी सुख से नहीं रहने देता।

एक आदमी और कुत्ते में इतना ही अंतर है। कुत्ता अपरिचित को देखकर भौंकता है, अपरिचित को काटता है, जबकि आदमी अपरिचित को देखकर मुस्कराता है और परिचित को देखकर भौंकता है, काटता है। कुत्ते का काटा बच भी जाये, पर आदमी का काटा नहीं बचता। कुत्ता अपने मालिक से वफादारी रखता है, पर आदमी मालिक को भी नहीं छोड़ता। शेर ने कहा–इस आदमी पर ज्यादा विश्वास न कर, इसे पनाह न दे। यह वो आदमी है जो हम पर जुल्म

करता है। इसलिये बंदर! तू इस आदमी को धक्का दे–दे, मैं इसे खाकर चला जाऊँगा।

बंदर बोला–नहीं वनराज! मैं इस आदमी को धक्का नहीं दे सकता। यह मेरी शरण में है, मैं इसके साथ विश्वासघात नहीं कर सकता। इसलिये मैं इसे धक्का नहीं दूंगा। बन्दर ने कहा–मुझे नहीं मालूम धर्म क्या है, शास्त्र क्या है, पुराण क्या है? मैं तो इतना जानता हूँ कि शरण में आये व्यक्ति के साथ विश्वासघात नहीं करना चाहिये। शेर ने कहा–अभी भी वक्त है, तू धक्का दे–दे। बंदर ने कहा–मैं नहीं दे सकता धक्का। शेर वहीं पेड़ के नीचे बैठ गया। बोला–कब तक नहीं उतरेगा, तू बंदर है, तू सारी रात पेड़ पर रह सकता है, पर ये आदमी नहीं रह पायेगा। कुछ समय बाद बंदर को नींद आ गई। शेर ने देखा बंदर सो रहा है। उसने आदमी से कहा देख, मुझे तो भूख लगी है, मुझे भोजन चाहिये। यदि तुझे अपनी जान प्यारी हो, तो इस बंदर को धक्का दे–दे। मैं इसे खाकर चला जाऊँगा और तेरी जान बच जायेगी। शेर की बात सुनकर आदमी ने कहा–ठीक है। इसमें क्या दिक्कत है और मैंने सुना भी है कि यदि जानवर का पेट भर जाये तो वह किसी का शिकार नहीं करता। आदमी की ईमानदारी बड़ी जल्दी गायब हो जाती है, बड़ी कठिनाई है। और उस चालाक आदमी ने बंदर को धक्का दे दिया। बंदर तो स्वभाव से चंचल होते हैं। जैसे ही उसे धक्का दिया, वह दूसरी डाल पकड़कर लटक गया। शेर ने बंदर से कहा–देख मैंने तुझसे पहले ही कहा था कि इस आदमी पर इतना विश्वास मत कर, आदमी बड़ा खतरनाक होता है। तूने इसे शरण दी और ये तुझे मरण दे रहा है।

जैसे ही बंदर ने शेर की बात सुनी, वह सोच में पड़ गया। शेर ने कहा–सोचते क्या हो? अब भी समय है, तू इस आदमी को धक्का

देदे। ये वह आदमी है, जो कोड़े मार–मारकर तुम्हें नाचना सिखाता है, डमरू बजा–बजाकर चौराहों पर नचाता है, फिर भी तूने उस पर विश्वास कर लिया।

बंदर ने शेर से कहा–नहीं, वनराज! मैं इस आदमी को धक्का नहीं दूँगा, भले ही ये हम पर अत्याचार करे। इंसान अपनी इंसानियत भूल जाये, पर पशु अपनी पशुता नहीं भूलेगा। इस आदमी ने अपना धर्म छोड़ दिया है, पर मैं जानवर हूँ, मैं अपना धर्म नहीं छोडूंगा और मैं इसे धक्का नहीं दूंगा। इतना अधम व निकृष्ट कार्य मनुष्य ही कर सकता है, पशु नहीं।

इससे क्या मालूम पड़ता है? हमारे भीतर आज दूसरे के प्रति धोखा देने का, छल करने का भाव कितना अधिक बन गया है। कहानी लिखने वाले को पशु में मनुष्य से अधिक विश्वास दिखाना पड़ा, मनुष्य को धोखा देने वाला बताना पड़ा। जबकि मनुष्य को विश्वासी होना चाहिये था, ईमानदार होना चाहिये था। जिसका जीवन सरल होता है, वह सभी का स्नेहपात्र होता है।

एक बार यमुना के किनारे श्रीकृष्णजी बंशी की तान छेड़ रहे थे। जिसको सुनकर मृग आदि मग्न हो रहे थे। उसी समय गोपियाँ पानी भरने के लिये यमुना नदी पर गईं। गोपियों ने जैसे ही कृष्ण के अधरों में लगी वंशी को देखा, तो ईर्ष्या से जल गईं कि, अरे! हम लोग इतने सजे–धजे, फिर भी कृष्ण से इतने दूर और यह बंशी काली–कलूटी, छेद–पर–छेद फिर भी कृष्ण–कन्हैया का इतना प्यार पा रही है।

श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि बात ज्यादा कुछ नहीं है। ये जो बांसुरी है, भले ही रंग में काली–कलूटी, दुबली–पतली–सी, छेद–पर–छेद

हैं किन्तु इसके तीन गुण मुझे बड़े प्यारे लगते हैं – पहला गुण तो इस वंशी का यह है कि कभी भी यह बिना बुलाये नहीं बोलती। इसका दूसरा गुण यह है कि जब भी यह बोलती है तो मीठा, मधुर ही बोलती है। मधुर भाषी होना इसका दूसरा श्रेष्ठ गुण है। और तीसरा सबसे अच्छा गुण यह है कि वंशी के अन्दर कोई भी ग्रंथि, कोई भी गाँठ नहीं हैं, आर–पार पोली है। जैसा बाहर साफ–सुथरा सरल जीवन है, अन्दर का भी ऐसा ही साफ–सुथरा सरल जीवन है, अंदर कोई ग्रंथि/गाँठ नहीं है।

जिसका जीवन ग्रंथि/गाँठ से रहित एकदम सरल होता है, उसके जीवन में आर्जव धर्म आता है, और वह सभी के स्नेह और प्रेम का पात्र बनता है। यह आर्जव धर्म वंशी के तीन गुणों को लेकर हमारे जीवन में आना चाहिये।

हमारे जीवन में बिना बुलाये बोलने की प्रवृत्ति नहीं होना चाहिये। हम जब भी बोलें, अत्यन्त मीठा बोलें और हमारा जीवन बिना गाँठ के निश्छल व्यवहारी हो, भीतर–बाहर से एक–जैसा साफ–सुथरा हो तो ही जीवन में आर्जव धर्म उपलब्ध हो सकता है।

मायाचारी व्यक्ति दूसरों को ठगने का प्रयत्न करता है, पर अन्त में वह स्वयं ही ठगा जाता है। दूसरों को ठगकर, धोखा देकर हम भले थोड़ी देर के लिये आनन्दित हो जायें और अपने को चतुर मानने लगें, पर यह ध्यान रखना भले ही हम दूसरों को छलें, पर छाले तो अपनी ही आत्मा पर पड़ेंगे। जो दूसरों को ठगने के लिये मायाजाल रचता है, वह अन्त में स्वयं ही उस जाल में फँस जाता है।

एक किसान ने अपना कुआँ वाला खेत बेचा, सौदा तय हुआ। हिसाब किताब चुक गया। खरीददार किसान जब कुँए पर पानी भरने

गया तो बेचने वाले किसान ने व्यवधान खड़ा करते हुये कहा कि मैंने तो कुआँ और जमीन बेची है, उसका पानी नहीं। खरीददार किसान को यह बात समझ में नहीं आई। उसने उस किसान को समझाना चाहा लेकिन वह अपनी बात पर अड़ा रहा। शोर शराबा होने लगा, जिसे सुनकर ग्रामीणजन एकत्रित हो गये। समस्या सबके सामने रखी गयी। सबने समझाया, पर वह मानने को तैयार नहीं हुआ और जोर–जोर से कहने लगा कि मैंने तो सिर्फ जमीन और कुआँ बेचा है, पानी नहीं। यह विचित्र बात किसी को समझ में नहीं आ रही थी, क्योंकि न कभी ऐसा सुना था और न देखा था। जमीन बेचने का मतलब खरीददार का कुँए व पानी पर अधिकार स्वयमेव हो जाता है। उसने उलझाने के लिये यह मायाजाल रच लिया। पर यह बात सच है कि यदि व्यक्ति सरल और सज्जन हो तो उसकी बुद्धि भी उसका साथ देती है। खरीददार किसान का दिमाग दौड़ा और उसने कहा कि गाँववासियो! आप सभी इनके कहे को ध्यान से सुनें, 'इन्होंने जमीन और कुआँ मेरे लिये बेचा है, पानी नहीं, तो मैं आप सबके सामने इनसे कहता हूँ कि इतने दिनों से ये मेरे कुँए में पानी रखे हुए हैं, इसका किराया मुझे मिलना चाहिये और दूसरी बात आज से ये मेरे कुँए को खाली करें, कुँए में से सारा पानी निकालकर ले जायें, किन्तु इतना भी ध्यान रखें कि यदि एक बूंद पानी भी हमारी जमीन पर गिरा, तो उसका हर्जाना इन्हें देना पड़ेगा।' फिर क्या था? दूसरों को फँसाने के लिये रचा गया जाल खुद को ही फँसाने वाला हो गया। अतः मजबूर होकर उसे क्षमा माँगनी पड़ी और समझौते का रास्ता अपनाना पड़ा। कषाय तो कषाय होती है, चाहे क्रोध हो, चाहे मान हो, चाहे माया हो, सभी आत्मा का अहित करने वालीं होती हैं। हमें सदा इनसे बचने का प्रयास करना चाहिये।

मायाचार से युक्त पुरुष प्रायः ऊपर से हितमित वचन बोलता है और सौम्य आकृति बनाता है, अपने आचरण से लोगों में विश्वास उत्पन्न करता है, किन्तु मौका पाते ही उन्हें धोखा दे देता है। मायावी पुरुष का स्वभाव बगुले के समान होता है। अर्थात् जैसा बगुला पानी में एक पैर से खड़ा रहता है और मछली उसे साधु समझकर ज्यों ही उसके पास जाती है, त्यों ही वह छद्मवेषी बगुला झट से उन मछलियों को खा जाता है। बिल्ली चुपचाप दबे पाँव मौन धारण किये हुये बैठी रहती है, परन्तु जैसे ही कोई चूहा उसके निकट पहुँचता है, वह उसे झट से खा लेती है। इस पर एक दृष्टान्त दिया जाता है –

एक बार एक बिल्ली किसी के घर में घुसकर दूध की हाँडी में मुँह डालकर दूध पी रही थी कि इतने में मालिक आ पहुँचा। उसके डर से बिल्ली अपना मुँह शीघ्रता से निकालने लगी कि हाँडी का घेरा टूटकर गले में एक अद्भुत हार बन गया। गले में हाँडी का घेरा टंगा रहने के कारण वह बिल्ली अधिक दौड़–कूद नहीं कर सकती थी और इसी कारण वह किसी चूहे को न पकड़ सकने के कारण भूखी मरने लगी। अन्त में उसने एक ऐसा षड्यन्त्र रचना प्रारम्भ किया कि वह चूहों के एक बिल के सामने जाकर बैठ गई। बिल्ली को देखकर चूहे डर गये और बिल में न जाकर वापिस लौटने लगे। तब बिल्ली उन चूहों से बोली–तुम लोग मुझसे डरो मत। मैं अभी हाल में बनारस तीर्थयात्रा करने के लिये गई थी। वहाँ पर जाकर मैंने हिंसा ना करने का व्रत ले लिया है। यदि विश्वास न हो, तो देखो हमारे गले में यह माला लटक रही है।

उस बिल्ली की बातों में आकर सभी चूहे निर्भय होकर बिल में प्रवेश करने लगे। पहले तो उसने दस–पाँच चूहों को छोड़ दिया,

किन्तु बाद में वह अनेक चूहों को चट कर गई। जब सभी चूहे बिल में जा पहुँचे, तब उनमें से जो सबसे प्रधान चूहा था, वह नहीं मिला। उस प्रधान चूहे की पूंछ कटी हुई थी, अतः उसे न देखकर सभी चूहे परस्पर में शंका करने लगे कि इसमें कुछ कारण अवश्य है। अतः अपनी गणना करनी चाहिये। जब वे गिनने लगे, तो उसमें से बहुत से चूहे कम हो गये थे। उन चूहों ने समझ लिया कि यह सारी करामात इस छद्‌मवेषधारी बिल्ली की है। इसलिये वे चूहे बिल के मुख तक जाकर, परन्तु अपने शरीर को बिल में ही छिपाकर, यह श्लोक पढ़ने लगे –

ब्रह्मचारिन्नमस्तुभ्यं कण्ठे केदारिकंकड़म्।
सहस्त्रेषु शतन्नास्ति छिन्न पुच्छा न दृश्यते।।

कंठ में केदारि कंकड़ धारण करने वाले हे धूर्त ब्रह्मचारी! तुम्हारे लिये नमस्कार है। हमारे हजारों चूहों में से सैकड़ों को तूने नष्ट कर दिया और उसके साथ–साथ तूने कटी हुई पूँछ वाले मेरे नेता को भी समाप्त कर दिया। इस तरह बिल्ली का मायाचार जानकर चूहों ने उसका साथ सदा के लिये छोड़ दिया।

विश्वास के ऊपर ही सारे संसार का कार्य चल रहा है। विश्वास समाप्त हो जाने पर, आदमी चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, पर उसकी कदर कोई नहीं करता। कपटी मनुष्य किसी–न–किसी को फँसाने की चेष्टा किया करता है, जिससे वह सदैव दुःखी रहता है और तिर्यंच गति में जाकर अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता है। इन दुःखों से बचने के लिये अपनी कुटिलता का त्याग करो। मन, वचन, काय पूर्वक कुटिलता का त्याग करना ही आर्जव धर्म है। इस आर्जव धर्म को धारण करने से कर्मों का क्षय हो जाता है और इससे

पारलौकिक सुख की प्राप्ति के साथ–साथ इहलौकिक सुख की भी प्राप्ति होती है।

कुछ लोगों का कहना है कि बिना कपट किये व्यापार नहीं चल सकता, किन्तु उनका यह कहना बिल्कुल झूठ है। सच्चे व्यापारी की दुकान प्रारम्भिक अवस्था में भले ही कुछ कम चले, परन्तु उसकी सत्यता प्रकट होते ही सभी लोग दूर–दूर से उसका नाम पूछते हुये बे–रोक–टोक उसकी दुकान पर पहुँच जाया करते हैं। परन्तु जो व्यापारी इसके विपरीत बेईमानी करने लगता है, उसकी पोल थोड़े ही दिनों में खुल जाती है और उसके बाद कोई उसके पास नहीं जाता। इस प्रकार धीरे–धीरे उसकी दुकान एकदम ठप्प हो जाती है, जबकि एक ईमानदार साधारण व्यापारी की दुकान दिन–रात बढ़ती रहती है और एक–दिन वही छोटा–सा व्यापारी बहुत बड़ा प्रतिष्ठित आदमी बन जाता है।

मायाचारी से कमाया धन, मायाचारी से की तपस्या, सब व्यर्थ होती है। एक कहावत है – 'जैसी करनी, वैसी भरनी।' तुम जैसा बोओगे, वैसा ही काटोगे।

एक वन में एक साधु तपस्या करता था। उसको देवों द्वारा स्वादिष्ट भोजन पहुँचाया जाता था। साधु भोजन करके अपनी तपस्या में लग जाता था। उसी वन में एक गड़रिया दूसरों की भेड़ें चराया करता था। वह प्रतिदिन देवों द्वारा आये साधु के लिये स्वादिष्ट भोजन को देखा करता था। एक दिन उसने विचार किया कि मैं भी यदि घरबार छोड़कर वन में साधु बनकर बैठ जाऊँ तो मुझे भी ऐसा स्वादिष्ट भोजन प्रतिदिन खाने को मिलेगा। मैं दिन–भर परिश्रम करके ज्वार–बाजरे की रोटियाँ खाकर पेट भरता हूँ। यह

सोचकर वह अपना घरबार छोड़कर, साधु बन कर उसी वन में आ बैठा।

जब उसके भोजन का समय हुआ, तो देव उसके सामने ज्वार–बाजरे की रोटी खाने के लिए ले आये। अपने सामने ज्वार–बाजरे की रोटियाँ देखकर उस गड़रिया साधु का मन जल–भुन गया। उसने क्रुद्ध स्वर में कहा कि देखो, देव लोग भी मायाचारी, पक्षपात करते हैं। किसी साधु को स्वादिष्ट भोजन खिलाते हैं और किसी को सूखी ज्वार–बाजरे की रोटियाँ देते हैं।

उसी समय आकाशवाणी हुई कि जो जैसा त्याग करता है, वह वैसा ही फल पाता है। वह साधु बिना भोजन की इच्छा के ईमानदारी से राजपाट छोड़कर, स्वादिष्ट भोजन छोड़कर साधु बना था, इसलिये उसको स्वादिष्ट भोजन मिलते हैं। तू अच्छे भोजन की इच्छा से, मायाचारी से ज्वार–बाजरे की रोटियाँ छोड़कर साधु बना है इसलिए तुझे ज्वार–बाजरे की रोटियाँ मिल रही हैं। जो जैसा करता है, वह वैसा फल पाता है।

'वृहदारण्यक उपनिषद्' की भूमिका में लिखा है कि जिस समय याज्ञवल्क विरक्त हुआ और अपनी सारी सम्पदा पत्नी को देने लगा, तो पत्नी पूछती है कि आप जो कुछ दे रहे हो, इस सम्पदा से क्या मैं अमर हो जाऊँगी? तो याज्ञवल्क ने उत्तर दिया कि नहीं। तब उसने कहा कि मैं जिस तरह अमर हो सकूँ, मुझे तो वह चीज दीजिये। इस सम्पदा से मुझे क्या प्रयोजन? तब फिर उसे अध्यात्म का उपदेश दिया गया।

आर्जव धर्म वहाँ है, जहाँ कुटिल परिणाम का त्याग हो जाता है। जहाँ ज्ञान स्वरूपी यह आत्मा उपयोग में हो, वहाँ आर्जव धर्म होता

है। यह तभी सम्भव है, जब परिणामों में सरलता हो। अतीन्द्रिय सुख से भरपूर आत्मा का दर्शन उसे ही होता है, जो कुटिल परिणामों को छोड़कर अत्यन्त सरल व शान्त हो जाता है।

मायाचारी प्राणी करता तो प्रयत्न दूसरों के बिगाड़ का है, पर हो जाता है स्वयं का बिगाड़।

एक शेर कीचड़ में फँसा था और वहीं किनारे पर एक गीदड़ खड़ा था। शेर ने गीदड़ से कहा कि तुम मेरे पास आ जाओ। तब गीदड़ बोला–मामा! तुम मुझे खा जाओगे, इसलिये मैं तो नहीं आता। तब शेर बोला कि जो खाये, उसकी सन्तान मर जायेगी। गीदड़ फिर भी नहीं आया। तब शेर उसके ऊपर झपटने के लिये उछला, तो उसका पेट पास खड़े हुये एक ठूंठ में धँस गया। तब गीदड़ हँसने लगा। शेर ने पूछा कि तुम हँसते क्यों हो? गीदड़ बोला–मामा! तेरे बाप ने किसी को दगा दिया होगा, इसलिये तू मर रहा है। गीदड़ उसके छल को जानता था, इसीलिये उसकी तो जान बच गई और वह शेर खुद ही मरने लगा। कपटी दूसरे को क्या धोखा देगा, वह तो स्वयं को ही धोखा देता है। फल तो उसे अपने परिणामों का भोगना ही पड़ेगा।

जिसका आत्मा कुटिल है, उसके अन्दर अति सरल आर्जव धर्म कभी भी निवास नहीं कर सकता, जैसे टेढ़े म्यान के भीतर सीधा खड्ग कभी नहीं जा सकता। जिसका मन आर्जव गुण से युक्त है, वह प्रत्येक स्थान पर आदर पाता है, उसमें अनेक गुण स्वतः आकर निवास करते हैं और वह प्राणीमात्र का विश्वासपात्र होता है।

सब कुछ जानते हुये भी हम इस माया कषाय को नहीं छोड़ रहे हैं। बहूरूपियापना हमारा स्वभाव–सा बन गया है। असलियत का

पता लगाना काफी कठिन हो गया है। व्यापार की भाषा मे, रिश्तेदारी के संबंधों में तथा अड़ोस–पड़ोस में बसने वालों के प्रति हम किस–किस तरह मायाचारी से पेश आते हैं, यह भगवान ही जानते हैं या फिर हमारा खुद का मन जानता है। और मजे की बात तो यह है कि इस तरह करने में ही हमें आनन्द आता है। सीधे में नहीं, टेड़े–मेड़े चलने में ज्यादा रस आता है। सड़क पर अपनी गाड़ी यदि लहराते हुये न चलें तो फिर गाड़ी चलाने का मजा ही क्या? गाड़ी का आनन्द तो उसे लहराकर चलाने में ही आता है। और यही हमारे कुटिल होने की पहचान है। हम पूजा में पढ़ते हैं –

करिये सरल तिहुँ जोग अपने, देख निर्मल आरसी।
मुख करे जैसा, लखै तैसा, कपट–प्रीति अंगार-सी।।

दर्पण साफ सुथरा है, इसलिये उसमें प्रतिबिम्ब झलकाने की क्षमता है, ऐसे ही साफ–सुथरी आत्मा में परमात्मा का प्रतिबिम्ब झलकता है। मायाजालों में उलझी आत्मा में यह कदापि संभव नहीं।

संसार में तो यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो जैसा करता है, वैसा पाता है। यदि कोई अपना मुँह टेड़ा करे और अपेक्षा रखे कि दर्पण में सीधा सुन्दर चेहरा दिखे, तो यह कैसे संभव हो सकता है? आप टेड़ा काम करेंगे, टेड़ा फल पायेंगे। यदि स्वच्छ चेहरा होगा तो स्वच्छ छवि दिखेगी। 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।'

जब हम किसी के बारे में गलत विचार करते हैं, तो सामने वाले को भी उसका आभास हो जाता है। हमारी मानसिक विचार शक्ति का प्रभाव दूसरों पर बहुत जल्दी पड़ता है। जिस व्यक्ति की भली अथवा बुरी जैसी भी विचार–धारा होगी, सामने वाले की भी वैसी ही

हा जायेगी।

एक बुढ़िया सिर पर पोटली रखे धीरे–धीर चली जा रही थी। बाझ के कारण वह थक चुकी थी, इतने में एक घुड़सवार बाजू से निकला। बुढ़िया ने कहा–बेटा ! मरी यह पोटली घोड़े पर रख लो, इस अगले गाँव छाड़ देना, मैं धीरे–धीरे आ जाऊँगी। उस घुड़सवार ने बुढ़िया की बात सुनी – अनसुनी की और यह कहता हुआ आगे बढ़ गया कि जब बोझा ढोते नहीं बनता तो इतना लाद कर क्यों चलती हो। मैं क्या किसी का नौकर हूँ, जो बोझा ढोता रहूँ? और घुड़सवार आगे बढ़ गया। आगे पहुँचने पर अचानक उसके मन में भाव आया कि बुढ़िया तो अकली है, पुरान लोग हैं, पोटली में माल जरूर रखा होगा। यहाँ कौन देख रहा है कि बुढ़िया ने मुझे पोटली दी है? और जब तक यह गाँव पहुँचेगी, तब तक मैं कहीं–का–कहीं पहुँच जाऊँगा। वह वापस आया और बड़े प्रेम से बुढ़िया से बोला – अम्मा जी! उस समय जब आपने कहा था, मैं समझ नहीं पाया था, इसलिये मना कर दिया था, लाओ अब पोटली, मैं अगले गाँव छोड़ दूँगा। अब तक बुढ़िया संभल चुकी थी। वह बाली–रहने दे, बेटा! अब मैं ही ले जाऊँगी। घुड़सवार बोला–अर अम्मा जी! यहाँ पर अभी कोई नहीं आया, किसने आकर क्या कह दिया जा तुम मना करने लगीं? बुढ़िया बोली–जिसने आकर तरे से यह कह दिया कि बुढ़िया अकेली है, उसकी पोटली ल लो, उसी न मुझ से भी कह दिया कि सावधान, इस अपरिचित व्यक्ति को अपनी पोटली मत दना।

यह है हमार परिणामों का प्रभाव। बुढ़िया का मन सरल था, इसलिये वह प्रसन्न रही, किन्तु घुड़सवार के मन मं कुटिलता आई, जिससे वह बुढ़िया को ठगना चाह रहा था, पर ठगने वाला स्वयं ही ठगा–सा रह गया।

हमारे मन का प्रभाव निश्चित रूप से सामने वाले पर पढ़ता है। अतः हम अपने मन को सदा पवित्र व प्रसन्न रखें। मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सों करिये। यह उन्हीं के लिये कहा गया है, जिनका मन इतना पवित्र हो गया है कि जो बात उनके मन में आई है, यदि वह वाणी में भी आ जाय तो फूलों की वर्षा हो और यदि उसे कार्यान्वित कर दिया जाय, तो जगत निहाल हो जावे।

जिनका मन अपवित्र है, यह उपदेश उन्हें मन की विकृतियों को बाहर लाने के लिये नहीं है, बल्कि इसका आशय मात्र यह है कि मन को इतना पवित्र बनाओ कि उसमें कोई खोटा भाव आवे ही नहीं।

वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति मन में आये खोटे भावों को रोकने का प्रयत्न करता ही है। पर कभी–कभी जब मन भर जाता है, वह भाव मन में समाता नहीं, तो वाणी में फूट पड़ता है। एक बात यह भी है, कि जब कोई भाव निरन्तर मन में बना रहता है, तो फिर वह वाणी मैं फूटता ही है, उसे रोकना संभव नहीं हो पाता। जो जहाँ से आते हैं, वहाँ की बातें उनके मन में छाई रहती हैं। अतः वे सहज ही वहाँ की चर्चा करते हैं। यदि कोई आदमी अभी–अभी अमेरिका से आया हो, तो वह बात–बात में अमेरिका की चर्चा करेगा। भोजन करने बैठेगा तो बिना पूछे ही बतायेगा कि अमेरिका में इस तरह खाना खाते हैं, चलेगा तो कहेगा कि अमेरिका में इस प्रकार चलते हैं। कुछ बाजार से खरीदेगा तो कहेगा कि अमेरिका में तो यह चीज इस भाव में मिलती है आदि।

यही कारण है महाराज दिन–रात आत्मा का ही चिन्तन–मनन–अनुभवन करते रहते हैं। अतः उनकी वाणी सदा आत्म कल्याण करने वाली होती है और विषय–कषाय में विचरण करने वाले मोही जन

विषय–कषाय की ही चर्चा करते हैं। हम अपने मन, वाणी को पवित्र बनाने के लिये इन विषय–कषायों को छोड़ कर आर्जव धर्म को जीवन में धारण करें। हमें सदा सत्य के, धर्म के मार्ग पर चलना चाहिये। जो धर्मात्मा होगा, जिसका जीवन सरल होगा, उससे कभी पाप नहीं हो सकेगा।

कबीरदास जी हमेशा धर्म में लगे रहते थे। एक बार उनके पुत्र कमाल ने कहा–पिताजी! आप तो दिन–रात धर्म में लगे रहते हो, ऐसे घर–गृहस्थी थोड़े चलती है, घर का खर्च कैसे चलेगा? कहो तो हम चोरी कर लेते हैं। कबीरदास जी बोले–क्या ऐसा हो सकता है, चोरी की जा सकती है, तो ठीक है, चोरी कर लो। कमाल ने सोचा ये बने तो फिरते है बड़े धर्मात्मा, और कह रहे हैं चोरी कर लो। आज इनकी पोलपट्टी समझ में आ गई।

दोनों पिता–पुत्र चोरी करने गये। कमाल एक घर में घुस गया और कबीरदास जी बाहर खड़े होकर पहरा देने लगे। थोड़ी देर बाद कमाल कुछ सामान बांधकर बाहर आया, तो कबीरदास जी बोले–बता दिया उन लोगों को कि नहीं। कमाल बोला–आप कैसी बात करते हैं? चोरी करते समय बताया थोड़ी जाता है। उन्हें तो पता तक नहीं चला। कबीरदास जी बोले–नहीं, बता दो उनको कि हम ये सब ले जा रहे हैं, नहीं तो वे लोग सुबह से व्यर्थ में परेशान होंगे। अब बताओ जो इतना सरल हो, वह कभी गलत काम कर सकता है क्या? जो सच्चा, सरल होता है, उससे कभी पाप नहीं हो सकता है।

बाबा भारती की घटना सबने सुनी है, वे कितने सरल थे। बाबा भारती का अपना घोड़ा बहुत प्रिय था, पर जब एक डाकू भिखारी का भेष बनाकर, छल से उनका घोड़ा ले जाने लगा, तो बाबा भारती

ने कहा था—जाओ ले जाते हो तो घोड़ा ले जाओ, पर यह बात किसी से कहना मत कि मैं छल करके घोड़ा लाया हूँ। नहीं तो लोगों का ईमानदारी पर से, सरलता पर से विश्वास उठ जायगा।

जो व्यक्ति जितना सरल होगा, वही धर्म के, आत्मा के आनन्द को उपलब्ध कर पायेगा। हमें अपने जीवन को सरल व पवित्र बनाने का प्रयास करना चाहिये। मन में वही सोचना, जो कहने में शर्म न आवे और वही कहें, जो करने में शर्म न आवे। तभी हम आर्जव धर्म को प्राप्त कर सकते हैं।

जो व्यक्ति जितना सरल होता है, उसका जीवन उतना ही पवित्र व निराकुल रहता है। इसके विपरीत मायाचारी व्यक्ति सदा सशंक बना रहता है, उसे मायाचार के प्रकट हो जाने का भय सदा बना रहता है। वह जानता है कपट खुल जाने पर उसकी बहुत बुरी हालत होगी, वह महान कष्ट में पड़ जायेगा। बलवानों के साथ किया गया कपट प्रकट हो जाने पर बहुत खतरनाक साबित होता है। खतरा तो कपट खुलने पर होता है, पर खतरे की आशंका से कपटी सदा ही भयाक्रान्त बना रहता है। शंकित और भयाक्रान्त व्यक्ति कभी भी निराकुल नहीं हो सकता। इसके विपरीत सरल व्यक्ति सदा शान्त और निर्भय रहता है।

यह मायाचार जिस किसी के अंदर आ जाता है, वहाँ आर्जव धर्म नहीं हो सकता, वहाँ सरलता नहीं हो सकती। जिस प्रकार बिच्छू का डंक सारे शरीर में जलन पैदा कर देता है, उसी प्रकार यह मायाचारी व्यक्ति के समस्त गुणों को नष्ट कर देती है। जिस प्रकार छोटी—सी चिनगारी सारे घर को जलाकर राख कर देती है, उसी प्रकार माया कषाय का अल्पांश भी व्रत, संयम, तप आदि द्वारा उपार्जित पुण्य को

क्षण भर में नष्ट कर देता है।

सरल पुरुष ही धर्म के मार्ग पर चल सकता है। आर्जव गुण कपट करके नहीं, सरल प्रवृत्ति से पाया जा सकता है। मायाचारी करते समय लोग सोचते हैं, मेरी बात कोई नहीं जानता। पर ध्यान रखना हमारी मायाचारी बहुत दिनों तक छिप नहीं सकती, वह एक–न–एक दिन प्रकट हो ही जाती है। एक साधु जंगल में पंचाग्नि तप किया करता था। एक दिन एक सेठ का लड़का वहाँ से निकला। उसने उसे पकड़ लिया और मारने लगा। लड़के ने कहा–साधु जी आप मुझे मत मारिये, आपका यह पाप छिपा नहीं रहेगा, एक–न–एक दिन अवश्य प्रकट हो जायेगा। रिमझिम पानी बरस रहा था, सुनसान जंगल में पानी के बबूले उठ रहे थे। साधु ने अभिमान से कहा–क्या ये बबूले कह देंगे कि मैंने तुझे मारा है? लड़का बोला–हाँ ये बबूले कह देंगे। साधु न माना। उसने लड़के की हत्या कर उसे एक गड्ढे में गाड़ दिया। सेठ के लड़के की मृत्यु के संबंध में हलचल मच गई। बहुत खोज की, पर पता न चला। अन्त में साधु पर संदेह किया गया। एक खुफिया पुलिस ने साधु की शिष्यता ग्रहण की। वह उसकी सेवा–सुश्रुषा करने लगा और उसका विश्वासपात्र हो गया। आठ माह व्यतीत हो गये और बरसात के रिमझिमाते दिन पुनः लौट आये।

एक दिन पानी के बबूले को देखकर साधु खिलखिला उठा। शिष्य ने अनुनय–विनय की कि आपके हँसने का क्या कारण है? साधु ने मान से बताया, मानो उसने कोई महान कार्य किया हो–एक नादान लड़के को जब मैं मारने लगा, तब वह बोला कि साधुजी, पानी का यह बबूला तुम्हारे इस काम को कह देगा। शिष्य तो यही चाहता था। उसने सुनकर छुट्टी ली और पुलिस में सब समाचार कह

दिया। दूसरे दिन साधु को गिरफ्तार कर लिया गया। तो हमारे ये छल–प्रपंच ज्यादा समय तक नहीं छिप सकते। पानी के बबूले भी पाप की बात को कह देते हैं। मायाचारी करने वाला इस भव में और अगले भवों में भी दुःखी रहता है। निष्कपट व्यवहार के समान इस विश्व में कुछ भी प्रशंसनीय नहीं है और मायाचार के समान निन्दनीय नहीं है।

मायाचारी व्यक्ति दूसरों को ठगने का प्रयत्न करता है, किन्तु वह स्वयं ही ठगाया जाता है। हम समझते हैं कि यह धोखा–धड़ी, यह मायाचारी हम दूसरों के लिये करते हैं। हम सोचते हैं कि हमने आज उसे ठग लिया, धोखा दे दिया। तो ध्यान रखना, जो दूसरों के लिये कुआँ खोदता है, वह स्वयं ही उसमें गिरता है।

एक गरीब ब्राह्मण प्रतिदिन राजसभा में जाता और जोर से बोलता धर्मे जय, पापे क्षय। एक दिन बाजार में राजपुरोहित ने उस ब्राह्मण से कहा–राजा उसी को दान देते हैं, जो मुख पर कपड़ा बाँधकर राजसभा में उपस्थित होता है। उसने वैसा ही किया। इधर राजपुरोहित ने राजा से कहा–राजन्! यह जो गरीब ब्राह्मण सभा में प्रतिदिन आता है, वह नाम–मात्र का ब्राह्मण है। वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर भी शराब पीता है।

राजा बोला–क्या ब्राह्मण होकर शराब पीता है? इसका कोई सबूत है? पुरोहित ने कहा वह सभा में मुख पर कपड़ा बांधकर इसीलिये आता है कि आप तक शराब की दुर्गन्ध न पहुँच जाए।

दूसरे दिन वह गरीब ब्राह्मण मुख पर कपड़ा बांधे हुये सभा में आया। राजा की दृष्टि उस पर पड़ी। राजा को बहुत दुःख हुआ। हाय यह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर शराब पीता है। उसी समय

राजा ने एक पत्र लिखकर उसे दिया और कहा—जाओ, यह पत्र भण्डारी को दे दो। वह पत्र लेकर जा रहा था तो रास्ते में राजपुरोहित ने उससे कहा—भाई! आज तुझ जो यह पत्र मिला है, यह मेरा ही तो प्रताप है। लाओ यह पत्र मुझे दे दो और बदल मे य पच्चीस रुपये ले लो। वह बेचारा गरीब था। उसने सोचा जितना आये उतना ही अच्छा। उसने पच्चीस रुपये लेकर वह पत्र राजपुरोहित का दे दिया। राजपुराहित पत्र लेकर भण्डारी के पास पहुँचा। भण्डारी ने पत्र पढ़ा। उसमें लिखा था

रुपया दीज्यो रोकड़ा, मत दीज्यो सौलाक।
घर में आधो धालने, काटी लीज्यो नाक।।

भण्डारी ने कहा—पुरोहित जी! बिराजिये, अभी आपका बिल पेमेन्ट करता हूँ। पुरोहित मन—ही—मन बड़ा खुश हो रहा था। आज तो इच्छित मिलेगा। भण्डारी एक हाथ में सौ रुपये और एक हाथ में चाकू लेकर आया और बोला—यह लीजिये रुपये, पर बदल में नाक दीजिये। यह सुनते ही पुरोहित घबराया और जोर से बोला—यह पत्र मेरा नहीं है, एक ब्राह्मण का है। भण्डारी बोला आप लाये हैं, तो हम आपका ही समझंगे। पुरोहित थरथर काँप रहा था। भण्डारी ने शीघ्र चाकू से उसकी नाक काट ली।

उस गरीब ब्राह्मण को जब पता लगा कि पुरोहित की तो नाक कट गई। वह पढ़ा—लिखा तो था ही, उसन सब जानकारी की और पुरोहित की धूर्तता को प्रकट करने के लिये वह राज सभा में पहुँचा। प्रतिदिन की भांति 'धर्मे जय, पापे क्षय' इतना कह वह और बोला — भल भलो, बुरे बुरो।

राजा ने आश्चर्य से पूछा क्या तू भण्डारी के पास नहीं गया?

उसने नम्र भाव से आदि से अन्त तक का समस्त वृतान्त राजा को सुना दिया। राजा समझ गया जो दूसरे को ठगने का प्रयास करता है, वह स्वयं ठगाया जाता है।

यदि व्यक्ति दूसरे का बुरा सोचता है, तो बुरा स्वयं का होता है। जो दूसरों के लिये मायाजाल में फँसाने का प्रयत्न करता है, वह स्वयं उसमें फँस जाता है। जो दूसरों को गड्ढा खोदता है, वह स्वयं उसमें गिरता है। पर का अनिष्ट करके स्वयं के भले की भावना रखना आकाश पुष्प की भांति व्यर्थ है। अतः यदि किसी का भला न कर सको, तो दूसरों का बुरा कभी मत करो।

जब विभीषण रामचन्द्र जी के पास आया, तो सभी ने विरोध किया कि यह विरोधी का भाई है, हमें कभी भी धोखा दे सकता है। तब रामचन्द्र जी ने कहा था–मैं शरणागत को निराश नहीं कर सकता। धोखा देना पाप है, धोखा खाना पाप नहीं है।

प्रायः देखा जाता है कि छल–कपट करके वैभव इकट्ठा करने वालों का अंत में पतन होता है, दुनिया की नजरों से गिर जाते है तथा जगत उन्हें ठुकरा देता है। जीवों के मन, वचन और काय की सरलता ही उभय लोक में शान्ति प्रदान कराने में सहायक होती है, इसके विपरीत वक्रता या कुटिलता दुर्गति का कारण होती है। अतः सभी को बाहर और भीतर सरलता अपनानी चाहिये, क्योंकि सरलता ही साधुता का लक्षण है। श्री गुणभद्र स्वामी ने लिखा है–

निविड़ मिथ्यात्व रूपी अंधकार से व्याप्त इस माया रूपी महागड्ढे से हमेशा डरना चाहिये, क्योंकि इसमें छिपे हुए क्रोध आदि विषम सर्प दिख नहीं सकते हैं। दूसरों को धोखा देकर कोई भी सुखी नहीं रह सकता। एक कहानी आती है–

स्वर्णकार दो धूर्त थे, दानों क मन पाप।
स्पष्ट हुई जब धूर्तता, दानां करें विलाप।।

दो सुनार थे। दानों बड़े धूर्त और कपटी थ। दोनों के मन में पाप था। एक की लड़की थी और एक का लड़का था। लड़की लंगड़ी थी और लड़के की एक आँख नहीं थी। एक दिन बाजार में दोनों का मिलन हुआ। लड़की वाले ने लड़के वाले सुनार से कहा–मैंने सुना है, आपका सुपुत्र सुशील कुमार बड़ा हाशियार है। हर क्षेत्र में निपुण है। मैं चाहता हूँ आपके लड़के से मेरी लड़की सुरेश कुमारी का संबंध हा जाय तो अच्छा है। उसने कहा–सबंध तो करना ही है। क्या आपन सुशील को देखा है? वह बाला–देखना क्या है? मुझे तो आप पर विश्वास है, नगर में आपकी अच्छी इज्जत है, अच्छा व्यापार चलता है, अच्छा आपका स्वभाव है। उसको देखकर क्या करूँगा। मैं तो साक्षात् आपको देख ही रहा हूँ। यदि आप मरी लड़की सुरेश कुमारी को देखना चाहते हैं, ता घर पधारिय। उसने कहा मुझ भी आप पर पूर्ण विश्वास है, लड़की को क्या दखूँ। आपकी बोलचाल तथा रहन–सहन स यह पता लगता है कि आपका खानदान बहुत अच्छा है। अच्छे घर की लड़की भी अच्छी होती है। मुझे तो पूर्ण विश्वास है, जैसा आप चाहें वैसा करें।

दोनों को भय था कि कहीं पाप का घड़ा फूट न जाये, एक दूसरे की कमी का पता न लग जाय। दोनों के दिल में मायाचारी थी, ऊपर से बड़े मीठ बालने वाले थे। संबंध पक्का हो गया। दोनों के घर विवाह की तैयारियाँ हाने लगीं। सुशील कुमार की माँ ने साचा बस, अब तो मेरे घर में बहू आयेगी। घर का सारा काम वह संभाल लेगी। मैं बैठी–बैठी आराम करूँगी।

सुशील कुमार सज–धज कर आँखों पर चश्मा लगाकर विवाह मण्डप में आ गया। सुहागिन स्त्रियाँ विवाह के मंगल गीत गा रहीं थीं, जोर–जोर से बाज बज रहे थे। बड़े ठाट–बाट से सुशील कुमार की शादी सुरेश कुमारी के साथ हो गयी। सांसारिक सभी रस्में पूरी हो जाने के बाद परिवार वाले बहुत खुश हुए। सभी ने सोचा सुरेश कुमारी का भार उतर गया।

इधर सुशील कुमार का पिता भी बड़ा खुश हुआ। हृदय में हर्ष उछलने लगा और जोर से बोल पड़ा–'गढ़ जीत्या रे बेटा काणिया।' लड़की के पिता से भी रहा नहीं गया, वह भी जोर से बोला–"खबर पड़ती उठाणियां।" यह सुनते ही उसके चेहर पर उदासी छा गई और आखिर सारी धूर्तता स्पष्ट होते ही दोनों विलाप करन लगे और अपनी–अपनी कुटिलता पर पछताने लगे।

दूसरों को धोखा देकर कोई भी सुखी नहीं हो सकता। स्वयं का कुटिलतापूर्ण व्यवहार स्वयं के लिय ही दुःखद सिद्ध होता है, अतः किसी के भी साथ कुटिलतापूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिये।

यह माया–कषाय प्रथम में मानव की सच्चाई का घात कर देती है और प्राणियों के परस्पर क विश्वास को नहीं रहने देती है। जो ठग, मायाचारी लोग होते हैं उनका कोई विश्वास नहीं करता है। मायावी लोग सत्य और सरल भाषा नहीं बोलते हैं। उनक मन में क्या वर्त रहा है, वचन में क्या और करने में क्या कर डालेंगे, यह कोई पता नहीं लगा सकता। मायाचारी व्यक्ति स्व व पर दोनों का घात करते हैं। मायाचारी करने वाल दूसरों को ठगते हैं, यह परघात हुआ और मायाचारी करन से विशेष पाप–बंध हो जाना, यह अपने को ठगना हुआ। उसे नरक–तिर्यंच गति में जाकर दुःख भोगना

पड़ते हैं, यह स्वघात हुआ।

मायाचारी का भेद मायाचारी के माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, ससुर, सास, साला भी नहीं ले पाते हैं, ता अन्य मानवों की तो बात ही क्या? जिस प्रकार जंगल में विचरने वाला क्रूर–स्वभावी माया से युक्त तेंदुआ यात्री को देखकर सीधा–साधा निकलता है, यात्री उसको देखकर विचार करता है कि वह तो निकल गया, अब मेरे प्राण बच गये, इतना विचार कर ही रहा था कि तेंदुये ने वार कर दिया और पथिक को मार डाला। इसी प्रकार मायावी मानव वचन की अपेक्षा अत्यन्त मधुर भाषा को बोलते हैं और ऐसे प्रतीत होते हैं कि यही हमारे परम उपकारी सच्चे संबंधी हैं। जब वह भोला प्राणी उनकी मधुर वाणीरूपी जाल में भली प्रकार से फँस जाता है, तब वे उसके धन, जेवर, माल को लेकर शीघ्र ही भाग जाते हैं, जिससे वह रोता हुआ दुःखी हो जाता है।

मायावी व्यक्ति दूसरों को फँसाने के लिये जाल बनाता है, परन्तु वह स्वयं ही उसमें फँस जाता है। जिस प्रकार मकड़ी दूसरे छोटे जीवों को फँसाने के लिये जाल बनाती है और विचार करती है कि इस जाल में सब जीव फँस जायेंगे, तब मैं सुख से उनको खाती रहूँगी, परन्तु वह अपने जाल में आप–ही फँस जाती है। वह दुःखद मरण को प्राप्त करती है। बस, यही दशा मायाचारी मानवों की होती है।

मायावी मनुष्यों के सदा आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान ही होता रहता है, जिसके कारण वह निरन्तर अशुभ कर्मों का आस्रव–बंध करता है और अन्त में मरण कर तिर्यंचादि दुर्गतियों में जाकर निरन्तर दुःखों को सहन करता है। इसके विपरीत जो सरल होता है,

जिसकी धर्म पर श्रद्धा होती है, उसका कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

मैसूर के राजा की धर्म पर अटूट श्रद्धा थी। वे मंदिर जाते समय अपने सारे अलंकारों का त्याग करके नंगे पैर दर्शन करने जाते थे। वे मन में विचार करते थे कि भगवान ने तो सब कुछ छोड़ दिया है, मुझे भी भगवान के दर्शन को जाते समय थोड़ा–सा त्याग करना चाहिये। वे सभी वस्तुओं का त्याग करके हाथ में पूजन–सामग्री लेकर अत्यन्त श्रद्धा व विनय पूर्वक मंदिर में जाते थे। जलाभिषेक होने के बाद वह पुजारी प्रतिदिन राजा को गंधोदक देता था। गंधोदक को पवित्र समझकर राजा अंजुली में लेकर पीते थे और जो हाथ में बचता था, वह अपने शरीर पर लगाते थे। ऐसा वह प्रतिदिन करते थे।

दुनिया में सभी लोग अच्छे नहीं होते कपटी/मायाचारी भी होते हैं। ऐसे ही कुछ लोगों के भाव राजा के प्रति भी अच्छे नहीं थे। उन लोगों ने कपट रचाया कि पुजारी को पैसों का लालच देकर राजा को मार डालना चाहिये। उन लोगों ने अपनी कपट लीला प्रारंभ कर दी। धन का लोभी क्या नहीं कर सकता? मुर्दा भी धन का नाम सुनकर मुँह फाड़ लेता है। ऐसी कहावत है। वे लोग मंदिर में गये और पुजारी से कहा–तुम राजा को जो गंधोदक देते हो, उसमें विष मिलाकर देना। हम तुम्हें मुँह माँगा इनाम देंगे। लालच में आकर उस पुजारी ने हाँ भर दी और दूसरे दिन गन्धोदक देते समय उसके हाथ काँपने लगे, उसे पसीना आ गया। जब राजा ने गंधोदक लेने के लिये अपनी अंजुली को बढ़ाया तो वह पुजारी पीछे हटने लगा, उसकी इस प्रकार चल–विचल अवस्था देखकर राजा ने उससे पूछा तुम्हें क्या हो गया है, बुखार आया है क्या? पुजारी ने कहा–नहीं कुछ नहीं हुआ। तो राजा बोला–फिर तुम ऐसा क्यों कर रहे हो? वह

पापभीरू पुजारी घबराकर कहता है कि सरकार इस गंधोदक में विष मिला है। तब राजा हँसकर कहता है—अरे पगले! भगवान के इस पवित्र गंधोदक में विष कहाँ से आयेगा? ऐसा कहकर राजा उस गंधोदक को अंजुली में लेकर पी लेता है और अत्यन्त श्रद्धा से शरीर पर लगाकर घर चला जाता है।

देखिये यह कथानक नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष प्रमाण है। राजा का हृदय सरल था, श्रद्धा—भक्ति से भरा हुआ था, अतः विष मिला हुआ गंधोदक पीने से भी राजा को कुछ नहीं हुआ। लोक में कोई ऐसा पदार्थ नहीं, जिसको पाने के लिये छल—कपट करना चाहिये। सरल भाव में रहोगे तो सदा आनन्द रहेगा और भविष्य भी अच्छा रहेगा।

लोग धन कमाने के लिये अनेक प्रकार से मायाचारी करते हैं। पर ध्यान रखना, पाप द्वारा कमाया गया धन निरर्थक होता है। यदि उसे अच्छे कार्य में लगाना चाहो, तो भी नहीं लगता।

एक वेश्या ने बहुत धन कमाया। एक दिन उसके मन में विचार आया कि मैंने बहुत पाप किये और पाप से धन भी खूब कमाया, अब उस धन का दान करके कुछ पुण्य कमाना चाहिये। तब वह दान करने के लिये गंगा के तट पर गई। वहाँ उसका विचार एक ठग ने जान लिया, सो वह बदन में राख लगाकर सबसे अलग एकान्त में बैठ गया। उस वेश्या ने चारों तरफ घूमकर देखा कि मैं किस साधु के पास दान करूँ, जो मुझे फलदायक होगा। असली से अधिक आकर्षण नकली में होता है। इसी प्रकार साधुओं से ज्यादा आकर्षण उस ठग बने साधु में था। सो वेश्या ने उसी के पास दान करना तय किया और बोली—महाराज! मैं दान करना चाहती हूँ। तब साधु बोले कि तू कौन है? मैं एक वेश्या हूँ, उसने बताया। तब वे बोले तू वेश्या

होकर इतने बड़े महात्मा से बात कर रही है, इसका तो प्रायश्चित्त लेना पड़ेगा। अच्छा, बता क्या दान करना चाहती है? वेश्या ने कहा—मैं अपनी सारी सम्पत्ति दान करना चाहती हूँ। साधु महाराज ने उसकी सारी सम्पत्ति लेकर एक दोहा पढ़ा और उसको आशीर्वाद दिया—

गंगाजी के घाट पर, खाई खीर और खांड।
यों का धन यों ही गया, तू वेश्या मैं भांड।।

अर्थात् पाप करके कमाया गया धन व्यर्थ ही जाता है।

मायाचारी व्यक्ति अपने सब कार्य मायाचार से ही सिद्ध करना चाहता है। वह यह नहीं समझता कि काठ की हांडी दो बार नहीं चढ़ती। एक बार मायाचार प्रकट हो जाने पर जीवन भर को विश्वास उठ जाता है। मनुष्य अपने पाप को छिपाने का प्रयत्न करता है, पर वह रुई में लपेटी आग के समान स्वयमेव प्रगट हो जाता है। किसी का जल्दी प्रगट हो जाता है, और किसी का विलम्ब से, पर यह निश्चित है कि प्रगट अवश्य होता है। पाप के प्रगट होने पर मनुष्य का सारा बड़प्पन समाप्त हो जाता है, और छिपाने के कारण संक्लेश रूप परिणामों से जो खोटे कर्मों का आस्रव करता है, उसका फल तिर्यंच आदि खोटी योनियों में जाकर भोगना पड़ता है।

मायाचारी करना तिर्यंच गति का कारण है। मिलावट करना, जैसे असली में नकली, दूध में पानी, शुद्ध घी में डालडा मिलाना—ये सब छल—कपट के कार्य हैं। आजकल देश में भ्रष्टाचार और मिलावट इतना अधिक बढ़ गया है कि अब मरने के लिये शुद्ध जहर नहीं मिलता और जीने के लिये शुद्ध भोजन नहीं मिलता।

एक व्यक्ति जिन्दगी से परेशान हो गया। उसने सोचा इस

बदतर जिन्दगी से बेहतर है कि जहर खाकर मर जाऊँ। वह एक दुकान पर गया। वहाँ से जहर लिया, जहर को भोजन मे मिलाया और जहर मिला भोजन खाकर सो गया। सुबह आराम से उठा। कारण कि जहर में मिलावट थी, जहर नकली था। जब वह व्यक्ति मरा नहीं, तो उसने सोचा—लगता है अभी भगवान को मेरी मौत स्वीकार नहीं है। तो ठीक है, चलो, खुशियाँ मनाओ। और वह दूसरे दिन दुकान से पेड़े ले आया। रात में पेड़े खाकर सो गया और ऐसा सोया कि फिर कभी नहीं उठा। क्योंकि पेड़ों मे जहर मिला था। सभी जगह छल—कपट चल रहा है।

एक व्यक्ति अपने घर कीड़े मारने की दवा लाया। दूसरे दिन जब उसने देखा तो उस दवा में ही कीड़ पड़ गये थे। अब इससे बड़ा भ्रष्टाचार और क्या हो सकता है? कीड़ मारने की दवा में ही कीड़े पड़ जायें तो फिर क्या कहना? सब जगह मिलावट है, मायाचारी है।

एक व्यक्ति की किराने की दुकान थी। एक आदमी ने पूछा—खटमल मारने की दवा है? वह व्यक्ति बोला—है, ये लो। उस आदमी ने कहा एक बात बताओ, यह खटमल मारने की दवा है, उससे जो खटमल मरेंगे, उसका पाप मुझे लगेगा या तुम्हें लगेगा। वह व्यक्ति बोला—चिंता मत करो। पाप न तुम्हें लगेगा और न मुझे लगेगा। आदमी ने पूछा—मतलब? उस व्यक्ति ने कहा—मतलब साफ है, कि खटमल मरेंगे तभी तो पाप लगेगा न , यह शुद्ध देशी दवा है, इससे खटमल मरने वाले नही हैं।

आज का समय ऐसा आ गया है कि भ्रष्टाचार को ही शिष्टाचार माना जाने लगा है। आज कहीं भी जाओ, ऊपर से नीचे तक सब भ्रष्ट हैं, थोड़े से पैसे दे दीजिये और आदमी की आत्मा तक को खरीद

लीजिये। आज ऐसे ऐसे देश भक्त हैं, जो दौलत लेकर पूरे देश को बेचने को तैयार हैं। आज व्यापारी मिलावट कर रहा है। अधिकारी अपनी कुर्सी पर बैठा है पर बिना रिश्वत के कोई काम नहीं कर रहा है। डाक्टर कोई आपरेशन करता है तो पहले पैसे की बात करता है। न्याय देने के लिये जो न्यायालय की कुर्सी पर बैठा है, उसने भी आज पैसा लेकर न्याय को बेचना शुरू कर दिया है। पर ध्यान रखना, यह अन्याय और अनीति ही तिर्यंचादि दुर्गतियों में ले जाने वाली है। यदि तिर्यंच गति के दुःखों से बचना हो तो चाहे आप दुकान में हों, दफ्तर में हों, कहीं भी हों, आपका धर्म आपके साथ होना चाहिये। धर्म का अर्थ है नीति और सदाचार। धन दौलत के मोह में यदि व्यक्ति कोई अनैतिक आचरण करता है, तो कभी-कभी उसे इतना पश्चात्ताप करना पड़ता है कि जीवन पर्यन्त उसका प्रायश्चित्त करने के बाद भी वह पूरा नहीं कर पाता। एक सत्य घटना है-

एक पुलिस इन्स्पेक्टर का बेटा था, स्कूल पढ़ने जाता था। वह रोज सुबह 10 बजे जाता, 5 बजे लौटकर आ जाता। आज काफी देर हो गई, वह लौटकर नहीं आया। माँ को बड़ी चिन्ता हो रही थी। इधर पुलिस इन्स्पेक्टर को फोन पर सूचना मिली कि अनियंत्रित वेग से चलता हुआ एक ट्रक किसी स्कूली बच्चे को कुचलकर भाग गया है। जैसे ही सूचना मिली, वह घटना स्थल पर जाने की जगह ट्रक का पीछा करने के लिये दौड़ा। ट्रक ड्राइवर ने ट्रक रोका और 500 रु. देकर चलता बना। अब वह निश्चिन्त हो गया। उसे घटना स्थल पर पहुँचने की कोई चिन्ता नहीं हुई, 500 रुपये लेकर घर आया और पत्नी को थमाते हुये बोला - देख, आज की यह कमाई स्वीकार कर। नोटों को देखकर पत्नी की आँखें चमक उठीं, पर उसने कहा कि आज अपना बेटा अभी तक स्कूल से नहीं लौटा, क्या बात हो

गई, थोड़ा पता लगाओ। 7 बज गये हैं, अभी तक नहीं आया। अब इन्सपेक्टर के मन में थोड़ी–सी शंका हुई कि बेटा लौटा क्यों नहीं। उसने अपनी मोटर साईकिल उठाई और स्कूल की तरफ बढ़ा। तभी एक स्थान पर उसे भीड़ दिखी, वह घटनास्थल था, जहाँ एक लड़के का क्षत–विक्षत शरीर लहूलुहान पड़ा था। वह वहाँ पहुँचा तो हतप्रभ रह गया। वह कोई और नहीं, उसका अपना ही बेटा था, जो उसी ट्रक से कुचल कर मारा गया था। उस इंस्पेक्टर न अपनी आत्मकथा में लिखा कि रिश्वत ने मेरी आत्मा को भी खरीद लिया था। और तब से उसने रिश्वत लेने का हमेशा–हमेशा के लिये त्याग कर दिया।

जब व्यक्ति के पास कुछ प्रलोभन आता है, तो वह सब कुछ भूल जाता है। अपना ईमान तक भूल जाता है। हर आदमी बेईमानी कर रहा। अधिकारी रिश्वत लेता है, व्यापारी डंडी मारता है, मिलावट करता है, भाव–ताव में कमावेसी करता है। यह सब अन्याय है, अनीति है।

एक जगह एक व्यंग लिखा था–यदि आप बीमार हों, तो डाक्टर को दिखायें, इसलिये कि डाक्टर जी सके। डाक्टर जो दवा लिखे वह आप खरीदें, इसलिये कि दवा–विक्रेता और निर्माता जी सकें। पर आप उसे खायें नहीं, इसलिये कि आप जी सकें। यह आज की स्थिति है। यह सब अनीति है, बेईमानी है। बेईमानी या अनीति की व्याख्या करते हुये कहा गया है कि मनुष्य की धूर्तता, उसकी वक्रता, उसका कपट, उसकी माया, जिसे वह छिपाने का प्रयत्न करता है, वह सब अन्याय है, अनीति है, मायाचारी है और तिर्यंच गति का कारण है। 'माया तैर्यग्योनस्य।' हम यदि आज कहीं कुछ बेईमानी कर रहे हैं, तो इसे कूट–व्यवहार कहा गया है। कूट–व्यवहार तिर्यंच गति का कारण है, जो मनुष्य को एकदम नीचे ले जाता है। आजकल

सभी जगह नकली–ही–नकली चल रहा है।

एक बार एक निरीक्षक महोदय अचानक स्कूल का निरीक्षण करने पहुँच गये। क्लास टीचर ने अचानक निरीक्षक महोदय को देखा और अपने–अपने स्थान पर पहुँच गये। निरीक्षक ने जाकर क्लास टीचर से कहा कि मैं आपके क्लास के छात्रों की परीक्षा लेना चाहता हूँ, जो पिछली कक्षा में मेरिट में आये थे। प्रथम आने वाले तीन छात्र क्रमशः मेरे पास आयें और मैं जो प्रश्न करूँ उसे बोर्ड पर हल करें। प्रथम आने वाला छात्र चुपचाप उठकर आगे आया। उसे जो प्रश्न दिया गया, उसने बोर्ड पर हल कर दिया और अपनी जगह वापिस जाकर बैठ गया। फिर दूसरा छात्र आया और उसने भी बोर्ड पर प्रश्न हल किया। और तीसरे छात्र को आने में जरा देर लगी। वह आया भी तो झिझकते हुये और बोर्ड के पास आकर खड़ा हो गया। उसे सवाल दिया गया और वह हल करने लगा। लेकिन तभी निरीक्षक को लगा यह तो पहला वाला ही विद्यार्थी है। अपना चश्मा उतारकर उन्होंने ठीक तरह से उसे देखा। निरीक्षक महोदय ने कहा–मुझे ऐसा लग रहा है कि तुम वही पहले नम्बर वाले विद्यार्थी हो। फिर से क्यों आ गये? उस विद्यार्थी ने कहा –सर! माफ कीजिये हमारी कक्षा का तीसरे नम्बर का विद्यार्थी पिक्चर देखने गया है, मैं उसके स्थान पर आया हूँ, वह मुझसे कहकर गया है कि मेरा कोई भी काम हो तो तुम कर देना।

निरीक्षक महोदय यह सुनते ही आग बबूला हो गये और बहुत जोर से चिल्लाकर नाराज होने लगे–क्या मैं मूर्ख हूँ? क्या मैं अन्धा हूँ। क्या मुझे पागल समझ रखा है? आज जीवन में प्रथम बार देख रहा हूँ कि एक विद्यार्थी दूसरे विद्यार्थी का प्रश्न हल कर रहा है। इससे पहले मैंने कभी सुना भी नहीं था। इससे बड़ा भ्रष्टाचार और

क्या हो सकता है? इससे बढ़कर अनैतिक बात और क्या हो सकती है? उसने विद्यार्थी को समझाया कि आज मैं तुम्हें माफ कर रहा हूँ, अब ऐसी गलती पुनः मत करना। इसके बाद उसने शिक्षक की ओर मुड़कर कहा कि आप भी खड़े–खड़े देख रहे हैं और फिर भी आपने विद्यार्थी को मना नहीं किया। मुझे मूर्ख बनाया जा रहा है और आप देख रहे हैं। शिक्षक उस समय मौन होकर निरीक्षक महादय की बातों को सुनता रहा।

अन्त में निरीक्षक महोदय न कहा–अब तो मुझे लगता है कि आप भी इस क्लास में नये–नये आये हैं जो इन विद्यार्थियों को पहचानत ही नहीं हैं। उस शिक्षक ने कहा–आप सही कर रहे हैं। इस क्लास के क्लासटीचर अपनी मिसेज को साड़ी खरीदने बाजार तक गये हैं, इसीलिय उनकी जगह मुझ डुप्लीकेट क्लास टीचर बनाकर भेज दिया है। इस पर निरीक्षक ने खूब जोर से डाँटा और अचानक ही नम्र हा गया। कहा– आप लाग भाग्यशाली हैं, क्योंकि आज असली इन्स्पेक्टर नहीं आया। वह तो हनीमून मनान गया है। मुझे उसी जगह नकली इन्स्पक्टर बनाकर भेजा गया है। यदि आज असली इन्स्पक्टर होता, तो आप लोगों की खैर नहीं थी।

हर जगह मायाचारी चल रही है। पर ध्यान रखना, मायाचारी का फल तिर्यंच गति है, जहाँ जाकर इस जीव को असहनीय कष्टों को सहन करना पड़ता है। छल–कपट स किया गया कोई भी कार्य छिपता नहीं है, वह एक–न–एक दिन प्रगट हो ही जाता है और आत्मा का मलिन करता है। अपनी आत्मा को मलिन हाने से बचाइये।

यदि आर्जव धर्म को प्राप्त करना है, तो अपने मन को अपने वश में रखो। वक्र मन, कुटिल मन, मायाचारी से पूरित मन सदा विपत्तियां

को ही जन्म देता है। यह त्रैकालिक सत्य है कि मन–वचन और काय के टेढ़ेपन से आत्मा व परमात्मा के दर्शन कभी भी संभव नहीं है। हमें अपने मन को वश में रखना अनिवार्य है, अन्यथा मन जैसा नचायेगा हमें नाचना पड़ेगा। अनन्त–अनन्त युग समाप्त हो गये, होते जा रहे हैं, परन्तु यह मन कपट करना नहीं छोड़ता, मायाचारी का परित्याग नहीं करता। वास्तव में इस चंचल मन पर हमें सवार होना चाहिये था, इसकी बागडोर हमारे हाथ में होनी चाहिये थी, परन्तु दुर्भाग्य से आज वह हम पर सवारी कर रहा है। आर्जव धर्म को प्राप्त करने के लिये अपने मन, वचन, काय को सरल बनाओ।

उत्तम शौच

धर्म का चौथा लक्षण है उत्तम शौच। शुचेर्भावः शौचं अर्थात् स्वच्छता, निर्मलता, उज्ज्वलता यह अर्थ है इस शौच शब्द का। वस्त्र मलिन था, वह मलिनता निकल गयी उज्ज्वलता, स्वच्छता आ गयी उसके स्थान पर, यही है शुचिता। धब्बा लगा हुआ था, वह निकल गया और जो रह गया, वह है स्वभाव। शौच धर्म ही हमारा स्वभाव है।

जिस प्रकार क्षमा धर्म का विरोधी क्रोध है, मार्दव धर्म का विरोधी मान है, आर्जव धर्म का विरोधी माया है, उसी प्रकार इस शौच धर्म का विरोधी लोभ है। लोभ समस्त पापों का जन्मदाता है। यह अति सूक्ष्म है तथा अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता है। धन का लोभ, यश का लोभ, परिग्रह संचय का लोभ, पद का लोभ आदि। जो समस्त प्रकार के लोभ से दूर रहता है, वह पवित्र हृदय वाला व्यक्ति माना जाता है।

जहाँ पवित्रता होती है, उसे शौच धर्म कहते हैं। पवित्रता वहाँ ही आ सकती है, जहाँ किसी भी अनात्मतत्त्व में मोह न हो। भिन्न पदार्थों में मोह होने को गंदगी कहा है, लोभ को गंदगी कहा है। क्रोध, कषाय अवश्य है, पर वह गंदगी नहीं है। घमण्ड भी कषाय है, पर उसे अशुचि शब्द से नहीं कहा और मायाचार तो महा बेवकूफी

है, उसे भी अशुचि नहीं कहा, पर लोभ को अशुचि शब्द से कहा। जिसके हृदय में लोभ बसा है, वह अपवित्र है, गंदा है। यह जीव संसार में जन्म–मरण कर रहा है। कारण यह है कि पर वस्तुओं में आत्मबुद्धि लग रही है। शरीर मैं हूँ, यह वैभव, ये मकान दुकान मेरे हैं, यह हृदय की अपवित्रता है।

उत्तम शौच गुण तो आत्मा का एक पवित्र गुण है। इस गुण को प्रगट करने के लिये समस्त परपदार्थों का लोभ छोड़ना होगा और अपने उस निर्लोभ स्वरूप की उपासना करनी होगी, तभी शौच धर्म प्रगट होगा। एक लकड़ी बेचने वाला गृहस्थ था। उस पुरुष का नाम था राँका और उसकी स्त्री का नाम था बाँका। दोनों ही पति–पत्नी लकड़ियाँ बीनने जा रहे थे। राँका आगे जा रहा था और बाँका पीछे थी। रास्ते में राँका को रुपयों से भरी थैली मिली, पैर से ठोकर लगी तो रुपये खनक गये। वह समझ गया कि इसमें तो काफी रुपये भरे हैं। वह उस पर धूल डालने लगा कि कहीं इस थैली को देखकर मेरी स्त्री को लोभ न आ जाये। इतने में ही बाँका भी वहाँ आ पहुँची। पूछा कि यह क्या कर रहे हो? तो राँका बोला कि इस रुपयों की थैली पर धूल डाल रहा हूँ। तब बाँका बोली–अरे! तुम धूल पर क्या धूल डाल रहे हो? छोड़ो आगे बढ़ो। तो देखिये उस स्त्री और पुरुष दोनों की दृष्टि में वह धन धूलवत् था। यहाँ यह शिक्षा दी गई है कि यदि आपको अपने अंदर शौच धर्म को प्रकट करना है, तो यहाँ के दिखने वाले इन पौद्गलिक ढेरों को धूलवत समझो और अपने मन को पवित्र बनाओ।

बन्धन व मुक्ति दोनों का मूल कारण मन है। जिनवाणी मन में तभी प्रवेश करेगी जब मन स्वच्छ होगा, लोभ रहित होगा। मन की शुद्धि शौच धर्म के माध्यम से होती है। जिसका मन पवित्र हो गया,

उसका जीवन भी पवित्र हो जायेगा और जिसका मन अपवित्र हो गया, उसका जीवन भी अपवित्र हो जायेगा। इसीलिये तो कहा है कि "मनः एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयो" बन्धन व मुक्ति का मूल कारण मन है।

एक मुनिराज एक घर में आहार हेतु गये। आहार करके निकले तो देखा कि एक बच्चा कोयले-जैसे काले पत्थर से खेल रहा है। मुनिराज गृहस्थाश्रम में जौहरी थे। उन्होंने देखते ही कहा यह हीरा है। गृहस्थ ने पत्थर उठाकर देखा कि यह तो बड़ा भारी है। वह खुश हो गया कि इतना बजनी हीरा मेरे पास है। मुनिराज ने कहा-अरे! यह हीरा अवश्य है, पर अभी उसको घिसना होगा, तराशना होगा, तब यह चमकीला मूल्यवान हीरा होगा। अभी तो निरा पत्थर है। इसी प्रकार पवित्र मन से शुद्ध आचार-विचार के दृढ़ पालन से तराशने पर ही यह आत्मा शुचिता को प्राप्त कर पाती है। अतः पर से दृष्टि हटाओ और सम्यक् स्वदृष्टि में अपना समय लगाओ, लोभ से हटो और इन इच्छाओं को रोको, तभी शौच धर्म जीवन में आयेगा।

'प्रकर्ष प्राप्त लोभन्नि वृत्तिः शौचं।' प्रकर्ष लाभ की निवृत्ति शौच है। 'उत्कृष्टता समागत गाध्दर्य परिहरणं शौचमुच्यते।' लोभ या गृद्धता का त्याग करना शौच धर्म है। अथवा संतोष का नाम शौच धर्म है। अतः अपनी इच्छाओं को रोककर संतोष धारण करो।

संसार का हर प्राणी सुख चाहता है। पर सच्चा निराकुल सुख किसे कहते हैं, वह जानता नहीं है और मन की इच्छाओं को पूरा करके सुखी होने का प्रयास करता है। व्यक्ति अपनी इच्छाओं को जितना-जितना पूरी करता है, वे उतनी-उतनी और बढ़ती चलीं

जाती हैं। लोभ की यह तासीर है कि जितना लाभ बढ़ता जाता है, उतना लोभ भी बढ़ता चला जाता है। लोभ के कारण ही संसार के सभी प्राणी दुःखी हैं।

मन का पेट बहुत बड़ा है, मन की भूख बहुत गहरी है। शरीर की भूख तो थोड़ी–सी है, पेट की भूख तो साधारण है, दो–चार रोटी से भरा जा सकता है, लेकिन मन? मन को जितना भी मिले, उतना थोड़ा है, सुमेरु पर्वत–सा ढेर लगा दो, तब भी थोड़ा है, तब भी मन तृप्त नहीं होगा। मन की आकांक्षायें अगणित होती हैं, अनन्त होती हैं। मनुष्य का मन बड़ा विचित्र है। आज तक किसी का भी मन तृप्त नहीं हुआ?

अकबर और बीरबल के जमाने की बात है। एक बार अकबर और बीरबल शाम को बाजार में घूम रहे थे। अचानक अकबर की नजर एक वणिक की दुकान पर गई। वह वणिक बहुत ही उदास और चिंतित नजर आ रहा था। अकबर ने बीरबल से पूछा–बीरबल ये वणिक इतना उदास क्यों है?

बीरबल ने उस वणिक को बुलाया और उदासी का कारण पूछा। तब बड़े विनम्र स्वर में वणिक बोला–जहाँपनाह! मैं एक साधारण व्यापारी हूँ, बदलते मौसम के साथ अपना व्यापार बदलता हूँ। इस वर्ष ठंड के मौसम में मैं अपनी सारी पूंजी लगाकर 500 कंबल खरीदकर लाया था, परन्तु मेरे दुर्भाग्य से इस वर्ष ठंड कम पड़ी, इसलिये मेरा एक भी कंबल नहीं बिका। यह सुनकर अकबर का हृदय दया भाव से भर गया।

दूसरे दिन अकबर ने अपनी राजसभा में कहा–कल जो भी मेरी राजसभा में आयेगा, वह अपने साथ एक नया कंबल लेकर आयेगा।

जो नहीं लायेगा, उसे 500 रुपये का दंड देना होगा। ऐसी अजीब सूचना सुनकर सब हैरान हुये और एक दूसरे को देखने लगे, परन्तु किसी में भी कुछ पूछने की हिम्मत नहीं हुई।

दूसरे दिन लोग उस वणिक की दुकान पर कंबल खरीदने पहुँचने लगे। वणिक बड़ा हैरान कि पूरे चार माह में मेरा एक भी कंबल नहीं बिका, पर आज तो ग्राहक–पर–ग्राहक दुकान में आते जा रहे हैं। वह बड़ा प्रसन्न हो गया। उसने ढाई रुपये का कंबल पाँच रुपये में बेचना शुरू कर दिया। परन्तु थोड़े समय में उसने देखा कि दो ग्राहक कम्बल लेकर जा रहे हैं और चार ग्राहक लेने आ रहे हैं। उसने तुरन्त ही पाँच रुपये की कीमत को पच्चीस रुपये में बदल दिया। सारे कंबल उसने ढाई घंटे में बेच दिये, अपने लिये सिर्फ एक कंबल बचा लिया।

आखिर बीरबल भी उस व्यापारी के पास कंबल लेने पहुँच गया। जब देखा कि एक भी कंबल नहीं है, तब बीरबल ने कहा कि मुझे एक कंबल जरूर चाहिये। आप चाहे जितनी कीमत ले लो, पर कंबल मुझे दे दो। वणिक ने कुछ क्षण सोचकर अपने लिये रखा हुआ कंबल निकाल दिया और बोला कि पूरे ढाई सौ रुपये लूँगा। बीरबल ने सोचा कल दरबार में 500 रुपये का दंड देने से तो यह ढाई सौ ही ठीक हैं। बीरबल कम्बल खरीदकर चला गया।

बीरबल के जाने के बाद वणिक इस सोच में डूब गया कि ढाई रुपये का कंबल ढाई–सौ रुपये में बेचकर मैंने इतना लाभ कमाया, कितना अच्छा होता यदि मैं सारे कंबल ढाई सौ रुपये में बेचता। आज शाम तक तो मेरे पास सवा लाख रुपये इकट्ठे हो गये होते। मगर मैं चूक गया। ऐसा सोचकर वह उदास हो गया।

जब शाम को अकबर–बीरबल पुनः बाजार में घूमने निकले, तब अकबर ने कहा–बीरबल। आज तो वह वणिक बहुत ही खुश होगा। मैं उसे देखना चाहता हूँ। यह सुनकर बीरबल ने मुस्कराते हुये कहा–जहाँपनाह! इस मानव मन की बड़ी विचित्र गति है।

अकबर तो वणिक की उदास मुख मुद्रा देखकर बड़ा चकित हुआ। उसने तुरन्त ही वणिक को बुलाकर पूछा कि आज तो तेरा सारा माल बिक गया है फिर तू उदास क्यों है? वह एक दम से रो पड़ा और बोला–जहाँपनाह! आपकी दया से मेरे सारे कंबल बिक गये, अंतिम कंबल तो मेरा 250 रुपये में गया। अब मुझे पश्चात्ताप हो रहा है कि कितना अच्छा होता जो मैं शुरू से सारे कंबल 250 रुपये में बेचता। यह बात सोच–सोच कर मैं बहुत दुःखी हूँ।

अकबर यह सुनकर विस्मय से बीरबल की ओर देखने लगा। तब बीरबल ने कहा–जहाँपनाह! यह मानव मन की कहानी है। जितना लाभ बढ़ता है, उतना लोभ भी बढ़ता जाता है। यह वणिक कल तक माल नहीं बिकने से परेशान था, पर आज वह लोभ से परेशान है।

लोभ के कारण ही संसार के सभी प्राणी दुःखी हो रहे हैं। यह प्राणी मोहोदय के कारण परिग्रह को सुख का कारण मान रहा है, इसीलिये रात–दिन उसी के संचय में तन्यम हो रहा है। पास का परिग्रह नष्ट न हो जाय, यह लोभ है और नवीन परिग्रह प्राप्त हो जाये, यह तृष्णा है। इस प्रकार आज मनुष्य इन लोभ और तृष्णा दोनों के चक्र में फँस कर दुःखी हो रहा है।

तृष्णा मनुष्य को सदैव अतृप्त बनाये रखती है। तृष्णा और तृप्ति दोनों एक साथ नहीं रह सकतीं। तृष्णातुर मनुष्य को चाहे जितना भी लाभ क्यों न हो जाये, उसे कभी तृप्ति और संतुष्टि नहीं होती।

हो भी कैसे? क्या आग में घी डालने से आग कभी बुझ सकती है? कभी नहीं। हमारे मन की तृष्णा हमें सदैव दौड़ाती रहती है।

सभी लोग धन संग्रह से ही धन्य हो रहे हैं। 'बाप बड़ा न भैया, सबसे बड़ा रुपैया' और बस उसी की कमाई में दिन–रात लगे हैं और धर्म को भूले हुये हैं। हम लोभ के कारण अपने स्वर्णिम मानव जीवन को गँवा रहे हैं। जिस आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है, पतित से पावन बनने की क्षमता है, वही आत्मा लोभ–लिप्सा के कारण संसार में रुल रहा है। पर ध्यान रखना, धन कितना ही बढ़ जाये, उतना ही कम मालूम पड़ता है। श्मशान में कितने ही मुर्दे ले जाओ, उसका पेट नहीं भरता, अग्नि में कितना ही ईंधन डालो, वह तृप्त नहीं होती, सागर में कितनी ही नदियाँ मिल जावें, वह तृप्त नहीं होता। इसी प्रकार तीन लोक की सम्पत्ति मिलने पर भी व्यक्ति की कामनाएं (इच्छायें) पूरी नहीं हो सकतीं।

कामनाओं का कलश बड़ा विचित्र है। यह देखने में बड़ा सुन्दर और आकर्षक है, लेकिन यह कभी भर नहीं सकता, क्योंकि नीचे से इसकी पेंदी फूटी हुई है। जिस कलश की पेंदी न हो, उस कलश को भरने का कोई कितना ही प्रयास करे, वह आज तक भरा ही नहीं, तो भरेगा कैसे? आचार्य कहते हैं तुम यदि सुखी रहना चाहते हो, तो अपनी इच्छाओं को कम करो और हर हाल में संतुष्ट रहने का प्रयास करो।

संसार में सभी व्यक्ति दुःखी हैं, वे सदा सुख की तलाश करते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति सुख की तलाश करता है। एक छोटा–सा बच्चा है, यदि वो रो रहा है, तो सुख के लिये रो रहा है। जवान व्यक्ति सपने देख रहा है, सुख के सपने देख रहा है। बूढ़ा भी

कराह रहा है, तो सुखी होने के लिए कराह रहा है। इस दुनिया में जितनी भी भाग–दौड़ है, जितनी भी प्रतिस्पर्धा है, जितनी भी आगे बढ़ने की होड़ है, वह सब सुख के लिये है। सुख की खातिर ही व्यक्ति पढ़ता है, स्कूल जाता है, मेहनत करता है, मजदूरी करता है, बड़ी–बड़ी फैक्ट्रियाँ लगाता है। वो सोचता है खूब धन कमा लूँ तो सुखी हो जाऊँगा। मेरे पास बहुत–सी जमीन–जायदाद रुपया–पैसा हो जाये, तो मैं सुखी हो जाऊँगा। पर ध्यान रखना, निराकुलता के बिना सच्चा सुख नहीं हो सकता।

ग्रीस में एक बड़ा दार्शनिक हुआ है 'सोलन।' उसने 'सुखी जीवन का रहस्य' नामक पुस्तक में लिखा है कि एक जिज्ञासु 'सोलन' के पास पहुँचा और उसने कहा कि गुरुदेव! मुझे सुखी बनने का मन्त्र बता दीजिये, मैं सुखी कैसे बनूँ? पहले तो सोलन ने टाला, पर जब जिज्ञासु ने विशेष आग्रह किया, तो सोलन कुछ देर के लिये गंभीर हो गये, फिर बोले–ठीक है, तुम सुखी होना चाहते हो तो एक काम करो–जाओ, दुनिया में किसी भी सुखी आदमी का कोट माँगकर ले आओ। उसके बाद मैं तुम्हें सुखी होने का राज बता दूँगा।

उसने कहा – ये तो बड़ी सरल बात है, मैं अभी जाता हूँ। एथेंस में बहुत बड़े–बड़े धनवान व्यक्ति हैं, उनमें से किसी के पास भी जाऊँगा और कहूँगा कि भाई, मुझे थोड़ी देर के लिये अपना कोट दे दो। कोट देने से कोई इंकार थोड़े ही करेगा?

इसी भावना और विश्वास से भरकर वह एथेंस नगर के सबसे बड़े धनवान व्यक्ति के दरवाजे पर पहुँचा और दरबान की अनुमति प्राप्त करके भीतर गया, वहाँ उसने निवेदन किया–मुझे सोलन ने आपके पास भेजा है। आपके पास सब कुछ है। आप बहुत सुखी हैं।

आप मुझे थोड़ी देर के लिये अपना कोट द दीजिये तो मुझे उनसे सुखी होने का मंत्र मिल जायेगा। सेठ ने कहा–कोट की क्या बात है। एक क्या, चार कोट ले जाओ। पर मैं सुखी नहीं हूँ, मैं तो बहुत दुःखी हूँ।

उस जिज्ञासु ने कहा–आप मुझे भ्रमित कर रह हैं। आपके पास इतनी धन–संपत्ति है, इतना विशाल महल है, इतना बड़ा परिवार है, पूरे–के–पूरे एथंस शहर के शहंशाह माने जाते हो, आपसे बड़ा सुखी और कौन होगा? आपको आखिर कमी किस चीज की है?

सेठ ने कहा– यदि तुम देखना चाहते हो तो कुछ दिन मेरे घर ठहरो। जिज्ञासु का सारा इंतजाम कर दिया गया। जिज्ञासु मेहमान की तरह रुका, तो देखता क्या है कि रात में सेठानी सेठ पर आग की तरह अंगारे बरसा रही है। सेठ चुपचाप सुन रहा है। उससे कह रहा है कि दखो अपने घर मं मेहमान आया है, कम–से–कम मेहमान का तो ध्यान रखो। थोड़ी देर बाद सेठानी और जार स उबल पड़ी। थोड़ी देर बार सेठ के रोने की आवाज आई तो उस जिज्ञासु का एक दिशा मिली। उसने कहा कि इस सेठ के पास धन–दौलत की कोई कमी नहीं है, लेकिन इसकी पत्नी तो साक्षात राक्षसी है। इससे अच्छा मैं हूँ। मुझे इस प्रकार का दुःख नहीं है। यह आदमी तो बहुत दुःखी है। इस आदमी के कोट से अपना काम नहीं बनेगा।

वह आगे चलकर एक बड़े जमींदार के दरवाजे पहुँचा और उससे भी कोट के लिये प्रार्थना की। जमींदार ने कहा– भाई! कोट ले जाना हो तो ले जाओ, लेकिन मैं क्या बताऊँ, मेरे पास भले ही सब–कुछ है फिर भी मैं बहुत दुःखी हूँ। मेरा बेटा जो है, वह एकदम आवारा और लफंगा बन गया है। उसे नशे की आदत हो गई है।

तभी उसने देखा कि पिता के सामने बेटा नशे में धुत्त होकर आ रहा है। पिता ने कहा कि मुझे तुम्हारा नशा करना अच्छा नहीं लगता। बेटे ने बड़ी बेरुखी से कहा कि ये मेरी पर्सनल लाइफ है। इसमें आपको दखल देने का कोई अधिकार नहीं है। मेरी जिन्दगी मैं जैसे चाहूँ जिऊँ। बेटे के इस उपेक्षापूर्ण व्यवहार से पिता का मन बड़ा आहत हो गया। जिज्ञासु भी दुःखी हो गया।

आगे चलकर वह एक व्यवसायी के पास पहुँचा। व्यवसायी अपने काम में बड़ा व्यस्त था। जिज्ञासु देख रहा था कि लेन–देन के काम से उसे पल भर की भी फुरसत नहीं है। बहुत अच्छी दुकान चल रही है। उसने सोचा यह आदमी सुखी होगा। जिज्ञासु ने कहा–भाई! तुम मुझे अपना कोट दे दो, तुम बहुत सुखी मालूम पड़ते हो। व्यवसायी ने कहा–भाई! कोट तो तुम ले जाओ, पर मैं सुखी नहीं हूँ। जिज्ञासु बोला – तुम्हें क्या दुःख है? इतनी बढ़िया दुकान चलती है फिर तुमसे ज्यादा सुखी कौन होगा? व्यवसायी बोला – यही तो मेरे दुःख का कारण है। मेरी दुकान इतनी अधिक चलती है कि मुझे सोने तक की फुर्सत नहीं। देर रात तक मुझे नींद नहीं आती, नींद की गोलियाँ खाकर रात गुजारता हूँ। दिन में भी चैन नहीं मिलता। ज्यादा क्या कहूँ, वक्त पर खाना भी नहीं खा सकता। मैं बहुत दुःखी हूँ। मुझसे बड़ा दुःखी तो संसार में कोई नहीं मिलेगा। मैं इस दुःख से मुक्त होना चाहता हूँ।

यहाँ से भी निराशा मिली। वह आगे बढ़ा तो एक पेड़ के नीचे अल्हड़ फकीर बैठा हुआ था। फकीर से उसने कहा कि तुम तो बड़े सुखी मालूम पड़ते हो? फकीर ने अपने मस्ती भरे अंदाज में कहा–हाँ, मैं बहुत सुखी हूँ। तो उसने कहा कि तो फिर आप अपना कोट मुझे दे दीजिये। फकीर ने कहा कि–भाई! कोट की क्या बात? मेरे पास

तो लंगोटी है। कोट मैं तुम्हें कहाँ से दूँ? तुम चाहो तो मेरी लंगोटी ले सकते हो। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि इनके पास कुछ भी नहीं है, फिर भी अपने आपको सुखी कह रहे हैं। सो पूछ बैठा–आखिर सुखी होने का राज क्या है? फकीर बोला सुखी वह नहीं, जिसके पास अपार धन–सम्पदा और बाह्य साधन हों। सुखी केवल वही हो सकता है, जो हर हाल में मस्त और संतुष्ट रहकर जीवन जीने की कला जानता हो।

जिसके मन में अधिकाधिक पाने की चाह होती है, उस व्यक्ति का जीवन काँटों से भरा होता है, उसे कभी सुख नहीं मिल सकता। सुख पाने के लिये संतोष बहुत जरूरी है।

एक कहावत है – 'संतोषी सदा सुखी।' जो संतोषी है, वह हमेशा सुखी है और जो असंतोषी है, वह हमेशा दुःखी है। 'जहाँ चाह है वहाँ ही दुःख है।' शहंशाह तो वे हैं, जिनकी चाह खत्म हो गई।

चाह गई चिंता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जिनको कुछ न चाहिये, वे शाहन के शाह।।

जिसने लोभ को जीत लिया उसी के शौच धर्म होता है। लोभ को ही पाप का बाप कहा जाता है। 'लोभ पापस्य कारणम्'। लोभ ही पाप का कारण है।

लोभ मूलानि पापानि, रस मूलानि व्याध्वः।
स्नेह मूलानि शोकानि, त्रीणी त्यक्त्वा सुखीर्भवेत।।

उक्त दोहे में समस्त दुराचारों के लिये लोभ को ही उत्तरदायी ठहराया है। लोभी व्यक्ति का मन कभी शान्त नहीं रहता।

एक बार एक व्यक्ति महाराज के पास आया और बोला–महाराज जी! आप मुझे ऐसा आशीर्वाद दे दीजिये जिससे मेरी जिन्दगी बन

जाये। महाराज ने उससे कहा—क्या बात है, तुम क्या चाहते हो? वह बोला—मैं तीस हजार रुपये महीना कमाता हूँ, आपकी कृपा हो जाये तो मेरी मासिक आय तीस हजार से पचास हजार हो जाये। तीस हजार में मेरी जिन्दगी का गुजारा नहीं होता। महाराज को बड़ा आश्चर्य हुआ इस व्यक्ति की जिन्दगी का गुजारा तीस हजार रुपये में भी नहीं हो रहा है।

महाराज ने उससे कहा कि सड़क पर जो तू अपनी गाड़ी खड़ी करके आया है, उस गाड़ी में कौन है? वह बोला मेरा ड्राइवर है। महाराज ने पूछा—उस ड्राइवर को तू कितने रुपये महीने देता है? वह बोला—मैं उसे तीन हजार रुपये महीने देता हूँ। महाराज ने कहा तू उसे तीन हजार रुपये देता है और तुझे तीस हजार रुपये मिलते हैं। तीन हजार में उस ड्राइवर का गुजारा हो जाता है? वह बोला हाँ उसका गुजारा तो बड़े अच्छे से हो जाता है। वो तो हमेशा खुश और बड़ा प्रसन्नचित्त रहता है। महाराज ने उससे पूछा—उस ड्राइवर के बच्चे भी होंगे? वह बोला—ड्राइवर के पाँच बच्चे हैं। महाराज ने कहा और तुम्हारे कितने बच्चे हैं? वह बोला—मेरा तो एक ही लड़का है। महाराज को बड़ा आश्चर्य हुआ जिसके पाँच बच्चे हैं, वो तीन हजार में सुखी है और जिसके एक बच्चा है, वह तीस हजार में भी दुःखी है।

महाराज ने उस व्यक्ति से कहा—यदि मैं तुझे पचास हजार रुपये मासिक आय प्राप्त होने का आशीर्वाद दे दूं तो क्या तू सुखी हो जायगा? उसने कहा—उम्मीद है कि सुखी हो जाऊँगा। पचास हजार में भी उसे उम्मीद है, विश्वास नहीं है। महाराज ने उससे कहा तुझे पचास हजार तो क्या पचास लाख भी मिल जायें, तो भी तू सुखी नहीं हो सकता। जीवन में यदि संतोष है, तो व्यक्ति तीन हजार में भी सुखी

हो सकता है। गृहस्थी के बीच में रहता हुआ भी व्यक्ति यदि संतोष की समता की साधना करता है, तो वह सुखी हो सकता है। संतोष और संतुष्टि की साधना जीवन को सुखी बनाने का सूत्र है।

लोभी व्यक्ति तो सदा अभाव में जीता है। संतुष्ट वह है, जो केवल उसका मूल्यांकन करता है जो उसके पास है। असंतुष्ट वह है, जो उसकी तरफ भागता है जो उसके पास नहीं है। हजारपति लखपति बनने की चाह रखता है, लखपति करोड़पति बनने की कामना करता है, करोड़पति अरबपति बनने का सपना देखता है और अरबपति सारी दुनिया का सम्राट बनने की लालसा रखता है। व्यक्ति की यह अधिक पाने की लालसा ही दुःख का कारण है।

आचार्य गुणभद्र महाराज ने लिखा है–

आशागर्तः प्रतिप्राणिर्यस्मिन विश्वमणूपमम्।
कस्यकिं कियदायाति वृथा वो विषयेषिता।।

यह आशारूपी गर्त प्रत्येक प्राणी के सामने खुदा है। जिसे संसार के समस्त वैभव से भी भरा नहीं जा सकता। इस आशा रूपी गर्त को जैसे–जैसे भरा जाता है, वैसे–वैसे ही गहरा होता जाता है। पृथ्वी के अन्य गर्त भर देने से भर जाते हैं, पर यह आशागर्त भरने से और भी गहरा होता जाता है।

जैसे किसी व्यक्ति को 1000 रुपये की आशा थी, हजार रुपये उसे मिल भी गये पर अब आशा दस हजार की हो गई। अर्थात् आशारूपी गर्त पहले से दस गुना गहरा हो गया। भाग्यवश दस हजार भी मिल गये पर अब एक लाख की आशा हो गई। अर्थात् आशारूपी गर्त पहले से सौ गुना हो गया। इसे सभी लोग प्रतिदिन अनुभव कर रहे हैं। व्यक्ति को कितना भी मिल जाये पर कुछ–न–कुछ

कमी बनी ही रहती है।

अभाव का सिलसिला ही कुछ ऐसा होता है कि एक अभाव को पूरा करते हैं, तब तक दूसरी वस्तु का अभाव हमारे सामने आकर उपस्थित हो जाता है। उस अभाव को पूरा करने के लिये हम प्रयत्न करते हैं, तब तक उसके स्थान पर तीसरी इच्छा हमारे मन में जगती है और उसके बाद चौथी, चौथी के बाद पाँचवीं। एक अन्तहीन श्रृंखला चालू हो जाती है, जो हम कभी पूरी नहीं कर पाते। अभावों को पूरा करते–करते हमारे जीवन का अभाव हो जाता है, पर अभावों का अन्त नहीं हो पाता।

हम दूसरों से बड़ा बनने की कोशिश में अपने मानव जीवन को गँवा रहे हैं। केवल ऊपरी दिखावे और फालतू शान के नाम पर हमने बहुत से कृत्रिम साधनों को अपनाया है, और जब हम उन्हें पूरा करने की कोशिश में लगते हैं, तो हमारे जीवन का संतुलन बिगड़ जाता है। ऐसे लोग न तो अपनी हैसियत देखते हैं और न ही परिस्थिति। केवल अपने आपको दूसरों से श्रेष्ठ साबित करने की कोशिश में लगे रहते हैं।

पत्नी ने रूठकर पति से कहा–आप कुछ करो, मुझसे अब और कुछ सहन नहीं होता।

पति ने कहा–क्या करूँ? क्या सहन नहीं होता? कुछ तो बताओ?

पत्नी बोली हमारे सामने रहने वाली सहेली पाँच–सौ रुपये किराया वाले मकान में रहती है और हमारे मकान का किराया केवल तीन सौ रुपया है। आपको जो करना है सो कीजिए, किन्तु मुझे मेरी परेशानी से मुक्त कीजिये। जब मेरी सहेली मुझसे मिलने आती है, तो मैं उससे नजरें भी नहीं मिला पाती।

पति ने कहा—भगवान मेरी तन्खा ही नहीं बढ़ाता। मैं क्या करूँ?

पत्नी बोली—मैं कुछ भी सुनना नहीं चाहती। कुछ भी करके आप अपनी कमाई बढ़ाइये।

और एक दिन आफिस से आते ही पति ने पत्नी का खुशखबरी सुनाई—सुनती हो, तुम्हारी इच्छा पूरी हो गई।

पत्नी न प्रसन्न होकर पूछा—क्या हम पाँच—सौ रुपया किराया वाले घर में जा रहे हैं? पति न कहा—नहीं, अभी हम जिस घर में रहते हैं उस घर का किराया ही मकान—मालिक ने बढ़ाकर पाँच सौ रुपया कर दिया है। बस अब तो खुश हो ना?

बस, यही स्थिति आज के ज्यादातर लोगों की है। हमें केवल सुख नहीं चाहिये, आसपास के लोगों की अपेक्षा अधिक सुख चाहिये। हम अपने आपको दूसरों से श्रेष्ठ साबित करने के चक्कर में सदा असंतुष्ट रहते हैं।

पर ध्यान रखना संतोषी सदा सुखी और असंतोषी सदा दुःखी रहता है। संतुष्ट व्यक्ति का हृदय अत्यन्त निर्मल रहता है। वह हर काम बड़े उत्साह और प्रसन्नता से करता है।

एक व्यक्ति के पास उसका मित्र जब कभी भी आता था, तो गहरी आध्यात्मिक चर्चा किया करता था। उस आदमी के व्यवहार से मालूम होता था कि वह बड़ा आदमी है, और बड़ा आदमी होने के साथ—साथ बहुत सुखी भी है। एक दिन वह उससे मिलने के लिये उसके घर पर गया। जब वह उसके घर पहुँचा, तो देखकर दंग रह गया। बहुत छोटा—सा घर था, तीन कमरे का मकान था। एक कमरे में उसने अपनी बैठक बना रखी थी, दूसरे कमरे में उसका शयन कक्ष था, और तीसरे छोटे कमरे में उसकी किचिन थी। उसने देखा

कि वह व्यक्ति अपने बटे के सिर में बाम–मल रहा है, बेटा बीमार है। उसन पूछा–आपक बटे का क्या हो गया है? बाला–तीन दिन से बुखार है। मैं इसकी सेवा कर रहा हूँ। पूछा–इसकी माँ कहाँ है? उसने कहा–माँ तो है, पर उसका दिमाग खराब है। वह कुछ कर नहीं सकती। उसका काम भी मैं ही करता हूँ। वह भीतर कमरे मं है। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, यह आदमी इतने कष्ट मं है, फिर भी प्रसन्न कैसे रहता है। उस व्यक्ति के लिये वह चाय बनाने गया। बहुत मना करने पर भी जब वह चाय बनाने लगा तो उसने पूछा क्या खाना भी आप खुद बनात हैं? कहा–हाँ, पत्नी खाना नहीं बना सकती। यह छोटा लड़का है, पढ़ने जाता है। इसका बड़ा भाई आवारा है। बुरी संगति में पड़ गया है। अभी कहीं घूम रहा होगा। थोड़ी दर बाद आकर खाना खा लेगा।

उस व्यक्ति को लगा कि इस व्यक्ति के जीवन मं बहुत कुछ है। उसने पूछा आप यह सब कैसे कर लेते हैं? आपका जीवन तो बड़ा दुःखमय है। उस व्यक्ति ने कहा मैं–कहीं से भी दुःखी नहीं हूँ। मैं परमात्मा का धन्यवाद देता हूँ, कि मुझे कम–से–कम इस लायक तो बनाया कि मैं अपना सारा काम अपने हाथ से कर लेता हूँ। मैं सदा सकारात्मक सोच रखता हूँ। मेरी पत्नी पागल जरूर है, पर वह चिल्लाती ता नहीं है। बड़ा बेटा आवारा है, पर किसी की हत्या आदि तो नहीं करता। छोटा बेटा पढ़–लिखकर कुछ बन जायेगा। मैं परमात्मा को इस बात के लिये धन्यवाद देता हूँ कि भल मुझ हजार दुःख दिये, पर एक सुख तो मिला है। मैं हजार दुःख की तरफ नहीं देखता। एक सुख की तरफ दखता हूँ और सदैव परमात्मा को याद करता हूँ। मेर सुखी जीवन का एक ही मंत्र है, हर हाल में संतुष्ट रहना और प्रसन्न होकर जीना।

वास्तव में सुखी वही है जो हर हाल में संतुष्ट रहता है। और सकारात्मक सोच रखता है। अतः जितना है उतने में ही संतोष धारण करो और ज्यादा का लोभ मत करो।

लोभ ठीक नहीं होता, यह सब जानते हैं। लोभ के परिणाम बड़े खराब निकलते हैं, यह भी सब जानते हैं, पर जानते हुये भी वह छूट नहीं रहा है, यह भी सब जानते हैं। चाहे धन संग्रह का लोभ हो, चाहे अच्छे खाने–पहनने का लोभ हो, चाहे लेन–देन के संबंध में लोभ हो। यह हमारी कषाय का तीव्र प्रभाव है कि लोभ के दुष्परिणामों को जानते हुये भी हम उस पर विजय नहीं पा रहे हैं।

लोभ को 'पाप का बाप' माना जाता है। पाप के त्याग की बात सब जगह आती है कि, भैया! पाप मत करो। पर अगर कहीं पाप के बाप से पाला पड़ जाये, तो फिर क्या करोगे? हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह यह तो कहलाते हैं पाप, और लोभ को कहा है पाप का–बाप। इससे यह सिद्ध होता है कि यह लोभ उन पापों से भी घातक है। क्योंकि लोभ ही सब प्रकार के पाप कराता है। हमें लोभ न हो तो किसी भी प्रकार के पाप करने की आवश्यकता ही नहीं है। कहा गया है –

कोहो पीई पणासेई, माण विणय नासणो।
माया मित्ताणि नासेई, लोहो सव्व विणासणो।।

क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया मैत्री को नष्ट करती है और लोभ सब कुछ नष्ट करता है।

क्रोध व्यक्ति को अन्धा बना देता है। क्रोध के आते ही व्यक्ति का विवेक खो जाता है। मान व्यक्ति को बहरा बना देता है, अहंकारी व्यक्ति किसी की बात सुनने को तैयार नहीं होता। रावण को सभी ने

समझाया था पर अहंकार के कारण उसने किसी की बात नहीं मानी। मायाचारी व्यक्ति जिह्वारहित ही माना जाता है, क्योंकि उसकी बात पर कोई विश्वास नहीं करता और लोभ तो इन्सान की नाक ही कटवा देता है। ऐसे अनेकों उदाहरण मिल जायेंगे जिनमें लोभ के वशीभूत होकर कितनों ने अपनी प्रतिष्ठा को धूमिल किया है।

श्री रामचन्द्र जी मर्यादा पुरुषोत्तम माने जाते हैं। उनका जीवन बड़ा ही प्रेरक/आदर्शमय रहा है, पर नीतिकार कहते हैं कि श्री राम भी एक जगह भ्रमित हो गये। सीता जी के कहने पर स्वर्ण मृग को पकड़ने दौड़ पड़े और सीता जी का हरण हो गया। एक स्वर्ण मृग के लोभ में श्रीराम यह भी भूल गये कि मृग तो मृग होता है। सोने का कैसा मृग? पर क्या करें, मृग के रूप में आसक्त राम सीता सब कुछ भूल गये। ऐसा ही तो हमारा आतमराम लोभ लिप्साओं के स्वर्ण मृगों के पीछे बेतहासा भाग रहा है और इसी कारण हमारी सुख–शान्ति की सीता खो रही है।

लोभ के साथ यह दिक्कत है कि जितना लाभ होता है उतना लोभ बढ़ता चला जाता है। जो हमने पाया है, अगर हम उसमें संतोष रख लेवें तो संसार में फिर ऐसा कुछ नहीं है जो पाने को शेष रह जाये। पाते काहे के लिये हैं? आत्मसंतोष के लिये। पर आत्म संतोष नहीं मिला और दुनिया भर की चीजें मिल गईं। लोभी व्यक्ति को चाहे जितना भी लाभ क्यों न हो जाये, उसे कभी भी तृप्ति और संतुष्टि नहीं होती। मनोवांछित लाभ होने के उपरान्त भी उसका मन असंतुष्ट रहता है।

एक बार एक पति–पत्नी महाराज के पास आये। पति कुछ उदास था। महाराज ने पूछा क्या बात है? आज कुछ परेशान दिख

रहे हो।

उसने कहा महाराज क्या बताऊँ? आज एक लाख का नुकसान हो गया। पत्नी ने बीच में ही कहा महाराज, इनकी तो आदत ही है। ये यह नहीं बोलते कि हमें दो लाख का फायदा हुआ है। महाराज ने पूछा–क्या मतलब?

पत्नी ने बात स्पष्ट करते हुये कहा–महाराज! कल इन्होंने पन्द्रह सौ रुपये खरीद का चना उन्नीस सौ रुपये में बेचा, उसमें कल दो लाख का फायदा हुआ, पर आज चने का भाव इक्कीस सौ रुपये हो गया। इसलिये इसे वे अपना नुकसान मानकर कह रहे हैं कि एक लाख का नुकसान हो गया।

लोभी व्यक्ति कभी भी संतुष्ट नहीं होता। लोभ के कारण व्यक्ति दिन–रात धन कमाने में लगा रहता है। उसके पास न घर के लिये समय है और न धर्म के लिये। पर ध्यान रखना जो धन के पीछे, धर्म को छोड़ देते हैं, लक्ष्मी भी उनका साथ छोड़ देती है, क्योंकि लक्ष्मी तो पुण्य की दासी है। जहाँ धर्म होता है, पुण्य होता है, वहीं लक्ष्मी भी रहती है।

एक समय की बात है। विष्णु और लक्ष्मी में विवाद छिड़ जाता है कि कौन अधिक जनप्रिय है? बस इस बात को परखने के लिये दोनों मनुष्य–लोक में आ जाते हैं। विष्णु एक सन्यासी का वेष धारण करते हैं और एक सेठ के सुन्दर भवन में बने संत–निवास में रुक जाते हैं। प्रतिदिन प्रवचन आदि होने लगते हैं, जनता आने लगती है और भीड़ बढ़ने लगती है। यह देखकर सेठ–सेठानी और उनका पुत्र एवं पुत्रवधू सब अपने भाग्य को सराहने लगते हैं। स्थिति यह बनती है कि सन्त–निवास छोटा पड़ने लगता है। धर्म प्रेमी जन प्रतिदिन बढ़ते

जाते हैं। इस प्रकार उमड़ते इस जन समूह को देखकर बाबा का मन बल्लियों उछलने लगता है।

एक दिन जब धर्म सभा अच्छी तरह जमी थी, तब लक्ष्मी एक बूढ़ी भिखारिन का वेश बनाकर सेठ के द्वार पर आती है और द्वार पर खड़ी होकर कहती है—पानी पिलाओ, प्यास लगी है।

सेठानी ने यह दो—चार बार सुनकर अनसुना कर दिया, पर जब वह बराबर चिल्लाती रही, तब उसकी पुत्रवधू पूछती है कि माताजी क्या बात है? माताजी कहती हैं कि बेटी बाहर कोई पानी माँग रहा है जाओ उसे पानी पिला दो। बहू भी सरस प्रसंग को छोड़ना नहीं चाहती थी, किन्तु सास का आदेश था, अतः उठना ही पड़ा। बहू जल्दी उठी और आनन—फानन में पानी का लोटा लेकर घर के बाहर आ जाती है। जैसे ही वह उसे पानी पिलाने लगती है, वह भिखारिन के वेश में लक्ष्मी अपनी झोली में से एक रत्न जड़ित सोने का अनुपम कटोरा निकालती है और उसमें पानी डलवाकर पीने लगती है। जैसे ही वह पानी मुँह में डालती है, तो यह कहते हुये कटोरे को फेक देती है कि – पानी गर्म है, थोड़ा ठण्डा पानी पिलाओ।

पुत्रवधु, भिखारिन का कटोरा देखकर हैरान हो जाती है और अन्दर ठण्डा पानी लेने चली जाती है। भिखारिन पुनः अपनी झोली में से एक और रत्न जड़ित सोने का कटोरा निकालती है और उसमें जल डलवाकर थोड़ा—सा पानी पीती है। फिर कहती है—ठण्डा तो है, परन्तु खारा है। यह कहकर पानी गिरा देती है, और कटोरे को वहीं फेक देती है। इस प्रकार वह चार—पाँच कटोरे यूँ ही फेक देती है। ऐसा दृश्य देखकर पुत्रवधू की बुद्धि चकरा जाती है। वह दौड़ी—दौड़ी अन्दर जाती है और सासू जी को सब बात बताती है। सासू जब

आकर यह सब रत्न जड़ित कटोरे देखती है तो सोचती है यह तो साक्षात लक्ष्मी है। सेठानी आगे आती है और भिखरिन के पैर पकड़ कर कहती है कि – आप ये कटोरे छोड़कर कहाँ जा रही हैं? वह भिखारिन कहती है कि मेरा तो नियम कुछ ऐसा ही है, मैं जहाँ भोजन करती हूँ, उन रत्न जड़ित थालों को व कटोरों को वहीं फेक देती हूँ। उनमें पुनः भोजन व पानी लेना मेरे धर्म के विपरीत है।

अब सेठ–सेठानी, पुत्र–पुत्रवधू सब मिलकर उनसे यहीं रहने के लिये आग्रह करने लगते हैं। बहुत प्रार्थना करने पर वह भिखारिन कहती है जिस घर में साधु ठहरा हुआ हो, उस घर में मैं कैसे रह सकती हूँ?

लक्ष्मी की साक्षात मूर्ति को ठुकराकर लोग स्वर्ग–नरक की चर्चा सुनने के लिये भला बाबा को कैसे अपने घर रखें? यह कब संभव हो सकता है? अब जल्दी–से–जल्दी बाबा को घर से निकाला जाता है। सन्यासी 'जाता हूँ, जाता हूँ' कहता हुआ जाने लगता है। वह कहता है–मैंने पहले ही कहा था मैं चार महीने यहीं रहूँगा। तुम अपने वादे से मुकर रहे हो। पर सुनना किसको था? किसी ने भी सन्यासी की बात पर ध्यान नहीं दिया। इस तरह सन्यासी चला जाता है।

अब वह भिखारिन कहती है, तुम लोग जब इनसे वचनबद्ध थे फिर इन्हें निकाल क्यों दिया। कल मेरे साथ भी ऐसा ही करोगे। ऐसे लोगों के यहाँ मैं भी नहीं रहना चाहती।

जाते–जाते लक्ष्मी विष्णु से पूछती है–क्यों देख लिया न कौन अधिक प्रिय है? लोग गुनगुनाने लगते हैं कि दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम।

जो धन आदि के लोभ में पड़कर धर्म को भूल जाते हैं, उन्हें

कुछ भी प्राप्त नहीं होता, न ही लौकिक वस्तुयें और न अलौकिक वस्तुयें। अतः समस्त प्रकार के लोभ को छोड़कर उत्तम शौचधर्म को धारण करो।

इस अपवित्र शरीर से भिन्न जो शुद्ध आत्मा का ध्यान करके उसी में रत रहता है तथा जो 'मैं सदा शुद्ध–बुद्ध हूँ, निर्मल हूँ, शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ, पर द्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। इस तरह हमेशा अपने अंदर–ही–अंदर ध्यान करता है, उसके शौच धर्म होता है। आत्मा का स्वरूप ही शौच धर्म है। इसलिये ज्ञानी महामुनि इसी का ध्यान करते हैं।

लोभ की यह तासीर है जितना लाभ बढ़ता है उतना लोभ भी बढ़ता जाता है। श्री क्षमासागर महाराज से गोटेगाँव के एक सेठ जी बता रहे थे कि हमने पेंसठ रुपये से दुकानदारी शुरू की थी। हमें बंटवारे में इतने ही रुपये मिले थे। फिर हमारे अच्छे कर्म का उदय आया वे पैंसठ रुपये पहले पैंसठ सौ हुए फिर पैंसठ हजार हो गये। आज पैंसठ लाख हो गये, पर मन में भावना है कि वे बढ़कर पैंसठ करोड़ हो जायें। वे खुद कह रहे थे कि महाराज! पहले धर्मध्यान करने के लिये मेरा बहुत मन करता था, समय भी होता था लेकिन आज मेरे मन में धर्मध्यान करने का भाव थोड़ी देर को आता है पर मेरे पास समय नहीं हैं। पहले मैं रुपया कमाता था, पर अब तो मैं रुपया कमाने की मशीन हो गया हूँ। उन्हें इस बात का दुःख होने के बावजूद भी अब बहुत मुश्किल है कि वे बच सकें, क्योंकि लोभ की तासीर है कि जैसे–जैसे लाभ बढ़ता है, वैसे–वैसे लोभ और बढ़ता जाता है।

दूसरा लोभ होता है अपने पुत्र और परिवार का। तीसरा लोभ

होता है – समाज में अपनी प्रतिष्ठा का। वित्तेषणा, पुत्रेषणा, लोकेषणा ये तीनों लोभ के प्रकार हैं। बस इन्हीं से सारा संसार बना है। हमें विचार करना चाहिये कि हम इन तीनों को नियंत्रित कर सकें तो हमारा मन उतना ही उज्ज्वल हो जायेगा, उतना ही निर्मल हो जायेगा। किसको नहीं मालूम कि लोभ से सिवा दुर्गति के आज तक और क्या हुआ है? सबको मालूम है – लोभ पूरी जिन्दगी नष्ट कर देता है।

हम विचार करें कि मैं लोभ को किस तरह से नियंत्रित करूं? मैं लोभ को कैसे जीत सकूँ? मेरे जीवन में यह संस्कार अनादिकाल का है कि जो चीज दिखाई पड़ती है उसी को ग्रहण करने का भाव मेरे अन्दर उत्पन्न हो जाता है, उस स्थिति में मैं क्या करूँ? जबकि वह चीज हमारे ज्यादा काम की नहीं है, उल्टे वह मेरे अहित में कारण बनेगी, इतना भी जानता हूँ मैं। फिर जान–बूझकर कैसे अंधा हो जाता हूँ? इस पर विचार करें। पहले घर में एक गाड़ी थी, बाहर खड़ी रहती थी, ज्यादा चिंता नहीं थी। अब एक गाड़ी और लेकर आये हैं। जब तक गैरेज नहीं बनता तब तक वह बाहर ही खड़ी है, तो रात में जब नींद खुलती है, 2–3 बार तब बालकनी से झांककर देखना पड़ता है कि गाड़ी खड़ी है कि नहीं खड़ी? एक आफत हो गई सोच तो रहे थे कि आसानी हो जायेगी। पर ये तो एक आफत मोल ले ली।

विचार करो पहले घर में चार चीजें थीं, तो शांति से उनमें ही जीवन चलता था और अब चार सौ हैं तो भी मन शान्त नहीं है। इसके बाद भी मन अशान्त है।

लोभ की तासीर ही यह है कि आशायें बढ़ती हैं, आश्वासन

मिलते हैं पर हाथ कुछ नहीं आता। एक उदाहरण है –

एक व्यक्ति को किसी देवता ने प्रसन्न होकर एक शंख दे दिया। उस शंख की तासीर थी कि नहा–धोकर शंख फूंको, फिर उसके सामने जितनी इच्छा करो उतना मिल जाता था। उसको तो बड़ा मजा हो गया। बस, नहा धोकर शंख फूंका और आकांक्षा की कि हजार रुपये दो, तो हजार रुपये मिल गये। एक दिन बाजूवाले ने देख लिया। बस, गड़बड़ यहीं से शुरू होती है कि बाजू वाला अपने को देखे या अपने बाजूवाले को देखें। बाजूवाले ने सोचा कि यह शंख तो अपने पास होना चाहिये। जो–जो अपने पास है हमें वह नहीं दिखता है। जो अपने पास है वह दूसरे को दिखता है। सीधा सा गणित है – जो अपने पास है, वह दिखने लगे तो सारा लोभ नियंत्रित हो जाये। नहीं, सारे संसार में जो चीजें हैं, वे सब आसानी से दिखाई पड़ती हैं, पर मैंने क्या हासिल किया – मुझे, यह दिखाई नहीं पड़ता। और एक असन्तोष मन के अन्दर निरन्तर बढ़ता चला जाता है। व्यक्तिगत असन्तोष, पारिवारिक असन्तोष, सामाजिक असन्तोष–कितने तरह के असन्तोष हमारे जीवन को इतनी–सी बात से घेर लेते हैं कि मेरे पास जो है उसे मैं नहीं देखता हूँ, दूसरे के पास जो है वह दिखाई देता है मुझे।

हाँ तो, बाजूवाले ने देखा कि इसके पास बढ़िया शंख है। तो उसने भी एक बाबाजी से शंख ले लिया। पर उस शंख से मिलता कुछ नहीं था। उसके सामने जितना माँगो वह उससे दुगना देने को बोलता था। उसने पड़ोसी से कहा – सुनो! मुझे भी एक बाबाजी ने शंख दिया है।

कैसा शंख? पड़ोसी ने पूछा।

उससे जितना माँगो, उसका दो गुना मिलता है।

दो गुना मिलता है। मेरे पास तो जो है, उससे जितना माँगो उतना ही मिलता है।

ऐसा करें, बदल लें आपस में?

हाँ–हाँ ऐसा ही करें। पड़ोसी ने कहा ।

बस हो गया काम। बदल लिया और दुगुने वाला ले लिया। मन में खुश। सबेरे उठे, जल्दी–जल्दी नहाया–धोया, और फिर शंख फूँका। कहा–एक लाख रुपये दो। शंख में से आवाज आई – एक लाख क्यों? दो लो न दो। लेकिन आया एक भी नहीं।

अरे! पुराने में तो जितना माँगो उतना मिल जाता था, पर इसमें से केवल आवाज आई कि एक क्यों, दो लो न दो, पर आया कुछ नहीं। तो उसने कहा–तुम देते क्यों नहीं? दो लाख दो।

शंख में से फिर आवाज आई–दो क्यों? चार लो न चार।

अब बात समझ में आ गई, जितना माँगते चले जाते हैं आश्वासन मिलता है उससे दुगुने का पर हाथ में कुछ भी नहीं आता।

संसार में हमारी जितनी पाने की आकांक्षा है वह सिर्फ आश्वासन देती है, मिलता–जुलता कुछ नहीं है। जो हमने पाया है अगर हम उसमें सन्तोष रख लें तो संसार में फिर ऐसा कुछ नहीं है जो पाने को शेष रह जाय। पाते काहे के लिए हैं? आत्म संतोष के लिये। पर आत्म संतोष नहीं मिला, और दुनिया भर की सारी चीजें मिल गई।

टॉलस्टॉय ने एक कहानी लिखी है, बहुत प्रसिद्ध है–हाऊ मच लैण्ड इज ए मैन रिक्वायर? एक व्यक्ति को किसी ने वरदान दिया कि तुम सुबह सूरज उगने से लेकर अस्त होने तक जितनी दूरी तय

कर वापस लौटोगे उतनी जगह (जमीन) तुम्हारी हो जायेगी – जाओ तुम्हें वरदान देता हूँ। तो उसने सूरज की पहली किरण के साथ दौड़ना शुरू किया और बेतहाशा दौड़ता रहा, दौड़ता रहा। जहाँ से प्रारंभ किया था वहीं पर लौटना था शाम ढलने से पहले। जहाँ लाईन खिंची थी (जहाँ से प्रारंभ किया था) उससे मुश्किल से दो–चार कदम पहले वह इतना थक गया कि निढाल हो कर गिर पड़ा। गिरा तो फिर उठ नहीं सका। वहीं प्राणान्त हो गया उसका। उसकी कब्र पर लिखा गया कि – हाऊ मच लेण्ड इज ए मैन रिक्वायर (एक व्यक्ति को कितनी जमीन अपेक्षित है?)

कितना चाहिये उसको, और कितना है? उस व्यक्ति को रहने के लिये थोड़ी–सी जमीन ही तो चाहिये थी जब कि वह इस बात के लिये इतना भागता रहा कि उसे सब कुछ मिल जाय। हमें ये ध्यान में आ जाय कि हमें चाहिये कितना सा और हम जो प्राप्त करें उसमें आनन्द लें तो हमारे जीवन में निर्मलता आये बिना नहीं रहेगी।

श्री क्षमासागर महाराज ने लिखा है–निर्मलता क्या चीज है? निर्मलता के मायने है–जीवन का चमकीला होना। निर्मलता के मायने है–मन का भीगा होना। निर्मलता के मायने है–जीवन का शुद्ध होना।

जीवन कैसे बनता है निर्मल? सन्त एकनाथ नदी से नहाकर लौट रहे थे, रास्ते में ऊपर से किसी ने उन पर थूक दिया। एकनाथ कुछ न बोले। चुपचाप दोबारा नहाने चले गये। लौटे तो उस व्यक्ति ने फिर थूक दिया। ऐसा सौ दफे हुआ। अपने साथ एक–आध दफे भी हो जाये तो अपने मन के साथ क्या गुजरती? कितना जल्दी मलीन हो जाता है हमारा मन। किसी ने जरा–सी कोई बात कह दी कि बस। कई बार तो ऐसा लगने लगता है कि अपन चाबी के

खिलौने हों, कि किसी ने जैसी जितनी चाबी भरी, उतना ही चलने लगे, जैसे ही किसी ने कोई खराब बात कह दी, मन गन्दा हो गया, किसी ने जरा–सी अपने मन की बात कह दी मन प्रसन्न हो गया। मानों हम दूसरों की भरी हुई चाबी के अनुसार अपना जीवन जीते हैं। एकनाथ फिर भी बिल्कुल शान्त रहे, सौ दफे स्नान किया उन्होंने। जिसने थूका था, अब उसे तकलीफ होने लगी। वह एकनाथ से क्षमा माँगने लगा– बहुत गलती हो गई, मुझे क्षमा करें।

एकनाथ बोले नहीं – मैं तो तुम्हें धन्यवाद देने वाला था, मैं तो एक ही बार नहाता, फिर इतनी निर्मलता नहीं आती। तुम्हारी वजह से मुझे सौ बार नहाने को मिला। और इतना ही नहीं, मैंने आज समझ लिया कि कोई कितना भी करे, मेरा मन कलुषित नहीं होगा, मलिन नहीं होगा, ऐसा चमकीला/निर्मल बना रहेगा।

क्या हम अपने मन को इस तरह मलिनता से बचाकर चमकीला बनाये रख सकते हैं?

निर्मलता का एक अर्थ होता है मन का भीग जाना। मन का भीग जाना क्या है? इससे भी हमारा मन निर्मल होता है। जैनेन्द्र कुमार के जीवन का एक उदाहरण है। जैनेन्द्र कुमार बड़े साहित्यकार थे। वे अपने नाम के साथ जैन नहीं लगाते थे, बंद कर दिया था उन्होंने जैन लिखना। जीवन के आखिरी समय जब वे पैरालाइज (लकवे से ग्रस्त) हो गये, बोलना भी उनका मुश्किल हो गया तब जो भी उनके पास आता उसे देखकर उनकी आँखों से आँसू गिर जाते, इससे मालूम हो जाता था कि पहचान लिया, इतना ही नहीं, अपनी भावनाएँ भी व्यक्त कर दी हैं। उनको बोलने में बहुत तकलीफ होती थी। डाक्टर ने कहा कि अब ठीक होने की कोई उम्मीद नहीं है, बस अब

अपने भगवान को याद करो। तब पहली बार उनको लगा कि जीवन में भगवान की कितनी जरूरत है। उन्होंने णमोकार मन्त्र पढ़ा। अपने जीवन के अन्तिम संस्मरण मे लिखा उन्होंने कि "मैं णमोकार मन्त्र पढ़ता जाता था और रोता जाता था। आध घण्टे तक णमोकार मन्त्र पढ़ते–पढ़ते खूब जी भर के रो लिया।" जब डाक्टर दूसरी बार उनका चैक–अप (जाँच) करने आया तो उन्होंने पूछा – मिस्टर जैन! आपने अभी थोड़ी दर पहले कौन–सी मेडिसिन (दवाई) खाई है? नर्स से पूछा कि इनको कौन–सी मेडिसीन (दवाई) दी गई है? नर्स ने कहा कि अभी कोई दवा नहीं दी गई। हाँ आपने कहा था–अपने ईश्वर को याद करो, इन्होंने वही किया है अभी।

उन्होंने अपने संस्मरण में लिखा कि, मुझे बार–बार यही लगता था कि मैंने जीवन भर ऐसे निर्मल परिणाम के साथ भगवान को याद क्यों नहीं किया? अब मृत्यु के निकट समय में अपने भगवान को याद कर रहा हूँ तो मुझे अपने पूरे जीवन पर रोना आया और मन भीग गया। ये है मन का भीगना, ये भी निर्मलता लाता है।

एक और घटना है जिससे मालूम पड़ेगा कि हमारा मन कैसे भीगता है? जितना भीगता है उतना निर्मल होता जाता है, जितना निर्मल होता है उतना भीगता जाता है।

एक आदमी रोज एक निश्चित रास्ते से निकलता, उस पर एक दूसरा आदमी रोज ऊपर से कचरा डाल देता। बड़ी मुश्किल, रोज का काम हो गया यह। फिर भी वह आदमी कचरा डालने वाले को कुछ नहीं कहता, सोचता कि कचरा शरीर पर गिरा है, मन को क्यों गन्दा करें? शरीर ही तो गन्दा हुआ है, इससे क्या फर्क पड़ता है। ऐसा सोचकर वह आगे बढ़ जाता है। एक दिन वह उसी रास्ते से होकर

निकला, पर ऊपर से कचरा नहीं आया। उस आदमी ने ऊपर देखा क्या बात है। आज कचरा क्यों नहीं फेका गया? ऊपर कोई नहीं था। दूसरे दिन भी कचरा नहीं फेका गया। उस आदमी ने आस–पास वालों से पूछ–ताछ की–कचरा फेकने वाला व्यक्ति क्या कहीं बाहर गया है? देखिये यदि इस जगह हम और आप होते तो शुरू में ही कचरा न फेका जाय इसका इन्तजाम कर देते। लेकिन उस आदमी की निर्मलता देखियेगा कि कचरा गिरने पर भी उस व्यक्ति के प्रति मन मलिन नहीं किया, परिणाम नहीं बिगाड़, बल्कि पूछ रहे हैं कि कहीं बाहर गये हैं क्या? उन्होंने दरवाजे को धक्का दिया, अटका हुआ था– खुल गया। वह सीढ़ी चढ़कर ऊपर पहुँचा। देखा– जो व्यक्ति रोज कचरा फेकता था वह बीमार पड़ा है, बिस्तर पर है। वह वहीं बैठ गया और उस बीमार व्यक्ति के स्वास्थ्य लाभ के लिये प्रार्थना करने लगा। वह बीमार व्यक्ति चुपचाप देखता रहा कि यह वही व्यक्ति है जिस पर मैं रोज कचरा फेकता था और यही व्यक्ति मेरे स्वास्थ्य लाभ के लिए प्रार्थना कर रहा है। उस बीमार व्यक्ति (कचरा फेकने वाले) का मन भीग गया। कल तक जिस पर कचरा फेकता था, आज उसी के चरणों में आँसू बहाये। ये क्या चीज है? ये मन की निर्मलता है, जो दूसरे के मन को भिगो देती है। स्वयं का मन तो भीगता ही है, दूसरे का मन भी हमारे मन की निर्मलता से प्रभावित होता है इसी को कहते हैं मन शुद्ध हो गया।

लोभ का परित्याग करने से जो सन्तोष उत्पन्न होता है, उसे ही शौच धर्म कहते हैं। जितना–जितना लोभ हमसे छूटता जायेगा शौच धर्म प्रगट होता जायेगा। संतोषी प्राणी ही सुखी रहते हैं।

हम अपनी आत्मनिधि को भूल चुके हैं और उस भौतिक धन को पाने के लिए लालायित हो रहे हैं जो कि न तो आत्मा के साथ रहा

है और न कभी रहेगा। धन के लोभ के कारण 99 के फेर में पड़कर मनुष्य अपने अमूल्य जीवन को समाप्त कर देता है।

एक नगर में एक धनिक सेठ रहता था। उसके पास काफी धन था, फिर भी उसकी इच्छा बढ़ती ही जाती थी, जिससे वह रात–दिन धन कमाने में लगा रहता था। न वह आराम से भोजन करता था, न कुछ समय परिवार के साथ बिताता था, न आराम से सोता था।

उसके घर के पास एक संतोषी ब्राह्मण रहता था, जो केवल एक दिन की भोजन–सामग्री संचित रखता था। एक दिन सेठ के घर अच्छा भोजन बना। उसने रात का कुछ भोजन अपने पड़ोसी ब्राह्मण के घर भेजा, किन्तु ब्राह्मण ने यह कहकर भोजन लौटा दिया कि मेरे घर कल के लिए भोजन–सामग्री रखी हुई है।

सेठानी ने सेठ से ताना मारते हुये कहा कि देखो ब्राह्मण की संतोष वृत्ति को, और अपनी आशा–तृष्णा को। सेठ ने उत्तर दिया कि ब्राह्मण निन्यानवे के फेर में आकर सब संतोष भूल जावेगा। ऐसा कहकर सेठ ने एक रुमाल में 99 रुपये बाँधकर चुपचाप ब्राह्मण के आँगन में डाल दिये।

ब्राह्मण जब सुबह उठा, तो उसने 99 रुपये की पोटली अपने आँगन में पड़ी हुई पाई। उसे देखकर ब्राह्मण बहुत खुश हुआ। उसने अपनी ब्राह्मणी से कहा कि किसी तरह अधिक परिश्रम करके एक रूपया कमाऊँगा, जिससे ये 100 रुपये हो जायेंगे। यह सोचकर उसने अधिक दौड़–धूप करके 99 से 100 रुपये कर लिये। फिर उसने सोचा कि सौ रुपये ठीक नहीं होते, इन्हें सवा–सौ करना ठीक रहेगा। यह सोचकर अपने आराम का समय कम करके और अपने भोजन में से बचत करके उसने कुछ दिन में सवा सौ रुपये कर

लिये। फिर उसने विचार किया कि ये रुपये 250 हो जायें तो अच्छा है। तब सवा–सौ रुपये जोड़ने में तन्मय हो गया।

इस तरह ब्राह्मण पर आशा और लोभ का भूत सवार हुआ कि वह सेठ से भी अधिक धन संचय में लग गया। समय पर भोजन करना, सोना, विश्राम करना, सबकुछ भूल गया। तब सेठानी से सेठ बोला कि देखा निन्यानवे रुपये का चक्कर, ब्राह्मण की संतोषवृत्ति कहाँ चली गयी?

इसी प्रकार सारा जगत धनसंचय के चक्कर में पड़कर न कुछ धर्म–ध्यान करता है, न परोपकार में कुछ समय लगाता है और न ही ठीक से विश्राम करता है। दिन–रात लोभ की चक्की चलाते–चलाते अपना अमूल्य समय नष्ट कर देता है। जीवन समाप्त हो जाता है, पर आशा समाप्त नहीं होती।

मनुष्य जीवन में जीवन के मूल्यवान क्षण यदि सफल करना हो तो आशा के दास मत बनो। सुबह होते ही सबसे पहले सामायिक फिर भगवान के दर्शन करो, पूजन करो, स्वाध्याय करो, फिर शुद्ध भोजन करके न्याय–नीति से व्यापार आदि करो। भाग्य पर विश्वास रखो, भाग्य से अधिक एक कौड़ी भी नहीं मिलेगी। अतः इन लोभ आदि कषायों को दूर करो और हर परिस्थिति में संतुष्ट व प्रसन्न रहने का प्रयास करो।

जो ज्ञानी जीव होते हैं, वे धन–दौलत को उतना ही महत्त्व देते हैं जितनी कि उन्हें आवश्यकता है। वे जड़ व चेतन के भेद को समझते हैं। इसी भेद–विज्ञान के कारण वे जड़ के मध्य रहते हुये भी उससे अलिप्त रहते हैं। उन्हें इन्द्र का पद और स्वर्ग का वैभव भी अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाता।

इन्द्रादिक पदवी नहिं चाहूँ, विषयन में नाहिं लुभाऊँ।
रागादिक दोष हरीजै, परमातम निज पद दीजै।।

इसी कारण जब कभी उन्हें अर्थ और परमार्थ के बीच चुनाव करने का अवसर आता है, तो वे अर्थ की अपेक्षा परमार्थ को ही चुनते हैं।

एक बार मोतीलाल जी वर्णी, गणेशप्रसाद जी वर्णी और चिरोंजा बाई सोनागिरि की वन्दना को गये। वहाँ चिरोंजाबाई की सासु और ननद भी आ गईं। सबने पूजा–पाठ, वन्दना में दो दिन अच्छे बिताये। तीसरे दिन वन्दना कर वापस लौटने का विचार था। उसी दिन चिरोंजा बाई के गाँव सिमरा से उनका परिचित आया। उसने कहा –माता जी! आपके घर में चोरी हो गई है। चोर घर में कई जगह खुदाई कर गये हैं। पुलिस ने आपको बुलवाया है, जिससे जाँच–पड़ताल हो सके।

इस खबर से उनकी सासु और ननद रोने लगीं। वर्णीजी भी उदास हो गये। पर चिरोंजाबाई पर इसका अलग ही प्रभाव पड़ा। वे बोलीं–ठीक है, जो कुछ ले गये, सो ले गये। मुझे उसकी चिन्ता नहीं। मैं अभी वहाँ नहीं जाती। वैसे तो कल ही जानेवाली थी, पर अब पाँच दिन और सोनागिरि में रहूँगी, जिससे धन के प्रति जो मोह है वह कम हो जाये।

सबके आग्रह करने पर भी वह नहीं गई, पाँच दिन और सोनागिरि में वंदना की। लौटते समय उन्होंने कहा कि मैंने परिग्रह–परिमाण व्रत ले लिया है। चोरी के बाद जितना भी बचा होगा, मेरे परिग्रह–परिमाण की इतनी ही सीमा होगी। उनकी उत्कृष्ट तटस्थता से वर्णीजी बड़े प्रभावित हुये। वे अपने घर वापस पहुँची। सारा

सामान बिखरा पड़ा था। कई जगह गड्ढे खुदे थे। पर विचित्र संयोग, उनका धन सुरक्षित था। जहाँ धन था, वहाँ खोदा ही नहीं गया था।

यही तो अन्तर है ज्ञानी और अज्ञानी में। ज्ञानी जड़ की नहीं, चेतन की कीमत करता है। तृष्णा के गड्ढे को केवल संतोषरूपी धन से ही भरा जा सकता है। तीन प्रकार के गड्ढे होते हैं, एक तो पेट का गड्ढा होता है, दूसरा तृष्णा का गड्ढा होता है और तीसरा जमीन का गड्ढा होता है। इस जमीन के गड्ढे को आप भर सकते हो, पेट के गड्ढे को भी आप भर सकते हो, पर यह जो तृष्णारूपी गड्ढा है, वह कभी नहीं भर पाता। तृष्णारूपी गड्ढे में सारे संसार की जायदाद आ जाय फिर भी तृष्णा समाप्त नहीं होती है। आज आपके पास एक हजार रुपये हैं, तो कल आपको एक लाख रुपये की आकांक्षा हो जाती है।

संसार में बहुत पैसेवाले हैं, लेकिन कभी भी उन्होंने ऐसा विचार नहीं किया कि आज हमको पैसा कमाना बन्द करना है। टाटा बिड़ला जैसे आदमी, जिनको खुद अपनी सम्पत्ति के बारे में पता नहीं कि उनके पास कितनी जायदाद है, फिर भी उन्होंने अपना व्यापार बंद नहीं किया और लगातार पैसे कमाने के प्रयास में व्यस्त रहते हैं। यह तृष्णा का गड्ढा कभी भर ही नहीं सकता।

लोभ भी कई प्रकार का होता है—जैसे शरीर का लोभ, वासना का लोभ, धन का लोभ, मकान का लोभ आदि। लोभ चाहे किसी भी प्रकार का क्यों न हो, वह पतन का ही कारण होता है। साहित्य का एक प्रसिद्ध दृष्टांत है –

गोस्वामी तुलसीदास अपने जीवन के आरम्भिक समय में महान्

वासनाप्रेमी थे। देखिये–तुलसीदास जी के ऊपर स्त्री के लोभ में क्या घटना घटी।

उनकी नवविवाहिता स्त्री जब उपने पीहर चली गई, तो उससे मिलने की उनको तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई, सो रात्रि में ही चल दिये ऊबड़–खाबड़ अटपटी पगडंडियों से। वर्षा का समय था। रास्ते में एक नदी पड़ी। उसमें उतरते हुए किसी लकड़ी के ही ठूँठ को नाव समझकर उस पर बैठकर किसी तरह नदी से तैरकर उस पार पहुँचे। जब घर पहुँचे, तो खिड़की से चढ़ने की बात सोची। वहाँ कोई रस्सी लटक रही थी। उसको पकड़कर चढ़ गये। वह रस्सी नहीं थी, बल्कि सर्प था। खैर, किसी तरह ऊपर पहुँचे, स्त्री से मिले व अपनी सारी कथा कह सुनाई। तब स्त्री ने उत्तर दिया।

जैसा प्रेम है नारि से, वैसा हरि से होय।
चला जाय संसार से, पला न पकड़े कोय।।
अस्थि चर्ममय देह मम, तामे ऐसी प्रीति।
वैसी श्री रघुनाथ से, होती न तो भव भीति।।

देखिये, एक स्त्री के लोभ में पड़कर वे कितनी परेशानी में पड़े?

अपने शरीर की सुध–बुध भी भूल गये। लेकिन जब स्त्री की फटकार पड़ी, तो लौट पड़े उल्टे पाँव, चले गये जंगल की ओर तथा वहाँ की भगवद्–भक्ति, और रच डाला 'रामचरित मानस'।

इसी प्रकार हमारा यह आत्मा अत्यन्त भिन्न पर–पदार्थों के लोभ में आकर उसके पीछे लगा हुआ है। ऐसी ही तन्मयता से यदि अपने आपके परमपावन स्वरूप की ओर लग जाये, तो इसमें संदेह नहीं कि यह कर्मबन्धन से छूटकर अपने निज गृह अर्थात् सिद्धालय में पहुँच जाय।

आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए इस लोभ को छोड़ना ही पड़ेगा। देखिये इस लोभ का पराक्रम। इसकी पूर्ति के लिये अनेक प्रकार के छल–कपटरूप माया को पोषण मिलता है। इसकी किंचित पूर्ति हो जाने पर मान को पोषण मिलता है। और इसकी पूर्ति में किंचित बाधा आ जाने पर क्रोध को पोषण मिलता है। शेष तीनों कषायों को बल देने वाला यही तो है। क्रोध–कषाय तो स्थूल है, बाहर में प्रगट हो जाती है, परन्तु लोभ छिपा–छिपा अंतरंग में काम करता रहता है और शेष तीनों की डोर हिलाता रहता है। इसके जीवन पर ही सर्व कषायों का जीवन है और इसकी मृत्यु पर सबकी मृत्यु। यद्यपि सर्व कषायों का, सर्व दोषों का ही शोधन करना शौच है, तदपि सबका स्वामी होने के कारण केवल लोभ के शोधन को शौच कहा जा रहा है। हाथी के पैर में सबका पैर।

इसलिये, जैसे भी बने, गृहस्थी में रहते हुए भी इस लोभ से बचने का प्रयास करना चाहिये। जो ज्ञानी होते हैं, जिनका लोभ नष्ट हो गया है, वे ही सुखी हो पाते हैं। घर–गृहस्थी में रहनेवाले भी ऐसे अनेक व्यक्ति होते हैं, जो इस लोभ के चक्कर में नहीं आये। रावण परस्त्री का लोलुपी था, परन्तु लक्ष्मण इसके विपरीत थे। उसी रावण की बहिन सूर्पनखा ने सारे–के–सारे प्रयत्न कर लिये, लक्ष्मण को अनेक प्रकार से लोभ दिखाये, परन्तु उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि जिसे अपनी पत्नी स्वीकार कर चुका हूँ, उसके अलावा दूसरी स्त्रियाँ मेरे लिये माँ–बहिन के समान हैं। यह लक्ष्मण की निर्लोभतापूर्ण मनोवृत्ति थी।

सदासुख दास जी जयपुर में रहते थे। वे किसी शासनाधीन विभाग में कार्य करते थे। वहाँ वर्षों कार्य करते रहे। एक बार सभी

लोगों ने हड़ताल कर दी कि हमारे वेतन का विकास होना चाहिए। माँग पूरी कर दी गई, लेकिन सदासुख दास जी ने माँग नहीं की थी, तो माँग के अनुसार जब इनके पास ज्यादा वेतन आया, तब उन्होंने कहा–ज्यादा क्यों दिया, कोई भूल तो नहीं हो गई? इतने ही हमारे होते हैं। 'नहीं–नहीं, सभी के वेतन में वृद्धि हो गई है।' तब वे बोले–मुझे आवश्यकता ही नहीं है। 'क्यों? क्या बात हो गयी? सभी ने लिया है तो आपको भी लेना चाहिये।' पर सदासुख दास जी ने जब ज्यादा वेतन लेने से मना कर दिया, तो मालिक कहता है –ऐसा कौन –सा व्यक्ति है, जो हड़ताल में शामिल नहीं हुआ। जाकर मेरा कह देना, वह ले लेगा। सेवक ने कहा–भैया! ले लीजिए, मालिक ने कहा है। 'नहीं, मैं नहीं ले सकता। मैं उतनी ही ड्यूटी करता हूँ जितनी पहले करता था।' अब मालिक ने उन्हें बुलाया और कहा कि मेरे कहने से ले लो। तब भी सदासुख जी ने कहा–मुझे नहीं चाहिए। 'फिर क्या चाहते हैं आप? –मालिक ने पूछा।' उन्होंने कहा कि मेरा काम आठ घण्टे की जगह चार घण्टे कर दिया जाये और मेरा वेतन आधा कर दिया जाय, जिससे मैं शेष जीवन का अधिक–से–अधिक समय जिनवाणी की सेवा में लगा सकूँ। ऐसा ही किया गया। मालिक बोला–हम धन्य हैं, जो हमारे यहाँ इस प्रकार के व्यक्ति हैं।

बनारसीदास जी का जीवन देख लो। सिर्फ एक घंटे की दुकान खोलते थे, इससे अधिक नहीं। एक बार उनके यहाँ चार चोर चोरी करने गये उन्होंने सामान बाँध लिया। बनारसीदास जी लेटे–लेटे देखते रहे। तीन चोरों को तो उन लोगों ने आपस में गठरी उठवा दी, पर चौथे चोर से गठरी नहीं उठ रही थी, तो स्वयं बनारसीदास जी ने उसे गठरी उठवा दी। जब वे चोर घर पहुँचे तो आपस में कहने लगे कि इस चौथे चोर को मकान मालिक ने गठरी उठवाई,

तो उनकी माँ समझ गयी कि तुम लोग बनारसीदास जी के यहाँ चोरी करने गये थे। जाओ, सब सामान वापिस करके आओ। वे चोर उनका सामान वापिस कर आये। वास्तव में जो ज्ञानी होते हैं, जिनका लोभ नष्ट हो गया, वे ही सुखी हैं।

शुचिता का अर्थ है—पवित्रता। किस की पवित्रता? क्या शरीर की पवित्रता? शरीर तो स्वाभाव से ही अपवित्र है, पर हम लोग शरीर को ही पवित्र करने में लगे हैं। जल–स्नान से भले ही दैहिक शुद्धि हो जाये, पर आत्मिक–शुद्धि के लिये तो जप–तप के मार्ग को ही अपनाना होगा, संतोष और समतारूप जल में अवगाहन करना होगा।

एक प्रसंग आता है—महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका, पाण्डवों की विजय हुई और लोभी कौरवों का विनाश। युद्ध के बाद पाण्डव आत्मशोधन हेतु तीर्थयात्रा पर निकले। श्रीकृष्ण जी से भी निवेदन किया कि आप भी तीर्थयात्रा पर चलें। श्रीकृष्ण जी ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहा कि मेरी ओर से मेरे प्रतिनिधि–स्वरूप इस तुम्बी को ले जाओ और तीर्थयात्रा करा लाओ। पाण्डवों ने तीर्थयात्रा की, जगह–जगह नदियों में स्नान किया, साथ में लाई तुम्बी को भी स्नान कराया। तीर्थयात्रा से वापस आने पर तुम्बी श्रीकृष्ण जी को वापिस सौंप दी।

श्रीकृष्ण जी ने पाण्डवों को भोजन के लिये आमंत्रित किया। भोजन में उस तुम्बी की बहुत बढ़िया खीर बनाई गयी। पाण्डव भोजन करने बैठे। खीर को चखा, तो वह बहुत कड़वी थी। एक ग्रास मुँह में गया, तो सब थूकने लगे। तब कृष्ण जी ने कहा —क्यों, क्या हो गया? यह खीर तो उसी तुम्बी की बनवायी गयी है, जो आप के साथ तीर्थयात्रा करके आई और गंगास्नान द्वारा पवित्र हो गयी

थी। सभी ने कहा—यह तो बहुत कड़वी है। तब श्रीकृष्ण जी ने मुस्कराते हुये कहा—देखो, गंगा—स्नान से या बाह्य स्नान से कोई शुद्ध नहीं होता। वास्तविक शुद्धि तो लोभादि कषायों के कृश करने से होती है। उन्होंने अर्जुन को उपदेश दिया —

आत्मा नदी संयम पुण्य तीर्था, सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र, न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा।।

संयम ही जिसका पवित्र घाट है, सत्य ही जिसमें पानी भरा है, शील ही जिसके तट हैं और दयारूपी भँवरें जिसमें उठ रही हैं, ऐसी आत्मारूपी नदी में, हे अर्जुन! अभिषेक करो, क्योंकि पानीमात्र से अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होती।

जैसे मैले कपड़े पर साबुन लगाने से कपड़े का मैल हट जाता है और कपड़ा साफ हो जाता है, इसी प्रकार आत्मा पर जो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूपी मैल विद्यमान है, उसको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से हटाने पर आत्मा पवित्र हो जाता है। राग—द्वेष रूपी कीचड़ में फँसी आत्मा को निकालने को केवल एक ही मार्ग है, कि श्रावक एक के बाद दूसरी, दूसरे की बाद तीसरी आदि प्रतिमाओं को लेकर अच्छे से श्रावकधर्म की साधना पूर्ण कर, सम्पूर्ण आरंभ—परिग्रह को छोड़कर अपनी चर्या का निर्दोष पालन करता हुआ मुनिव्रत को धारण करके रत्नत्रय की साधना करे।

यह रत्नत्रय की साधना एक एसी बुहारी है जो इस आत्मा को बुहार कर साफ कर देती है, राग—द्वेष आत्मा से निकल जाते हैं, आत्मा वीतराग हो जाती है। यही सच्ची शुचिता है। इस जगत के बंधनों का त्याग करने पर शौच—धर्म प्रकट होता है। बस, यही तो धोखा है कि हमने परपदार्थों को अपना मान रखा है। आचार्य कहते

हैं कि इतनी–सी बात मान लो कि कोई पदार्थ मेरा नहीं हैं, तो सब सुख तुम्हारे पास आ जायगा।

जिन तीर्थकरों की हम उपासना करते हैं, उन तीर्थकरों ने इसी मार्ग का अनुसरण किया, निज को निज और पर को पर जाना और फिर सबको छोड़कर रत्नत्रय की साधना की, जिसके परिणाम स्वरूप वे परमात्मा बने। आत्मा पहले वीतराग होता है, बाद में सर्वज्ञ बनता है। आत्मा का स्नान राग–द्वेष छूटने से होगा। जितने अंशों में राग–द्वेष कम होता जायेगा, हमारी आत्मा निर्मल होती जायेगी। जिसने समस्त जगत से भिन्न ज्ञान–स्वभाव निज आत्मा को पहचाना, शौच धर्म उसी के होता है। पर्याय में बुद्धि हो, श्रद्धा हो कि मैं मनुष्य हूँ, कुटुम्बी हूँ, इत्यादि भाव हों तो उसका मन तो सदा अपवित्र ही रहता है, वहाँ शौचधर्म प्रगट नहीं हो सकता।

संसार में परिग्रह को पाप की जड़ कहा गया है। वही समस्त पापों को करानेवाला है। इस परिग्रह के लोभ में पड़कर हम अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त अपनी इस मनुष्य पर्याय को व्यर्थ गँवा रहे हैं।

एक भील के पास कुछ रत्न थे, वह उन्हें लिये चला जा रहा था। उसे मार्ग में एक वणिक मिला। वह हीरों का मूल्य जानता था। वणिक से भील ने कहा–मैं इन पत्थरों का क्या करूँगा? तुम ले लो और जो मूल्य देना हो वह दे दो। वणिक ने मात्र चार रुपये दिये और चमकीले पत्थर लेकर चला गया। उसने मात्र एक चमकीले पत्थर को बेचकर अट्टालिका बनवाई और सुख से रहने लगा। एक दिन वह अट्टालिका के द्वार पर खड़ा था, उसी समय वह भील उसके दरवाजे के आगे से निकला और वणिक को देखकर बोला–तुम तो हाट–बाजार करते थे, क्या किसी सेठ के यहाँ नौकरी कर ली?

भील की बात सुनकर सेठ खूब हँसा और बोला –तुमने मुझे जो पत्थर बेचे थे, उनमें से एक पत्थर में ही यह अट्टालिका बन गई, शेष सुरक्षित रखे हैं। यह सुनकर भील बहुत पछताया।

उसी प्रकार हम मनुष्य पर्याय के अनमोल क्षणों को लोभ में पड़कर व्यर्थ बरबाद कर देते हैं और बाद में पछताते हैं। लोभ कषाय एक ऐसी नागिन है जो अनन्त भवों से हमारे शुद्ध चैतन्य प्रभु को संसार में रोके हुये है। हमारी आत्मा ठीक वैसी ही शुद्ध है, जैसी परमात्मा की, पर हमारी आत्मा के साथ राग–द्वेष आदि विकारी भाव लगे हुये हैं, जो हमको बार–बार संसार–समुद्र में डुबा रहे हैं।

हमारी यह मनुष्य देह धर्म करने का दुर्लभ साधन है। पर हम पर–पदार्थों के लोभ में पड़कर हीरों से कौए उड़ाने का काम कर रहे हैं। ऐसी ही देह महावीर भगवान को मिली थी, राम को मिली थी, सभी तीर्थंकरों को मिली थी, किन्तु उन्होंने हीरों से कौए उड़ाने की भूल नहीं की। इस देह को उन्होंने धर्म की साधना में लगाया और मुक्त हो गये। जो परपदार्थों के लोभ में पड़े रहते हैं, वे जैसे आते हैं, वैसे ही वापिस चले जाते हैं। जब जीव पीड़ा, दुःख और वेदना सहता है, तब उसके विचार मुनि बनने के हो जाते हैं। परन्तु जब सुख के साधन मिलते हैं, तो वह फिर भटक जाता है।

संसार सरविलोभो लोभः शिवपथानलः।
सर्व दुःख खानिर्लोभो लोभो व्यसन मन्दिरम्।।

लोभ संसार का मार्ग है, लोभ मोक्ष मार्ग को भस्म करने के लिए अग्नि है। लोभ समस्त दुःखों की खान है और लोभ व्यसनों, कष्टों का मन्दिर है। यह लोभ समताभाव का शत्रु है, अधैर्य का मित्र है, समस्त आपत्तियों का स्थान है, खोटे ध्यान का क्रीड़ा वन है,

व्याकुलता का भण्डार है, शोक का जन्मदाता है, कलह का स्थान है। संसार में मनुष्य लोभ के कारण अनेक पाप करता है। इसके वशीभूत इंसान को तृष्णा सदा सताती है। इसलिए उसकी इच्छा बड़ते–बड़ते सिकन्दर के समान विश्व विजय तक की हो जाती है।

सिकन्दर विश्व विजय की आकांक्षा से विशाल सेना लेकर जा रहा था। रास्ते में उसकी एक सन्त से मुलाकात हो गई। सिकन्दर उन सन्त से कहने लगा ''तुम मेरे साथ यूनान चलो''। सन्त बोले–सिकन्दर! तुम इतनी विशाल सेना लेकर कहाँ जा रहे हो। सिकन्दर बड़े गर्व से बोला–'विश्व विजय करने।' सन्त ने कहा–'तुम विश्व विजय करके क्या करोगे।' सिकन्दर ने कहा–' उसके बाद मैं शान्ति से बैठूंगा।' सन्त ने कहा–अच्छा तुम विश्व विजय करके शान्ति से बैठोगे? तो अभी से क्यों नहीं बैठ जाते? शान्ति पाने के लिए इतनी मुसीबतें, परेशानी उठाने की क्या आवश्यकता है? युद्ध को विराम दो और बैठ जाओ शान्ति से। सिकन्दर ने कहा–बिना विश्व को जीते शान्ति नहीं महात्मन्। तभी सन्त ने अपनी कुटिया में बैठे कुत्ते को आवाज दी–वह वहाँ आया और पूँछ हिलाकर शान्ति से बैठ गया। सन्त ने कहा–सिकन्दर क्या इस कुत्ते ने विश्व विजय की? ''नहीं की।'' देखो फिर यह कितनी शान्ति से बैठा है। अरे सिकन्दर! शान्ति को पाने के लिए विश्व विजय की आवश्यकता नहीं–तृष्णा पर विजय पाने की आवश्यकता है। शान्ति परपदार्थों से सम्बन्ध हटाने में है। अरे सिकन्दर! तू कितना भी धन का अम्बार लगा ले, छः खण्ड का स्वामी भी तू हो जा, पर आत्मा की शान्ति तुम्हें नहीं मिल सकती। शान्ति पदार्थ में नहीं, परमार्थ में है। सुख का वास्तविक अक्षय कोश आत्मा में विद्यमान है। यह सम्पदा–सम्पदा नहीं, आपदा और विपदा है। सम्पदा तो वह है जिसे मृत्यु छुड़ा नहीं

सकती। जिसे मृत्यु छुड़ा ले वह न शाश्वत है, न सुख प्रदाता है। सिकन्दर ने सन्त की बात नहीं मानी। परिणाम यह निकला कि वह अधूरे में ही वापस लौट आया और जब मृत्यु निकट आयी तो लोगों से कह दिया कि जब मेरी अर्थी निकाली जाये तो सारी सम्पदा साथ हो, पर मेरे दोनों खाली हाथ कफन से बाहर हों, ताकि लोग समझ सकें कि यह जड़ सम्पदा किसी के भी साथ जाने वाली नहीं है। व्यक्ति खाली हाथ ही जाता है।

सिकन्दर शहनशाह जा रहा, सभी हाली हवाली थे।
सभी थी संग में दौलत, मगर दो हाथ खाली थे।।

हम सब कुछ जानते हुये भी सांसारिक प्रलोभनों में पड़कर अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने में ही इस दुर्लभ मनुष्य पर्याय को समाप्त कर देते हैं। पर ध्यान रखना ये इच्छायें/अभिलाषायें तो कभी पूर्ण नही होतीं। श्मशान में कितने ही मुर्दे ले जाओ, उसका पेट नहीं भरता, अग्नि में कितना ही ईंधन डालो, वह तृप्त नहीं होती, सागर में कितनी भी नदियाँ मिल जावें वह तृप्त नहीं होता, इसी प्रकार तीन लोक की सम्पत्ति मिलने पर भी मनुष्य की इच्छायें पूर्ण नहीं हो सकतीं। ये इच्छायें तो संसार में भटकाने के लिये घटी–यंत्रवत हैं। एक की पूर्ति करो, दूसरी तैयार। दूसरी की पूर्ति करो, तीसरी तैयार। अनन्त काल से इच्छाऐं चली आ रही हैं। आकाश का अंत भले हो जावे पर इच्छाओं का अन्त नहीं होता।

एक होकर, दस होते, दस होकर सौ की इच्छा है।
सौ होकर भी संतोष नहीं, अब सहस होय तो अच्छा है।
यों ही इच्छा करते–करते, वह लाखों की हद पर पहुँचा है,
तो भी इच्छा पूरी नहीं होती, यह ऐसी डॉयन इच्छा है।

किसी ने लिखा है–इच्छायें तो इतनी होती हैं। जितने आसमान में तारे अथवा रेगिस्तान में रेत के कण। आचार्यों का कहना है–इच्छायें अनन्त होती हैं, जिनकी पूर्ति करना असंभव है। इन इच्छाओं की जितनी पूर्ति करो, ये उतनी ही बढ़ती जाती है। तभी तो कहावत है कि ''आप भया बूढ़ा, तृष्णा भई जवान।'' मनुष्य अपनी इच्छाओं के कारण ही दुःखी व परेशान है। भर्तृहरि ने लिखा है – ''तृष्णा न जीर्णा, वयमेव जीर्णा'' अर्थात् तृष्णा कमजोर नहीं होती, बल्कि उसको भोगते–भोगते हमारे दाँत, कान, नेत्र तथा अन्य इन्द्रियाँ जीर्ण–शीर्ण तथा कमजोर हो जाती हैं। अपने आपको तृष्णा इच्छाओं के हवाले कर देना बिना ब्रेक वाली चलती हुई मोटर गाड़ी में बैठ जाना है। क्योंकि उसका कहीं–न–कहीं, किसी–न–किसी से टकराना निश्चित है। जो सुख संतोष में हैं, वह और किसी चीज में नहीं है। अतः लोभ को छोड़कर शौच धर्म को धारण करो।

उत्तम सत्य

धर्म का पाँचवां लक्षण है उत्तम सत्य। जब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शन मोह का उपशम, क्षयोपशम या क्षय हो जाता है, तब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। श्री क्षमासागर जी महाराज ने लिखा है, बड़ी से बड़ी सच्चाई है निष्कषाय होना। पर निष्कषाय होना इतना आसान नहीं है। जब हम इन कषायों से मौन हो जायें तभी सत्य स्वरूप को उपलब्ध कर सकते हैं।

एक पिता चाहता था मेरे बेटे सत्य को प्राप्त कर लें। उसने अपने चारों बेटों को पढ़ने भेजा। कई वर्षों बाद जब वे पढ़कर लौटे, तब तक पिता अशक्त हो चुका था। वह लेटा था, पर जब उसके बेटे लौटे तो उसे लगा हमारे बेटों ने सत्य को प्राप्त कर लिया होगा, वह उनके सम्मान में खड़ा हो गया। उसने पहले बेटे से कहा–क्या सत्य को प्राप्त कर लिया? तो उसने वेद की रिचायें दोहराना शुरू कर दीं। पिता को निराशा हुई कि यह वेद की रिचाओं में सत्य ढूढ़ने निकला था। उसने दूसरे बेटे से पूछा तो उसने उपनिषद के सूत्र सुनाना शुरू कर दिये। तीसरे बेटे से पूछा, तो उसने सारे धर्मों का जो सारभूत तत्त्व था, वह कहना शुरू कर दिया। पिता निराश होकर बैठ गया। वेद की रिचायें दोहरा दीं गईं, उपनिषद के सूत्र सुना दिये गये, सभी धर्मों का सार भूत तत्त्व भी बता दिया गया, पर पिता

निराश है, उसे लग रहा था मेरे बेटे सत्य को प्राप्त नहीं कर पाये पर उसे लगा अभी चौथा बेटा शेष है उस पर ज्यादा विश्वास तो नहीं था, क्योंकि वह काफी छोटा था। उससे उठकर कहा, तूने क्या पाया? चौथे वाले बेटे ने तो पिता की आँखों में ऐसे देखा कि वह देखता ही चला गया तथा आँख नीची कर ली और पिता के पैर छूकर चरणों की रज को माथे पर लगा लिया। तब पिता खुश हो गया, उसे लगा मेरे इस बेटे ने सच को पा लिया है। उस बेटे की आँख बताती थी कि उसने सत्य पा लिया, उसका व्यवहार बताता था कि उसने सच को पा लिया है। जो सत्य को पा लेता है वह चुप हो जाता है। जिन्हें सत्य प्राप्त हो गया है, जो सम्यग्दृष्टि है, वैराग्यवान हैं, वे संसार में रहते हुये भी उससे विरक्त रहते हैं।

भरत चक्रवर्ती के पुत्र कभी किसी से बोलते नहीं थे। चक्रवर्ती को चिंता हो गई कि ये तीर्थंकर के वंश में पैदा हुए और इस प्रकार गूंगे बहरे कैसे हो सकते हैं? यहाँ तो भगवान की वाणी गलत सिद्ध हो जायेगी। उन्होंने भगवान से पूछा, तब भगवान ने कहा कि हे चक्री, तुम्हें मोह ने घेर रखा है इसलिये सत्य दिखाई नहीं पड़ता। सत्य यह है कि ये सभी निकट भव्य हैं। ये तुम्हारे ही सामने दीक्षित होकर मुक्ति को प्राप्त हो जायेंगे।

चक्रवर्ती सुनकर दंग रह गये और वही हुआ भी। सभी ने भगवान ऋषभदेव के चरणों में दीक्षा का निवेदन कर दिया और बोले कि सभी से क्या बोलना, हम तो सिर्फ आपसे ही बोलेंगे। सभी से बोलने के लिए हम गूंगे हैं। सभी ने दीक्षा ली और मुक्ति को प्राप्त कर लिया। इनका वैराग्य इतना था कि ये किसी से नहीं बोले और अपना कल्याण कर लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि जिनका मोह चला गया, जिन्होंने सत्य को प्राप्त कर लिया, वह व्यर्थ नहीं

बोलता। वे सभी चक्रवर्ती के पुत्र दीक्षित होने तक किसी से नहीं बोले, उन्होंने सोचा कि जो संसार से विरक्त नहीं है उनसे एक विरक्त व्यक्ति का बोलने का प्रयोजन ही क्या है? सत्य तो बोलने से प्राप्त नहीं होगा। पाप क्रियाओं से मौन होकर ही सत्य को प्राप्त किया जा सकता है।

सत्य अनुभूति का विषय है, उसे शब्दों के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता। एक बार एक दम्पति में काफी विवाद हो गया, अदालत में उपस्थित हुये। पक्ष–विपक्ष की काफी बहस हुई। बहस में निराकरण नहीं हुआ। जज ने कहा–तुम लोग व्यर्थ की टकराहट में जी रहे हो और उसने विवाद समाप्त करने हेतु पति महोदय से कहा–बस मैं तुमसे हाँ या ना में उत्तर चाहता हूँ, इसके अलावा मैं व्यर्थ की बकवास नहीं सुनना चाहता। वह पुरुष कहने लगा–साहब! किसी भी बात का उत्तर मात्र 'हाँ' या 'ना' में नहीं दिया जा सकता। आप तथ्य को सुनिये फिर निर्णय दीजिए। जज ने कहा–मैं जो कह रहा हूँ उतना ही सुनो और उत्तर दो। उस पुरुष ने कहा–आप मेरी एक बात का उत्तर हाँ या ना में दीजिये, तो मैं भी आपके सभी प्रश्नों का उत्तर हाँ या ना में दूँगा। मेरा मात्र इतना सा प्रश्न है–"क्या आपने अपनी पत्नी को पीटना बन्द कर दिया?" जज विचार में पड़ गये–अगर हाँ बोलता हूँ तो इसका मतलब पहले पीटता था, न बोलता हूँ तो इसका मतलब पीटना चालू है, तो ये और मैं एक से अपराधी हुये। वह जज मौन हो गया और समझ गया–सत्य अभिव्यक्ति का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है।

जो मोह एवं कषायों को छोड़कर स्वयं के सत्य को जान लेता है फिर उसे किसी को जानने की आवश्यकता नहीं रहती है। जिस प्रकार हम जिस भूमि पर बैठे हैं उसके नीचे निर्मल पानी का स्रोत है,

पर वह तभी प्रगट होगा जब ऊपर के कंकड़ पत्थर –मिट्टी आदि को हटाया जाता है। उसी प्रकार हमारे भीतर बैठा हुआ सत्य भी तभी प्रगट होगा जब हम अहंकार, मिथ्यात्व, राग–द्वेष, कषायों के झाड़–झंझाड़, कंकड़–पत्थर, मिट्टी आदि को हटा देंगे। अतः सत्य स्वरूप को प्राप्त करने के लिये अनुभव की गहराई में उतरना चाहिये। अपना यह आत्मा कर्मों की मार अनादि–काल से सहन करता आ रहा है। अब अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त इस मनुष्यपर्याय में अपने आपको पहचान लो कि मैं कौन हूँ? धर्म का मार्ग ही सारी दुनिया में सत्य का मार्ग है। अतः इस पर चलने का पुरुषार्थ करो। सत्य स्वरूप को समझे बिना कभी मोक्ष नहीं होता।

यदि हमारी कोई वस्तु घर में गुम गई हो और हम उसे बाहर ढूंढ़ें तो क्या वह प्राप्त होगी? नहीं होगी। जब तक हम उसे अपने घर में नहीं ढूंढ़ेंगे, वह कभी प्राप्त नहीं हो सकती। इसी प्रकार सत्य तो आत्मा का स्वभाव है, आत्मानुभूति है, जिसे हम पर–पदार्थों में ढूंढ़ रहे हैं, इसलिये आज तक प्राप्त नहीं हुआ। सत्य स्वभाव की प्राप्ति तो केवल उन्हें ही हुई है, जिन्होंने समस्त पर–पदार्थों से मोह छोड़कर संयम तप को अपनाकर अपने स्वरूप में डुबकी लगाई है।

जिसको शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सके वह सत्य है। सत्य को केवल महसूस किया जा सकता है, लेकिन कहा नहीं जा सकता। एक बार राजा जनक की सभा लगी हुई थी। हजारों व्यक्ति सभा में बैठे हुये थे। महर्षि वेदव्यास ने योगमाया का प्रयोग कर दिया। मिथिलापुरी में आग लग गई। राजमहल धू–धू कर जलने लगा। कर्मचारीगण भागे–भागे सभा मंडप में आए। उस समय महाराज जनक नेत्र बंद कर सत्संग में ध्यानमग्न थे। कर्मचारी आए। उन्होंने महाराज को आग लगने की जानकारी देकर तुरन्त राजमहल में

चलने का अनुरोध किया। उन्होंने जानकारी दी कि सारा राजमहल धू–धू कर जल रहा है। सब प्रयास करने पर भी आग शान्त नहीं हो रही है। आप जल्दी चलें। लेकिन उन्हें कुछ सुनाई नहीं दिया। वे तो ध्यानमग्न थे। कुछ ही क्षणों में योगमाया का विस्तार होते–होते वह अग्नि सभा मंडप तक पहुँच गई। जनता भाग खड़ी हुई। पास में बैठे साधु संत भी भागने लगे। लेकिन राजा जनक ऐसी गहरी समाधि में चले गये, मानों उन्हें पता ही नहीं चल सका कि बाहर क्या हो रहा है? महर्षि वेदव्यास ने देखा कि लोग भागने लगे हैं। उन्होंने योगमाया को समेट लिया। सभा में शान्ति लौट आई। भागने वाले सभी सकपका गये लेकिन महायोगी राजा जनक ध्यानस्थ बैठे रहे। उन्हें पता ही नहीं चला कि बाहर क्या हो रहा है।

स्थिति शान्त होने से सब बैठ गये। महर्षि वेदव्यास ने कहा–बंधुओ! हम राजा जनक का इंतजार किसलिये करते हैं? शायद आपकी शंका का समाधान हो गया होगा? इस पूरे सभा मंडप में अगर कोई सच्चा श्रोता है तो वे केवल राजा जनक ही हैं। राजा जनक अग्नि लगने के पूर्व जिस अवस्था में थे, अग्नि लगने पर एवं अग्नि शान्त होने के बाद भी उसी अवस्था में स्थिर रहे। उनमें कोई परिवर्तन नहीं आया। जब राजा जनक से पूछा गया तो उन्होंने एक ही उत्तर दिया–मिथिला जल रही है, मैं नहीं जल रहा हूँ। इसी को नारायण श्री कृष्ण ने गीता में लिखा है–

नैवम् छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैवम् दहति पावकः।

जो सत्–चित् आनन्दस्वरूप आत्मा है, उसे शस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, पानी गीला नहीं कर सकता, वायु सुखा नहीं सकती, चोर चुरा नहीं सकता। ऐसी हमारी उस आत्मा

को कोई जला नहीं सकता। मिथला जल रही है किन्तु मेरी आत्मा नहीं जल रही है।

महर्षि वेदव्यास ने कहा—जिस व्यक्ति की आसक्ति टूट गई है, जो व्यक्ति अनासक्त भाव से रह रहा है, उसे राजमहल भी नहीं बांध सकता। राजमहल के सुख—साधन उसे बांध नहीं सकते। जिसे सत्य की अनुभूति हो गई, जिसकी आसक्ति टूट गई वह राजमहल में रहता हुआ भी भरतजी की तरह घर में रहते हुये भी वैरागी रह सकता है। कहा भी है, भरत जी घर में ही वैरागी। जिसने सत्य की अनुभूति कर ली है उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है। सत्यानुभूति करने वाला जीव संसार में तोते की तरह रहता है। जिसकी आसक्ति टूट गई, वह तोते की तरह रह सकता है, जिसकी आसक्ति नहीं टूटी, वह कबूतर की तरह रहेगा।

तोते का स्वामी तोते को रोज नहलाता, धुलाता है, खाने को दाना, पिस्ता, छुहारे भी खिलाता है किन्तु तोता अपने को इसमें नहीं फँसाता। जैसे ही उसे खिड़की खुली मिली कि फुर्र से उड़ जाता है। लोग तोते को पालते हैं। उसके लिये बढ़िया—बढ़िया सोने तक का पिंजरा बनवाते हैं। उसका मालिक मौसम के अनुकूल गरम, ठंडे पानी से उसे नहलाता है, अच्छा अच्छा खाना खिलाता है, सब तरह के सुख—साधन सुलभ कराता है, फिर भी वह उस पिंजरे में खुश नहीं रहता। जरा सी खिड़की खुली मिली तो फौरन फुर्र करके आकाश में उड़ जायेगा। इसी तरह जिसे सत्यानुभूति हो जाती है, वह जीव संसार में ऐसे ही रहता है। वह सदैव यही सोचता रहता है कि कब इस संसार से छुट्टी मिले और मैं मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होऊं। जिसे सत्यानुभूति नहीं हुई वह कबूतर की तरह अपने उस गन्दे स्थान पर ही पड़ा रहता है।

अज्ञान ही दुःख का कारण है और भेद विज्ञान अर्थात् सच्चा ज्ञान ही उस दुःख से छूटने का उपाय है।

एक बार एक सेठ की हवेली में रंग–रोगन का कार्य चल रहा था। सांय काल थोड़ा–सा लाल रंग बच गया। उसे लोटे में रखकर मिस्त्री ने सेठ की लड़की को दे दिया कि इसको सुरक्षित स्थान पर रख दो, सुबह हम ले लेंगे। लड़की ने वह लोटा ले जाकर सेठ जी के पलंग के नीचे रख दिया। सेठजी दुकान से देर से आये और पलंग पर जाकर सो गये। सुबह उठे और अंधेरे में पानी का लोटा समझकर रंग का लोटा लेकर शौच करने चले गये, शौच के बाद जब उठने लगे तो हाथों पर लाल रंग लगा देखकर खून समझ लिया और चिल्लाने लगे तथा असहाय होकर गिर पड़े। चार व्यक्तियों ने सेठ जी को उठाकर चारपाई पर लिटाया, वैद्य बुला लिये। इतने में कारीगरों ने आकर लड़की से रंग माँगा तब उसे वहाँ वह लोटा नहीं मिला। लड़की ने कहा – पिता जी आपने रंग का लोटा इस्तेमाल कर लिया, आपको कुछ नहीं हुआ, वह खून नहीं था, वह तो रंग था, इतना सुनकर सेठ जी उठकर खड़े हो गये और बोले–बेटी! जल्दी मेरा टिफिन लाकर दो, मुझे दुकान जाना है, बहुत देर हो गई है। बस यही दशा इस संसारी प्राणी की है। यह व्यर्थ ही अपने आपको भूलकर संसार में भ्रमण करता हुआ दुःख उठा रहा है – मोह महामद पियो अनादि, भूल आप को भरमत वादि। यदि इसे स्व–पर भेद विज्ञान हो जाये तो इसका संसार परिभ्रमण समाप्त हो जाये और दुःख दूर हो जाये। आचार्य अमृत चन्द्र स्वामी कलश 131 में लिखते हैं –

भेद विज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धाः ये किल केचन।

अस्यैवा भावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन।।

जो भी जीव आज तक बंधे हैं, व सभी बिना भेदविज्ञान से बंधे हैं और जितने भी जीव आज तक छूटे हैं, वे सभी भेद विज्ञान से ही छूटे हैं।

शरीर और आत्मा भिन्न–भिन्न है, परन्तु माह के नशे के कारण यह संसारी प्राणी अपनी चैतन्य आत्मा को नहीं पहचानता और इस पुद्गल शरीर को ही मैं मान लेता है। वह सच्चे सुखनको पहचानकर इन्द्रिय–विषयों में ही सुख ढूंढ़ता रहता है और मृग मरीचिका के समान भटक–भटक कर अपनी अत्यन्त दुलर्भता से प्राप्त इस मनुष्य पर्याय को समाप्त कर देता है। परन्तु इसे रंचमात्र भी सुख की प्राप्ति नहीं होती और अन्त में यह जीव आर्तध्यान व रौद्र ध्यान स मरणकर तिर्यंच–नरक आदि खाटी योनियों में पहुँच जाता है। अपने स्वरूप को न समझ पाने के कारण उसका वर्तमान जीवन भी दुःखी व भविष्य का जीवन भी दुःखी रहता है। यदि सच्चा निराकुल सुख चाहिये हो तो स्व व पर के भेद को समझो।

तू चेतन यह देह अचेतन, यह जड़ तू ज्ञानी।
मिले अनादि यतन तें विछुड़े, ज्यों पय अरु पानी।।

तू चतन है, यह देह अचेतन है। यह शरीर जड़ है, तू ज्ञानी है, दोनों का अनादि काल से मेल बना हुआ है। पर रत्नत्रय के मार्ग पर चलकर दानों को पृथक्–पृथक् किया जा सकता है। ज्यों पय अरु पानी, यानी दूध और पानी को जिस तरह अलग–अलग किया जा सकता है, ऐसे ही शरीर से भिन्न इस आत्मा के संबंध को भी अलग–अलग किया जा सकता है। जन्म–जन्म के इस बंधन को भी दूर किया जा सकता है। भेद विज्ञान होते ही शरीर और आत्मा के

भेद का भान हो जाता है। आत्मा की सही पहचान हो जाती है। भेद विज्ञान के अभाव में ही यह जीव अनादि काल से संसार में भ्रमण करता हुआ दुःख उठा रहा है।

एक जंगल में से दो मुनिराज जा रहे थे। शरीर की दृष्टि से वे पिता पुत्र थे। पुत्र आगे–आगे चल रहा था, पिता पीछे थे। जंगल एक–दम भयानक था। दोनों तत्त्व चर्चा करते जा रहे थे, शरीर अलग है और चैतन्य आत्मा अलग है, शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। अचानक सामने से गर्जता हुआ सिंह आता दिखा। पिता ने पुत्र से कहा तुम पीछे आ जाओ यहाँ खतरा है। किन्तु पुत्र नहीं आया। सिंह सामने आ चुका था। मृत्यु सामने खड़ी थी। पुत्र बोला, मैं शरीर नहीं हूँ, मैं तो चैतन्य आत्मा हूँ, मेरा नाश हो ही नहीं सकता, मेरी मृत्यु कैसी? पिता तो डरकर भाग गया, लेकिन पुत्र आगे बढ़ता गया, सिंह ने उस पर हमला कर दिया। वह गिर पड़ा था। पर उसे दिखाई पड़ रहा था कि जो गिरा है वह मैं नहीं हूँ। वह शरीर नहीं था, इसलिये उसकी मृत्यु नहीं हुई। पिता मात्र कहता था, कि शरीर हमारा नहीं है, परन्तु दिखाई उसको यह दे रहा था कि शरीर हमारा है। शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है कहने मात्र को स्व–पर भेद विज्ञान नहीं कहते। सच्ची श्रद्धा से जीवन में परिवर्तन होता है, कहने से नहीं। इसलिये सम्यग्दर्शन अर्थात् स्व–पर की सच्ची श्रद्धा को मोक्षमार्ग कहा है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को पं. बनारसी दास जी हाथ जोड़कर नमस्कार कर रहे हैं।

भेद विज्ञान जग्यौ जिनके घट, सीतल चित्त भयाजिमि चंदन।
केलिकरें शिवमारग में, जिमि माहि जिनेश्वर के लघु नन्दन।।
सत्यस्वरूप सदाजिन्हके, प्रकट्यौ अवदात मिथ्यात्व निकंदन।

शांतदसा तिन्ह की पहिचानि, करै कर जोरि बनारसि वंदन।।

जिनके ह्रदय में निज–पर का विवेक प्रकट हुआ है, जिनका चित्त चंदन के समान शीतल है अर्थात् कषायों का आताप नहीं है। जो निज–पर विवेक होने से मोक्ष मार्ग में मौज करते हैं, जो संसार में अरहन्त देव के लघु पुत्र हैं, अर्थात् थोड़े ही काल में अरहन्त पद प्राप्त करने वाले हैं, जिन्हें मोक्ष पद प्राप्त कराने वाला निर्मल सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है, उन सम्यग्दृष्टि जीवों की आनन्दमय अवस्था का निश्चय करके पं. बनारसीदास हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं।

सम्यग्दर्शन के लिये विश्व के अन्य पदार्थों द्रव्यों को जानना आवश्यक नहीं है, केवल पर से भिन्न अपनी आत्मा को जानना ही पर्याप्त है। यह बात निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती है –

एक बार क्षत्रिय और वैश्य में लड़ाई हो गयी, क्षत्रिय को वैश्य ने हरा दिया। वैश्य क्षत्रिय की छाती (सीना) पर सवार हो गया। उसी समय क्षत्रिय ने वैश्य से पूछा–"तुम कौन हो?" वैश्य ने उत्तर दिया–मैं वैश्य हूँ। क्षत्रिय ने सुनते ही उसे नीचे गिरा दिया। लड़ाई से पूर्व वह यह नहीं जानता था कि यह वैश्य है। उसी प्रकार आत्मा में अनन्त शक्ति है, पर जब तक इस जीव को अपना परिचय प्राप्त नहीं होता तब तक कर्म इसे संसार में भटकाते रहते हैं।

एक शेर सो रहा था। उस शेर की पूंछ पर आकर एक मक्खी बैठ गई, उस शेर के आसपास मच्छर भी मंडराने लगे, पर शेर सोया हुआ है। खरगोश के बच्चे ने देखा कि देखो मक्खियाँ और मच्छर कितने निर्भीक होकर शेर के पास घूम रहे हैं, हम भी जायें और हम भी खेलें। तो वह खरगोश का बच्चा उछलता हुआ शेर के पास जाकर खेलने

लगता है। अब खरगोश के बच्चे को देखकर एक हिरण का बच्चा सोचता है, अरे यह मेरे से छोटा और शेर के पास खेल रहा है, मैं भी जाकर खेलूँगा, वह भी जाकर खेलने लगता है। पर यह अवस्था कब तक सम्भव है? जब तक शेर सोया हुआ है। उसी प्रकार, जब तक आत्मा अपने बोध से परान्मुख है, अपने परिचय से विमुख है, तब तक कर्म आत्मा को संसार में भटकाते रहते हैं, रुलाते रहते हैं। पर जब आत्मा अपने आप से परिचित हो जाता है, अपनी अनन्त शक्ति को पहचान लेता है, तब कर्म सब अपने–अपने रास्ते पर चल जाते हैं, अपना रास्ता नापते नजर आते हैं। अपने परिचय की महिमा जिनवाणी में सर्वत्र बतलाई गई है। सम्यग्दर्शन होने पर इस जीव को अपना परिचय प्राप्त हो जाता है कि मैं अनादि काल से संसार में भटकने वाला जीव हूँ, भटकने का कारण क्या है? मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र। मैं यदि इनसे अलग हो जाता हूँ तो मोक्ष प्राप्त करने में देर नहीं है। जितने भी सिद्ध भगवान हुये हैं वे भी पहले संसारी थे, ऐसा नहीं कि कोई पहले से ही सिद्ध रहा हो। कोई पहले से ही सिद्ध नहीं रहा आया, लेकिन संसारी दशा में उन्होंने अपने आपको पहचाना कि मेरा ऐसा स्वरूप है और मैं कहाँ भटक रहा हूँ? जब उनमें जागृति आ गई तो उन्होंने जैसे हिरण है, खरगोश है, मक्खी, मच्छर आदि शेर के पास खेल रहे हैं, पर जैसे ही शेर जागता है तो सबसे पहले वह उसे पकड़ लेता है जिसे वह सबसे ज्यादा पकड़ने योग्य समझता है। वैसे ही जब संसारी प्राणी प्रतिबुद्ध होता है, तो वह आक्रमण करता है किस पर, मोहनीय कर्म पर। मोक्षमार्ग का पूरा पुरुषार्थ मोह को जीतने का है। मोहकर्म को जीतने के बाद शेष कर्म अपने आप थोड़े ही समय में क्षय हो जाते हैं।

जो अपने आप को पहचान लेता है, वह पर के प्रति निर्मोही हो

जाता है। वह घर में रहते हुये भी नहीं रहता, वह जल से भिन्न कमल के समान रहता है।

एक राजा के महल के पास एक साधु रहता था। राजा एक दिन साधु के पास आया और उससे अपने महल में चलकर रहने की प्रार्थना की। साधु ने कुछ सोचकर राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली। राजा ने साधु के बर्तन में अपने जैसा उत्तम भोजन परोसा, साधु ने भोजन कर लिया। एक बहुत सजे धजे कमरे में सुन्दर पलंग पर सोने के लिये कहा, साधु ने उसे भी मंजूर कर लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि वह राजा की तरह ही ऐशो आराम से रहने लगा। यह देखकर राजा को लगा ये साधु तो ऐसे ही हैं, दूसरों के बारे में मन बहुत जल्दी खराब हो जाता है। आखिर एक दिन राजा ने पूछ ही लिया अब आपमें और मुझ में क्या अन्तर है? साधु ने कहा कि बाहर चलो, घूमने चलते हैं, वहीं बतायेंगे। राजा और साधु दोनों घूमने गये। जब वे शहर से काफी दूर आ गये तब राजा ने कहा महाराज ! वापिस चलिये, महल बहुत दूर छूट गया है। साधु ने कहा कि राजन्। आपका तो सब कुछ पीछे छूट गया है, परन्तु मेरा तो कुछ भी नहीं छूटा। आपमें और मुझमें यही अन्तर है। आप सबको अपना मानते हो, इसलिये आपका महल है, रानी है, सब कुछ है। आपका सब कुछ पीछे रह गया है, इसलिये आपको वापिस जाना है। परन्तु हमारा तो पीछे कुछ भी नहीं है, यह शरीर भी मेरा नहीं है, इसलिये हमें तो आगे जाना है।

सारे दुःखों का मूल कारण है शरीर में अपनापन। राग–द्वेष की उत्पत्ति का कारण है शरीर में अपनापन। जितना शरीर को अपने रूप देखोगे, उतना–उतना रागद्वेष मोह बढ़ेगा और जितना हम शरीर को स्वयं से अलग देखेंगे, मोह पिघलने लगेगा।

जब जीव को आत्मा और आत्मा से भिन्न वस्तु का ज्ञान हो जाता है, अर्थात् मैं शरीरादि से भिन्न अखण्ड, अविनाशी, शुद्धात्मतत्त्व हूँ, ये शरीरादि मेरे नही हैं, न ही मैं इनका हूँ, तब उसे पर से भिन्न निज आत्मा की रुचि पैदा हो जाती है और संसार, शरीर, भोगों से अरुचि पैदा हो जाती है। और वह हमेशा आत्म सन्मुख रहने का पुरुषार्थ किया करता है। सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा का स्वरूप बताते हुये आचार्य योगीन्दु देव कहते हैं –

जो कोई आत्मा और पर को भले प्रकार पहचानता है, तथा जो अपने आत्मा के स्वभाव को छोड़कर अन्य सब भावों को त्याग देता है, वही भेद विज्ञानी अन्तरात्मा है, वह अपने आप का अनुभव करता है और वह संसार से छूट जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी समयसार में कहते हैं –

अहमिक्को खलु सुद्धा दंसणणाण मइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किं चिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि।।

निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, और अन्य जो पर द्रव्य हैं वे किंचित् मात्र/अणु मात्र भी मेरे नहीं हैं। शिवभूति मुनिराज को उनके गुरु ने पढ़ाया, पर उन्हें कुछ भी याद नहीं होता था, तब गुरु ने उन्हें ये 6 अक्षर पढ़ाये 'मारुष मातुष'। वे इन शब्दों को रटने लगे। इन शब्दों का अर्थ यह है कि रोष मत करो, तोष मत करो, अर्थात् राग–द्वेष मत करो, इससे ही सर्व सिद्धि होती है। कुछ समय बाद उनको यह भी शुद्ध याद न रहा, तब 'तुष मास' ऐसा पाठ रटने लगे। दोनों पदों के रू और मा भूल गये और 'तुष माष' ही याद रह गया। एक दिन वे यही रटते एवं विचारते हुए कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक स्त्री उड़द की दाल धो

रही थी। स्त्री से कोई व्यक्ति पूछता है "तू क्या कर रही है" स्त्री ने कहा तुष और माष को भिन्न–भिन्न कर रही हूँ, यह वार्ता सुनकर उन मुनिराज ने जाना कि यह शरीर ही तुष है और यह आत्मा माष है। दानों भिन्न–भिन्न हैं। इस प्रकार तुष मास भिन्नं रटते हुये आत्मानुभव करने लगे। आत्मानुभव के फलस्वरूप कुछ समय बाद घातिया कर्मों को नाश कर उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। उन्हें एक समय में तीनों लोकों का ज्ञान हो गया।

आत्मा और शरीर का संबंध अनादि काल से एक होकर भी किस प्रकार अलग है, यह 'परमानन्द स्त्रोत' में आचार्य महाराज ने स्पष्ट किया है।

पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम।
तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये यथा शिवः।।

जैसे पत्थर में सोना रहता है, दूध में घी रहता है, तिल में तेल रहता है, उसी प्रकार शरीर में यह आत्मा रहती है।

काष्ठमध्य यथा बाह्नि शक्तिरूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु यो जानाति स पण्डितः।।

जिस प्रकार लकड़ी में शक्ति रूप में अग्नि रहती है, उसी प्रकार इस शरीर में आत्मा रहती है, जो ऐसा जानता है, वह पण्डित है।

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।
अयमात्मा स्वभावेन, देह तिष्ठति निर्मलः।।

जिस प्रकार जल में कमल जल से सर्वदा भिन्न रहता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वभावतः शरीर से भिन्न रहती हुई, शरीर में रहती है।

जो शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव करते हैं, उन्हें शरीर को चोट लगने पर भी दुःख और पीड़ा नहीं होती।

एक फकीर किसी गाँव में ठहरा हुआ था। लोग उनके दर्शन करने आते थे और अपनी शंकाओं का समाधान करते थे। एक व्यक्ति आया और पूछा कि यह कैसे संभव है कि शरीर में दर्द हो या चोट लगे, कोई उसको काटे तब भी पीड़ा न हो। शरीर को काटने से तो पीड़ा होगी ही। फकीर ने कहा यहाँ दो नारियल पड़े हैं। एक कच्चा है, उसमें पानी है, उसको तोड़कर उसकी गिरी अलग करना चाहो तो नहीं होगी, क्योंकि वह गिरी काठ के साथ जुड़ी हुई है। यह दूसरा नारियल है, इसका पानी सूख गया है, इसकी गिरी काठ से अलग हो गई है। इसका काठ तोड़ने पर गिरी का कोई हानि नहीं होगी। क्योंकि नारियल का खोल और गिरी अलग–अलग हो गई है। फकीर ने कहा, यही गजब है, कुछ लोग शरीर के खोल से जुड़े रहते हैं। शरीर की चोट के साथ उनको भी चोट पहुँचती है, पर जो अपने को शरीर रूपी खोल से अलग समझते हैं, उनके शरीर को काटने पर भी कोई दुःख और पीड़ा नहीं होती।

जिनके भीतर राग पड़ा हुआ है, वे शरीर से जुड़े हुये हैं। जो गीलापन है, वही राग है। जिन्होंने शरीर को ही अपना होना मान रखा है, उनका शरीर और आत्मा का अलग–अलग अस्तित्त्व होने पर भी वे एक अनुभव करते हैं। वे शरीर के मरण से अपना मरण तथा शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति होना मानते हैं। "तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाशमान।" वे शरीर की पीड़ा को अपनी पीड़ा मानते हैं। ऐसा ही उनके अनुभव में आता है। और भी उदाहरण है –

बादाम का ऊपर का काठ अलग है, भीतर भी एक पतला छिलका है, जो गर्म पानी में डालने पर अलग होता है और गिरी अलग है। इसी प्रकार चेतन आत्मा अलग है। शरीर ऊपर का काठ सदृश्य है, और रागादि भीतर का छिलका है, जो तपस्या रूपी अग्नि में तपाने से अलग होता है। आत्मा उन सबसे अलग है। ज्ञानी जीव, जिनका राग दूर हो गया है, उन्हें शरीर पर चोट लगने पर भी कष्ट नहीं होता। जिसे स्व व पर का भेदज्ञान हो जाता है, वह अपनी वाणी में भी हित–मित–प्रिय वचन बोलता है।

जैसा देखा सुना, वैसा कह देना लौकिक सत्य हो सकता है, पर यहाँ उत्तम सत्य की बात है। स्व–पर हितकारी परिमित तथा मिष्ट वचन ही सत्य हैं। और दूसरों का अहित करने वाले सभी वचन असत्य हैं, भले वह सच बोल रहा हो।

एक राजा के पास एक ऐसा केस आया, जिसमें मृत्यु दण्ड देना जरूरी था। जैसे ही मृत्युदण्ड सुनाया गया, उस कैदी ने राजा को गालियाँ देना शुरू कर दीं। पास में खड़े बड़े मंत्री से राजा ने पूछा–यह कैदी क्या कह रहा है? तो मंत्री बोला–महाराज! कह रहा है, गलती हो गई, आप तो महान है, दया के सागर हैं, यदि क्षमा कर सकें तो क्षमा कर दें, आगे से ऐसा नहीं करुंगा। छोटा मंत्री किसी बात पर बड़े मंत्री से नाराज था। यह सुनकर छोटे मंत्री को बदला लेने का मौका मिल गया। उसने सोचा अब तो बड़ा मंत्री फँस गया। उसने खड़े होकर बोला–महाराज! यह कैदी तो आपको गाली दे रहा है और यह बड़ा मंत्री भी झूठ बोल रहा है। राजा को सब बात समझ में आ गई और वे छोटे मंत्री से बोले–बैठ जाओ, इस समय तुम्हारा बोला गया सत्य मुझे पसंद नहीं है और बड़े मंत्री का झूठ भी मुझे पसंद है। इस कैदी को रिहा कर दिया जाये।

यदि दूसरे का अहित करने वाला सत्य बोला जाये, तो वह सत्य भी असत्य ही है। इस मनुष्य पर्याय में ही वचन बोलने की शक्ति प्राप्त है, यदि किसी ने मनुष्य जन्म पाकर वचन ही बिगाड़ दिया, तो समझो उसने अपना जन्म ही बिगाड़ दिया। यहाँ का लेना देना, कहना सुनना, बैर–प्रीति इत्यादि सभी कार्य वचन से ही चलते हैं। अतः हमें कभी भी अपनी वाणी में कटु शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

वचन बहुत प्रभावी होते हैं। वचन का घाव सबसे ज्यादा तकलीफ पहुँचाने वाला होता है। आप किसी से मारपीट कर दीजिए, वह दो–चार–दस दिन के बाद भूल जायेगा। अगर बहुत चोट लग गई होगी तो वह चोट भी दो–चार–आठ दिन में ठीक हो जायगी। लेकिन आपने किसी के लिये कोई मर्म भेदी वचन कह दिया तो वह जीवन भर उसके मन में सालता रहेगा। बहुत जरूरी है वचन को सम्हाल करके बोलना। श्री क्षमासागर जी महाराज ने एक कथा सुनाई थी।

एक किसान था। किसी मजबूरी से उसे जंगल में लकड़ी काटने जाना पड़ा। खेतों में दाना नहीं उगा, इसलिये लकड़ी काटना पड़ी। जंगल में एक शेर से सामना हो गया। शेर को देखकर वह किसान भागने को हुआ, लेकिन शेर की कराह सुनकर वह रुक गया। शेर के पैर में काँटा चुभ गया था, इसलिए वह दर्द से कराह रहा था और इसीलिए उसने किसान पर आक्रमण नहीं किया, बल्कि बड़ी कातर दृष्टि से किसान की ओर देख रहा था। किसान का भय मिट गया। किसान शेर के पास गया, शेर ने अपना पंजा ऊपर उठा दिया। किसान ने उसके पैर से काँटा निकाल दिया। शेर ने उसका बड़ा उपकार माना और कहा मैं तुम्हारी क्या मदद कर सकता हूँ? (हाँ

कहानी का शेर तो बात भी करता है) किसान ने कहा—मुझे मेरी बिटिया की शादी की चिन्ता है। मेरे पास पैसे नहीं हैं, क्या करूँ? शेर ने कहा आओ मेरे साथ। वह उस किसान को अपनी गुफा में ले गया। वहाँ सोने के बहुत सारे गहने पड़े थे। शेर ने कहा तुम्हें जितने चाहिये उतने ले जाओ इनमें से।

किसान बहुत खुश हुआ। वहाँ से जेवर लाकर उसने बिटिया की शादी बड़े ठाट—बाट से करने का प्लान (योजना) बनाया। उसने शादी में शेर को भी बुलाया, कहा—भाई तुम तो मेरे हितैषी हो, तुम जरूर आना शादी में। शादी के दिन शाम को ही पहुँच गया शेर भी, और एक तरफ खड़ा हो गया। लोगों ने शेर देखा, तो भयभीत होने लगे। किसान तो व्यस्त था शादी के कामों में। किसान की जीवन संगनी (पत्नी) लोगों से बोली (अरे) इससे क्या डरना? ये शेर थोड़े ही है, ये तो गधा है —गधा, खड़े रहने दो। शेर ने सुन ली यह बात। वह शादी अटेण्ड किये बिना ही वापस चला गया।

दो तीन दिन बाद किसान जंगल में पहुँचा। उसने शेर से कहा तुम शादी में आये फिर भी बिना कुछ देखे, बिना आशीर्वाद दिये ही वापस चले आये?

शेर ने कहा—सुनो! तुम ये लकड़ी काटने के लिए जो कुल्हाड़ी लाये हो उसे मेरे सिर पर जोर से मारो।

किसान ने कहा—क्या कह रहे हो ये? हम तुम्हारे मित्र हैं। हम तुम्हारे सिर पर कुल्हाड़ी मारें? इतने कृतघ्न तो हम नहीं हैं।

शेर ने कहा मारते हो कि नहीं मारते? वरना आज मैं तुम्हें समाप्त कर दूँगा।

अब तो किसान बहुत घबराया। उसने बड़े बेमन से, बहुत

मुश्किल से उसके माथे पर वार कर दिया। शेर का माथा फट गया। खून निकलने लगा। शेर ने किसान से कहा – जाओ लौट जाओ। बस इतना ध्यान रखना कि दस–पन्द्रह दिन बाद आकर मुझे देख जाना। दस–पन्द्रह दिन बाद बहुत डरते–डरते हाथ जोड़े किसान शेर के सामने पहुँचा। शेर ने अपना सिर आगे करके कहा–देखो। सिर के घाव का क्या हुआ?

घाव तो मिट गया था। किसान ने देखकर कहा – ये घाव तो मिट गया।

लेकिन एक घाव अभी मेरे मन में बहुत गहरा है, शेर ने कहा।

क्यों क्या हुआ? किसान ने पूछा। मैं तुम्हारे घर पहुँचा था। मैं तो बहुत चुपचाप खड़ा हो गया था। वहाँ पर लोग मुझसे डर रहे थे। शेर बताने लगा सारी बात। तब तुम्हारी (पत्नी) ने कहा कि डरने की कोई बात नहीं ये तो शेर नहीं गधा है, गधा। ये बात आज भी तकलीफ पहुँचाती है।

शरीर पर पड़ा घाव तो मिट गया, पर मन को लगा हुआ घाव नहीं मिटा। हम वही बोलें–जो सत्य हो, प्रिय हो।

आचार्यों ने लिखा है–'सत्यंवद, प्रियंवद', सच बोलें, प्रिय बोलें। अप्रिय और असत्य तो बोलो ही मत। प्रिय बोलो और सच बोलो। यदि झूठ भी प्रिय हो, तो मत बोलो और सच भी अप्रिय हो तो मत बोलो। ये दो–दो कन्डीशंस (शर्तें) रखी हैं।

एक राजा साहब को अपना चित्र बनवाना था। इसके लिए बहुत सारे कलाकार बुलवाये। राजा साहब का चित्र तो सुन्दर ही बनना चाहिये। पर राजा साहब के साथ मुश्किल ये थी कि उनकी एक आँख नहीं थी। अब राजा साहब का सुन्दर चित्र बनाना है। अगर

चित्र सच्चा बनाते हैं तो सुन्दर नहीं बनेगा, क्योंकि एक आँख नहीं बनेगी। एक चित्रकार ने कहा–इससे कोई मतलब नहीं, जो सच है वही बनायेंगे अपन तो। उसने राजा साहब की एक आँख नहीं बनायी, बाकी तो सब सुन्दर था। राजा साहब को वह चित्र पसन्द नहीं आया।

दूसरे कलाकार ने सोचा अरे वाह! सुन्दर बनाना चाहिये, सच से क्या मतलब। उसने राजा की दोनों आँखे एकदम दुरुस्त, एकदम बढ़िया बना दीं। उसे देखकर राजा ने कहा ये चित्र सुन्दर तो है, पर झूठा है।

ये प्रिय मालूम पड़ता है, लेकिन झूठा है। पहलेवाला अप्रिय मालूम पड़ रहा था, वह सच्चा था। दोनों ही रिजेक्ट (अस्वीकृत) हो गये। सच, जो अप्रिय है, वह भी ठीक नहीं है और झूठ, जो कि प्रिय है, वह भी ठीक नहीं है।

तीसरे कलाकार ने चित्र बनाया। राजा साहब बहुत शूरवीर हैं, बलवान हैं और तीरंदाज हैं। वे हाथ में धनुष बाण लिये हैं और निशाना साध रहे हैं। निशाना साधने पर एक आँख बंद रहती है, चित्र में इस प्रकार एक आँख बंद दिखाई गई। वह चित्र पास हो गया। क्योंकि वह सत्य भी है, प्रिय भी है। अतः हम हमेशा वही बोलें, जो सत्य हो व प्रिय हो।

सभी को सदा हितमित बचन बोलना चाहिये, जिससे दूसरों को दुःख हो, ऐसे वचन कभी नहीं बोलना चाहिये, पूजा में पढ़ते हैं–

कठिन वचन मत बोल, पर निन्दा अरु झूठ तज।
साँच जवाहर खोल, सतवादी जग में सुखी।।

कभी भी कठोर वचन नहीं बोलना चाहिये। सबसे ज्यादा यदि

दुनिया में झगड़ हो रहे हैं तो जिव्हा के कारण से। यह जिव्हा कुछ बोलकर अंदर चली जाती है, इधर तलवारें खिंच जाती हैं। हजारों साल पूर्व जिव्हा ने कितना बड़ा अत्याचार किया था? इस जिव्हा ने दो शब्द बोले थे, वे भी कौतूहलवश। लेकिन ये दो शब्द बोलने का परिणाम यह निकला कि यह नीति चरितार्थ हो गई कि गोली चूक जाए, लेकिन बोली नहीं चूकती। गोली का घाव भर जाता है, लेकिन बोली का घाव जन्म–जन्म तक बना रहता है। पत्थर की चोट के घाव सूख जायेंगे, डंडे के घाव सूख जायेंगे, इन का आपरेशन हो जायेगा, लेकिन कभी किसी के प्रति बोली के घाव पड़ जायें, तो उसके हृदय में जन्म –जन्म तक वह घाव नहीं सूखता। रिसता रहता है, हरा बना रहता है। जन्म–जन्म तक हरा बना रहता है। गोली तो एक ही जीव को मारती है, लेकिन बोली न जाने कितने जीवों का संहार कर देती है। एक गोली एक ही जीव को मार सकती है, दो जीवों को मारने की क्षमता नहीं, लेकिन बोली में इतनी क्षमता है कि सारे वंश का विनाश कर सकती है।

द्रोपदी के मुख से मजाक में दो शब्द निकल गये कि अन्धे के पुत्र अन्धे ही होते हैं। इतना ही तो कहा था। बेचारी द्रोपदी दुर्योधन की भाभी थी। उसे देवर से मजाक करने का अधिकार समाज ने दिया है। एक वचन बोल दिया था कि अंधे के पुत्र अन्धे होते हैं। कब बोला था यह वचन? पांडवों के लिये कौरवों ने राज दिया था खांडप्रस्थ का । इसका अर्थ है खण्डहर का स्थान। यह दे दिया था। धृतराष्ट्र के कहने पर, कुछ तो देना पड़ेगा। लेकिन पांडव तो कर्मठ जीव थे, अकर्मण्य जीव नहीं थे। भाग्य पर भरोसा नहीं रखते थे। अपने बाहुबल पर भरोसा रखते थे। पांडव तो जैन थे, क्षत्रिय पुत्र थे। वे तो कहते थे बाहुबल से हम सब कुछ कर लेंगे, और कर

दिखाया उन्होंने खांडप्रस्थ को परिवर्तित कर दिया और इन्द्रप्रस्थ बना दिया। इन्द्र का अर्थ होता हैं माया, प्रस्थ यानि स्थान। उस स्थान को मायावी बना दिया और दुर्योधन को भी इन्द्रप्रस्थ महल के उद्घाटन समारोह में बुलाया।

नांगल (गृह प्रवेश) करने की परंपरा आज की नहीं बहुत पुरानी है। मकान बनने के बाद सारे रिश्तेदारों को बुलाकर नांगल करवाया जाता है। जिसमें धार्मिक अनुष्ठान किया जाता था। पाडंवों ने भी खाण्डप्रस्थ को इन्द्रप्रस्थ बनाकर नांगल किया। उसमें दुर्योधन भी आया। ओ हो! दुर्योधन तो देखते ही दंग रह गया। कहीं पर जाता सोचता कि यहाँ जल होगा वह अपना चूड़ीदार पैजामा ऊपर को खींचता है कि गीला न हो जाये, लेकिन वहाँ जाकर देखता है कि वहाँ तो जमीन है और जहाँ जमीन देखने में आती है वहाँ पर स्वीमिंग पूल जैसा जलकुण्ड था, अतः धड़ाम से गिर जाता है। यही तो संसार है। संसार में सारा का सारा माया का जल भरा है। जिसे हम सत्य मानते हैं, वह असत्य है और जिसे हम असत्य मानते हैं, वह सत्य है। पारमार्थिक सुख ही सत्य है। जिस–जिस में हमें दुःख मिला, उस को हमने सत्य कहा और दूसरे को भी वही मार्ग बताया। जिस गृहस्थी के जाल में मकड़ी का जाल बन रहा है, उसमें क्या 24 घण्टे में एक समय के लिए भी निराकुल परिणाम कर पाए? नहीं। फिर भी हम दूसरों को उसी में फँसाने का उपदेश देते हैं।

द्रोपदी के दो शब्दों ने कमाल कर दिया–अन्धे के पुत्र अन्धे ही होते है। हँसी तो होगी ही और जब तुम्हारी कोई हँसी करेगा तो क्रोध आयेगा।

कठिन वचन मत बोल। हँसी–हँसी में भी अपने मित्र को कठिन

वचन मत बोलो। बहुत अन्याय हो सकता है। द्रोपदी के दो शब्दों ने इतना अन्याय कर दिया कि दुर्योधन कहता है बता दूंगा तुम्हें कि अन्धों के पुत्र अन्धे कैसे होते हैं। एक कठिन वचन ने भरी सभा में चीर हरण की नौबत ला दी। दुर्योधन कहता है कि द्रोपदी हम लोग अन्धे हैं। अन्धों के पुत्र अन्धे होते है। अंधों के सामने नग्न होकर भी चली जाओ तो क्या फर्क पड़ने वाला है। एक वाक्य से एक स्त्री के सतीत्व के लुटने की नौबत आ गयी थी। एक वाक्य ने महाभारत जैसा युद्ध खड़ा कर दिया था। कितना संग्राम हुआ, कितना खून–खच्चर हुआ?

सारा झगड़ा महाभारत में मात्र बातों–बातों का है। महाभारत को खोजो तो कोई सार नहीं। प्याज की पर्तें हैं महाभारत में। राम और रावण युद्ध तो फिर भी ठीक प्रतीत होता है। लेकिन महाभारत में केवल प्याज की पर्तें लगी हैं। छिलके निकालते जाओ, निकालते जाओ, अन्त तक छिलके निकलते जायेंगे। कोई सार नहीं। बातों–बातों का युद्ध है। मूर्खों का युद्ध है। उसने कहा कि मुझे अन्धा क्यों कहा? उसने कहा कि मुझे नग्न होने को क्यों कहा?

दो व्यक्ति गप्पें हाँक रहे थे। एक कहता है कि साहब मुझे तो ऐसा लग रहा है कि आज कल दूध बहुत महँगा मिलता है, मेरा भैंस खरीदने का भाव है। बोले, बहुत अच्छा। मैं भी सोच रहा हूँ कि बेरोजगार हूँ? क्या करूँ मेरा भी भाव है कि एक खेत खरीदा जाए। आजकल शक्कर बड़ी महंगी हो रही है, गन्ना पैदा किया जाये? तो हम शक्कर पैदा करेंगे और तुम दूध पैदा करोगे। दोनों मिलकर चाय बनायेंगे। दुनिया चाय की ज्यादा शौकीन है। तुम भैंस लाओ तो दूध देना और हम गन्ने की खेती करेंगे। हम शक्कर बनायेंगे। सारी दुनिया अपने से प्रसन्न हो जायेगी। तभी गन्ने के खेत वाला

कहता है, भाई! ध्यान रखना, तेरी भैंसें हमारे गन्ने के खेत में न आ जाएं। यह कौन–सी बात है? भैंस तो भैंस ही है, अगर कभी चली भी जाए तो चली जाए? क्या कहता है, खबरदार, यदि भैंस ने खेत में पैर रख दिया तो मैं भैंस की टांगें तोड़ दूँगा और तुम्हारा सिर फोड़ दूँगा। तो वह कहता है–भैंस चली जाये तो मैं क्या करूँगा? भैंस तो जायेगी ही जायेगी। वह कहता है–जाकर के बता। वह कहता है–तू खेत बो कर बता। उसने वहीं पत्थर पर खेत बनाया और बोला–ले यह मेरा खेत है और ये गन्ना है। अब आकर बताए भैंस तेरी? उसने भी कंकड़ उठाया और बोला–ले मेरी भैंस चली गई तेरे इस खेत में, बोल क्या कर सकता है? और दोनों में लट्ठम–लट्ठा हो गई। सिर फूट गया और फौजदारी रिपोर्ट (एफ.आई.आर.) लिखी गई। थानेदार मुआयना करने गया कि बताओ कौन–सी भैंस ने तुम्हारा कितना गन्ना खाया? चलो मुआयना तो कर आएं? वहाँ जाकर के कहा, कहाँ है खेत बताइये? वहाँ जाकर देखते हैं तो कोयले से दो–चार लकीरें खिची थीं, और उसमें कंकड़ रूपी भैंस पड़ी थी। सारी दुनिया में ऐसे ही झगड़े हैं और कोई मतलब नहीं है। सब बातों के झगड़े हैं। महाभारत भी ऐसा ही झगड़ा है।

कई बार लोग ऐसे ही झगड़ते हैं। एक तलाक का मामला था? शादी के दूसरे दिन ही तलाक। तलाक की अर्जी अदालत में दे दी गई। वहाँ पर बोले कारण क्या है तलाक देने का? बोले मामला यह है कि झगड़ा इस पर हो गया कि यह कहती है कि बच्चे को मैं डाक्टर बनाऊँगी और मैंने कहा कि बच्चे को इंजीनियर बनायेंगे और मेरे माता–पिता से पूछा तो वे कहते हैं बेटे को न डाक्टर बनायेंगे न इंजीनियर बनायेंगे, वे कहते हैं दुकानदारी करायेंगे। इस बात पर झगड़ा हो गया। तो जज साहब कहते हैं कि तुम दोनों के झगड़े अपने–अपने

हैं। बेटे को तो बुलाओ, कि उससे पूछूँ कि वह बनना क्या चाहता है? वे बोले कल ही तो शादी हुई है? लड़का कहाँ से लाएं? जज ने भी माथा ठोक लिया? कैसे विचित्र हैं ये लोग? कैसा है संसार?

ऐसा ही संसार है। यही असत्यार्थ है, यही मृग मरीचिका है, यही सुखाभास है। इसी सुखाभास में व्यक्ति अपनी जिंदगी बर्बाद करते चले जा रहे हैं, जिसका न आगे कुछ है, न पीछे कुछ है। लेकिन वर्तमान में हम शेखचिल्ली बनते जा रहे हैं। शेखचिल्ली जैसी दशा हो रही है। एक शेख चिल्ली था, छाछ पीकर गुजारा करता था। छाछ में भी थोड़ा थोड़ा नवनीत (मख्खन) रहता है। प्रतिदिन कुछ नवनीत उसकी मूछों पर लग जाता था, और वह उस नवनीत को इकट्ठा करता जाता था, वह सोचता है वाह! मैं अपनी पूरी जिंदगी नवनीत को इकट्ठा करूँगा तो घी से घड़ा भर जायेगा, घी को बेचूगाँ तो पैसा आयेगा, और पैसा आ जायेगा तो मैं उससे गाय खरीदूँगा। फिर सोचता है कि यदि गाय आ जायेगी तो उसकी रखवाली के लिये घरवाली लाऊँगा। वह मेरे पैर भी दबायेगी। यदि उसने कभी गड़बड़ की तो लात मारूंगा और उसने मटके में लात मर दी, जो नवनीत इकट्ठा किया था, वह भी समाप्त हो गया।

ऐसे ही सभी लोग अपनी जिंदगी में लात मारते जा रहे हैं। असत्यार्थ और मृग मरीचिका में फँसने के कारण, भविष्य की महत्त्वाकांक्षाओं के कारण। सबसे ज्यादा इसी तरह दुःखी हैं। महत्त्वाकांक्षा है–मैं यह बनना चाहता हूँ। ऐसी महत्त्वाकांक्षाओं को जिसने छोड़ दिया उस व्यक्ति के आनंद का पार क्या है? वह तो कहता है, सारी चीजें छोड़ देता हूँ। जो सत्य को समझ जाता है, वह तो सब कुछ छोड़कर आत्मा के आनन्द में लीन रहता है। हम भगवान को तो मानते हैं पर उनकी बात नहीं मानते।

एक व्यक्ति के दरवाजे से पड़ोसी की नाली बह रही थी। उसने कहा भैया। यह नाली तो नहीं बहनी चाहिए। यह ठीक नहीं। उसने कहा भैया, नाली तो यहीं से बहेगी। भैया! देखो पंचो को बुला लीजिए और पंच यदि कहें कि यह नाली अच्छी है तो बहने देना, और व कहें कि नाली गंदी है तो बंद कर देना। वह कहता है बिल्कुल ठीक है। पंच परमेश्वर हैं। पंचों की बात तो सिर माथे रखूँगा, लेकिन खबरदार, नाली वहीं से बहेगी। तो क्या काम के वे पंच और क्या काम की वह पंचायत? इसी प्रकार अनादि काल से तुमने पंच परमेष्ठी का माना, पंच परमेष्ठी की पूजा की, लेकिन कषाय रूपी नाली जब बही तो वहाँ से बहाई, जहाँ से बहती आ रही थी। कुत्ते की पूंछ को बारह वर्ष पुंगेरी में डाली और जब निकली तो टेढ़ी की टेढ़ी। कई बार तुम्हें सच्चे मार्ग का उपदेश मिल जाता है और जब तुम इस सच्चे मार्ग के उपदेश से छूटोगे ता वही करोगे जो करते आए हो।

एक व्यक्ति तीन दिन से रो रहा है। एक ने पूछा भैया! क्यों रो रह हो? बोले–भैया! मैं तीन दिन से कोटा की ट्रेन में बैठा हूँ, जाना दिल्ली है। 'अरे पागल! तुझे तीन दिन पहले पता चल गया था कि कोटा की ट्रेन है, तो उसी दिन क्यों नहीं उतर गया? यही हम कर रह हैं। हमने टिकट तो दिल्ली का कटा लिया और ट्रेन कौन–सी है? कोटा की, और कब से रो रहे हैं? तीन दिन हो गये। अनन्त भव हो गए रोते–रोते कि मैं संसार में भटक गया हूँ। मैं निर्जन वन में भटक गया हूँ। मैं संसार में रुल रहा हूँ। कब से ज्ञान हुआ है तुझे? जब से खबर है, बरसों हो गए ज्ञान हुए कि यह संसार के विषय–कषाय हेय है, फिर भी उन्हीं में झंझावात कर रहा है। तो अभी तुझ ज्ञान हुआ नहीं है। गलत ट्रेन में बैठने वाला समझ जाता है कि मुझे इससे

उतरना है।

सत्य बोलने वाले का सभी जगह सम्मान किया जाता है। एक बार एक नगर के बाहर एक मुनिराज आये थे। नगर के सभी स्त्री–पुरुष उनका दर्शन करने तथा उपदेश सुनने के लिये उनके पास गये। उपदेश सुनकर प्रायः सभी ने महाराज से यथाशक्ति व्रत नियम ग्रहण किये।

जब सभी स्त्री–पुरुष वहाँ से चले गये, तब एक व्यक्ति बड़े संकोच के साथ महाराज के पास आया और नम्रता के साथ बोला कि महाराज! मुझे भी कोई व्रत दे दीजिये। महाराज ने उससे पूछा कि तू क्या काम करता है?

उसने उत्तर दिया कि मैं चोर हूँ, चोरी करना ही मेरा काम है। महाराज ने कहा–फिर तू चोरी करना छोड़ दे।

चोर ने विनय के साथ कहा कि, गुरुदेव! चोरी मुझ से नहीं छूट सकती, क्योंकि चोरी के सिवाय मुझे और कोई काम करना नहीं आता।

मुनिराज ने कहा कि अच्छा भाई! तू चोरी नहीं छोड़ सकता तो झूठ बोलना तो छोड़ सकता है।

चोर ने प्रसन्नता के साथ उत्तर दिया कि हाँ महाराज! मैं असत्य बोलना छोड़ सकता हूँ। महाराज ने कहा कि बस, तू झूठ बोलना ही छोड़ दे। कैसी ही विपत्ति आवे, परन्तु तू कभी असत्य न बोलना।

चोर हर्ष के साथ हाथ जोड़कर मुनि महाराज के सामने असत्य बोलने का त्याग करके अपने घर चला गया।

रात को वह चोर राजा की अश्वशाला में चोरी करने के लिये

गया। घुड़साल के बाहर सईस सो रहे थे। चार को घुड़साल में घुसते देखकर पूछा कि तू कौन है?

चोर ने उत्तर दिया कि मैं चोर हूँ। सईसों ने समझा यह मजाक में कह रहा है, घुड़साल का ही कोई नौकर होगा, इसलिये चोर को किसी ने नहीं रोका। चोर ने घुड़साल में जाकर राजा की सवारी का सफेद घाड़ा खोल लिया और उस पर सवार होकर चल दिया।

बाहर सोते हुये सईसों ने फिर पूछा कि घोड़ा कहाँ लिये जा रहा है–

चोर ने सत्य बोलने का नियम ले रखा था इसलिये बोला मैं घोड़ा चुराकर ले जा रहा हूँ। सईसों ने इस बात को भी मजाक समझा। यह विचार किया कि दिन में घोड़े को पानी पिलाना भूल गया होगा, सा अब पानी पिलाने के लिये घोड़ा ले जा रहा है। ऐसा विचार कर उन्होंने उसे चला जाने दिया।

चोर घोड़े को लेकर एक बड़े जंगल में पहुँचा और घोड़े को एक पेड़ से बाँधकर स्वयं एक पेड़ के नीचे सो गया। जब सुबह हुई तब घुड़साल के नौकरों ने देखा कि घुड़साल में मुख्य सफेद घोड़ा नहीं है। नौकर बहुत घबराये। उनको रात की बात याद आ गई और व कहने लग सचमुच रात वाला आदमी चोर ही था और वह यहाँ से घोड़ा चुराकर ले गया।

अंत में यह बात राजा के कानों तक पहुँची। राजा न घाड़े को खोजने के लिये चारों ओर सवार दौड़ाये। कुछ सवार उस जंगल में जा पहुँचे। उन्होंने चोर को सोता देखकर उठाया और पूछा कि तू कौन है?

सत्यवादी चोर ने उत्तर दिया कि मै ंचोर हूँ। राजा के नौकरों

ने पूछा कि रात को तूने कहीं से कुछ चोरी की थी?

चोर ने कहा कि हाँ, मैंने राजा की घुड़साल से घोड़ा चुराया था।

नौकरों ने पूछा कि घोड़ा किस रंग का है और कहाँ है?

चोर ने कहा घोड़े का रंग सफेद है और वह उस पेड़ से बंधा हुआ है।

देवों ने चोर के सत्य की परीक्षा लेने के लिये घोड़े का रंग लाल कर दिया। राज कर्मचारियों ने जब वह घोड़ा देखा तो वह लाल था। उन्होंने चोर से पूछा कि भाई यह घोड़ा तो लाल है।

चोर ने दृढता के साथ उत्तर दिया कि मैं तो सफेद घोड़ा ही चुराकर लाया हूँ।

देवों ने उस चोर के सत्यव्रत से प्रसन्न होकर चोर के ऊपर फूल बरसाये और घोड़े का रंग फिर सफेद कर दिया। यह चमत्कार देखकर राजा के नौकरों को आश्चर्य हुआ। वे चोर को अपने साथ ले जाकर राजा के पास पहुँचे।

राजा ने चोर से सब समाचार पूछे। चोर ने मुनि महाराज से सत्य व्रत लेने से लेकर अब तक की सब बातें सच–सच बता दी।

राजा चोर की सत्यवादिता पर बहुत प्रसन्न हुआ और पारितोषक में उसको बहुत सा धन देकर उससे चोरी करना छुड़ा दिया। इस तरह एक झूठ बोलना छोड़ देने से चोर का इतना राज सम्मान हुआ और उसका चोरी करना भी छूट गया।

बहुत से लोग अपने छोटे बच्चों के साथ झूठ बोलकर अपना मन बहलाया करते हैं, परन्तु बच्चों का हृदय कोमल, स्वच्छ, निर्मल होता

है। अतः जो बात मनोरंजन के लिये बच्चों से की जाती है, बच्चे उसको सत्य समझकर अपने हृदय में धारण कर लेते हैं। इस कारण मनोरंजन के लिये भी बच्चों से झूठ नहीं बोलना चाहिये।

एक मारवाड़ी सेठ अपने परिवार के साथ ट्रेन से कलकत्ता जा रहा था। रास्ते में वह अपने बच्चे से मनोरंजन करने लगा। उसने अपने बच्चे की सिर की टोपी उसके सिर से उतार कर दूसरे हाथ से गाड़ी से बाहर फैंकने की बनावटी चेष्टा की। बच्चा जब अपनी टोपी के लिये रोने लगा, तब सेठ ने कहा कि अच्छा टोपी बुला दूँ। लड़के ने कहा हाँ बुला दो। सेठ ने झट खिड़की से बाहर वाला हाथ अंदर करके टोपी उसे दे दी, लड़का प्रसन्न होकर हँसने लगा।

थोड़ी देर बाद सेठ ने फिर टोपी बाहर फेकने का बहाना किया। लड़के ने फिर कहा अब फेकी हुई टोपी फिर वापिस बुला दो, सेठ ने दूसरी बार भी टोपी उसे दे दी। लड़का प्रसन्न हो गया। इस तरह सेठ ने 3–4 बार किया, उस छोटे से बच्चे ने इस मनोरंजन को सत्य घटना समझ लिया।

थोड़ी देर बाद उस छोटे लड़के ने अपने हाथ से वह कीमती जरी की टोपी खिड़की से बाहर फेक दी। यह देखकर सेठ बहुत दुःखी हुआ, किन्तु चुप रह गया।

परन्तु बच्चा रोने लगा और अपने पिता से कहने लगा कि पहले कि तरह मेरी टोपी फिर गाड़ी के बाहर से मँगा दो। सेठ वह टोपी कैसे मँगा देता। बड़ी मुश्किल से उसने बच्चे को चुप किया। बच्चों के साथ हंसी–मजाक में भी झूठ नहीं बोलना चाहिये।

सत्य बोलने वाला मनुष्य यदि धनवाला न हो, तो भी सब कोई उसका विश्वास करते हैं, और असत्य बोलने वाला बड़ा धनी भी हो,

ता भी कोई उसका विश्वास नहीं करता। संसार का व्यवहार, व्यापार, सत्य के आधार पर ही चलता है। सत्यवादी मनुष्य बिना हस्ताक्षर किये तथा बिना लिखा–पढ़ी के लाखों करोड़ों का लेन–देन किया करते हैं, जबकि असत्यवादी के साथ बिना लिखा–पढ़ी के कोई भी व्यवहार नहीं करता। अतः अपना विश्वास बनाये रखने के लिये सदा सत्य ही बोलना चाहिये। और यदि सत्य बोलने से दूसरों का अहित होता हो, तो वहाँ चुप रह जाना चाहिये।

सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
नानृत् च प्रियं ब्रूयात्, येषा धर्मः सनातनः।।

सत्यं ब्रूयात् सत्य बोलो, प्रियं ब्रूयात् प्रिय बोलो, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् अप्रिय सत्य मत बोलो और नानृत च प्रिंय ब्रूयात् प्रिय झूठ भी मत बोलो। यही सनातन धर्म है, सत्य धर्म है। यदि आपने सत्य बोला और आपका बोला गया सत्य प्राणघातक हुआ, किसी के जीवन का अपवाद फैलाने वाला हो, किसी के जीवन को ही बर्बाद करने में कारण बन गया, तो बोला गया वह सत्य भी झूठ के बराबर है। क्योंकि वह घातक है, अहितकर है। कहा गया है कि प्राणी रक्षा के लिये बोला गया झूठ भी सत्य के बराबर होता है। गाय भागी जा रही है और पीछे से कसाई खंजर लिए दौड़ रहा है। आपने अपनी आँखों से देखा है कि गाय दौड़ी जा रही है, कसाई ने आकर के पूछा कि हमारी गाय यहाँ से निकली है? और आप सत्यवादी बनकर कह दें हाँ–हाँ गाय यहाँ से निकली है, तो कसाई आगे बढ़ेगा और पकड़कर मार देगा। ऐसी स्थिति में तुम्हारा बोला गया सत्य भी झूठ हो गया, क्योंकि प्राणी का घात हो गया। और यदि देखकर भी आप प्राणिरक्षा के भाव से झूठ बोल देते हैं कि मैंने नहीं देखी, शायद

यहाँ से नहीं निकली, तो उस स्थिति में बोला गया झूठ भी तुम्हारा सत्य ही है। एक संदर्भ यह भी आता है कि कोई बहेलिया चिड़िया को मुट्ठी में ले करके पूछता है कि चिड़िया मरी है या जिंदा है? तुम देख भी रहे हो कि वह पंख फड़फड़ा रही है और तुमने कह दिया कि अरे मुझे तो लग रहा है कि वह मरी है, तब वह तुरन्त उड़ाकर कहेगा, देखो चिड़िया जिन्दा है। तुम्हें इतना भी नहीं मालूम कि मरी थी या जिंदा थी। अरे! हाँ! मैं समझ नहीं पाया, वो तो जिंदा थी। चिड़िया उड़ गई, चिड़िया के प्राण बच गए। तुम ने बोला तो झूठ, लेकिन वह झूठ भी सत्य के बराबर हो गया, क्योंकि वहाँ पर प्राणों की रक्षा हुई है। जहाँ करुणा और अहिंसा जुड़ी हो, धर्म जुड़ा हो, वहाँ बोला गया झूठ भी सत्य होता है। किन्तु जहाँ पर स्वार्थ जुड़ा होता है, जहाँ प्राणी का घात जुड़ा होता है, वहाँ पर बोला गया सत्य भी झूठ के बराबर हो जाता है।

श्री समता सागर जी महाराज ने लिखा है – सत्य हित, मित, प्रिय हो। हित का अर्थ अपना और पर का भला करने वाला हो। मित का अर्थ बोला गया परिमित हो, अनावश्यक न हो, मर्यादित हो। और प्रिय का अर्थ कठोर, कर्कश, मर्मभेदी न हो, श्रुति सुखद हो। कड़वा और मधुर सच क्या होता है? और मधुर झूठ क्या होता है? तुलसीदास जी की भाषा और कबीरदास जी की भाषा देखिये – तुलसीदास जी भीख माँगने निकले हैं, उन्होंने आवाज दी ओ मेरी माँ! भिक्षा में कुछ मिल जाय और घर के अंदर से माँ निकली और प्रसन्न मन से भिक्षा दे दी। कबीरदास जी भी अपनी अक्खड़ प्रकृति से बाहर निकलते हैं और कहते हैं, ओ मेरे बाप की पत्नी! भिक्षा में कुछ मिल जाय। बात एक ही है पर कहने का ढंग बदल गया है और इसी में भला बुरा भी हो गया। भाषा बदली तो सामने वाले के भाव भी बदल गए। मेरी माँ

और मेरे बाप की पत्नी, यद्यपि सत्य दोनों हैं, लेकिन मेरी माँ में मधुरता है और मेरे बाप की पत्नी में कड़वापन है, अमर्यादा है। आचार्यों ने कहा है कि सत्य का प्रतिपादन तो हो पर भाषा में मधुरता हो। मर्यादा बनी रहे। सत्य ही बोलो और यदि आपको ऐसा लगे कि यहाँ सत्य बोलना कठिन है, सत्य बोलेंगे तो मामला बिगड़ जायेगा, फिर चुप/मौन हो जाओ, पर यदि बोलो तो हित–मित–प्रिय सत्य ही बोलो। प्रिय झूठ भी मत बोलो। लोगों को खुश करने के लिए चापलूसी करना, उनकी हाँ में हाँ मिलाना, मक्खनबाजी करना, ये मक्खनबाजी थोड़े समय के लिये तो अच्छी लगती है, लेकिन इसका परिणाम अच्छा नहीं निकलता। अकबर बीरबल का एक प्रसंग है – दरबार लगा हुआ था, अकबर ने बीरबल से कहा– बीरबल आज मैं बैगन की सब्जी खा कर आया हूँ। क्या बताऊँ बीरबल! बैगन की सब्जी बड़ी अच्छी लगी। सभी सब्जियों में श्रेष्ठ है, स्वादिष्ट है। और जब राजा ने बैगन की खूब प्रशंसा की तो बीरबल ने भी जी भरके बैगन की प्रशंसा कर दी। बैगन! बैगन तो बहुत अच्छे हैं। राजन! उनके बारे में क्या कहा जाय? बेताज बादशाह हैं, ताज नहीं फिर भी प्रकृति से उस पर ताज रखा गया है। बैगन के सर पर कैप/टोप सा लगा होता है। अकबर ने जब बीरबल के मुख से भी प्रशंसा सुन ली, तो दूसरे दिन से अन्य सब्जियों को छोड़कर खूब बैगन खाना शुरू कर दिया। बैगन खाने से अकबर को वादी चढ़ गई। बीमार सा हो गया। वह सेवकों का सहारा लेकर दरबार में आया, सिंहासन पर बैठा और बोला बीरबल क्या बताएँ, बैगन बड़े खराब होते हैं। बैगन खाने से मैं बीमार पड़ गया। जैसे ही अकबर ने कहा कि बैगन तो बड़े खराब होते हैं, बीरबल खड़े होकर बोले हाँ राजन! बैगन बड़े खराब होते हैं, उसमें कोई गुण नहीं होते। इसलिये उसका नाम

बैगन रखा है अर्थात् बेगुण/गुण रहित। यह नई व्याख्या सुनकर अकबर ने कहा उस दिन तो तुमने बैगन की खूब प्रशंसा की थी और आज तुम बुराई करने लगे, ऐसा क्यों? तो बीरबल ने हाथ जोड़े और कहा हुजूर! नोकरी तो आपकी कर रहे हैं, न कि बैगन की। आप अच्छा कहोगे तो हम अच्छा कहेंगे और आप बुरा कहोगे तो हम बुरा कहेंगे। यह प्रिय झूठ है। ऐसा झूठ भी नहीं बोलना चाहिये।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है कि सत्य भले ही सूली पर लटकाया गया हो, किन्तु सूली पर लटकने के बाद भी सत्य, सत्य ही है और सिंहासन पर बैठने के बाद भी असत्य, असत्य ही है। भले ही वह सिंहासन पर क्यों न बैठा हो। सत्यवादी की परीक्षा होती है, सत्यवादी को संघर्ष भी करने पड़ते हैं, दर–दर की ठोकरें भी खाना पड़ती हैं, किन्तु अन्ततः यश उसी के हाथ लगता है। देखिये एक झूठ का रहस्य कैसे खुला। कई बार ऐसा होता है कि थोड़ा–सा भी अवसर मिले तो हम सारा–का–सारा काम बनाना चाहते हैं। ऐसे अवसर की तलाश में ही हम रहते हैं। एक सज्जन को वाहन की टक्कर लगी, टक्कर मामूली थी, पर उसे तो मानों मौका मिल गया। हाथ में जरा छिला ही था कि हाय–तोबा मचा–दी। अरे मर गया रे, मेरा तो हाथ ही टूट गया। चिल्लाना शुरू कर दिया उसने और मुआवजा लेने के हिसाब से क्लेम कर दिया। अदालत में उसे जाना पड़ा। जिस दिन उसे मामूली सी टक्कर लगी थी उसी दिन से भईया जी हाथ में पट्टी बांधे लोगों की सहानुभूति लूट रहे थे। जज साहब के सामने उसने अपनी सारी बात रखी, पक्ष प्रस्तुत किया। जज ने पूछना शुरू किया, आपको टक्कर कैसे लगी? उसने बताया कि मैं अपनी साइड से जा रहा था, चलने में मेरी बिल्कुल भी गलती नहीं थी। पीछे से जान–बूझकर टक्कर मार दी, जिससे हाथ में फ्रेक्चर हो

गया। अब तो हाथ उठता भी नहीं है। तकलीफ बहुत होती है, दुकान बन्द हुई सो घर का कामकाज भी चौपट हो गया। जज ने सारी बात सुनकर कहा—अच्छा तुम्हारी वेदना मैं समझ रहा हूँ कि आपको हाथ उठाने में, रखने में काफी तकलीफ होती है। वह कहता है कि, जज साहब! हाथ हिलता भी नहीं है, उठना तो दूर। जरा सा भी टच हो तो काफी तकलीफ होती है। जज ने कहा मैं समझ रहा हूँ, आपकी तकलीफ। जरूर मुआवजा दिलाऊँगा। हाथ अब हिलता—डुलता भी नहीं है। बस इतनी—सी जानकारी मुझे और दे दो कि चोट लगने के पहले आपका हाथ कितने ऊपर तक उठ जाता था। जनाब झटके में एकदम हाथ ऊपर उठाकर कहते हैं, साहब! पहले तो इतना (हाथ ऊपर उठाते हुए) उठ जाता था। और अब दर्द हो रहा है, हाथ हिलता भी नहीं है, सारे काम ठप्प हो गए हैं। झूठ ज्यादा देर चलने वाली नहीं। सामने वाला बड़ा समझदार होता है, वह पकड़ लेता है। ऐसी स्थिति में उसकी सारी पोल पट्टी खुल गई। और उस अदालत से बाहर कर दिया गया।

एक सज्जन बोले—इन दिनों मैं धर्म बहुत कर रहा हूँ। रोज मंदिर जाता हूँ, रात में नहीं खाता हूँ। जुआ, शराब आदि के व्यसनों से बहुत दूर रहता हूँ। एक दम साफ सुथरा जीवन बनता जा रहा है। सामने वाले को यह सब सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बोला अरे, मुझे तो यह मालूम ही नही था कि आप इतना सब कुछ करने लगे। बड़ा अच्छा बन गया आपका जीवन। फिर भी एकाध कोई बुराई तो बची होगी? तो वह कहता है, हाँ। बस एक ही बुराई है मेरी कि मैं झूठ बहुत बोलता हूँ। इसका मतलब यह कि वह जो बोल रहा है, वह सब झूठ ही था। सामने वाला समझ लेता है कि आप किस आशय से अपनी बात कर रहे हो। झूठ से यहाँ कुछ मिलने

वाला नहीं है। सत्य का सहारा लो तुम्हारा भला होगा।

हमारे जीवन में सत् आना चाहिए, हमारा व्यवहार सत्य से जुड़ना चाहिए। लकड़हारे की कहानी सब ने सुनी है, लकड़हारा सत्यवादी था। लकड़ी काट कर लाता था और उसी से अपनी जीविका चलाता था। उसकी कुल्हाड़ी जब नदी में गिरी और देवता ने प्रकट होकर पहले सोने की कुल्हाड़ी निकाली, फिर चाँदी की निकाली, उसने दोनों स्वीकार नहीं की। जब लोहे की कुल्हाड़ी निकाल कर दी तो उसने स्वीकार कर ली। वह बड़ा सत्यवादी था। कलयुग के लकड़हारे की एक नई कहानी और सुनाता हूँ। कलयुग का कोई सत्यवादी लकड़हारा लकड़ी काटने के लिये गया। पत्नी भी उसका साथ देती थी। लकड़ी काट कर गट्ठा लिये वह वापस आ रहा था कि अचानक देखता है कि उसकी पत्नी नदी में गिर गई। लकड़हारा बड़ा दुःखी हुआ। गृहस्थी का काम अब कैसे चलेगा? वो तो घर बाहर हमेशा साथ देती थी। अब तो हमारा आधा काम बंद हो जाएगा। मेहनत मजूरी में भी अब कौन–साथ देगा। इस तरह सोचता हुआ चिन्तित वह एक तरफ बैठ गया। वह सोचने लगा मैं भी तो सच्चाई का व्यवहार करता हूँ। इसलिये हमारी रक्षा करने के लिए भी कोई–न–कोई देवता प्रकट होगा। देवता प्रकट भी हुये। लकड़हारे ने अपनी व्यथा देवता के सामने कही। मेरी पत्नी नदी में गिर गई है। देवता महाराज! कृपा करो और जल्दी से उसे नदी से निकलो नहीं तो हमारा जीवन ही मुश्किल में पड़ जाएगा। देवता प्रसन्न हुआ उसके श्रम और सत्य से। देवता ने नदी में डूबकी लगाई। उसने सबसे पहले सुन्दर–सी एक देव कन्या निकाली और कहा कि क्या यह अपकी पत्नी है? लकड़हारे ने तुरन्त हाँ कह दिया। देवता को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसे यह उम्मीद ही नहीं थी

कि लकड़हारा देवकन्या को ही अपनी पत्नी बता देगा। आश्चर्ययुक्त हो उसने पूछा–आखिर बात क्या है? आप तो सच बोलते हैं, फिर इतना स्पष्ट झूठ आप क्यों बोल रहे? तो लकड़हारा जवाब देता है कि देवता महाराज मैं जानता हूँ कि यदि मैं मना करता तो आप फिर डुबकी लगाते और अभी आपने देवकन्या निकाली है फिर आप जलपरी निकाल कर हमें दिखाते, और जब हम उसे भी इंकार कर देते तो आप फिर डुबकी लगाकर हमारी पत्नी निकाल कर दिखाते और जब सत्य का पालन करते हुए उसे हम हाँ कहते तो प्रसन्न होकर आप तीनों हमारे लिए दे देते। अरे! वो तो सतयुग का सत्यवादी लकड़हारा था जो तीन–तीन कुल्हाड़ी उसे मिल गईं, मगर कलयुग में आप प्रसन्न होकर तीन–तीन स्त्रियाँ दे देते तो मेरा क्या होता? देवता महाराज, यहाँ एक को संभालना मुश्किल हो रहा है, तीन–तीन को कैसे संभालेगें? सतयुग में तो कई–कई को संभाला जा सकता था, क्षत्रिय पुरुष होते थे, अनेकों को संभाल लेते थे। देवता महाराज, ये कलयुग है और मैं तो ठहरा गरीब, तीन–तीन को लेकर क्या करता? परेशान हो जाता, अपनी इस परेशानी से बचने के लिए ही मैंने यह थोड़ा झूठ बोल दिया। देवता वहाँ से चला गया। शायद ये कहानी काल्पनिक हो सकती है, पर ऐसी कहानी हमारे जीवन से जुड़ी हुई है। हमारे जीवन में भी इस तरह की कई प्रवृत्तियाँ/मानसिकताएँ बनतीं जा रही हैं। किन्तु सत्य का सहारा लेने वाला आपत्ति/विपत्ति में भी अपने को स्थिर रखता है। अपने जीवन को प्रामाणिक बनाता है। हमें कैसी भी परिस्थिति हो, झूठ नहीं बोलना चाहिये। मुख्य रूप से व्यक्ति तीन कारणों से झूठ बोलता है। 1. स्नेह 2. लाभ और 3. भय।

घर परिवार या बाहरी किसी इष्ट मित्रादिक के प्रति रहने वाले

स्नेह संबंध के कारण भी प्रायः झूठ बोला जाता है। राजा वसु के द्वारा बोला गया झूठ भी अपनी माँरूप गुरुपत्नी के आत्मीय स्नेह के कारण ही था। गुरु क्षीर कदम्ब का पुत्र पर्वत, सेठ पुत्र नारद और राजपुत्र वसु इन तीनों ने गुरु क्षीरकदम्ब से शिक्षा ग्रहण की थी। गुरु के दीक्षित हो जाने पर कालान्तर में गुरुपुत्र पर्वत ने उपाध्याय का पद संभाला। पढ़ाते समय एक दिन उसने 'अजैर्यष्टव्यम्' का अर्थ, यज्ञ में अज अर्थात् बकरे को होमना चाहिये, ऐसा अर्थ निकाला। जिस अर्थ को सुनकर सेठ पुत्र नारद ने कहा कि गुरु ने इस संदर्भ में अज का अर्थ बकरा नहीं, किन्तु 'पुराना धान्य' प्रतिपादित किया था। किन्तु पर्वत ने नारद की बात नहीं मानी। और वचन बद्ध हो गये कि इसका फैसला राजा वसु से करा लो। जिसका झूठ होगा उसे जिव्हा खण्डित दण्ड दिया जायेगा। बात गुर्वानी तक पहुँची। वह भी शास्त्र की ज्ञाता थी। उसने अपने बेटे पर्वत के झूठ को समझ लिया। नारद सही कह रहा है, वैसा ही अर्थ तुम्हारे पिता जी ने समझाया था, उसे स्वीकार लेना चाहिये ऐसा माँ ने समझाया। पर पर्वत तो जिद पकड़ गया था। फिर क्या? पुत्र स्नेह के कारण माँ ने राजा वसु को सारी बात बता दी और अपने अनुग्रह के बदले में पर्वत का पक्ष लेने को कहा। निर्धारित समय पर सब एकत्रित हुए। क्या सच? क्या झूठ? इसे सुनने के लिये काफी लोग एकत्रित हो गये। और निर्णायक दौर में सिद्धांत प्रतिपादन के नाजुक क्षणों में, जबकि अहिंसा या हिंसा की परम्परा चलने का सवाल था। राजा वसु जो न्याय के सिंहासन पर बैठता था, झूठ बोल गया और अज का अर्थ पर्वत के कथनानुसार ही बकरा कह दिया। बस फिर क्या? इस घोर पाप से, असत्य कथन से, वसु झूठ सेती नरक पहुँचा स्वर्ग में नारद गया। वसु का सिंहासन धसा और रसातल में चला गया। यह

रही स्नेह के कारण झूठ बोलने की बात। दूसरी बात–लोभ के कारण भी अक्सर झूठ बोला जाता है। धन–पैसे के लोभ में पड़कर आदमी न्याय–नीति को छोड़ देता है और येन केन प्रकारेण समृद्ध होने के लिये असत्य का सहारा लेता रहता है। सत्यघोष ने अपने झूठ व्यवहार से अपने आपकी असत्यता को दर्शा दिया और उसका प्रतिफल अपमान/अनादर के रूप मे उसने पाया। और तीसरी बात, भय के कारण भी झूठ बोला जाता है। जीवन में ऐसे कई मौके आते हैं जब भयभीत होकर झूठ का आलम्बन ले लिया जाता है। उस परिस्थिति में उस झूठ से वह अपनी सुरक्षा मानता है। सत्यवादी युधिष्ठिर के जीवन में ऐसे ही एक झूठ ने प्रश्न चिन्ह लगा दिया। इस झूठ से उनकी बेदाग प्रतिष्ठा में भी धब्बा लग गया। महाभारत के युद्ध में कौरवों की सेना को हतोत्साहित करने के लिये युधिष्ठर ने यह वाक्य बोला–''अश्वत्थामा हतोहताः नरो वा कुँजरो वा।'' जिसका अर्थ अश्वत्थामा मारा गया, मनुष्य अथवा हाथी। इस वाक्य के बोलते समय युधिष्ठिर ने अश्वत्थामा हतो हताः तो बहुत जोर से बोला किन्तु 'नरो वा कुँजरो वा' धीरे से बोल दिया। अश्वत्थामा हतो हताः बोलते ही उनके पक्षधर विजय सूचक शंखादिक की ध्वनि करने लगे, जिससे आगे के शब्द किसी को सुनाई ही नहीं दिये। इस बात को सुनकर कौरव पक्ष में बड़ी निराशा का वातावरण छा गया। क्योंकि अश्वत्थामा उनकी सेना का एक विशिष्ट वीर योद्धा था। इस तरह भयाक्रान्त अवस्था में झूठ का सहारा लिया गया जो कि धोखा है, असत्य है। इसलिये सत्यवादी को स्नेह, लोभ और भय जन्य परिस्थितियों में बड़ी दृढ़ता से अपने धर्म का पालन करना चाहिये।

अनन्त जन्मों का जब पुण्य फलता है, तब मनुष्य पर्याय मिलती है। मनुष्य पर्याय में हम वाणी के माध्यम से अपनी बात दूसरों तक

पहुँचा सकते हैं। नीतिकारों ने लिखा है–

संसार कटुक–वृक्षस्य, द्व फले अमृतोपमे।
सुभाषितं च सुस्वादु, संगतिः सुजनैर्जनेः।।

संसार के कड़वे वृक्ष में दो ही फल अमृतोपम हैं। वह है मधुर संभाषण और सुसंगति। वाणी एक ऐसा वशीकरण है, जो लाखों को एक साथ जोड़ देती है, तथा वाणी ही एक ऐसी शक्ति है, जो लाखों को तोड़ भी देती है। एक आवाज पर लाखों का संहार हो जाता है, तो एक आवाज पर लाखों के संहार को रोका भी जा सकता है। इसीलिये कहा है–

जिव्हा में अमृत बसे, विष भी तिसके पास।
इक बोले तो लाख ले, इकते लाख विनाश।।

जिव्हा से अमृत भी उड़ेला जा सकता है, तो जिव्हा से जहर भी उगला जा सकता है। अतः हमें सदा अपनी वाणी पर अंकुश रखना चाहिये। संत कहते हैं– बोलो, पर बोलने से पूर्व विचार कर लो। जो व्यक्ति बोलने से पूर्व विचार करता है, उसे फिर कभी पुनर्विचार नहीं करना पड़ता। और जो व्यक्ति बिना विचारें बोल देता है, उसे जीवनपर्यंत विचार करने का बाध्य होना पड़ता है। वह पूरे जीवन पछताता रहता है।

एक पढ़े–लिखे नवयुवक की शादी गाँव की एक अनपढ़ लड़की से हुई। लड़का ज्यादा पढ़ा–लिखा था। वह अपने आपको कुछ अधिक एडवांस मानता था। लड़की की पहली विदा हुई, वह अपने मायके पहुँची। पत्नी के वियोग में व्याकुल लड़का बिना पूर्व सूचना के अपनी ससुराल पहुँच गया। पहुँचते ही उसने कहा–

"मैं आज पत्नी को लेने के लिये आया हूँ और कल ही मैं यहाँ

से चला जाऊँगा। कल आपको विदा करना है।"

इस अप्रत्याशित बात को सुनत ही लड़की की माँ सिहर उठी, बोली–'अभी–अभी आये हो, चार दिन हुये नहीं और बेटी को ले जाओगे? फिर अभी तो तुम्हारे ससुर भी यहाँ नहीं हैं, मैं कैसे विदा करूँगी। कोई है ही नहीं।

दामाद अशिष्टता से बोला–"मैं तुम्हारे इन दकियानूसी विचारों से बिलकुल सहमत नहीं हूँ। मैं आज आया हूँ और कल जाऊँगा। कल अपनी बेटी की विदा करनी पड़ेगी।"

दामाद के इस जवाब से सास को भी थोड़ा गुस्सा आ गया। यद्यपि सास को थोड़ा संयम रखना चाहिये था, पर वह अपने आपको संभल नहीं सकी और उसने आवेश में कहा–

'देखो! ज्यादा बातें मत बनाओ। अब कोई क्या कहेगा? विदाई के लिये सामान तक नहीं है। इसके पिताजी को आ जाने दो, सामग्री आ जायेगी, फिर मैं दो दिन बाद विदा कर दूँगी। आप भी रुको, दो दिन में क्या बिगड़ जाता है? दामाद का क्रोध और बढ़ गया। उसने बेरुखी से कहा–'कल विदा करना है तो करो, नहीं तो मैं तुम्हारी बेटी को यहीं छोड़कर चला जाऊँगा।'' जवाब सुनकर सास ने भी अपना आपा खो दिया और उसने कहा– ''तुझे जाना है तो चला जा, मैं समझ लूँगी कि मेरी बेटी विधवा हो गई।''

इतना सुनना था कि दामाद आग बबूला हो गया और उसने कहा–''ठीक है, अगर तू समझती है कि तेरी बेटी विधवा हो गई तो अब मैं तेरी बेटी को विधवा करके ही छोड़ूँगा।'' वह कमरे से तीर की तरह भागा और आँगन के कुँए में कूँदकर अपनी जान दे दी।

ये है वाणी का असंयम। उसने अपनी बेटी को ही विधवा बना

दिया। अतः कभी भी अपनी वाणी में कटु वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। कहा गया है–

मधुर वचन हैं औषधि, कटुक वचन हैं तीर।
कर्णद्वारतैं संचरै, साले सकल शरीर।।

वाणी का घाव बाण के घाव से भी गहरा होता है। बाण का घाव भर सकता है, लेकिन वाणी का घाव कभी नहीं भर सकता। किसी को किसी अस्त्र से चोट पहुँचा दी जाये, तो वह भर सकती है। पर कटुवाणी द्वारा किसी के मन पर यदि चोट पहुँच जाती है, तो फिर वह कभी नहीं भरती। जीवन भर क्या, जन्म जन्मांतरों तक के लिये बैर बँध जाता है। जिव्हा बड़ी खतरनाक है। है छोटी–सी जुबान, लेकिन क्या–क्या कर दे, कुछ कहा नहीं जा सकता। एक कहावत है कि दो इंच की जिव्हा आदमी के पूरे जीवन को समाप्त कर देती है।

एक बार ऐसा हुआ। जिव्हा और दाँत में कुछ बहस छिड़ गई। जीभ से दाँत ने कहा–''तू कैसी बेशर्म है। मैं सारा परिश्रम करता हूँ और रस तू चूसती है।''

''क्या मतलब।'' जीभ ने अपने पैने पन को और पैना करते हुये कहा–''सुनो तुम मेरे सामने ज्यादा मुँह मत चलाओ, नहीं तो थोड़ी देर में सब समझ में आ जायेगा कि तुम्हारा क्या होगा।'' दाँत को गुस्सा आ गया। उसने जीभ को अपने दोनों जबड़ों के बीच दबा दिया। जीभ तिल–मिला गई। बोली ''ठीक है, तूने मेरा अपमान किया है, देख मैं अभी तुझे मजा चखाती हूँ।'' दाँत बोला–''तू मेरा क्या कर लेगी?'' जीभ ने कहा–''मैं तुझे अभी मजा चखाती हूँ।'' वह सीधे एक पहलवान के पास गई और चार, छह गालियाँ दे दीं। पहलवान को गुस्सा आ गया, उसने एक घूंसा मुँह पर दे मारा तो

बतीसी बाहर आ गई।

रहिमन जिव्हा बाबरी, कह गई सुरग पताल।
आप तो कह भीतर गई, जूती खात कपाल।।

इसलिये, आचार्यों ने कहा है कि यदि तुम्हें वाणी की शक्ति प्राप्त हुई है, तो उसमें लोच रखो और सदा सत्य व प्रिय वचन ही बोलो। जो व्यक्ति जितना अधिक मधुर संभाषी होगा, वह व्यक्ति उतना ही अधिक आदरणीय प्रतिष्ठित माना जाता है। नीतिकारों ने कहा है –

प्रिय वाक्य प्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात् तदैव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता।।

अरे भइया! जब तुम्हारे मीठे बोलने से सब संतुष्ट होते हैं तो वही बोलो न, वचनों में कौन–सी दरिद्रता है। क्या तुम्हारे बोलने पर पैसा लगता है? क्या तुम्हारे पास शब्द सम्पदा की कमी है? अरे शब्द का तो अपूर्व भंडार है तुम्हारे अन्दर, उस भंडार का प्रयोग करो। अच्छे शब्दों का प्रयोग करो, बुरे शब्द अपने मुख से कभी न निकालो। आपने कभी विचार किया कि दाँत कड़े हैं और जीभ कोमल है। इसका अर्थ क्या है?

कुदरत को नापसंद है सख्ती जुबान में।
इसलिये नहीं दी है हड्डी जुबान में।।

जुबान में हड्डी नहीं है। इसका अर्थ है अपनी वाणी में लोच रखो, जुबान ज्यादा सख्त मत करो, सख्त करोगे तो सब गड़बड़ हो जायेगा। चीन का दार्शनिक कनफ्यूसियस जब मरणासन्न था तो उसके शिष्यगण उसे घेरे हुये थे। उन्होंने कहा कि, गुरुदेव! आप

जाते–जाते कोई अन्तिम शिक्षा हम सबको देते जाइये। कनफ्यूसियस बड़े ऊँचे दर्जे के दार्शनिक थे। उन्होंने अपना मुख खोला और शिष्यों से पूछा ''बताओ मेरे मुँह में क्या है?'' शिष्य बोले–आपके मुँह में अकेली जीभ है, पर दाँत तो एक भी नहीं है। कनफ्यूसियस ने पूछा इसका क्या कारण है, बता सकते हो? सारे शिष्य एक दूसरे का मुँह ताकते रहे पर उन्हें कोई उत्तर समझ में नहीं आया। तब कनफ्यूसियस ने कहा–''देखो दांत बाद में आये और पहले चले गये। जीभ पहले आई और अभी तक बनी है। इसका सिर्फ एक ही कारण है– दाँत में कठोरता है, कड़ापन हैं इसलिये दाँत पहले चले गये। जीभ में लोच है, इसलिये जीभ आज भी बनी हुई है। यही मेरा तुम्हारे लिये अन्तिम संदेश है कि जितना बने विनम्र बनो, सरल व्यवहार करो और अपनी जिव्हा में हमेशा लचीलापन बनाये रखो। कभी भी अप्रशस्त वचनों का प्रयोग मत करो।

सदा प्रिय व सत्य वचन ही मुख से बोलो। सत्य वचन कण्ठ के आभूषण माने गये हैं। जिसके मुख से सदा सत्य निकलता है, फिर उन्हें कण्ठ में किसी आभूषण के पहनने की आवश्यकता नहीं होती। सत्यवादी हरिशचन्द्र जैसे धीर पुरुष भले ही कठिनाईयाँ झेलते रहे, किन्तु उन्होंने अपने सत्यधर्म को नहीं छोड़ा। एक बार एक राजा ने प्रतिज्ञा की कि हमारे राज्य में जो बाजार लगता है, उसमें शाम तक जो सामान न बिके उसे राजकोष से खरीद लिया जाए। राजा की इस प्रतिज्ञा का पालन बहुत समय तक होता रहा। एक दिन राजा के पास मंत्री आया, कि राजन्! बाजार में सारा समान तो बिक गया। लेकिन आज एक शनि की मूर्ति बिकने के लिए आई है, जिसे खरीदने को कोई तैयार नहीं। सारा सामान बिक गया, मगर शनि की मूर्ति रखे हुए दुकानदार अब भी बैठा है, क्या किया जाए? राजा ने

अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाते हुए कहा कि मेरी प्रतिज्ञा है कि बाजार में जो भी सामान बचे उसे राजकोष से खरीद लिया जाये। मेरी इस प्रतिज्ञा को ध्यान मं रखते हुए तुम्हें उस मूर्ति को खरीद लेना चाहिए। राजाज्ञा से मूर्ति खरीद ली गई और उसकी स्थापना महल में कर दी गई। प्रतिज्ञा का निर्वाह हो जाने से राजा को प्रसन्नता हुई। प्रसन्नमना राजा रात्रि मं सोया। अचानक आँख खुली तो देखता है कि एक सजी–धजी महिला दरवाजे की तरफ बढ़ रही है। राजा ने पूछा कि तुम कौन हो? इतनी रात में कहाँ जा रही हो। तो उसने जवाब दिया कि, राजन मैं लक्ष्मी हूँ और अब तुम्हारे महलों से जा रही हूँ। राजा ने कहा क्यों? लक्ष्मी ने जवाब दिया कि जिस घर में शनि की मूर्ति स्थापित हो जाए, वहाँ लक्ष्मी का निवास कैसे रह सकता है। इसलिये अब मैं तुम्हारे यहाँ से जा रही हूँ। राजा ने कहा ठीक है, मैंने अपने धर्म का पालन किया है, आप जाना चाहती हैं तो चली जाएं। राजा जरा भी विचलित नहीं हुआ। थोड़ी देर बाद राजा देखता है कि वहाँ से एक पुरुषाकृति चली जा रही है। आहट आते ही राजा चौकन्ना हुआ उसने पूछा तुम कौन हो? और इतनी रात गए कहाँ जा रहे हो? तो उसने जवाब दिया मैं वैभव हूँ। राजन! अब मैं तुम्हारे महल से जा रहा हूँ। राज ने पूछा क्यों जा रहे हो? वह बोला–जिस महल में लक्ष्मी का निवास न हो, वहाँ वैभव कैसे रह सकता है? राजा जरा गंभीर हुआ और कहा जाना है तो जाओ। थोड़ी देर बाद देखा कि एक सुकुमार कन्या चली आ रही है। पगचाप सुनकर राजा ने पूछा तुम कौन? तो कन्या ने जवाब दिया मैं कीर्ति हूँ और अब तुम्हारे महलों से जा रही हूँ। राजा ने कहा क्यों। तो उसने कहा कि जहाँ लक्ष्मी का निवास और वैभव न हो, वहाँ कीर्ति का क्या काम? लक्ष्मी और वैभव के बिना किसकी कीर्ति फैली

है इस संसार में। राजा विचार मग्न हुआ। वह अर्द्धनिद्रित सा लेटा था, विचारों में खोया था। उसी समय उसने देखा एक वृद्ध तेजस्वी पुरुष लाठी को टेकते हुए दरवाजे की तरफ जा रहा है। राजा ने फिर पूछा कि इतनी रात में तुम कौन हो? तो उसने कहा कि राजन्! मैं सत्य हूँ। इतना सुनना था कि राजा सन्न रह गया। अभी तक राजा ने लेटे-लेटे ही लक्ष्मी, वैभव और कीर्ति से बात की थी, लेकिन जैसे ही देखा कि सत्य दरवाजे की तरफ जा रहा है, तो राजा उठा और उसके चरणों में गिर गया। निवेदन के रूप में बोला-नहीं-नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। आपके पीछे ही मैंने लक्ष्मी का परित्याग कर दिया, वैभव का भी तिलांजलि दे दी, लेकिन अब तुम ही जा रहे हो। अपनी प्रतिज्ञा को निभाने के लिए ही मैंने यह सब झेल लिया, फिर भी आप हमारे महलों से जा रहे, यह कैसे संभव है? और राजा ने बड़े जोर से सत्य के पैर पकड़ लिए। जैसे ही सत्य के पैर पकड़े, सत्य ठिठक गया और अपने प्रति राजा का संकल्प समर्पण देखकर सत्य महल में लौट गया। ज्यों ही सत्य महल में लौटा पीछे से लक्ष्मी, वैभव और कीर्ति भी महलों में आ गईं। फिर राजा ने किसी की फिकर नहीं की। उसने सिर्फ इतना ही कहा मैंने सत्य का पालन किया है, मैंने सत्य के चरण पकड़े हैं। अतः लक्ष्मी, वैभव और कीर्ति तो हमारे पास में रहेगी ही। जो सत्य के चरणों में पहुँच जाता है उसके चरणों में लक्ष्मी, वैभव और कीर्ति साष्टांग पड़े रहते हैं। लेकिन जो लक्ष्मी, वैभव और कीर्ति के पीछे पड़ा रहता है, सत्य उससे बहुत दूर हो जाता है। अपने जीवन में जिसने सत्य को उपलब्ध कर लिया है उसने ब्रह्म को पा लिया है। धर्म उसके जीवन में अवतरित हो जाता है।

हमारे आचार्यों ने कहा-या तो मौन रहो। यह सर्वोत्तम है।

उसके समान तो कुछ है ही नहीं। यदि लोक व्यवहार में बोलना भी पड़े तो हित–मित–प्रिय वचन ही बोलिये। सत्य ही शिव है, सत्य ही सुन्दर है, सत्य ही कल्याणकारी है। सांच बराबर तप नहीं, इसलिये सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं। सबसे बढ़िया आँखों की भाषा होती है।

भगवान महावीर के समय में चंड कौशिक नाम का एक जहरीला सर्प था। वह इतना जहरीला था कि उसके समीप से कोई भी नहीं जा सकता। दो–दो मील दूर तक के पेड़ उसके जहर से सूख गये थे। वातावरण विषाक्त हो गया था। मुनिराज महावीर को ग्वाले ने मना किया, आगे मत जाना, नाग डस लेगा। लेकिन योगियों की प्रवृत्ति बड़ी विचित्र होती है। वे आगे बढ़े। चंडकौशिक को क्रोध आ गया। अब तक किसी की उसके निकट आने की हिम्मत नहीं हुई थी। किसी का साहस नहीं हुआ था। पर मुनिराज महावीर उसके सामने जाकर रुक गये। गुस्से में आकर उसने उनके पैरों में काट लिया। क्रोध से जहर उगलना शुरू कर दिया। महावीर ध्यानस्थ, वात्सल्य मूर्ति, मंद–मंद मुस्करा रहे हैं। परम शांत। अन्त में जब उसका गुस्सा शांत हो गया, तब मुनिराज महावीर ने नेत्रों की भाषा से समझाया। हे आत्मन्। पिछली पर्याय में जघन्य कर्म के पाप से तुम सर्प जैसी जाति में आये हो। अब यहाँ सभी से वात्सल्य भाव रखो। बिना सताये कोई किसी को कष्ट नहीं देता। वह सर्प समाधि मरण करके अच्छी गति को चला गया। सत्य ऐसा महान है। सर्वोत्तम भाषा है मौन। मौन रहिये, एक अक्षर से काम चल जाये तो अधिक मत बोलिये। जब भी बोलिये मीठे वचन ही बोलिये। मीठे वचन बोलने से पराया भी अपना हो जाता है।

तुलसी मीठे वचन तें, सुख उपजत चहुँ ओर।

बशीकरण इक मंत्र है, तजिय वचन कठोर।।

प्रिय वाणी वशीकरण मंत्र है। वाणी से ही बोलने वाले की पहचान हो जाती है। कहा है कि—सत्कुल में उत्पन्न व्यक्ति की हथेली में कमल नहीं होता और अकुलीन के मस्तक पर श्रृंग नहीं उगता, किन्तु जब कोई वाणी बोलता है तब उसकी जाति और कुल का प्रमाण मिल जाता है।

एक राजा को शिकार खेलने का बड़ा शौक था। जब भी उसे राज्य की व्यवस्था से अवकाश मिलता, तो वह अपने साथियों के साथ शिकार खेलने निकल जाता था।

एक दिन सुबह—सुबह शिकार खेलने साथियों के साथ वह जंगल में पहुँच गया। परन्तु उस दिन दोपहर तक एक भी शिकार हाथ नहीं लगा। राजा शिकार की खोज में अपने साथियों के साथ जंगल में आगे बढ़ रहा था। सुबह से शाम होने, लगी पर शिकार हाथ नहीं लगा।

राजा को धूप और थकान के कारण बड़ी प्यास लगी। उसने दो सिपाहियों को आदेश दिया कि कहीं से पानी की खोज की जाय। दोनों सिपाही पानी की खोच करते—करते एक झोपड़ी पर पहुँचे, जहाँ एक अंधा व्यक्ति बैठा हुआ था। दोनों सिपाहियों ने उस अंधे व्यक्ति से आदेश भरे स्वर में कहा—ए अंधे! उठ और हमें पानी दे। अंधा व्यक्ति मौजी प्रकृति का था। यह सुनकर वह क्रुद्ध होकर बोला—चल—चल सिपाही के बच्चे! मैं तेरे जैसे सिपाहियों को पानी नहीं देता।

यह सुनकर दोनों सिपाही बड़े हैरान और परेशान हुए। हैरानी इस बात की हुई कि अंधे को कैसे ज्ञात हुआ कि हम सिपाही हैं और

परेशानी यह थी कि उन्हें प्यास तीव्र लगी थी। राजा के लिये भी पानी ले जाना जरूरी था और आसपास कहीं पर भी पानी नहीं दिख रहा था।

दोनों सिपाही निराशापूर्वक लौट आए और सेनापति को सारी स्थिति बताई। सेनापति ने उन्हें डाटते हुये कहा–तुम दोनो मूर्ख हो। तुम्हें ढंग से काम लेना नहीं आता। चलो अब मैं जाता हूँ।

मदांध सेनापति भी उसी झोपड़ी पर पहुँचा गया। वहाँ पहुँचकर उस अंधे व्यक्ति से बड़े रोबीले स्वर में कहा –'ऐ अंधे! हमें पानी दे दो, मैं तुम्हें कुछ सोने की मोहरें दूंगा।

अंधे ने वाणी के भीतरी स्वर को पहचानते हुए कहा–अरे! तू पहले आने वाले सिपाहियों का सेनापति लगता है। लालच की मीठी चुपड़ी बातें बनाकर मुझ पर दबाव डाल रहा है। चला जा, यहाँ से, मैं तुझ–जैसे अहंकारी सेनापति को पानी नहीं दूंगा। सेनापति भी यह सुनकर दंग रह गया और वह भी लौट आया।

सेनापति को भी लौटता हुआ देखकर राजा स्वयं पानी लेने चल पड़ा। वहाँ पहुँचकर सर्वप्रथम उसने अंधे को नमस्कार किया और उनके समीप जाकर राजा बोला –हे भद्र! प्यास से गला सूख रहा है, यदि आप मुझे एक लोटा जल देंगे तो आपकी मुझ पर बहुत कृपा होगी।

यह सुनते ही अंधे ने अपनी खाट विछाई। सत्कार पूर्वक राजा को उस पर बिठाया, फिर लोटे में जल भरकर बड़े सम्मान से राजा को पानी पिलाया। जब राजा की प्यास शांत हुई तब अंधा व्यक्ति अत्यन्त मीठे स्वर में बोला–मुझे लगता है कि आप राजा हैं, आप जैसे श्रेष्ठ पुरुषों का मैं बहुत सत्कार, सम्मान करता हूँ। यदि मेरे

लायक कोई सेवा हो तो बताएं। यह सुनकर राजा विस्मित रह गया, क्योंकि वह सेनापति और सिपाही के साथ बीती घटनाओं से परिचित था।

राजा ने कहा—आप तो नेत्रहीन हैं, फिर भी आपने मुझे, मेरे सेनापति और सिपाहियों को कैसे पहचाना? इस अंधे व्यक्ति ने कहा—राजन! मैं आँखों से अवश्य अंधा हूँ, परन्तु मेरे कान सिर्फ शब्दों को सुनकर व्यक्ति की पहचान कर लेते हैं। मैंने सिर्फ उनकी वाणी से ही उन्हें पहचान लिया था।

सबसे पहले मेरे द्वार पर आने वाले दो सिपाही थे, क्योंकि उनकी वाणी में रूखा आदेश था। जिससे मैंने पहचान लिया कि वे निम्न स्तर का जीवन जीने वाले व्यक्ति है। जब दूसरी बार सेनापति ने पानी की माँग की तो उनके रोबील स्वर से मैंने पहचान लिया कि यह सेनापति होगा, जो अहंकार पूर्ण जीवन जीने का आदी है।

जब आपकी वाणी में इतनी माधुर्यता और कोमलता देखी, तो मैंने पहचान लिया कि जिस वृक्ष में फल लग जाते हैं, वह झुक जाता है। इसी प्रकार आपकी विनम्र वाणी से मैंने पहचान लिया कि आप राजा हैं। ज्ञानी पुरुष कहते हैं—मनुष्य की पहचान उसकी वाणी से होती है। सभी को सदा मीठी वाणी बोलना चाहिये।

वाणी ऐसी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपहुँ शीतल होय।।

हमें सदा ऐसी वाणी बोलना चाहिये जो शत्रु के हृदय में भी आनन्द का रस घोल दे। हमारा वचन व्यवहार ऐसा होना चाहिये जिससे खुद का भी विकास हो और दूसरों का भी विकास हो। असत्यता से तो अपना अहित ही होता है। अतः जो सच्चे पुरुष होते

हैं वे कभी असत्य नहीं बोलते।

कबीरदास जी के जीवन काल की एक घटना है। कबीर तो जुलाहा थे, जो अपनी आवश्यकताओं को सीमित करते हुए जीवन व्यतीत करते थे तथा अपनी चिंतन साधना में संलग्न रहते थे। एक दिन कबीर जी अपने हाथ की बनी हुई पगड़ी लेकर बेचने निकले। सुबह से शाम हो गई, पर किसी ने पगड़ी नहीं खरीदी। आखिर निराश होकर शाम को घर लौट आए। दूसरे दिन सुबह बड़ी आशा लेकर बाजार के लिये चले, परन्तु शाम को उतनी ही गहरी निराशा से लौटना पड़ा। यह मन ऐसा है जो आशा से ही जीता है। तीसरे दिन भी मन में आशा संजोये कबीर जी घर से निकले, पर शाम को उनकी आशा चकनाचूर हो गई। जब यह स्थिति तीन दिन कबीर जी की बेटी ने देख ली तो पूछ लिया–पिता जी क्या बात है? रोज शाम आपका चेहरा बड़ा उदास लगता है। कबीर ने बड़े ही धीमे स्वर में कहा कि रोज बड़ी आशा से इस बुनी हुई पगड़ी को बेचने बाजार जाता हूँ। पर कोई भी इसे नहीं खरीदता। आज तीसरा दिन है जो मैं वापिस लौटा हूँ। यह सुनते ही बेटी ने कहा आप बिलकुल चिंता नहीं करें कल पगड़ी अवश्य बिक जायेगी।

दूसरे दिन सुबह कबीर जी की बेटी जल्दी ही तैयार हो गई और पगड़ी लेकर बाजार पहुँच गई। थोड़ी ही देर में वह पाँच टके की पगड़ी को सात टके में बेचकर घर लौट आई। कबीर तो यह देखकर हैरान हो गए और बेटी से पूछा कि ऐसा तूने क्या किया जो इतनी जल्दी बेचकर आ गई? बेटी ने कहा पिताजी। पाँच टके की पगड़ी की कीमत मैंने पहले ही दस टके बताई। तब ग्राहक ने कहा मैं पाँच टके में लूंगा। फिर थोड़ी देर में सौदा सात टके में तय हुआ और इस तरह मैंने जो पगड़ी पाँच टके की थी उसे सात टके में बेच दिया।

यह सुनकर कबीर जी बोले –बेटी! तूने पाँच टके की पगड़ी को दस टके की बताकर झूठ क्यों बोला? बेटी बोली–पिताजी! आपकी बात सतयुग के लिये ठीक है, पर यह कलयुग है। झूठ बोले बिना काम कैसे चलेगा? यदि मैंने झूठ नहीं बोला होता तो यह पगड़ी आज भी नहीं बिकती। यह सुनकर कबीर जी ने सिर पीट लिया और बोले–

सत्य गया पाताल में, झूठ रहा जग छाय।
पाँच टके की पगड़ी, सात टके में जाय।।

सत्य धर्म का पालन करने के लिये निर्लोभ वृत्ति की आवश्यकता है। जब श्री राम ने लंका पर विजय प्राप्त कर ली तब विभीषण ने राम से कहा कि यहाँ का राज्य आप ही स्वीकार कीजिये। राम बोले कि मेरे लिये जन्म भूमि के समक्ष स्वर्ग का राज्य भी तुच्छ है। मैं तुम्हारा राज्य स्वीकार नहीं करूँगा। मैंने तो अपने पिता के वचनों को सत्य सिद्ध करने के लिये चौदह वर्ष का बनवास स्वीकार किया था।

जब तक हम सत्य का परिपालन नहीं करेंगे तब तक अपना गृहस्थ जीवन भी पवित्र एवं श्रेष्ठ नहीं बना सकते। जो पदार्थ जैसा है उसका उसी रूप कथन करना सत्य है। आचार्य उमास्वामी महाराज ने असत्य पाप का लक्षण लिखा है – असद्भिधानमनृतम् अर्थात् प्रमाद के योग से जो कुछ असत् का कथन किया जाता है, उसको अनृत या असत्य कहते हैं। इसके चार भेद हैं। जो वस्तु अपने द्रव्यादि चतुष्टय कर है, उसका अपलाप करना यह प्रथम असत्य है। जैसे देवदत्त के रहने पर भी कहना कि यहाँ पर देवदत्त नहीं है। वस्तु अपने चतुष्टय कर नहीं है। वहाँ उसका सद्भाव स्थापना द्वितीय असत्य है। जैसे

जहाँ पर घट नहीं वहाँ पर कहना कि घट है। जो वस्तु अपने स्वरूप से है उसे पर रूप से कहना यह तृतीय असत्य है। जैसे गौ को अश्व कहना। तथा पैशून्य, हास्य, कर्कश, असमंजस, प्रलाप तथा उत्सूत्ररूप जो वचन हैं, वह चतुर्थ असत्य है। इन चार भेदों में ही सब प्रकार के असत्य आ जाते हैं। इन चार भेदों के विपरीत जो वचन हैं, वे चार प्रकार के सत्य हैं। असत्य भाषण के प्रमुख कारण दो हैं–एक अज्ञान और दूसरा कषाय। अज्ञान के कारण मनुष्य असत्य बोलता है और कषाय के वशीभूत होकर कुछ का कुछ बोलता है। यदि अज्ञान जन्य असत्य के साथ कषाय की पुट नहीं है, तो उससे आत्मा का अहित नहीं होता, क्योंकि वहाँ वक्ता अज्ञान से विवश है। ऐसा अज्ञान जन्य असत्य वचनयोग तो आगम में बारहवें गुणस्थान तक बतलाया है। परन्तु जहाँ कषाय की पुट रहती है, वह असत्य आत्मा के लिये अहित कारक है। संसार में राजा वसु का नाम असत्य वादियों में प्रसिद्ध हो गया। उसका खास कारण यही था कि उसके द्वारा बोला गया असत्य कषाय जन्य था। पर्वत की माता के चक्र में पड़कर उसने 'अजैर्यष्टव्यम्' वाक्य का मिथ्या अर्थ किया था, इसलिये उसका तत्काल पतन हो गया। और वह दुर्गति का पात्र हुआ।

अकेले सत्य व्रत को धारण कर लेने से ही सर्वगुण प्रगट हो जाते हैं। एक घटना है –

एक सप्त व्यसनी व्यक्ति था। वह जंगल में किसी लड़की को खींच कर ले जा रहा था। उसी जंगल में एक साधुजी ध्यान कर रहे थे। लड़की के चिल्लाने से साधुजी का ध्यानभंग हो गया, वे जोर से बोले–कौन है? वह सप्तव्यसनी डर गया और लड़की को छोड़कर साधु जी के पास हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। साधुजी बोले–कौन हो, तुम क्या कर रहे थे, पाप कर रहे थे? इस पाप का फल कौन

भागेगा? वह बोला मुझे ही भागना पड़ेगा। तो क्या तुम दुःख भोगना चाहते हो? नहीं महाराज मुझे भी कुछ कल्याण का मार्ग बता दीजिये। साधुजी बोले—पाँच पाप होते हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इनमें से तुम कौन—सा पाप छोड़ सकते हो। उसने कहा—महाराज मैं हिंसा तो छोड़ नहीं सकता, क्योंकि शिकार के बिना मैं रह नहीं सकता, जुआ खेलता हूँ इसलिये चोरी कैसे छोड़ दूँ। कुशील के बिना तो मुझे अच्छा ही नहीं लगता और परिग्रह के बिना ये सब कार्य कैसे होंगे? अतः परिग्रह भी नहीं छोड़ सकता। हाँ झूठ बोले बगैर काम चल जायगा, मैं झूठ बोलना छोड़ सकता हूँ। उसने साधु जी से झूठ न बोलने का नियम ले लिया।

अब देखिये एक सत्य व्रत के लेने से उसका जीवन किस प्रकार परिवर्तित होने लगा। वह जुआ खेलने जा रहा था, किसी ने कहा—कहाँ जा रहे हो? अब वह झूठ न बोलने के कारण कुछ न कह सका और उस दिन जुआ खेलने नहीं गया। व्यसन उन्हें ही कहते हैं जिन्हें कोई कह के नहीं कर सकता। इन्हें करते हुये भी उसे लोक निन्दा व अपयश का भय बना रहता है। उस दिन वह शराब पीने, वेश्या के यहाँ, चोरी करने, कहीं भी नहीं जा सका। धीमे—धीमे कुछ ही दिनों में उसकी सारी बुराईयाँ दूर होने लगीं, जिससे उसे जीवन में शान्ति महसूस होने लगी। घर व समाज वाले लोग भी उसे चाहने लगे। वह बड़ा प्रसन्न हुआ और उन्हीं महात्मा जी के पास जाकर बोला—महाराज आपके एक व्रत का पालन करने से मेरा तो जीवन ही बदल गया, अब तो मैं हमेशा आप के ही पास रहना चाहता हूँ, आप मुझे अपना शिष्य बना लीजिये।

मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है। यदि हमने इसे पाकर वृथा गँवा दिया तो समझो हमने कौआ को उड़ाने के लिये मणी को फेक दिया,

पाद प्रक्षालन के लिये अमृत को नष्ट कर दिया, लकड़ी ढोने के लिये हाथी का दुरुपयोग किया। इस नर जन्म को हमें रत्नत्रय की प्राप्ति में लगाना चाहिये, इसी में हमारा कल्याण है।

श्री वंदक नामक मंत्री असत्य बोलने के कारण क्षणमात्र में अंधा हो गया। कनकपुर के राजा धन दत्त का श्रीवंदक मंत्री बौद्ध था। किसी दिन राजमहल की छत पर राजा और मंत्री बैठे थे, उसी समय आकाश मार्ग से दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज जाते हुये दिखे। राजा ने विनय से उनका आव्हान किया, जिससे वे उनकी छत पर उतरे। राजा ने उन्हें उच्च आसन पर विराजमान कर नमस्कार आदि करके उपदेश के लिये प्रार्थना की। उपदेश के बाद प्रभावित होकर श्रीवंदक ने सम्यक्त्व के साथ श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये। दूसरे दिन श्रीवंदक अपने बौद्ध गुरु की वंदना करने नहीं गया, तब गुरु ने उसे बुलाया। उसने वहाँ जाकर नमस्कार न करके अपने व्रत ग्रहण का सर्व समाचार सुनाया। बौद्ध गुरु ने पुनः उसे खूब समझाकर वह धर्म छुड़ा दिया और बोला कि ये लोग इन्द्रजालिया हैं, कहीं कोई साधु आकाश में चल सकते हैं?

दूसरे दिन राजसभा में राजा ने आकाशगामी मुनियों की सारी कथा सुनाई और श्री वंदक से कहा कि आपने भी जो कल आँखों से दिगम्बर मुनियों का प्रभाव देखा है सो कहिये। श्रीवंदक ने असत्य बोल दिया और कहा मैंने कुछ भी नहीं देखा है। उसी समय उसकी दोनों आँखें मुनि निन्दा और असत्य पाप के कारण फूट गईं। सभी ने मंत्री के असत्य की निंदा की ओर जैन धर्म की प्रशंसा की। कभी भी असत्य वचन नहीं बोलना चाहिए। सभी को सदा सत्य धर्म का पालन करना चाहिए।

उत्तम संयम

धर्म का छटवाँ लक्षण है उत्तम संयम। संयम का सीधा सा अर्थ है–दौड़ते हुये इन्द्रिय–विषयों की लगाम अपने हाथ में रखना तथा दया भाव से छह काय के जीवों की अपने द्वारा विराधना न होने देना।

जैसे सड़क पर चलने वाले हर यात्री को सड़क के नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है, उसी प्रकार मोक्ष के मार्ग पर चलने वाले साधक को नियम–संयम का पालन करना अनिवार्य है। तीर्थंकर भगवान भी घर में रहकर मुक्ति नहीं पा सकते। वे भी संयम धारण करने के उपरान्त कर्मों की निर्जरा करके सिद्धत्व को प्राप्त करते हैं।

अनादि काल से संसार में भटकते–भटकते आज यह दुर्लभ मनुष्य जन्म और जैन शासन मिला है, तो अब अपना कर्तव्य है कि संयम को धारण कर अपना कल्याण कर लें। जिस प्रकार प्रमाद से चिन्तामणि रत्न समुद्र में गिर जाये तो उसका प्राप्त होना दुर्लभ है, उसी प्रकार यह मनुष्य पर्याय और मोक्ष मार्ग को बताने वाला जैन–धर्म मिलना दुर्लभ है। इसलिये मोक्षमार्ग को अच्छे प्रकार से समझकर उसमें प्रमाद रहित प्रवृत्ति करना चाहिये।

संयम सद्गति प्राप्त करने का प्रमुख साधन है। संयम की महिमा अचिन्त्य है, जो निर्विकल्प दशा को प्राप्त करने के इच्छुक हैं, उन्हें

संयम को अंगीकार करना आवश्यक है। संयम निराकुलता का साधन है। जिस क्षण संयम आता है, उसी क्षण मानसिक शान्ति भी आ जाती है। जिस प्रकार प्राचीन सम्राट अपने राज्य की सुरक्षा के लिए किला बनाते थे, ताकि पर चक्र का आक्रमण उन पर प्रभावी न हो। उसी प्रकार हमें भी आत्मा रूपी सम्राट की सुरक्षा करने के लिए संयम रूपी किले की आवश्यकता है। ताकि विषय रूपी परचक्र का आक्रमण आत्मा पर प्रभावी न हो सके।

लगभग 2000 वर्ष पहले की घटना है। आचार्य उमास्वामी महाराज चर्या के लिये गए और देखा एक दरवाजे पर लिखा था 'दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि मोक्ष मार्गः।' वहीं पर खड़िया पड़ी थी, उन्होंने उसके आगे सम्यक् शब्द जोड़ दिया। मोक्ष का मार्ग दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। इस जीव ने ज्ञान, चारित्र तो अनन्तों बार धारण कर लिया, लेकिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एक बार भी धारण नहीं किया।

उस मकान का मालिक बाहर से आता है, और देखता है यह कौन जोड़ गया? मैंने तो यह शब्द नहीं लिखा था? यह सम्यक् क्या कहलाता है? दर्शन, ज्ञान, चारित्र तो समझ में आता है? लेकिन सम्यक् क्यों? वह दौड़ कर गया महाराज के पास और बोला महाराज! आप मेरे लिखे हुये के आगे जो लिख आये हैं, उस शब्द का क्या आशय है? उस सम्यक् शब्द विषयक एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र की रचना कर दी। श्री सुधासागर जी महाराज ने लिखा है–यदि इसमें से सम्यक् शब्द निकाल दिया जाय तो यह नकटी के श्रृंगार जैसा है। यदि किसी की नाक कटी हो और वह सोलह श्रृंगार कर ले, तो वह श्रृंगार उसके लिये कार्यकारी नहीं है। इसी प्रकार कोई संयम का पालन कर ले पर सम्यक् पालन न करे,

तो वह संयम उसके लिये कार्यकारी नहीं है।

हमें नियम–संयम का पालन सम्यक् प्रकार से करना चाहिये। कई लोग सोला करते हैं, लेकिन सोला के साथ क्रोध भी करते हैं। सोला तो शान्ति के लिये करना चाहिये था। आज कोई सोलाधारी घर में पैदा हो जाये तो कहते हैं भगवन् हमने कौन–सा पाप किया था? जो सोलाधारी घर प्राप्त हुआ। टेपरिकार्डर में तो 90 मिनट से लंबी कैसेट नहीं होती, लेकिन सोलाधारी की कैसेट तो 24 घंटे चलती है। यह अज्ञान पूर्वक की गई क्रिया का परिणाम है। यदि सोला बिगड़ जाये, कोई आपके वस्त्र छू ले, तो क्रोध करने की आवश्यकता नहीं है। सोला का अर्थ है–कषाय का शमन, सोला का अर्थ है–निराकुलता, सोला का अर्थ है – संयम। संयम का अर्थ है–शान्ति।

पहले अच्छे प्रकार से समझ लो हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं? कहाँ जाना है? एक अम्मा स्टेशन मास्टर से कहती हैं, घासीराम का टिकिट दे दो। स्टेशन मास्टर कहता है कि घासीराम नाम की तो कोई स्टेशन ही नहीं है। घासीराम कहाँ है? तो अम्मा कहती हैं, वो टेबिल पर बैठा है, उसको बीमारी है, वह यहाँ नहीं आ सकता। स्टेशन मास्टर कहता है कि टिकिट किसी के नाम से नहीं मिलता है। टिकिट पर तो स्टेशन का नाम लिखा रहता है। पहले यह तो बताओ कि तुम्हें जाना कहाँ है? अभी तो हमें यह पता ही नहीं है। चलने को तैयार हैं पर यह तो बताओ कि जाना कहाँ है? तुम कौन हो? कहाँ से आये हो? कहाँ जाना है? यह ठिकाना तो पहले ढूंढ लो? पहले मन बनाओ कि संसार में कहीं भी सुख नहीं हैं, मुझे इस संसार को छोड़ना है। जो संसार के वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है, जिसे ज्ञान हो जाता है कि यह जड़ सम्पदा पाप का कारण

है और संसार में ही भ्रमण कराने वाली है, वह इसे छोड़कर मोक्ष प्राप्त करने के लिये संयम को धारण कर लेता है।

सुकुमाल स्वामी का शरीर कितना सुकुमार था, जिन्हें आसन पर पड़े हुये राई के दाने भी चुभते थे, दीपक की लौ की ओर देखने पर उनकी आँखों से पानी आ जाता था। पर जब उन्हें शरीर और आत्मा का भेद विज्ञान हो गया, वे मुनि बनकर आत्मिक सुख में लीन हो गये, तब पूर्व भव के बैर के कारण एक स्यालनी बच्चों सहित तीन दिन तक उनके पैर को खाती रही पर उन्हें कष्ट नहीं हुआ, वे आत्म ध्यान में लीन रहकर समता पूर्वक शरीर को त्यागकर अच्युत स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुये।

सुकौशल भी राजकुमार थे पर उन्होंने सारे भोग–विलास छोड़कर अपने पिताजी सिद्धार्थ मुनिराज के पास जाकर मुनि दीक्षा धारण कर ली थी। दोनों मुनिराजों ने चतुर्मास में एक पर्वत पर योग धारण किया। अब चार महीने तक उठना ही नहीं है। योग समाप्त होने पर आहार के लिये पर्वत से उतरते हुये दोनों मुनिराजों को व्याघ्री ने (जो सुकौशल की माँ थी और मरकर व्याघ्री बनी थी) देखा और झपटकर अपने ही पुत्र सुकौशल को खाने लगी, पर सुकोशल मुनिराज को जरा भी कष्ट नहीं हुआ और वे आत्मध्यान में लीन हो गये। उन्होंने अन्तिम समय में केवल ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त किया।

गजकुमार श्री कृष्ण जी के भाई थे। वे भी अत्यन्त सुकुमार थे। वे अपने पिता आदि के साथ धर्मोपदेश सुनने के लिये नेमिनाथ भगवान के समवशरण में जा रहे थे। मार्ग में एक ब्राह्मण की अत्यन्त सुन्दर पुत्री को देखकर श्री कृष्ण जी ने उसके पिता से गजकुमार के

लिये उसकी मँगनी कर ली और उसे अन्तःपुर में भिजवा दिया। भगवान का उपदेश सुनकर गजकुमार को वैराग्य हो गया। उनका वैराग्य इतना उत्कृष्ट था कि उन्होंने वहीं दीक्षा लेकर समवशरण भी छोड़ दिया और जंगल में जाकर एकान्त स्थान पर ध्यानारूढ़ हो गये। जिस ब्राह्मण की कन्या का संबंध गजकुमार से हुआ था, वह ब्राह्मण जंगल से लकड़ियाँ इकट्ठी करके लौट रहा था, उसकी दृष्टि जैसे ही गजकुमार मुनिराज पर पड़ी, वह आगबबूला हो गया और बोला 'रे दुष्ट' मेरी अत्यन्त प्रिय सुकुमारी पुत्री को विधवा बनाकर तू यहाँ साधु बन गया है, मैं अभी देखता हूँ तेरी साधुता को "ऐसा कहकर उसने अपने साथ लाई हुई लकड़ियाँ जलाईं। समीप ही तालाब था, उसने तालाब के पास की गीली मिट्टी लाकर गजकुमार के केशलुंचित सिर पर चारों ओर पाल बांधकर उसके भीतर धधकते हुये अंगारे भर दिये।" गज कुमार का सिर बैंगन के भुर्ते के सदृश खिल गया, कपाल फट गया परन्तु गजकुमार मुनिराज शरीर से भिन्न आत्मा के ध्यान में ऐसे लीन हुये कि उसी अन्तर्मुहूर्त में इतनी अल्पवय में ही मुक्ति को प्राप्त कर लिया। संयम के धारी मुनिराज कितने भी उपसर्ग व परीषह हों, पर अपने समता भाव से च्युत नहीं होते।

मुनिराज तो पूर्ण संयम के धारी होते ही हैं लेकिन हमें भी अपने मन व इन्द्रियों को अपने नियंत्रण में रखना चाहिये। घोड़े को लगाम की, हाथी को अंकुश की, ऊँट को नकील की और साइकिल, स्कूटर आदि वाहनों के लिए ब्रेक जरूरी है। ब्रेक है तो सुरक्षा, नहीं तो एक्सीडेन्ट। मोक्षमार्ग पर चलने के लिये हमारे जीवन में भी नियम-संयम का ब्रेक होना चाहिये। संयम के बिना नर जन्म की सार्थकता नहीं है।

संयम से रहित व्यक्ति किसी भी गति में जा सकता है। संयम के

अभाव में आत्मज्ञान होना संभव नहीं है। आत्मज्ञान के अभाव में जीवन उसी भांति है, जैसे सागर में नाव और नाव में मांझी तो है पर मांझी को होश नहीं है। उस नाव का कोई ठिकाना नहीं है, उसको वह कहाँ ले जायेगा। जीवन रूपी नौका को सही दिशा में ले जाने के लिये संयम रूपी पतवार आवश्यक है।

इन्द्रियों को काबू में करना, यह कषायों को जीतने का उपाय है। पर आज के समय में लोग ऐसा धर्म पसन्द करते हैं कि कुछ छोड़ना-छाड़ना न पड़े, हंसी दिल्लगी में समय कटे, पर संयम की ओर ध्यान नहीं है। कैसे आत्मतत्त्व में बढ़ें, कैसे ज्ञान की आराधना में बढ़ें, कैसे विकल्पों से बचें, इस ओर दृष्टि नहीं है। इसलिये स्वच्छन्दता बढ़ रही है, किन्तु इससे लाभ कुछ भी नहीं है। हम कौआ उड़ाने के लिये रत्न फेंक रहे हैं या राख के लिये रत्नों को जला रहे हैं।

कर्म के वेग को सहने की क्षमता असंयमी के पास नहीं होती। वह तो जब जैसा कर्म का उदय आया वैसा कर लेता है। जब सुनने की इच्छा हुई सुन लिया, देखने की इच्छा हुई देख लिया, खाने की इच्छा हुई खाने लगे। कोई भी समय निश्चित नहीं है, कब खाना, कितने बार खाना। किसी ने लिखा है –

जो एक बार खाये वह योगी। जो दो बार खाये वह भोगी। जो तीन बार खाये वह रोगी और जो बार-बार खाये उसकी क्या दशा होगी। यह असंयम का, बार-बार खाने का ही परिणाम है, कि व्यक्ति इतने बीमार रहने लगे हैं कि हर मुहल्ले में एक-एक डाक्टर की आवश्यकता पड़ने लगी है। पहले जब लोग संयम से रहते थे तब पूरे गाँव में एक वैद्य होता था, पर अब तो हर गली में 2-4 डाक्टर

मिल जाते हैं।

संयमी व्यक्ति ही मन पर विजय प्राप्त कर सकता है। मन को विषय–भोगों से हटाकर संयम का पालन करो। सत्संगति, स्वाध्याय और वैराग्य में अपने मन को लगाओ। संयम उम्र की नहीं, वासनाओं के त्याग की अपेक्षा रखता है। संयमी व्यक्ति शरीर और आत्मा के भेद को जानता है। एक युवक भी संयम धारण कर सकता है, और एक वृद्ध भी 60–70 वर्ष की उम्र में पुनर्विवाह कर सकता है।

असंयमी का मन कभी शान्त नहीं रहता। उसके दांत गिर जायें तब भी चना, मूंगफली खाने की इच्छा समाप्त नहीं होती। चबा नहीं सकते तो कूट–कूट कर खायेंगे, पर खायेंगे जरूर। यदि वास्तव में अपने मन व इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहते हो, संसार के दुःखों से मुक्त होना चाहते हो, तो शीघ्रातिशीघ्र संयम को धारण कर इन विषय कषायों को जड़ से नष्ट कर दो।

संयम के मायने है – जीवन को अनुशासित करना। संयम के मायने है–अपनी संकल्प शक्ति को, अपनी विल पावर (इच्छा शक्ति) को बढ़ाना।

यदि अपनी इस दुर्लभ मनुष्य पर्याय को सफल करना चाहते हो, तो विषय–भोगों का त्याग कर संयम धारण करो। इन्द्रिय निग्रह करो। पर से उदास होकर स्व में लीन हो जाओ। इन विषय–भोगों से आज तक किसी को भी शान्ति की प्राप्ति नहीं हुई। पर हम भोगों को भोगकर ही शान्ति की आशा कर रहे हैं। कोयले को घिस–घिस कर सफेदी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जिस मनुष्य शरीर से हम मोक्षरूपी हीरे को खरीद सकते हैं, उसी से कंकड़ पत्थर खरीद रहे हैं।

शरीर राम को मिला था और रावण को भी। राम ने संयम–तप को अपनाकर मोक्ष प्राप्त कर लिया और रावण विषय – वासना में लिप्त होकर नरक चला गया ।

गाँधी जी ने "गाँधी विचार दोहन" नामक पुस्तक में लिखा है – "बहुत अधिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। संयम के साथ अल्पज्ञान भी मूल्यवान है।"

संयम–तप के माध्यम से ही हम अपने मन की कलुषताओं को, राग–द्वेष आदि विकारों को, धोकर पवित्र कर सकते हैं। अपने मन को पवित्र करना भी संयम है।

एक शिष्य ने अपने गुरु से कहा – आपके चरणों में रहते हुए मुझे 10 वर्ष हो गये, किन्तु आज भी मेरा मन बाहर ही भटकता रहता है। मैं अत्यन्त परेशान रहता हूँ, आप कुछ उपाय बताइये। गुरु ने शिष्य को शिक्षा हेतु दूसरे साधु के पास भेजा और कहा – जाओ, उसकी समग्र जीवन चर्या को ध्यान से देखो। जब शिष्य ने जाकर उस साधु को देखा तो आश्चर्य चकित हो गया। क्योंकि वह साधु एक होटल का नौकर था। उस उस साधु में कोई विशेषता नहीं दिखी। वह सामान्य व्यक्तित्त्व वाला था। किन्तु वह सरल स्वभावी था। बच्चों जैसा निर्दोष था। उसकी चर्या में अन्य कोई विशेषता न थी।

जब उस शिष्य को कुछ समझ नहीं आया तो उसने साधु से उसकी चर्या के बारे में पूछा। साधु ने कहा मैं प्रातः, दोपहर एवं सांझ को अपने बर्तन मांजता हूँ। सुबह धूल जमती है तो दोपहर को मांजता हूँ, दोपहर को धूल जमती है तो शाम को मांजता हूँ, शाम को धूल जमती है तो सुबह मांजता हूँ, ताकि बर्तन स्वच्छ एवं धूल

रहित हों। वह शिष्य उस साधु के पास से अत्यन्त निराश होकर अपने गुरु के पास लौट आया। उसने गुरु को साधु की दैनिक चर्या तथा साधु से हुई वार्तालाप बतलाई। गुरु ने पूछा– तुमने वहाँ क्या सीखा। शिष्य ने उत्तर दिया– वहाँ सीखने जैसा कुछ था ही नहीं। क्योंकि पहली बात वह साधु नौकर है, जो मात्र तीन वक्त गन्दे बर्तनों की सफाई करता है। उससे तो मैं ही श्रेष्ठ हूँ।

गुरु बोले तुम उसे समझ नहीं सके। मैंने तुम्हें वहाँ इसलिये भेजा था कि जिस प्रकार वह अपने बर्तनोंको मांजता है, उन्हें धोता है, निर्मल करता है, उन पर धूल जमने नहीं देता, उसी प्रकार तुम भी अपने मन को इसी प्रकार मांजो। उस पर विषय–कषायों की धूल मत जमने दो। संयम को धारण कर आत्मा के प्रक्षालन में अहर्निश लगातार लगे रहो। पापों का त्याग कर अपने जीवन को समता भाव से जीने का अभ्यास करो। संयमी व्यक्ति का मन सदा पवित्र रहता है।

रामदास, शिवाजी के गुरु थे। एक बार की बात है। गर्मी के दिन थे, गुरु रामदास रास्ते से जा रहे थे। उन्हें प्यास लगी। आस–पास कहीं पानी नहीं मिला। उन्होंने एक गन्ने के खेत से गन्ना तोड़ लिया। मालिक था नहीं सोचा जब आ जायेगा तो पैसे दे देंगे। प्यास बुझाने के लिये उन्होंने आधा गन्ना ही खाया था, इतने में किसान आ गया। रामदास जी को गन्ना खाते देखकर उसे गुस्सा आ गया। जब तक रामदास जी अपनी बात कहते, उस किसान ने रामदास जी की पीठ पर गन्ने से पिटाई कर दी। रामदास जी कुछ नहीं बोले। चुपचाप गन्ने के पैसे देकर आगे बढ़ गये। सारी बात जब शिवाजी तक पहुँची तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने उस किसान को दण्डित करने के लिये राज दरबार में बुलाया। किसान ने

जब शिवाजी के पास ही गुरु रामदास को बैठे देखा तो पहचान गया और भयभीत होकर काँपने लगा।

शिवाजी ने गुरु रामदास की पिटाई करने बाबत पूछा, तो किसान ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। शिवाजी ने जैसे–ही उसे दंड देना चाहा, गुरु रामदास ने कहा– दंड उसे मैं दूंगा, इसने मुझे मारा है। शिवाजी ने हाथ जोड़कर कहा ठीक है। गुरु रामदास बोले–शिवा! इसे दण्ड स्वरूप पाँच गाँव दे दो। दरबार के सभी लोग चकित हो गये। वह किसान भी आश्चर्य से गुरु रामदास की ओर देखने लगा। गुरु रामदास ने हँसकर कहा–शिवा। मैंने इसका नुकसान किया इसलिये इसने मुझे मारा, बात इतनी–सी नहीं है। असल में इसके पास खुद के खाने लायक भी व्यवस्था नहीं है। यह बहुत गरीब है। मैं इसे पाँच गाँव इसलिये दिलवा रहा हूँ कि इसकी गरीबी दूर हो जाये और यह राहगीर को प्यास बुझाने के लिये सहर्ष गन्ना खाने को दे सके। इसे कहते हैं मन की पवित्रता, जो संयम की साधना करने से जीवन में आती है। संयम के बिना नर–जन्म की सार्थकता नहीं है। संयम के बिना न तो किसी का कल्याण हुआ है, और न भविष्य में कभी होगा।

संयम से हमारे पुराने संस्कारों का परिमार्जन होता है। हमारे भीतर असावधानी के, लापरवाही के, अव्यवस्थित जीवन जीने के जो संस्कार पड़े हुये हैं, वे सब व्यवस्थित और परिमार्जित हो जायें– ये संयम का काम है। संस्कारों को परिमार्जित करने का काम संयम का है।

भर्तृहरि राजा थे। वे विरक्त हो गये और दीक्षा लेकर जंगल में साधना करने लगे। एक दिन वे ध्यान में लीन बैठे थे। अचानक

उनकी आँख खुली, तो सामने रास्ते पर एक चमकता हुआ हीरा दिखाई पड़ा। एक क्षण को तो उनका मन डोल गया। इतना वेश कीमती हीरा। वे हीरा की कीमत जानते थे। अपार सम्पत्ति और वैभव को छोड़कर आये थे। उस समय मेरे पास यह एक हीरा और होता, तो मैं सबसे समृद्ध होता–एक क्षण को मन डोल गया, मुनि होने के बावजूद भी। अगले ही क्षण देखते हैं, कि एक घुड़सवार इधर से आया, दूसरा घुड़सवार उधर से आया, दोनों की नजर हीरे पर पड़ी। एक कह रहा है कि पहले मैंने देखा है हीरे को इसलिये हीरा मेरा है। दूसरा कह रहा है पहले मेरी नजर पड़ी है हीरे पर, इसलिये हीरा मेरा है। दोनों की तलवारें निकल गईं। पलक झपकते ही देर ना लगी, दो मिनट में ही दोनों के सिर जमीन पर पड़े हैं। और हीरा ज्यों–का–त्यों जमीन पर पड़ा है।

भर्तृहरि ये सब देखकर फिर ध्यान में लीन हो गये। सोचने लगे–जैसा मेरा मन डोल गया था, अगर मैं भी चूक गया होता, तो मेरी भी यही दशा होने वाली थी। संस्कारों की ऐसी प्रबलता को हम संयम के माध्यम से आसानी से तोड़ सकते हैं। संसार का कितना भी बुरा संस्कार क्यों न हो यदि हम संकल्पित हो जाते हैं, अपने जीवन में व्रत–नियम संयम को धारण कर लेते हैं तो हमारे बुरे संस्कार धीरे–धीरे नष्ट होना शुरू हो जाते हैं।

यह संसार दुःखों की खान है। संसारी सुख खांड में लिपटा हुआ जहर है, तलवार की धार पर लगा हुआ मधु है। इनसे सच्चे सुख की प्राप्ति मानना ऐसा ही है जैसे विष से भरे सर्प के मुख से अमृत झड़ने की आशा करना। जिस प्रकार हिरण यह भूलकर कि कस्तूरी उसकी अपनी नाभि में ही है, उसकी खोज में मारा–मारा फिरता है, उसी प्रकार जीव यह भूलकर कि अविनाशी सुख तो

उसकी अपनी निज आत्मा का स्वाभाविक गुण है, सुख और शान्ति की खोज संसारी पदार्थों में करता है। यदि संसार में सुख होता, तो छियानवे–हजार स्त्रियों का भोगने वाला, बत्तीस–हजार मुकुटबद्ध राजाओं का सम्राट, जिसकी रक्षा देव करते हैं, ऐसा नौ निधि का स्वामी, चक्रवर्ती राजसुखों को लात मारकर, संसार को त्यागकर संयम को क्यों धारण करता? जब संसारी पदार्थों में सच्चा आनन्द नहीं हैं, तो उनकी इच्छा, मोह, ममता क्यों? संसार में तिल–तुष मात्र भी सुख नहीं हैं। अपरंपार दुःख–ही–दुःख है। अतः इस संसार को त्यागकर, संयम को धारण करके, आत्म सुख को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

जब लक्ष्मण की मृत्यु हो गई, तब राम लक्ष्मण के शव को अपने कन्धे पर रखे हुये घूम रहे थे। वे महाराज से कहते हैं–आप मुझे कोई शान्ति का उपाय बता दीजिये। महाराज बोले – जब तक तुम इस शव को नीचे नहीं उतारोगे, तब तक तुम्हें शान्ति नहीं मिल सकती। इस शव को नीचे उतार दो, तुम्हें शान्ति मिल जायेगी। इसी प्रकार जब तक हम इस गृहस्थी के भार को नहीं उतारेंगे, तब तक शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

जीव अकेला है, जीव का कोई नहीं है। यह जीव भव–भव में अकेला ही जावेगा, अतः संयम के मार्ग पर जितनी जल्दी बढ़ सकते हो, बढ़ो। प्रमाद मत करो। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ जल में कमल की तरह भिन्न रहकर आंशिक साधना करते हैं, पर अन्ततोगत्वा उन्हें गृहवास छोड़ने पर ही मुक्ति मिलती है। मोक्ष का मार्ग संसार के मार्ग से विपरीत है। किसी ने लिखा है –

एक पंथ दोई चले न पन्था, एक सुई दो सिये न कंथा।

एक साथ नहिं होत सयाने, विषय–भोग अरु मोक्षहिं जाने।।

अर्थात् एक राहगीर एक बार में एक ही रास्ता चल सकेगा, एक सुई एक समय में एक ही कपड़ा सिल सकेगी, इसी तरह हे बुद्धिमान मानव। यह कभी नहीं हो सकता कि हम विषय–भोगों में भी फँसे रहें और मोक्ष भी चले जायें। दो में से कोई एक ही हो सकेगा। क्योंकि विषय/भोग संसार का मार्ग है, उससे मोक्ष कैसे मिलेगा? वह तो मिलेगा मोक्षमार्ग पर चलने से, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण करने से। आचार्य कहते हैं–अपार दुःखों से भरे हुये संसार को छोड़ने पर यदि अनंत सुखों का सागर 'मोक्ष' प्राप्त होता है, तो ऐसे संसार को शीघ्र ही छोड़ देना चाहिये।

भ्रमण करते–करते, दुःख उठाते–उठाते अथवा उपदेश सुनते–सुनते, बहुत समय बीत चुका, अब दुःखों से सदा के लिये पिंड छुड़ाने के लिये, मोक्ष सुख को प्राप्त करने के लिये, संयम को जीवन में धारण करो। जिनेन्द्र भगवान ने कहा है–जो जीव सारे पर द्रव्यों से मोह को छोड़कर, संसार, शरीर और भोगों से उदासीन होकर, संयम को अपने जीवन में अंगीकार करके, तप के माध्यम से शुद्धात्मा की साधना करता है, उसका जीवन सार्थक हो जाता है। अतः हे भव्य ! आत्म तत्त्व को अच्छे प्रकार से समझकर संयम–तप को धारण करो।

संयम–धर्म पाप–मलपुंज को धोकर पवित्र बना देता है। पर–पदार्थों में आसक्त असंयमी व्यक्ति पर–पदार्थों को मोहवश अपने मानता चला आ रहा है, परन्तु अपने निज आत्म तत्त्व का भान नहीं होने के कारण, अज्ञानता वश संसार की 84 लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ, दुःखी होता चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि

अब पर घर रूप, पर भावों को, शीघ्र ही त्यागकर संयम–धर्म को धारण करो, जिससे संसार की परम्परा समाप्त हो जावेगी।

काल अनादि है, जीव अनादि है। जीव का कभी नाश होने वाला नहीं है। जब तक यह जीव स्व और पर के ज्ञान पूर्वक संयम को धारण नहीं करेगा, तब तक संसार के परिभ्रमण का चक्कर बन्द नहीं हो सकता। संत–पुरुषों ने पंचेन्द्रिय के क्षणिक विषय सुख एवं वैभव को त्याग कर, अनन्त सुख से युक्त आत्मीय सुख को प्राप्त करने के लिये बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह रूपी पिशाच को ठुकराकर संयम धारण करके तप द्वारा कर्मरूपी शत्रुओं का नाश करके, मोक्ष सुख को प्राप्त किया।

जब तक मनुष्य का उपयोग विषय कषाय में ही लगा रहेगा, तब तक उसको कभी भी आत्म सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि, ये इन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों की ओर आत्मा को आकृष्ट करके पथ भ्रष्ट कर देती हैं, मोहित करके विवेक शून्य बना देती हैं। एक प्रमादी ऊँट राजस्थान में एक स्थान पर बैठकर अपना पेट भरना चाहता था। उसने एक देवता से प्रार्थना की, कि मुझे बैठे–बैठे खाना मिल जाये। देवता ने कहा अगर तेरी गर्दन और लम्बी हो जाये तो तेरा पेट भर सकता है। एक काव्य है –

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।।

क्योंकि, बिना उद्यम के कार्य की सिद्धि कभी नहीं हो सकती है। प्रमादी होने से इस जीव को कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिये आत्महित के लिये उद्यम करना अत्यन्त आवश्यक है। ऊँट बोला–मेरी गर्दन इतनी लम्बी कर दो कि मैं यहाँ से चारों तरफ चर

सकूँ। तब देवता ने तथास्तु कह दिया। एक दिन बहुत तेज आँधी और बरसात चालू हो गई। परन्तु उसकी गर्दन लम्बी होने से उसे कहीं भी छिपने की जगह नहीं मिली। तब उसने एक गीदड़ की खोल में अपनी गर्दन घुसा दी। गीदड़ भूखे थे इसलिये वे उसे खा गये। इसी तरह यह मनुष्य पंचेन्द्रिय विषयों के वशीभूत होकर, उनमें लीन होने से, संयम धारण करने में प्रमादी, होकर आत्मा का हित नहीं कर पाता और अपने अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जीवन को, भोगों को भोगने में ही समाप्त कर देता है। पं. भूधर दास जी ने लिखा है–

भोग बुरे भव रोग बढ़ावें, बैरी हैं जग जी के,
नीरस होंय विपाक समय अति, सेवत लागे नीके।
बज्र, अगनि, विष से, विषधर से हैं अधिके दुःखदाई,
धर्म रतन के चोर चपल अति, दुर्गति पन्थ सहाई।।

ये पंचेन्द्रिय के विषय–भोग, संसारी जीवों का महान अहित करने वाले महाशत्रु हैं। जिस प्रकार खुजली को खुजाते समय बड़ा आनन्द आता है, परन्तु खुजा लेने के बाद जलन होती है, जिससे उसे बहुत कष्ट होता है। उसी प्रकार ये भोग भोगते समय तो जीव को अच्छे लगते हैं, परन्तु भोग लेने के बाद शक्ति क्षीण हो जाने पर बहुत नीरस प्रतीत होते हैं। बज्र, अग्नि, विष या विषधर सर्प से भी अधिक दुःख ये विषय–भोग संसारी जीवों को दिया करते हैं। क्योंकि बज्र, अग्नि, विष आदि तो जीव के इस भौतिक शरीर का ही विनाश कर सकते हैं, परन्तु ये विषय–भोग जीव की आध्यात्मिक सम्पत्ति, धर्म–निधि को चुरा लेते हैं और जीव को नरक, तिर्यंच गति के मार्ग पर पहुँचा देते हैं।

मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले करि जाने,

ज्यों कोई जन खाय धतूरा, सो सब कंचन मानें।
ज्यों–ज्यां भोग संयाग मनोहर, मन वांछित जन पावे,
तृष्णा नागिन त्यो–त्यों डंके, लहर जहर की आवे।।

आत्मा का इतना अनिष्ट करने वाले इन पंचेन्द्रिय विषयों को यह संसारी जीव मोह के कारण सुखदायी समझता है, जैसे कि यदि किसी मनुष्य ने धतूरा खा लिया हो, तो उसको अपनी आँखां से सभी चीजें सोना दिखाई दती हैं। ये मनोहर प्रतीत होने वाल विषय–भोग भोगने के लिये ज्यों–ज्यां इस जीव को प्राप्त होते जाते हैं, त्यां–त्यों ही लोभ–वश इसकी लालसा और अधिक बढ़ती चली जाती है, इसे तृप्ति नहीं हाती।

बनारस में एक अच्छे शिक्षित ब्राह्मण युवक ने एक बार एक बनी–ठनी यौवन–मद में चूर सुन्दरी वेश्या को दखा। वह उसे देखते ही उसके ऊपर आसक्त हो गया और उससे मिलने की तीव्र इच्छा उसके मन में जागृत हो गई। वह कुछ साहस करके निकट गया, तो उसके पहरदार से पता चला कि वेश्या से एक बार मिलन के लिये कम–से–कम 100 रू. वेश्या को भेंट करने के लिय चाहिए। सौ रुपये का नाम सुनकर वह गरीब ब्राह्मण युवक चुपचाप निराश होकर अपने घर वापिस लौट आया।

अपने घर आकर उदास होकर अपनी चारपाई पर लट गया। उसकी पत्नी न इस उदासी का कारण पूछा, तो पहले तो उसने उदासी का कारण नहीं बताया पर उसके बहुत आग्रह करने पर उस युवक ने अपनी पत्नी से वेश्या में मन आसक्त हो जाने का सब वृतान्त सुना दिया। उसकी बुद्धिमान पत्नी ने उसे बहुत समझाया, पर उसकी समझ में कुछ नहीं आया, उसका मन उदास ही बना रहा।

तब उसकी पत्नी साहस रखकर उस वेश्या के घर पहुँची और अपना परिचय देकर उसने अपने पति की उदासी का सब हाल वेश्या को सुनाया और अपने पति को सुमार्ग पर लाने में उसकी सहायता माँगी। ब्राह्मण युवती की सरलता देखकर उस वेश्या का हृदय पिघल गया। उसे उस पतिव्रता ब्राह्मणी पर दया आयी और उसने ब्राह्मणी से कहा कि जाओ अपने पति को मेरे पास भेज दो। साथ ही अपने पहरेदार से भी कह दिया कि एक ब्राह्मण युवक आयेगा, उसे तुम सीधे मेरे पास आने देना।

वह ब्राह्मणी युवती अपने घर गई और अपने पति से बोली कि जाओ तुम उस वेश्या के पास और अपनी उदासी दूर करो, अब तुम्हें पहरेदार नहीं रोकेगा। अपनी पत्नी की इस सहानूभुति का उस युवक के हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा, किन्तु एक बार वेश्या से मिलने के लिये चला गया।

वेश्या ने उस ब्राह्मण युवक का स्वागत किया और उसे अनेक प्रकार से समझाया, और कहा मेरा शरीर वास्तव में सुन्दर नहीं है। यह सब तो ऊपर की बनावटी सुन्दरता है। ब्राह्मण युवक उस वेश्या के असली रूप को देखकर बहुत लज्जित हुआ, तब बिना कुछ कहे चुपचाप सीधा अपने घर वापिस चला आया।

वेश्याओं की ऊपर बनावटी सुन्दरता के समान ही अन्य विषय–भोगों का हाल है। वे दूर से बहुत मनोहर प्रतीत होते हैं, किन्तु उनमें भीतर वैसी सुन्दरता नहीं होती। बेनटेक्स ज्वैलरी पर चढ़ा हुआ सोने का पालिश इतना सुन्दर दिखाई पड़ता है कि उसके सामने सोना भी हेय दिखाई देता है, परन्तु कुछ ही समय में वह काला पड़ जाता है। काँच का बना हुआ नकली रत्न हीरे से भी

ज्यादा चमक देता है, परन्तु उसकी वह चमक कुछ ही दिन रहती है। गुड़िया देखने में कितनी सुन्दर दिखाई देती हैं, परन्तु उसके भीतर चिथड़े भरे हुये होते हैं। भीतर की बदसूरती छिपाने के लिये ही ऊपर चमक दमक की पालिश की जाती है। ''मात पिता रज वीरज सों उपजी सब सात कुधात भरी है।'' मनुष्य का यह शरीर जिस पर कि मुग्ध होकर मनुष्य अपने आपको भूल गया है, महा अशुचि मलिन पदार्थों से उत्पन्न हुआ है। फिर भी मनुष्य इस नश्वर अशुचि शरीर को सुन्दर बनाना चाहता है। बनावटी सौन्दर्य बनाने के लिये स्त्री पुरुष मुख पर पाउडर लगाते हैं। बालों की सफेदी छिपाने के लिये खिजाब आदि लगाकर काला कर लेते हैं। तेल, वैसलीन आदि लगाकर मुख पर कान्ति लाने का यत्न करते हैं। ओठों पर लाल रंग लगा लेते हैं। इसी तरह बहुत से मनुष्य अपना बनावटी ठाठ दिखाने के लिए किराये पर सुन्दर कपड़े लेकर विवाह आदि में सम्मिलित होते हैं। ऐसा ही एक शौकीन मनुष्य किसी बारात में सम्मिलित होना चाहता था, परन्तु उसके पास उसका शौक पूरा करने के लिये अच्छे कपड़े नहीं थे। वह एक धोबी के यहाँ गया। धोबी को कपड़ों के किराये का प्रलोभन देकर उससे अच्छे सुन्दर कपड़े लेकर उन्हें पहनकर बड़ी अकड़ के साथ बारात में सम्मिलित हो गया। जो लोग उससे अपरिचित थे वे उसे अच्छा धनाढ्य समझ रहे थे। संयोग से उसी बारात में वह मनुष्य भी आया हुआ था जिसके कपड़े वह धोबी से लेकर पहन आया था, उसने जब अपने कपड़े उस बनावटी रईस के शरीर पर देखे, तो उसे पहले कुछ सन्देह हुआ। फिर उसने जब उन वस्त्रों पर अपने चिन्ह देख कर निश्चय कर लिया कि ये वस्त्र मेरे ही हैं, तब उसने सारे बारातियों के सामने उसे लज्जित किया और बारात में ही अपने समस्त वस्त्र उतरवा लिए। उस बनावटी

रईस की रईसी का सारा नशा रफूचक्कर हो गया। उसकी अकड़ और अभिमान मिट्टी में मिल गया, यहाँ तक कि उसको बारात छोड़कर चुपचाप भागना पड़ा।

ठीक इसी तरह स्त्री पुरुषों को यह शरीर कर्म द्वारा कुछ समय के लिये किराये पर मिला हुआ है। इस अस्थायी घर में रहकर मनुष्य शरीर की सुन्दरता पर मोहित हो गया है। रात–दिन इसी की सेवा सुश्रूषा में लगा रहता है, शरीर को अपना ही मान बैठा है। इसके द्वारा आत्म कल्याण तो क्षण भर भी नहीं करता, सदा इसके श्रृंगार में तन्मय रहता है। जिस प्रकार घोड़ का सईस रात–दिन घोड़ी की सेवा किया करता है, उसको खिलाता है, पानी पिलाता है, मालिश करता है, उसकी लीद साफ करता है, सब तरह की सेवा चाकरी करता हुआ अपना जीवन बिता देता है, किन्तु कभी उस पर सवारी करके लाभ नहीं उठा पाता, ठीक वैसी ही दशा इस शरीरमोही जीव की जन्म भर बनी रहती है। शरीर को अपनी ही वस्तु समझकर इसे अभिमान हो जाता है, किन्तु आयु कर्म जब इससे (बलात्) जबरदस्ती यह किराये का घर खाली कराता है, तब इसका सारा नशा उतर जाता है। यह शरीर किसका है, जीव का अपना है, या किराये का है, इसका निर्णय उस समय जीव को होता है। इसकी सारी शान, सारी एंठ, अकड़, मिट्टी में मिल जाती है।

संसारी जीव के साथ ऐसी घटना अनन्तों बार हो चुकी है और दूसरों के साथ होने वाले इस व्यवहार को देखता रहता है, परन्तु फिर भी इस शरीर का दास बना हुआ, इसकी बाहरी सुन्दरता पर मोहित हो गया है। मनुष्य का यह शरीर, जिस पर कि मुग्ध होकर मनुष्य अपने आप को भूल गया है, महा मलिन अशुचि पदार्थों से बना हुआ है। यदि यह चमड़े की चादर इस शरीर पर न होती तो नेवले,

कौये, गिद्ध, कुत्ते, बिल्ली आदि इसे घड़ी भर भी न रहने देते। पं. भूधर दास जी ने लिखा है–

देह अपावन अथिर घिनावन या में सार न कोई।
सागर के जल सों शुचि कीजे तौहू शुद्ध न होई।।

यह शरीर अपवित्र, अस्थिर, घिनावना है। इसमें श्रेष्ठ वस्तु कोई भी नहीं है। यदि इस शरीर को समुद्र के अपार जल से भी धोकर शुद्ध किया जावे तो भी यह शरीर पवित्र नहीं हो सकता। पं. दौलत राम जी ने लिखा है–

जे–जे पावन वस्तु जगत में, ते इन सर्व बिगारी।

यानी–संसार में कपूर, इत्र आदि जो जो पवित्र पदार्थ हैं, इस शरीर ने स्पर्श करते ही उन सबको विकृत करके बिगाड़ डाला है, उनको अपवित्र कर दिया है। पं. भूधर दास जी रहस्य की बात कहते हैं –

पोषत तो दुःख दोष करै अति शोषत सुख उपजावै,
दुर्जन देह सरूप बराबर मूरख प्रीति बढ़ावै।
राचन योग्य सरूप न याको विरचन योग्य सही है,
यह तन पाय महातप कीजे यामें सार यही है।।

जिस तरह सर्प आदि दुष्ट जीवों को दूध आदि पिलाकर पुष्ट करो तो उनमें विष आदि की ही वृद्धि होती है। दुष्ट मनुष्यों के पालन पोषण करने से संसार मे दुष्टता की वृद्धि होती है, स्वयं अपने पालन पोषण करने वालों के दुःखदाता बन जाते हैं और यदि दुष्टों को दण्ड देकर दबा दिया जावे, तो वे सीधे होकर सुखकारी बन जाते हैं। इसी प्रकार यह शरीर पुष्ट हो जाने पर धर्म–ध्यान, पूजन,

स्वाध्याय में प्रमाद उत्पन्न करता है। काम वासना, अभिमान आदि की वृद्धि करता है और यदि उपवास, एकासन, आत्मध्यान, कायोत्सर्ग आदि कार्यों द्वारा इस शरीर को दण्डित किया जावे, सुखाया जावे तो, यह शरीर आत्मा को सुखदायक बन जाता है। इस तरह शरीर और दुर्जन मनुष्य का स्वभाव प्रायः एक समान है। अतः शरीर से प्रीति अज्ञानी ही किया करते हैं। यह शरीर रूचि या अनुराग करने योग्य नहीं है, विरक्ति करने योग्य है। इसलिये इस शरीर को पाकर संयम धारण करके तपश्चरण करना चाहिये।

जिस युवावस्था (जवानी) पर मनुष्य को अभिमान होता है, एक साधारण से रोग के लग जाने पर वह जवानी का जोश कपूर की तरह उड़ जाता है। फिर भी यह अज्ञानी मनुष्य स्त्री–पुरुषों के शरीर को देखकर उन पर आसक्त हो जाता है। उज्जैन के भर्तृहरि राजा अपने समय के बहुत प्रसिद्ध न्यायी राजा हुये हैं। वे अपना अच्छा राजपाट और सुन्दर तरुण रानी को त्यागकर साधु बन गये थे। उनकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार है –

राजा भर्तृहरि का अपनी छोटी रानी पिंगला पर बहुत प्रेम था, पिंगला बहुत सुन्दर, तरुणी, मधुरभाषिणी नारी थी। एक दिन एक ब्राह्मण को कहीं से एक अमरफल मिला, जिसको खा लेने से शरीर जीवन भर सुन्दर सुडौल बना रहता, बुढ़ापे के चिन्ह शरीर में प्रकट नहीं होते। ब्राह्मण ने वह फल पाकर मन में विचार किया कि मैं इस फल को खाकर क्या करूँगा, मेरा शरीर क्या इतना उपयोगी है? यदि राजा भर्तृहरि इस फल को खा लें तो उससे सारी प्रजा को लाभ होगा। वह बड़ा धर्मात्मा न्यायप्रिय राजा है, अतः यह फल मैं उसी को भेंट करूँगा। यह सोचकर उसने वह फल राजा भर्तृहरि को भेंट कर दिया।

राजा भर्तृहरि को रानी पिंगला से अतिशय प्रेम था, अतः वह अमरफल स्वयं न खाया, प्रेमवश अपनी रानी पिंगला को जाकर दे दिया।

रानी पिंगला ने अपने एक अश्वपाल (घुड़साल के अधिकारी) को सज–धज कर घोड़े पर सवार हुआ देखा था। उसे देखते ही वह उसके ऊपर आसक्त हो गई थी और दासी द्वारा उस अश्वपाल को बुलाकर छिपकर उसके साथ व्यभिचार किया करती थी। अतः पिंगला रानी ने वह अमरफल स्वयं न खाकर अपने प्रेमी अश्वपाल को भेंट कर दिया।

उस अश्वपाल की मित्रता नगर की वेश्या से थी। वेश्या को वह बहुत प्रेम करता था। उसने वह अमर फल स्वयं खाना उचित न समझकर अपनी प्रेयसी उस वेश्या की सुन्दरता स्थिर रखने के लिये उस वेश्या को जाकर दे दिया।

वेश्या ने वह फल अपने प्रेमी अश्वपाल के हाथ से ले तो लिया, परन्तु उसने सोचा कि मैं रात–दिन व्यभिचार करके पाप कमाती हूँ, अन्य पुरुषों को पथ–भ्रष्ट करती हूँ, अमरफल खाकर और अधिक पाप लीला करूँगी, इससे मेरा भी अहित होगा और संसार का अहित होगा। इस कारण मुझे यह फल खाना उचित नहीं। यह फल तो धार्मिक, प्रजा पालक राजा भर्तृहरि के योग्य है। ऐसा विचार करके वेश्या राज–सभा में पहुँची और उसने वह अमरफल राजा को भेंट कर दिया।

भर्तृहरि ने अमरफल वेश्या के हाथ से लेकर, चकित हो वेश्या से पूछा कि तेरे पास यह फल कैसे आया? वेश्या ने कहा कि आपके अश्वपाल ने मुझे दिया है।

भर्तृहरि ने तब अश्वपाल को बुलाया और उससे पूछा कि यह अमरफल तेरे पास कहाँ से आया? सत्य बता दे, तुझे क्षमा कर दूँगा। अश्वपाल ने कहा कि मुझे रानी पिंगला ने दिया था।

भर्तृहरि को अपनी प्राण प्रिया पिंगला रानी की पाप लीला जानकर, पिंगला तथा अपने ऊपर बहुत घृणा हुई। उन्हें संसार के विषय-भोगों से वैराग्य हो गया। तब उन्होंने यह श्लोक कहा कि-

याचिन्तयामि ससतं मयि सा विरक्ता,
साप्यन्य मिच्छति जन सजनोन्य सन्तः।
असमत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिकतां च तं च मदनं च इमां च मां च ।।

मैं जिस रानी पिंगला की बड़े प्रेम से चिन्ता करता हूँ, उस पिंगला का मुझसे प्रेम नहीं है, मुझसे विरक्त है। वह दूसरे व्यक्ति अश्वपाल को हृदय से चाहती है, किन्तु वह अश्वपाल वेश्या में आसक्त है। वह वेश्या मुझको अच्छा समझती है। इस तरह उस रानी पिंगला को, उस स्वामी द्रोही अश्वपाल को, उस वेश्या को, काम वासना को और मुझको धिक्कार है।

इतना कहकर राजा भर्तृहरि संसार से विरक्त होकर राज-पाट को छोड़कर साधु बन गये। उन्होंने 'वैराग्य-शतक' में अपने अनुभव के रूप में बहुत सुन्दर लिखा है -

भोगो न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो-वयमेव याता तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।

हमने विषय-भोगों को नहीं भोगा, विषय-भोगों ने ही हमें भोग लिया। मैंने काल को नहीं बिताया, बल्कि मैं खुद ही बीत गया।

मनुष्य विषय–भोगों में अपनी शारीरिक शक्ति तथा अध्यात्मिक शक्ति नष्ट करके अपनी इस दुर्लभ मनुष्य पर्याय को व्यर्थ में ही खो देता है। इसी कारण प्राचीन समय में संसार, शरीर व भोगों को असार जानकर भरत, बज्रदन्त, सगर आदि चक्रवर्ती, चन्द्रगुप्त आदि सम्राट, सुकुमाल, जम्बूकुमार आदि अनेक वीर तथा धनवान सेठ राज्य, धन, वैभव को छोड़कर संयम धारण कर दिगम्बर मुनिराज (नग्न–मुनि) बन गये और कठोर तपस्या करके अपनी आत्मा को शुद्ध कर अपनी मनुष्य पर्याय को सफल बनाया।

अभी से शक्ति प्रमाण संयम को धारण करो, जिससे क्रमशः शक्ति बढ़ती जायेगी और हम एक दिन पूर्ण संयमी बनकर अपने परम लक्ष्य अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेगें।

हममें जितनी सामर्थ्य है, हमें वहीं से चलना प्रारम्भ करना चाहिये। एक–एक कदम चलकर ही मंजिल तक पहुँचा जाता है। एक युवक था। वह बहुत ऊपर पहाड़ी पर भगवान के दर्शन करने जाना चाहता था। बहुत सोचने के बाद उस युवक ने एक दिन रात में पहाड़ी पर जाने का मन बनाया। एक लालटेन जलाई और घर से बाहर खड़ा हो गया। वह सोच रहा था लालटेन का उजाला तो सिर्फ एक कदम तक ही है और मंदिर बहुत ऊपर पहाड़ी पर था अतः युवक चल नहीं रहा था। वहीं से एक वृद्ध निकला उसने युवक से कहा इतनी रात में तुम यहाँ क्यों खड़े हो? युवक बोला–मैं भगवान के दर्शन करने ऊपर पहाड़ी पर जाना चाहता हूँ, पर इस लालटेन का उजाला तो सिर्फ एक कदम ही है, आगे तो अंधेरा है। वृद्ध ने उसे समझाया तुम एक कदम तो चलो, यह उजाला फिर एक कदम आगे बढ़ जायेगा, और तुम एक–एक कदम चलकर मंजिल तक पहुँच जाओगे। वह युवक एक कदम आगे बढ़ गया, तो उजाला भी एक कदम आगे बढ़ गया। वह

युवक बड़ा प्रसन्न हुआ और एक–एक कदम चलकर पहाड़ी पर मंदिर में पहुँच गया।

इसी प्रकार हम भी यदि धीमे–धीमे पाँचों इन्द्रियों के विषयों को छोड़ना प्रारम्भ कर दें, तो साहस बढ़ेगा और एक दिन हम पूर्ण संयमी बन जायेंगे। जिनवाणी में हर जगह संयम व संयमी की महिमा का वर्णण किया गया है।

खदीरसार भील ने कौवे के मांस को खाने का त्याग कर दिया था। एक बार वह बीमार हो गया तो डाक्टरों ने कहा यदि यह कौवे का मांस खायेगा, तो ही बच सकेगा, अन्यथा बचना सम्भव नहीं है। जब वह ऐसा करने को तैयार नहीं हुआ तो उसके साले को बुलाया गया। सबको लगा वह साले की बात अवश्य मान लेगा। उसका साला उसे समझाने के लिये आ रहा था, तो रास्ते में उसे एक व्यंतरणी मिली। वह रो रही थी। उसने पूंछा तुम्हें क्या हो गया है, तुम रो क्यों रही हो? वह बोली–लोग खदीरसार भील को कौवे का मांस खाने के लिये कह रहे हैं और यदि वह कौवे का मांस नहीं खायेगा तो मरकर मेरा पति व्यन्तर देव होगा। साले ने भी खदीरसार भील को बहुत समझाया पर जब वह किसी भी प्रकार तैयार नहीं हुआ तो उसने उसे रास्ते की घटना सुना दी। खदीरसार भील ने कहा जब मात्र कौवे के माँस को खाने का त्याग करने से मैं व्यन्तर देव बन सकता हूँ तो मैं आज से सभी प्रकार के माँस को खाने का त्याग करता हूँ। जब वह साला लौटकर जा रहा था तो रास्ते में वह व्यंतरणी फिर रोती हुई मिली, तो उसने पूँछा आप अब क्यों रो रहीं हैं? तब वह बोली–यदि वह कौवे के माँस का त्याग करता, तो मेरा पति व्यन्तर देव होता पर उसने तो सभी प्रकार के माँस का त्याग कर दिया और सौधर्म देव बन गया।

देखो थोड़े से संयम से उस खदीरसार भील ने अपना मोक्ष मार्ग शुरू किया और अगले भव में राजा श्रेणिक बना और कालान्तर में वही तीर्थंकर भगवान बनेगा। हम लोगों को भी संयम की ओर अपने कदम अवश्य बढ़ाना चाहिये।

जिस प्रकार मूर्ति से रहित मन्दिर, सिर से रहित धड़, नाक से रहित चेहरे का कोई महत्त्व नहीं है, उसी प्रकार संयम से रहित जीवन का भी कोई महत्त्व नहीं है। पापों से मुक्ति का उपाय मात्र संयम ही है। यह संयम गृहस्थों के लिये वस्तु का पूर्ण निषेध तो नहीं करता पर भोग सामग्री पर कंट्रोल अवश्य करता है। यह बैलेन्स (संतुलन) बनाना सिखाता है। जैसे सर्कस में रस्सी पर चलता हुआ व्यक्ति दोनों तरफ बराबर भार बनाये रखता है और चलता है। इसी प्रकार संयमी भी चलता है और आगे बढ़ जाता है। हम सभी को चाहिये यदि हम मुनिव्रत न ले सकें तो कम–से–कम पापों का एकदेश त्याग कर देश संयम को तो अवश्य धारण करें।

राजा श्रेणिक भगवान महावीर स्वामी के समवशरण में पहुँचे, वहाँ उन्होंने दिव्य ध्वनि में सुना कि संसार में सभी जगह ठसाठस जीव विद्यमान हैं। जल, थल, नभ में जीव जन्तु भरे पड़े हैं। अतः जीव अपने कृत्यों से जीवों का घात कर पापोपार्जन करता है। जैसे ही राजा श्रेणिक ने सुना–चिन्तन मग्न हो गये कि सभी जगह जीव हैं, हमारे कृत्यों से पापोपार्जन नियम से होता है तो किस प्रकार पापों से मुक्त हुआ जाये। यह उपाय प्रभु से पूछना चाहिए। तब उन्होंने महावीर भगवान से प्रश्न पूछा कि हे भगवन् –

कथं चरें कथं चिटठे कथमासे कथम् सये।
कथं भासेज्ज भुंजेज्ज एवं पावं ण वज्झइ।।

हे प्रभु! तीन लोक में जीव भर हैं। हम पाप से, असंयम से मुक्त होने कैसे चलें? कैसे बैठें? कैसे बोलें? कैसे सोयें? कैसे खायें? ताकि पाप कर्म का बन्ध न हो। भगवान के उत्तर को आचार्य बट्टकेर स्वामी ने मूलाचार ग्रन्थ में लिखा है–

जदं चरे जदं चिट्ठे जदं भासे जदं सये।
जदं भुंजेज भासेज्ज एवं पावं ण वज्झई।।

भगवान महावीर स्वामी ने कहा–तीन लोक में जीव भरे हैं। उनकी सुरक्षा के भाव अगर तुम्हारे मन में हैं ता यत्न पूर्वक चलो, यत्न पूर्वक बैठो, यत्न पूर्वक उठो, यत्न पूर्वक सोओ, यत्न पूर्वक खाओ, यत्न पूर्वक बोलो जिससे पाप कर्म का बन्ध नहीं होगा। हम लोग होश पूर्वक जीने लगें तो पचास प्रतिशत पाप अपने आप समाप्त हो जायें। इस अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त मनुष्य शरीर का सदुपयोग संयम धारण करने में ही है।

संयम दो प्रकार का होता है –

इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम। स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र, कर्ण और मन पर नियन्त्रण करना इन्द्रिय संयम है, तथा पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पति काय, और त्रसकाय के जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है। पाँचों इन्द्रियों के विषय आत्मा के स्वरूप को भुलाने वाले, धर्म से परान्मुख कर दुर्गतियों में ले जाने वाले हैं। सारा संसार इन्द्रियों का दास बना हुआ है। बड़े–बड़े बलवान योद्धा और विचारशील विद्वान भी इन्द्रियों के गुलाम बने हुये हैं। वे अपना अधिकतर समय इन्द्रियों को तृप्त करने में लगाया करते हैं, पर ध्यान रखना ये पंचेन्द्रिय के भोग संसार रूपी रोग को बढ़ाने वाले जगत् के शत्रु हैं।

हाथी कितना बलवान प्राणी है, किन्तु स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत होकर मनुष्य के जाल में फँस जाता है।

हाथी पकड़ने वाले मनुष्य हाथियों के जंगल में एक बहुत बड़ा गड्ढा खोदते हैं। उसको बहुत पतली लकड़ियों से पाटकर उस पर हरी–हरी घास फैला देते हैं और उसके ऊपर कागज की एक सुन्दर हथिनी बनाकर खड़ी कर देते हैं। हाथी उस हथनी को सच्ची हथनी समझकर उस गड्ढे की ओर झपटता है, जिससे पतली लकड़ियाँ टूट जातीं है और हाथी उस गड्ढे में गिर जाता है। वह, वहाँ से निकल नहीं पाता और मनुष्यों द्वारा पकड़ लिया जाता है।

इसी तरह स्पर्शन इन्द्रिय के वश होकर मनुष्य भी आत्म गौरव, धन, कीर्ति, बल, पराक्रम नष्ट भ्रष्ट करके सर्वस्व गँवा देते हैं। देखो, जो त्रिखण्ड के अधिपति थे, सम्पूर्ण शत्रु सेना को पराजित करने में समर्थ थे, ऐसे पराक्रमी कृष्ण भी रुकमणी के चित्र मात्र को देखकर उस पर आसक्त हो गये और उसकी प्राप्ति के लिये हरण जैसा तुच्छ कार्य किया अर्थात् रुकमणी का हरण करके ले आये तथा उसकी प्राप्ति में विघ्न डालने वाले राजा शिशुपाल के साथ युद्ध करके सैकड़ों जीवों को संहार किया।

रसना इन्द्रिय की लोलुपता में फँसकर अगाध जल में विचरण करने वाली मछली अपने प्राण दे बैठती है।

मछलियाँ पकड़ने वाले, लोहे के कांटे की नोक पर आटा या कोई खाने का अन्य पदार्थ लगाकर पानी में डाल देते हैं। मछली जैसे ही उसे खाने के लिये अपना मुख फाड़ती है कि तत्काल वह लोहे का कांटा उसके गले में फँस जाता है और मछली मरकर पकड़ में आ जाती है।

इसी प्रकार रसना इन्द्रिय के वश में हाकर मनुष्य भी अनेक तरह के स्वादिष्ट भोजन के लालुपी बन जात हैं। उस समय उनका भक्ष्य–अभक्ष्य पदार्थों का विवेक शिथिल हो जाता है। भोजन भट्ट बनकर अपनी धन हानि तथा शारीरिक हानि कर बैठते हैं। डाक्टर को मना करना पड़ता है कि नमक नहीं खाओगे, घी, तेल नहीं खाओगे तब वे बहुत दुःखी होते हैं। बहुत से जिह्वा लोलुपी मनुष्य तो फिर भी नहीं मानते और अपना सर्वस्व नष्ट कर देते हैं।

संयमी, व्रती, त्यागी मनुष्य भी यदि रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त न करे, तो वह भी अपने संयम को सुरक्षित नहीं रख सकता, वह अनशन, ऊनोदर, वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग, आदि तपों का ठीक समुचित आचरण नहीं कर सकता। इस कारण रसना–इन्द्रिय का विषय भी स्पर्शन इन्द्रिय के समान महान प्रबल है। यदि भोजन में एक वस्तु की इच्छा घटाई और दूसरी वस्तु की बढ़ाई तो इसे रसना–इन्द्रिय संयम नहीं कह सकते।

घ्राण इन्द्रिय के विषय में अचेत होकर भौंरा अपने प्राण खो बैठता है।

भौंरा अपने डंक से बांस में भी छेद कर देता है, किन्तु कमल की सुगन्ध का लोभी भौंरा कमल में बन्द होकर उसमें से बाहर निकलने के लिये कमल की कोमल पंखुड़ी में डंक नहीं मारता।

मनुष्य भी घ्राण इन्द्रिय की इच्छा पूर्ण करने के लिये सुगंधित फूल, कपूर, तेल, इत्र आदि लगाते हैं। लखनऊ के नवाब इत्र का छिड़काव करके महफिल लगाया करते थे।

एक बार बज्रदन्त चक्रवर्ती अपनी राज सभा में बैठे थे। माली सहस्त्र–दल–कमल लेकर दरबार में आया। चक्रवर्ती ने जैसे ही उस

कमल को सूंघना चाहा की उन्हें उसमें एक मरा हुआ भौंरा दिखाई दिया। उस मृत भौरें को देखकर उन्हें संसार तथा भोगों से विरक्ति हो गई। और अपने एक हजार लड़कों को बुलाकर कहते हैं—तुम लोग राजकाज सम्हालो हम वन में जाकर दीक्षा लेकर आत्म कल्याण करेंगे। यह बात सुनकर सभी राजकुमार उत्तर देते हैं पिता जी, जब आप राज्य व भोगों को बुरा समझकर छोड़ रहे हैं, तो हम भी आपके साथ दीक्षा लेकर कर्मों की फौज से लड़ेंगे। अपने पुत्रों का उत्तर सुनकर चक्रवर्ती प्रसन्न हो जाता है और छह माह के पोते का राजतिलक कर अपने हजार पुत्रों के साथ दीक्षा ले लेता है।

चक्षु इन्द्रिय सुन्दर रूप, सुन्दर वस्तुयें, खेल, तमासे देखना चाहती हैं। वर्षा ऋतु में असंख्य पतंगे उत्पन्न हो जाते हैं। वे दीपक, लालटेन, बिजली आदि का प्रकाश देखने के लिये दीपक, लालटेन या बिजली के बल्ब पर झपटते हैं और उसी की लौ में, गर्म बल्ब पर जलकर मर जाते हैं।

खेल तमाशों, सुन्दर रूपों, नृत्य आदि देखने के लिये मनुष्य टी. वी. आदि देखने में घंटों का समय बर्बाद कर देते हैं। ब्रह्मा जी जैसे महान तपस्वी भी सुन्दर रूप देखने के लिये अपनी तपस्या से च्युत हो गये थे। अन्य शास्त्रों में एक कथा प्रचलित है –

ब्रह्मा जी ने हजार वर्षों तक कठिन तपस्या की थी। उससे इन्द्र का आसन कम्पायमान हो गया था। इन्द्र ने ब्रह्मा जी को तपस्या से डिगाने के लिये तिलोत्तमा नाम की एक सुन्दर अप्सरा को भेजा। अप्सरा आकर ब्रह्मा जी के सामने नाचने लगी तथा बड़े ही मधुर स्वर में गाते हुये कौतुक करने लगी। ब्रह्मा जी ने थोड़ी आँख खोलकर देख लिया। जैसे ही ब्रह्मा जी की दृष्टि अप्सरा पर पड़ी, वे उस पर

मोहित हो गये। वे उसे बार–बार देखने के लिये आतुर हो गये। उनको आतुर देख अप्सरा ब्रह्मा जी के दाहिनी ओर जाकर नृत्य करने लगी। अप्सरा को देखने की लालसा से ब्रह्मा जी ने अपनी 1000 वर्ष की तपस्या के फलस्वरूप, पूर्व दिशा में अपना मुँह बना लिया। तब अप्सरा ब्रह्मा जी के पीछे चली गयी उसे देखने की तीव्र इच्छा से ब्रह्मा जी ने अपनी तपस्या के बल से दक्षिण दिशा में अपना मुँह बनाया और अप्सरा को देखने लगे। इस घटना को देख वह ब्रह्मा जी के बायीं ओर जाकर नाचने लगी। ब्रह्मा जी ने अप्सरा को देखने के लिये अपनी तपस्या के बल पर पश्चिम दिशा में अपना मुँह बना लिया और अप्सरा का अवलोकन करते हुये अपने को तृप्त करने लगे। ब्रह्मा जी को अपने ऊपर आसक्त देख अप्सरा आकाश में नृत्य करने लगी। ब्रह्मा जी ने अप्सरा को दखने के लिये ऊपर भी मुँह बनाने की कोशिश की। लेकिन तपस्या अल्प रह जाने के कारण उनका मनुष्य का मुँह न बनकर गधे का मुँह बन गया। इस प्रकार ब्रह्मा जी ने अप्सरा का सुन्दर रूप देखने के लिये अपनी हजार वर्ष की तपस्या को नष्ट कर दिया।

सेठ जी देव के पुत्र जिनदत्त थे जो जिनभक्त, धर्मात्मा, पुण्यवान, तथा तेजस्वी थे। माता–पिता, बन्धु आदि के अनेक प्रकार समझाने के बाद भी किसी प्रकार भी कन्या के साथ विवाह करने के लिये तैयार नहीं हुये। वे ही जिनदत्त एक दिन कोटिकूट चैत्यालय में दर्शन पूजन के लिये जा रहे थे। वहाँ मंदिर के बाहर दरवाजे की सीढ़ियों पर बनी एक पाषाण में उकेरी सुन्दर कन्या का रूप देखकर उस पर मोहित हो गये और बार–बार उसी के विषय में चिन्तन करने लगे, उनके जिनेन्द्र भगवान की पूजा भक्ति के शुभ भाव तुरन्त समाप्त हो गये।

जब इतने विरक्त व साधु पुरुष भी सुन्दर रूप आदि देखकर विचलित हो जाते हैं, तो साधारण मनुष्य तो टी.वी. आदि पर ऐसे दृश्य देखकर तुरन्त प्रभावित हो जाते हैं, और अपने मन को खराब कर लेते हैं।

पाँचवी कर्ण इन्द्रिय सुरीले गानें सुनना चाहती है।

कानों को तृप्त करने के लिये हिरण सुरीले बीनों तथा गायन को सुनने के लिये खड़ा हो जाता है और शिकारी के हाथों पकड़ा जाता है। सर्प बीन की धुन सुनने के लिये खड़ा हो जाता है और सपेरे द्वारा पकड़ लिया जाता है।

लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिद–अलीशाह को यह बता दिया गया कि आपको गिरफ्तार करने के लिये अंग्रेजों की सेना आ रही है, परन्तु नवाब गाने सुनने में ऐसा मस्त था कि गिरतारी से बचने के लिये उसने कुछ भी प्रयास नहीं किया। अंग्रेज जब उसको पकड़कर ले जाने लगे तब भी, वाजिद अली ने कहा कि ठहरो, एक गाना और सुन लेने दो।

इस तरह कर्ण इन्द्रिय के लोलुपी मनुष्य अपना सर्वस्व खो देते हैं। जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों के दास बने रहते हैं, वे अपना कोई भी कार्य ठीक नियमानुसार नहीं कर पाते। उनकी आत्म–शक्ति कुण्ठित हो जाती है। वे बलवान होकर भी बलहीन/दीन बने रहते हैं।

घोड़े को यदि लगाम न लगी हो, तो घोड़ा बेकाबू होकर अपने सवार को किसी भी गड्ढे में गिरा देता है। इसी तरह इन्द्रियों पर यदि आत्मा मन के द्वारा अंकुश न लगावे तो इन्द्रियाँ भी आत्मा को दुर्गति में डाल देती हैं।

हम अनादि काल से लेकर आज तक इन इन्द्रियों की माँगें पूरीं करते आ रहे हैं, पर अभी तक इनकी माँगें पूरीं नहीं हो पायीं हैं। इनकी माँगों के जाल से निकलने के लिये जीवन में संयम धारण करना अनिवार्य है। संयम ही विषय–कषाय को जीतने का साधन है।

विषय रोग औषधि महा, दव कषाय जलधार।
तीर्थंकर जा कौ धरे, सम्यक्चारित्र सार।।

संयम की बहुत महिमा है। विषय रूपी रोग को शमन करने के लिये तथा कषाय रूपी अग्नि को शान्त करने के लिये जलधार के समान यह संयम ही है। जीव के असली शत्रु ये विषय–कषाय ही हैं। विषय–कषायों को जीतने वाला ही सच्चा विजेता है।

एक राजा था। उसने बहुत से राजाओं को जीत लिया था, इसलिये अपना नाम सर्वजीत रख लिया। उसे सारी दुनिया सर्वजीत कहकर बुलाती परन्तु उसकी माँ उसे सर्वजीत नहीं कहती। एक दिन वह अपनी माँ से बोला कि माँ! पूरी दुनिया तो मुझे सर्वजीत कहती है परन्तु तूं मुझे सर्वजीत क्यों नहीं कहती। तब माँ ने कहा कि तू अभी सर्वजीत हुआ ही कहाँ हैं जो मैं तुझे सर्वजीत कहूँ। तब वह बोला–बताओ ऐसा कौन है जो मेरे अधीन न हो? माँ ने कहा तेरे शत्रु तो तेरे सामने ही विचरण कर रहे हैं। इन्हें तूने कहाँ जीता। जिस दिन तू इन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेगा, मैं तुझे सर्वजीत ही नहीं कहूँगी अपितु तेरे चरणों में भी गिर जाऊँगी। इस जीव के असली शत्रु तो ये पंचेन्द्रियों के विषय–भोग तथा कषायें हैं, जिनके कारण यह प्राणी संसार में भटक रहा है। इन्हें वश में करके ही कल्याण किया जा सकता है। विषय–वासनाओं को जीतकर संयम धारण करने वाले मुनिराज ही मोक्ष के अनन्त सुख को प्राप्त करते हैं।

एक ब्रह्मगुलाल नामक कलाकार था। वह स्वांग बनाने का खेल खेलता था, कभी वह राम का, कभी कृष्ण का, कभी सीता का, कभी रुकमणी आदि का मन मोहने वाला, लोगों को चकित करने वाला रूप धारण करता था। जवानी का जोश और यह रूप देखकर लोग चकित हो जाते। एक दिन राजा अपने महल में सभा को जोड़कर बैठे थे। उस सभा में यह चर्चा चली कि शेर की भांति गरजने वाला शक्ति सम्पन्न शेर का रूप कौन धारण कर सकता है। ब्रह्मगुलाल ने कहा कि यह स्वांग बनाना कठिन नहीं है लेकिन किसी की चोट न लग जाये इससे मैं डरता हूँ। राजा ने एक खून करने की इजाजत दे दी। थोड़ी ही देर में ब्रह्मगुलाल शेर का रूप धारण करके गरजता हुआ आया। वहीं पर आँगन में एक बकरी का बच्चा बंधा था। राजकुमार ने कहा–अरे शेर! आँगन में कौन खड़ा है? तू उसे भी नहीं मार सकता तो वन में क्या करता होगा? तू तो शेर नहीं कोई गीदड़ है। तेरे जन्म दाता को धिक्कार है। राजकुमार के इन वचनों को सुनकर शेर के मन में क्रोध आ गया। गुस्से में पूंछ हिलाने लगा और आँखों में खून खौलने लगा। उसने पंजा उठाकर राजकुमार पर छलांग लगा दी। आस–पास के लोग भय के कारण भाग गये। पंजा लगते ही राजकुमार गिर कर मर गया।

राजा विचार करने लगा, जो कर्म में लिखा था, वह हो गया। संसार तो वृक्ष की छाया के समान है। 'अब तुम जैन मुनि बनकर कोई हितकर उपदेश दो।' ब्रह्मगुलाल घर पर पहुँचे, सबको बताया कि पापरूपी कर्मों के रोगों को काटने का अब समय आ गया है। उसने मित्र मथुरालाल से भी कहा अब हम महाव्रत धारण कर मुनिराज का वेश धरेंगे। सबने सोचा कि भोगों का त्याग कठिन है। उसने मन में बारह–भावना भायी और प्रातः जिन प्रतिमा के सामने

मुनिव्रत ग्रहण कर लिया अर्थात् हाथ से केशलोंच करके कमण्डलु और पिच्छि लेकर जहाँ सभा बैठी थी, वहाँ पहुँच गया। राजा इस वेष को देखकर हैरान रह गये और सिर झुकाकर बोले–हे मुनिराज! हमें ऐसी शिक्षा दें जिससे हम शोक रहित हो जायें।

ब्रह्मगुलाल जी कहते हैं कि लाख यत्न करने पर भी कोई सुख व दुःख नहीं दे सकता। मन की शंका को छोड़ कर अपने हित के लिये परिश्रम करो। राजा क्रोध मत करो। इस संसार का रूप अनोखा है। यह संसार दुःखों का सागर है। यहाँ सुख नहीं, इसलिये मन की दुविधा को छोड़कर इस संसार के क्षणभंगुर रूप को विचारो। हमारे हाथ से राजकुमार मर गया, अज्ञानता वश घोर पाप हो गया। अब तन की ममता को छोड़कर आत्मिक त्याग करेंगे। मुनिराज के रूप को देखकर राजा ने बैर त्याग दिया और प्रगट रूप में कहा–तुम्हें जो चीज अच्छी लगे, माँग लो। मुनिराज बोले–हमारा मन तो वैराग्य–भावना में लीन हो गया है। हे राजन्! हमें क्षमा कीजिये। हम वनवासी हैं, हमने इच्छाओं का दमन कर दिया है। राजा बोले–तुमने तो यह सिर्फ रूप धारण किया था, जैसे अन्य–अन्य रूप धारण करते थे। ब्रह्मगुलाल बोला–राजन्! यह मुनिवेश अन्तिम वेश होता है। इसे ग्रहण करने के बाद छोड़ा नहीं जाता।

इधर सारे नगर में चर्चा फैल जाती है कि ब्रह्मगुलाल मुनि हो गये। आगे–आगे मुनिवेश में ब्रह्मगुलाल और पीछे–पीछे नगर वासी, माता–पिता और पत्नी शोकरत होकर चलने लगे। वन में पहुँचकर मुनिराज मोह का नाश करने के लिये तपस्या करने लगे। वन में परिवार जनों ने अपनी–अपनी तरह से ब्रह्मगुलाल मुनि को समझाने का प्रयत्न किया। बेटा घर चलो, तुम वन में क्यो बैठे हो? तुमने तो हंसी–हंसी में स्वांग रचाया था। अब मन में क्या सोचकर मुनिवेश

धारण किया? इस प्रकार माँ व्याकुल होकर बोली। मुनिराज बोले – किसके घर जाऊँ, जब यह शरीर ही मेरा नहीं है, तब घर कैसे मेरा हो सकता है?

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय।
घर संपत्ति पर प्रगट है, पर हैं परिजन लोय।।

माँ बोली–मेरे जिगर के टुकड़े! मैंने तुझे दुःख झेलकर इसलिये नहीं पाला था कि तू मुझ दुखियारी को छोड़कर वैराग्य धारण करेगा।

मुनिराज ने कहा – हम अनेक बार मिले हैं, अनेक बार बिछुड़े हैं। न कोई किसी की माता है, न कोई किसी का बेटा है। यह संसार एक अनोखा स्वांग है। माता बोली – मैं इस दिन को नहीं जानती थी। क्या तूँ इस भरी जवानी में जोग लेकर कुल का नाम लेने वाली कोई निशानी नहीं छोड़ेगा?

मुनिराज बोले – जिस वैभव तथा पुद्गल को तुम अपना समझती हो वही एक दिन पराया हो जायेगा अर्थात् माटी बनकर माटी में मिल जायेगा।

पत्नी कहती है – हे प्रियतम! तुम मुझे मझधार में छोड़कर मत जाओ। मैं किसके सहारे जीवन व्यतीत करूँगी? अब मेरे दिन किस प्रकार कटेंगे?

मुनिराज बोले – यह नारी पर्याय बुरी है, दूसरों के पराधीन है, तुम धर्म की शरण में जाओ। जिससे यह स्त्रीलिंग समाप्त हो जाये।

अब सब कुटुम्बी जन निराश होकर लौट गये। घर पर आये और मथुरा लाल की पत्नी को बुलाकर कहा कि धिक्कार है तुम्हें, जो

तुम पति के साथ घर बैठी हो। हमने मुनिराज को बहुत समझाया लेकिन वे नहीं माने। अब हम तुमसे लाचार होकर कह रहे हैं कि तुम मथुरालाल को भेजो कि वह अपने मित्र ब्रह्मगुलाल को वन से लौटा लाये।

मथुरालाल बोले—वह किसी का कहना नहीं मानेगा, बहुत जिद्दी है। वह वापिस नहीं आयेगा। फिर स्वयं सोचने लगा कि हमें क्या सारी जिन्दगी यहीं रहना है, हम भी संयम धारण कर लेंगे। जिससे सारा संसार जान जायेगा हमारी दोस्ती को और अपनी पत्नी से कह दिया कि अगर वह नहीं आयेगा तो हम भी नहीं आयेंगे, यह हमारी प्रतिज्ञा है, फिर तुम मत पछताना।

जंगल में जाकर ब्रह्मगुलाल मुनिराज से मथुरालाल ने कहा कि मुनिव्रत के सम्बन्ध में हमें विस्तार से समझाओ। बचपन में तो हमने दूसरों का हित करने वाली विद्या सीखी। जवानी अवस्था भोग भोगने की है और त्याग की वृद्धावस्था होती है। बिना भोग भोगे जोग धारण मत करो। तुमने मन में यह क्या विचारा? मुनि ब्रह्मगुलाल बोले—भोग भोगते समय तो अच्छे लगते हैं लेकिन उदय काल में इनका फल नियम से कटु होता है। ये पंचेन्द्रिय के भोग संसार रूपी रोग को बढ़ाने वाले जगत के शत्रु हैं —

भोग बुरे भव रोग बढ़ावें, बैरी हैं जग जियके।
बेरस होत विपाक समय, अति सेवत लागें नीके।।

ये पाँचों इन्द्रियों के भोग तो अग्नि के समान हैं। ज्यों—ज्यों अग्नि में ईंधन डालो, त्यों—त्यों वह भड़कती है। इसी प्रकार ज्यों—ज्यों भोगों का सेवन करते हैं, त्यो—त्यों भोगने की इच्छा और बढ़ती जाती है, पर तृष्णा क्षीण नहीं होती। जब भोग भोगने की अवस्था

क्षीण हो जाती है, तब उदासी छा जाती है। इन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके इनको छोड़ने वाला एकान्त वासी ही सदा सुखी रहता है।

मथुरालाल ने बहुत समझाया, लेकिन ब्रह्मागुलाल नहीं माने। मथुरालाल भी जिनधर्म की महिमा जान गये और भोग–वासनाओं को छोड़कर क्षुल्लक–दीक्षा लेकर मुनिराज के साथ हो लिये और दयाधर्म का उपदेश संसार में दिया। ऐसे मंगल हुआ जैसे लकड़ी के साथ लोहा भी पानी पर तैर जाता है।

जिसने भी विषय–भोगों को दुर्गति का कारण जानकर, छोड़कर संयम को धारण कर लिया, उन्होंने ही अपना आत्म कल्याण किया और जिन्होंने भोगों को प्राप्त करने की इच्छा की, व संसार में रुलते रहे। रावण ने भोगों के लिये शान्तिनाथ भगवान के मन्दिर में बहूरूपणी विद्या सिद्ध की थी। अखण्ड ध्यान भोगों के लिये लगाया। अगर इतना ध्यान आत्मा में लगा लेता तो मोक्ष चला जाता। लेकिन भोगों की इच्छा के कारण नरक जाना पड़ा।

इन्द्रिय–भोगों को भोगने से कभी भी शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। उल्टी उसकी इच्छायें और बढ़ जाती हैं। भोगी प्राणी की दशा उस मक्खी–जैसी है, जो मधु के लाभ में मधुपान करती हुई उसी में चिपक कर रह जाती है। उसी भांति हम अपनी इस स्थिति से मुक्त होने के लिये छटपटा रहे हैं। किन्तु जितना प्रयास करते हैं, उतना–उतना और उसमें फँसते जाते हैं। पंडित भूधर दास जी ने लिखा है –

मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले करि जाने।
जो कोई जन खाय धतूरा, सो सब कंचन माने।।

ज्यों–ज्यों भोग संयोग मनोहर, मनवांछित जन पावे।
तृष्णा नागिन त्यों–त्यों डंके, लहर जहर की आवे।।

जिस प्रकार किसी ने धतूरा खा लिया हो उसे सभी चीजें सोना दिखाई देती हैं, उसी प्रकार यह अज्ञानी प्राणी भोगों को सुखदायी समझता है। पर ये मनोहर प्रतीत होने वाले विषय–भोग भोगने के लिये ज्यों–ज्यों इस जीव को प्राप्त हो जाते हैं, त्यों–त्यों इसकी तृष्णा और अधिक बढ़ती चली जाती है।

इन भोगों के स्वरूप को न समझ पाने के कारण ही प्राणी भोगों की आसक्ति के कारण कर्तव्य–अकर्तव्य, नीति–अनीति सभी कुछ छोड़ देता है।

जब राजा देवरति कुमार अपनी रानी पर अधिक आसक्त होने के कारण राज्य के कार्यों की उपेक्षा करने लगा, तब प्रजा को लाचार होकर राजा से कहना पड़ा कि या तो आप राज–काज में ध्यान लगायें अथवा अगर आप रानी में ही आसक्त हैं तो राज्य छोड़कर चले जाइये।

राजा ने रानी के प्रेम के पीछे राज्य छोड़ना स्वीकार कर लिया और वे दोनों राज्य छोड़कर चल दिये। मार्ग में एक बगीचे में ठहर गये। कुछ देर बाद राजा भोजन का प्रबंध करने के लिये निकट वर्ती किसी शहर में चला गया। थोड़ी देर बाद बगीचे में कुँए से चरस द्वारा पानी खींचने वाले कुबड़े कुरूप काली चरण की सुरीली ध्वनि सुनकर उस पर रानी आसक्त हो गयी और उसे अपना पति बनाने के लिये बार–बार प्रार्थना करने लगी। काली ने उसे बार–बार इन्कार किया और कहा कि आप क्या बातें कर रहीं हैं? आप तो एक बड़े राजा की रानी हो, यदि राजा को इस बात का पता चल जायेगा

तो मेरी और तुम्हारी दोनों की जान बचनी कठिन हो जायेगी। यह सुनकर रानी ने कहा आप चिंता न करें यह तो सब ठीक हो जायेगा। काली ने रानी की बात यह मानकर स्वीकार कर ली कि वह राजा को मार डालेगी।

राजा के लौटने पर रानी राजा को उनके जन्म दिन मनाने के बहाने पर्वत की ऊँची चोटी पर ले गई और वहाँ जाकर राजा को बड़ी—बड़ी मालायें पहनाकर रस्सी से बांध दिया और धक्का देकर नीचे गिरा दिया। वह लुढ़कते—लुढ़कते नीचे बहती नदी में जा गिरा और बहता—बहता किसी दूसरे राज्य की सीमा में बहुत दूर चला गया और किसी वस्तु के सहारे नदी के किनारे रुक गया। उस समय उस राज्य के राजा का स्वर्गवास हो गया था और यह निश्चय किया गया था कि एक हाथी छोड़ा जायेगा, वह अपनी सूंड से जिस व्यक्ति को उठाकर अपने मस्तक पर बैठा कर ले आयगा उसी को राजा माना जायेगा। छोड़ा हुआ हाथी घूमता—घूमता नदी के किनारे पहुँच गया, वहाँ उसने उस व्यक्ति को (राजा को) अपनी सूंड से उठा लिया और अपने मस्तक पर बैठाकर नगर ले गया। लोगों ने उसे हाथी से उतार कर बड़े सम्मान के साथ राजा बना दिया।

दूसरी ओर रानी उस कुबड़े कुरूप काली को बड़ी टोकरी में बैठा कर और अपने सिर पर रखकर इधर—उधर डोलने लगी। वह गाना—गाकर, बाजा—बजाकर लोगों को रिझाने लगी व स्वयं को कुबड़े पति की प्रतिव्रता पत्नी का ढोंग रचकर समय व्यतीत करने लगी। एक दिन वह कुबड़े काली को लेकर उस राज्य में आ गई, जहाँ उसके द्वारा त्यागा पति देवरति कुमार राजा बना हुआ था।

लोगों ने उस कुबड़े पति और रानी की सुन्दरता की राजा के

सामने बड़ी प्रशंसा की। राजा ने दोनों को दरबार में बुलाया। रानी ने अपने कुबड़े पति का बड़ा आकर्षक और रोचक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। राजा ने बड़ी गम्भीरता से रानी की संगीत कला देखी और रानी को पहचानते ही उसे संसार के स्वरूप का ज्ञान हो गया। बस, फिर क्या था। वह उसी समय इस मोह रूपी पिंजड़े को तोड़कर सीधे जंगल की ओर चला गया और उसने संसार से नाता तोड़कर अपने आप से ही नाता जोड़ लिया।

इस संसार में कोई किसी का नहीं है। सभी जीव अपनी–अपनी विषय विभूति के लिये साधन जुटाकर अपनी कषायों का पूर्ण कर रहे हैं। यह संसार तो मोह और कषायों का एक तमाशा है। हम व्यर्थ ही धन व भोगों के लिये दिनरात परिश्रम करके अपनी आत्मा का अहित कर रहे हैं। राजा ने पहले भोगों के लिये राज्य छोड़ा था। अब उसे भोगों से घृणा हो गई और दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली।

श्रीमद रायचन्द्र जी गुजरात में हुये हैं, वे कहा करते थे कि ये तीन बातें सदैव ध्यान में रखनी चाहिये।

1. काल सिर पर सवार है।
2. पांव रखते ही पाप लगता है।
3. नजर उठाते ही जहर चढ़ता है।

काल सिर पर सवार है, यदि यह ध्यान हमें बना रहे, तो फिर हम कभी भी गाफिल नहीं हो सकते। चक्रवर्ती भरत के दरबार में प्रातः काल रोज घंटा नाद होता था। और 'पहरेदार वर्धतेभयम्–वर्धतेभयम्' कहा करते थे। चक्रवर्ती से पूछा गया कि आप जैसे सम्राट जहाँ पर हों, वहाँ भय वाली बात कैसे? तो चक्रवर्ती ने कहा–मौत का भय बढ़ रहा है और यही दृष्टि उन्हें निरन्तर आत्मान्मुखी

होने की प्रेरणा देती थी। दूसरी बात है–'पांव रखते ही पाप लगता है', इसका आशय यह है कि प्रतिपल प्रवृत्ति से कर्मों का आस्रव होता है। और अंतिम बात है–'नजर उठाते ही जहर चढ़ता है।' इसका मतलब यह है कि सब तरफ इन्द्रिय–विषयों की सामग्री फैली हुई है और वह विषय सामग्री निरन्तर इन्द्रियों को प्रभावित करती है। आँख उठाकर थोड़ा भी देखते हैं तो मन में राग–द्वेषादि विकारी भाव होने लगते हैं। भावी तीर्थंकर होने वाले राजा श्रेणिक चेलना के चित्र को देखकर सम्पूर्ण राज्य का काम–काज भूल गये। उसकी प्राप्ति के लिये (श्रेणिक पुत्र) अभय कुमार ने जैन धर्म का पालन करने का ढोंग किया और मायाचारी से छलकर चेलना का हरण कर लाये।

पाँचों इन्द्रियों के भोगों, आरम्भ, परिग्रह आदि को छोड़ने पर ही आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है। जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को संकोचता है, उसी प्रकार जो संयमी मुनि इन्द्रियों की सेना समूह को संकोचता व वशीभूत करता है, वही मुनि दोषरूपी कर्दम से भरे लोक में विचरता हुआ भी, दोषों से लिप्त नहीं होता अर्थात् जल में कमल के समान अलिप्त रहता है।

श्री सहजानन्द वर्णी जी ने लिखा है – जिस मुनि का मन इन्द्रियों के विषयों से किंचित मात्र भी कलंकित नहीं होता, उस मुनि को जो दिव्य सिद्धियाँ हैं, वे बिना यत्न के ही उत्पन्न होती हैं।

हे आत्मन! ये इन्द्रियों के विषय तुझ को ही ठगने के लिये प्रवृत्त हुये हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। इस कारण चित्त को ऐसा स्थिर कर कि जिस प्रकार उन विषयों से कलंकित न हो।

ये इन्द्रिय–विषय तो आकुलता को ही बढ़ाने वाले हैं। इनके

भोगने के पहले क्लेश, भोगने के समय भी क्लेश और भोगने के बाद भी क्लेश। खूब अनुभव कर लो, यदि क्लेश नहीं चाहिये तो इन इन्द्रिय–विषयों में प्रवृत्त होने की कोशिश न करो। ये कोई शान्ति के उपाय नहीं हैं। ये तो जैसे सुख वैसे दुःख। सिर्फ नाम बदल गया। जैसे नागनाथ कहो या साँपनाथ कहो, काटेंगे दोनों। कहीं नागनाथ कह देने से वह मेहरबानी नहीं करेगा। ऐसे ही ये इन्द्रिय सुख हैं, चाहे सुख कहो चाहे दुःख कहो, परन्तु क्लेश दोनों में है। भले ही लोग कहते हैं कि 'कु' बुरा कहलाता है और 'सु' अच्छा, पर 'कु' की जगह 'सु' रख देने से फायदा क्या हुआ? जैसे एक बार कोई पढ़ा लिखा लड़का था, वह हिन्दी अच्छी जानता था, उसकी सगाई की बात हुई। लोग लड़का देखने आये, तो देखने वालों ने उसके आदर के लिये कहा–आइये, कुँवर साहब! बैठिये, तो लड़के ने सोचा कि ये तो मुझे कुँवर साहब कह रहे हैं। 'कु' का अर्थ तो खराब होता है। तो झट बोल उठा कि साहिब मैं कुँवर साहब नहीं हूँ मैं तो अच्छा अर्थात् सुवर साहब हूँ। तो ठीक ऐसे ही चाहे सुख कहो, या दुःख कहो। याने 'सु' की जगह 'कु' लगा दो तो उसमें फायदा क्या हुआ? ये सुख–दुःख दोनों हेय हैं। इन्द्रिय सुख तो आत्मा का अहित करने वाले ही हैं, अतः सर्वथा हेय ही हैं।

देखो, भैया! कैसी दयनीय दशा बन रही है कि अपना परमात्म स्वरूप अपने अन्तः विराजमान है, जिसके प्रसाद से अनन्तकाल के लिये समस्त संकट छूट जायेंगे। यह अज्ञानी संसारी–जीव उसको तो जानता नहीं और इन इन्द्रिय–विषयों में मोहित हो गया। यह इसकी सबसे बड़ी भूल है। इससे बढ़कर भूल और क्या कहें? किसी मनुष्य के आगे एक ओर खली का टुकड़ा रख दिया जाय और एक ओर हीरा जवाहरात रख दिया जाय कि भाई! तुम इन दोनों चीजों में से

तुम्हें जो चीज पसन्द हो उठा लो। अगर वह खली का टुकड़ा उठाता है, तो क्या उसे आप विवेकी कहेंगे? अरे! उसे तो आप पागल कहेगें। तो इसी तरह समझिये कि यहाँ मेरे सामने दो चीजें हैं, विष और अमृत, इन्द्रिय–विषय और आत्मस्वभाव। यहाँ मानों कोई यह कहे कि, भाई! तुम क्या लेना चाहते हो? इनमें से तुम्हें जो चीज पसन्द हो, सो उठा लो। तुम जो चाहोगे, वह तुम्हें मिल जायेगी। विष लेना चाहो तो विष मिल जायेगा और अमृत लेना चाहो, तो अमृत मिल जायेगा और अगर वह यह कहे कि भाई! मुझे तो विष लेना है। तो बताओ उसकी मूखर्ता पर हंसी आयेगी की नहीं? ज्ञानी जन अज्ञानी जनों की इस तरह की प्रवृत्ति को देखकर हंसते हैं।

इन्द्रिय–विषयों को भोगने के कारण ही ये सब दुःख भोगने पड़ते हैं पशु बने, पक्षी बने, पेड़ पौधे बने, नाना प्रकार की कुयोनियों में जन्म–मरण करके दुःख सहन करने पड़ रहे हैं। विषयों में प्रीति होना बहुत अंधकार है। और इस अंधकार में ही चुलबुल करता हुआ यह जगत का प्राणी बरबाद होता रहता है।

सागर में एक कान्सटेबिल था। वह एक वेश्या में आसक्त था। जो कुछ धन–दौलत उसके पास थी, वह सब उसने धीमे–धीमे वेश्या को दे दी। वह अब बड़ी दरिद्री अवस्था का हो गया। निर्धन हो जाने के कारण अब वेश्या ने उसे अपने घर आने से मना कर दिया। तो वह कान्सटेबिल उसके घर के सामने ही रातदिन पड़ा रहता था। किसी ने पूछा–आप यहाँ क्यों पड़े रहते हो? तो वह बोला–मुझे इस वेश्या से प्रेम है, पर यह मुझे अपने घर तो आने नहीं देती लेकिन जब कभी वह घर से बाहर निकलती है, तो मैं उसे देख लेता हूँ।

अपने स्वरूप को न समझना और इन्द्रिय–विषयों में ही उपयाग का बनाये रहना, यह बहुत बड़ा अंधकार है। केले के खम्भे में भले सार निकल आवे, परन्तु इन विषय–भोगों में कोई सार नहीं है। ये जगत के प्राणी कैसे आत्मतत्त्व में बढ़ें, कैसे ज्ञान की आराधना में बढ़ें, कैसे विकल्पों से बचें इस ओर दृष्टि न करके विषय–कषाय में ही अपना अमूल्य जीवन बर्बाद कर रहे हैं।

जिस मनुष्य–शरीर से हमें मोक्ष प्राप्त की साधना करनी चाहिये थी, उसे विषय–भोगों में बरबाद कर रहे हैं। पर ध्यान रखना, इन इन्द्रिय–विषयों से आजतक किसी का भी भला नहीं हुआ। यह विषयों का भोग भोगते समय तो भला लगता है, परन्तु इसका परिणाम नियम से खराब होता है। विषय–भोगों की इच्छा से सुख कभी नहीं मिल सकता। सीता ने स्वर्ण मृग को प्राप्त करने की, इच्छा की तो उन्हें रावण के चंगुल में फँसना पड़ा। रावण ने सीता के अपहरण की इच्छा की, तो उसे नरक जाना पड़ा। अग्नि के स्पर्श से शीतलता कैसे संभव है? ये इन्द्रिय–विषय तो दुःख के ही कारण हैं।

एक बार माली ने राजा के लिये फूलों की अच्छी सुन्दर शैय्या तैयार की। अभी राजा को आने में देरी थी, इसलिये माली ने सोचा इस पर थोड़ा लेट कर देख लें कैसा लगता है। वह उस पर लेट गया। दिन भर का थका–हारा था, सो उसे लेटते ही नींद आ गई। राजा आया और माली को अपनी सेज पर सोया देखकर बड़ा क्रोधित हुआ। मेरे आने से पहले यह माली मेरी सेज पर लेटता है। उसने बेंत उठाया और माली की पिटाई शुरू कर दी। माली को जब तीन चार बेंत पड़े तो वह हँसने लगा। राजा रुक गया और बोला तू हँसता क्यों है? माली बोला–मैं इसलिये हँस रहा हूँ कि मैं तो बस आज ही इन फूलों की सेज पर सोया था, तो मेरी बेंतों से पिटाई,

हुई पर आप तो इस पर रोज सोते हो, आपका न जाने क्या होगा। राजा को बोध प्राप्त हो गया। इन्द्रिय–भोगों से कभी भी तृप्ति नहीं मिलती, उल्टी तृष्णा और बढ़ जाती है। विषय–भोगों में सुख मानना तो मृग–मरीचिका के समान भ्रम मात्र है। रेगिस्तान में मृग बालू की चमक को जल समझकर दौड़ता जाता है, कि अब मिला जल, अब मिला जल पर अन्त में वह थक कर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, लेकिन उसे जल की प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार मनुष्य सुख प्राप्ति की इच्छा से जीवन पर्यन्त भोगों को भोगता रहता है, पर उसे सुख की प्राप्ति नहीं होती।

जिस मनुष्य–शरीर से हम मोक्ष रूपी हीरे को खरीद सकते थे, उसे कंकड़ पत्थर खरीदने में व्यर्थ / बरबाद कर देते हैं। हम कौआ उड़ाने के लिये रत्न फेक रहे हैं या राख प्राप्त करने के लिए रत्नों को जला रहे हैं। जैसे एक व्यक्ति को हाथ धोने के लिये राख की जरूरत थी सो उसने तिजोड़ी में से कीमती रत्नों को जलाकर राख बना ली और उससे हाथ धो लिये। वह तो मूर्ख था, पर हम भी उससे कम नहीं है। जिस मनुष्य पर्याय से परमात्मा बनने की साधना करनी थी, उसे विषय–भोगों में व्यर्थ / बरबाद कर रहे हैं। और चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुये दुःख उठा रहे हैं।

पं. भूधरदास दास जी कहते हैं –

इस भव वन के माँहि, काल अनादि गमायो।
भ्रम्या चहुँ गति माँहि, सुख नहिं दुःख बहू पायो।।

अरे! कहाँ–कहाँ रहे हम, कितने दुःख उठाये? चौरासी–लाख योनियों में बार–बार चक्कर लगाते रहे, फिर भी जिनवाणी सुनने के बाद भी कैसे विषयों में मस्त हो रहे हैं? लेकिन अपने कल्याण के

बारे में नहीं सोचते हैं।

एक दृष्टांत है–एक राजा और मंत्री घूमने के लिये गये, घूमते–घूमते राजा को प्यास लग आई। राजा ने मंत्री से कहा– मंत्री जी, जाओ, कहीं से पानी का इन्तजाम करो। मंत्री जी पानी लेने के लिये इधर–उधर जाते हैं पर उन्हें कहीं पानी दिखाई नहीं दिया। रास्ते में उन्हें एक लकड़हारा मिला। वह लकड़ी का गट्ठा लेकर आ रहा था। मंत्री जी ने पूछा–भाई! आपने कहीं पानी देखा है? लकड़हारा जंगल का था। उसने कहा – देखा है। मंत्री जी बोले – भाई! राजा को प्यास लगी है, पानी लेकर आओ। उसने लड़की का गट्ठा नीचे रखा और पानी लेने चला गया। लकड़हारा कुछ समय बाद अच्छा ठंडा पानी लाया और राजा को पिलाया। राजा पानी पीकर खुश हो गया और मंत्री से बोला – मंत्री जी इस लकड़हारे को सारा चन्दन का बाग दे दो। मंत्री ने सारा चंदन का बाग लकड़हारे को सौंप दिया।

राजा और मंत्री घूमकर अपने महल में चले जाते हैं। लकड़हारे को चन्दन के वृक्षों की कीमत का कुछ पता न था। वह प्रतिदिन दो–चार वृक्षों को काटता और उनका कोयला बनाकर। दो–चार आने में बेच आता। इस प्रकार सालों गुजर गये। एक दिन राजा मंत्री से कहते हैं कि उस लकड़हारे को जाकर देखो कि वह कितना धनवान् हो गया। मंत्री जी जाकर देखते हैं जंगल में सिर्फ बीस–तीस चन्दन के वृक्ष बचे हैं और वह लकड़हारा उसी टूटी हुई चारपाई और झोपड़ी में लेटा है। मंत्री जी आवाज लगाते हैं, हे लकड़हारे ! तुझे मैंने इतना कीमती चन्दन का बाग दिया था तू आज तक फिर भी गरीब है? कहाँ गये इतने सारे वृक्ष? वह बोला जैसे प्रतिदिन लकड़ी के कोयले बनाकर बेचता था और पेट भरता था, वैसा ही उन

वृक्षों का किया। मंत्री जी बोले–अरे! सारा चन्दन का वृक्ष कोयला बनाकर नष्ट कर दिया, आज तक तूने उसकी कीमत नहीं पहचानी। जा एक छोटी–सी लकड़ी लेकर आ। लकड़हारा लकड़ी लेकर आता है। मंत्री जी बोले–जाओ इसे पंसारी के पास ले जाओ। वह जाता है, पंसारी ने उसे उस लकड़ी के बदले में चार आने दिये। वह सोच में पड़ गया, इतनी सी लकड़ी के चार आने। पंसारी ने सोचा इसे चार आने कम लग रहे हैं, उसने कहा अच्छा एक रुपया ले लो। लकड़हारा मस्तक पर हाथ रखकर रोने लगा और कहने लगा मुझे इतना कीमती चन्दन का बाग मिला था जिसे मैंने कोयला बना–बनाकर खत्म कर दिया। हे मंत्री जी! मैं अब क्या करूँ? मंत्री जी कहते हैं– भाई अभी भी तेरे पास चन्दन के जितने वृक्ष हैं, उनकी कीमत पहचानोगे, तो धनी हो जाओगे।

इसी प्रकार हम सब ने भी पूर्व में भारी पुण्य किया था, जिससे यह मनुष्य–पर्याय और जैन कुल मिला है। जिस प्रकार वह चन्दन के वृक्षों की कीमत नहीं जानता था, उसी प्रकार हम भी इस मनुष्य भव की कीमत नहीं जानते। जैसे वह चंदन के वृक्षों को कोयले बना–बनाकर फूंक रहा था, वैसे ही हम भी इस नरदेह को विषय–भोगों में फूंक रहे हैं, जैसे मंत्री ने उसे उस बाग की कीमत बताई थी, उसी प्रकार कभी–कभी गुरु आते हैं और कहते हैं, कि भाई! आयु का कुछ भरोसा नहीं, कब मृत्यु आ जाये, इसलिये जितना समय मिला है, हमें आत्मकल्याण में लगाना चाहिये, जिससे कुछ ही समय में तुम आत्मरूपी वैभव के धनी बन जाओगे। इन विषय–भोगों से आज तक किसी को शान्ति नहीं मिली। अपने आत्म स्वरूप की सच्ची पहचान करना ही शान्ति प्राप्ति का उपाय है। स्वपर का भेद विज्ञान हुये बिना शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

किसी नगर में एक सेठ जी रहते थे। वे बहुत धनवान थे। घर में पत्नी, पुत्र, पुत्री, माता, पिता, समाज में प्रतिष्ठा सब कुछ था, पर इतना सब कुछ होते हुये भी वे अशान्त रहते थे। वे एक दिन बैठे–बैठे सोच रहे थे कि मुझे शान्ति क्यों नहीं मिल रही है? क्या करूँ? निर्णय लेते हैं कि मुनिराज के पास जाकर इसका समाधान लेना चाहिये। अगले दिन वे मुनिराज के पास जंगल में जाते है और कहते हैं, कि महाराज! मेरे पास भगवान का दिया सब कुछ है, किन्तु मेरे पास शान्ति नहीं है। यह आपके पास है, अतः आपसे शान्ति लेने आया हूँ। महाराज कहते हैं कि वह सामने जो कुटिया दिख रही है, उसके अन्दर मेरा कमण्डलु रखा है, जाओ उसे ले आओ। सेठ जी जाते हैं, कुटिया के अन्दर प्रवेश करते हैं पर कमण्डलु को स्पर्श करते ही जोर से डर कर चिल्लाते हैं और भागकर बाहर आ जाते हैं। डरे हुये ही महाराज से कहते हैं कि महाराज! वहाँ पर एक बहुत बड़ा साँप है। यह सुनकर मुनिराज कुटिया में जाते हैं। सेठ जी भी डरते–डरते उनके पीछे चलते हैं। मुनिराज कमण्डलु उठाते हैं और उसके पास पड़ी हुई एक रस्सी उठाते है, सेठ जी से कहते हैं–कि सेठ जी! यह तो रस्सी है, आप कहते थे साँप है। अब आगे उपदेश देते हैं कि इस घटना द्वारा मैं आपको शान्ति देना चाहता हूँ। जब तक आपने वस्तु–स्वरूप को नहीं समझा तब तक ही आपके अन्दर अशान्ति रहती है। शान्ति का आपके अन्दर अनुभव नहीं हो सकता। किन्तु जब आप वस्तु स्वरूप को भली–भाँति समझ लेते हैं कि सही क्या है और गलत क्या है, रस्सी है, यह साँप नहीं है, इस प्रकार का भ्रम जब मिट जाता है, तब अशान्ति का भी अन्त हो जाता है। आपके अन्दर तब बिल्कुल भी अशान्ति नहीं रहेगी, सब खत्म हो जायेगी। इसके अभाव में आपके अन्दर अशान्ति–ही–अशान्ति रहेगी।

इन्द्रिय–विषयों में सुख मानने वाला व्यक्ति कभी भी शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। वह पर–पदार्थों में ममत्व–बुद्धि रखता है, इसलिये उसे बेहोशी का नशा–जाल छाया रहता है। पर जैसे–ही–पर–पदार्थों से अपनत्व–बुद्धि दूर होती है, उसको आनन्द की लहर आने लगती है। अतः शरीरादि पर–पदार्थों में अपनत्व–बुद्धि–रूपी बहिरात्मपना को छोड़कर, शरीर से भिन्न आत्मा को पहचान कर, अन्तरात्मा बनना चाहिये और संयम धारण कर सदा आत्मा व परमात्मा का ध्यान करना चाहिये, यही शान्ति प्राप्ति का उपाय है।

संयम का कार्य अपने मन व इन्द्रियों को वश में करना है। यदि हम अपने मन व इन्द्रियों को अपने वश में रखना चाहते हैं, तो जीवन में संयम को धारण करें। भले ही धीमी गति से सही, पर चलना तो शुरू कर दें। चलने वाला एक–न–एक दिन मंजिल अवश्य पा लेता है। जीवन में धारण किये गये बीज के समान छोटे–छोटे नियम/व्रत भी एक दिन बहुत बड़े विस्तार को पा जाते हैं। कहा गया है –

घुटनों के बल चलते–चलते, पांव खड़े हो जाते हैं।
छोटे–छोटे नियम एक दिन, बहुत बड़े हो जाते हैं।।

प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में तो इस तरह के अनेक उदाहरण आये हैं। सिंह, सर्प, गाय, बैल, बन्दर, हाथी, तोता आदि पशु पक्षी भी सम्यग्दर्शन पा लेते हैं और व्रतों को अंगीकार करके सद्गति के पात्र हो जाते हैं। धर्म के मार्ग में शरीर नहीं, साहस देखा जाता है। और ऐसे साहसी भले ही परिस्थितियों से कमजोर रहे हों, किन्तु दृढ़ संकल्प शक्ति से भव–सागर से पार हुए हैं।

एक बार नगर के बाहर उद्यान में तपस्वी सागर सेन नाम के मुनिराज ठहरे थे। उनके दर्शनों के लिये राजा और नगर निवासी बड़ी प्रसन्नता से गाजे बाजे के साथ आये थे। वे मुनिराज की वन्दना और पूजा–स्तुति कर वापिस नगर चले गये। इसी समय एक सियार ने इनके बाजों की आवाज सुनकर यह समझा कि ये लोग किसी मुर्दे को डाल कर गये हैं। सो वह उसे खाने के लिये आया। उसे आता देख मुनिराज ने अवधिज्ञान से जान लिया कि यह मुर्दे को खाने के अभिप्राय से इधर आ रहा है। पर यह सम्यग्दर्शन और व्रतों को धारण कर, भविष्य में मोक्ष जाएगा, इसलिये इसे सुलटाना आवश्यक है। यह विचार कर मुनिराज ने उसे समझाया–अज्ञानी पशु! तुझे मालूम नहीं कि पाप का परिणाम बहुत बुरा होता है। नरकादि दुर्गतियों में जाकर बहुत कष्ट सहन करना पड़ता है। सियार की होनहार अच्छी थी, इस कारण वह मुनिराज के उपदेश को सुनकर शान्त हो गया। उसे शान्त देखकर मुनिराज फिर बोले–"प्रिय! तू अन्य व्रतों को धारण नहीं कर सकता, इसलिये सिर्फ रात में खाना पीना ही छोड़ दे।" सियार ने रात्रि भोजन त्याग का व्रत ले लिया। कुछ दिनों तक तो उसने केवल इसी व्रत को पाला। इसके बाद उसने मांस बगैरह भी छोड़ दिया। अब वह केवल थोड़ा बहुत जो भी शुद्ध सात्विक खाना मिलता उसे ही खाकर रह जाता। इस वृत्ति से उसे बहुत सन्तोष हो गया। एक बार गर्मी के दिनों में उसे केवल सूखा भोजन खाने को मिला। इसे बड़ी जोर की प्यास लगी। इसके प्राण छटपटाने लगे। यह एक बावड़ी पर पानी पीने गया। बावड़ी का पानी बहुत नीचे था। सीढ़ियों से जब वह बावड़ी में उतरा, तो इसे वहाँ अंधेरा–ही–अंधेरा दिखा। सियार ने समझा कि रात हो गई, सो वह बिना पानी पिये ही बावड़ी से बाहर आ गया।

बाहर आकर जब उसने दिन देखा, तो फिर वह भीतर उतरा और भीतर पहले–जैसा अंधेरा देखकर रात के भ्रम से फिर लौट आया। इस प्रकार वह कितनी ही बार आया, गया, पर जल नहीं पी पाया। अन्त में वह इतना असक्त हो गया कि उससे बावड़ी के बाहर नहीं आया गया। उसने तब उस घोर अंधेर को देखकर सूरज को अस्त हुआ समझ लिया, और वहीं पर अपने गुरु मुनिराज का स्मरण कर बड़े ही शान्त भाव से मरण को प्राप्त कर, सबको प्रीति उत्पन्न करने वाला तद्भव मोक्षगामी प्रीतिंकर नाम का पुत्र हुआ, जिसने महावीर भगवान् के समवशरण में दीक्षा ली और उसी भव में मोक्ष गया।

संयम का एक अर्थ है हम अपने जीवन को व्यवस्थित करें। हमें जिस समय जो कार्य करना चाहिये उसे उसी समय करें।

एक गाँव में किसी घर नई बहू आई थी। वह कम पढ़ी–लिखी थी। एक दिन सासू जी ने कहा कि बहू! तुम जाकर पड़ौसी के यहाँ सांत्वना दे आओ, उनके यहा कोई मर गया है। बहू पड़ोसी के घर जाकर न रोई, न दुःख व्यक्त किया, मात्र सांत्वना देकर आ गई। सासू ने समझाया कि बहू वहाँ तो रोना चाहिये था, आगे से ध्यान रखना। दो–चार दिन में फिर किसी के घर जाने का अवसर आया तो सासू ने बहू से कहा कि जाओ उनके यहाँ बधाई देकर आओ। बहू गई और जोर–जोर से रोने लगी और कहा आपको बधाई। सारे लोग बहू की अज्ञानता पर हँसने लगे। पर वह क्या करे, वह तो अनपढ़ थी बेचारी। सासू ने फिर समझाया कि बहू ऐसे में तो गीत गाकर खुशी जाहिर करना चाहिये। तुमने सब गड़ बड़ कर दी। तीसरी बार जब पड़ोसी के यहाँ आग लग गई तो बहू वहाँ जाकर गाना गाने लगी, खुशी जाहिर करने लगी।

बात इतनी ही है कि जो काम जिस समय करना है, उसे उस समय नहीं किया जाये तो सब अव्यवस्थित हो जाता है। हमारा जीवन अव्यवस्थित क्यों है। हम अपना जीवन अच्छा क्यों नहीं बना पाते? इसका एक ही उत्तर है कि हम करने योग्य आवश्यक कार्य समय पर नहीं करते। हर बार चूक जाते है।

जब यह जीव नरक में या स्वर्ग में होता है, तब विचार करता है यहाँ तो संयम धारण करने की पात्रता नहीं है, पर अब जब मैं मुनष्य बनूंगा, तो अवश्य संयम धारण करुंगा। पर जब वह मनुष्य पर्याय को प्राप्त करता है, तो सब भूल जाता है। हमें समय रहते अपनी इच्छाओं को नियंत्रित अनुशासित कर लेना चाहिये। अनुशासित जीवन–पद्धति का नाम ही संयम है। हमारा जीवन लापरवाही या असावधानी में गुजर जाता है, जब समय निकल जाता है, तब बाद में समझ आता है कि हम अवसर चूक गये। संयमित जीवन ही आनंददायी है। जैसे बिना ब्रेक की गाड़ी अहितकर है, ऐसे ही बिना संयम के जीवन अपने व दूसरे के लिये अहितकारी है।

क्या खाना, कैसे खाना, कब खाना, क्या सोचना, क्या करना, क्या नहीं करना, आचार्य भगवन्तों ने संयम की इतनी ही परिभाषा बनाई है। संसार का कोई भी काम हो हम ये चार बातें ध्यान में रखें–कब? कैसे? क्यों और क्या? क्या करना, क्या नहीं करना? कैसे करना, कैसे नहीं करना? क्यों करना, क्यों नहीं करना? जो हमारे मन और इन्द्रियों को मलिन करे, वह नहीं करना और जो हमारे धर्म ध्यान में साधक हो, उसे करना। जब हम शरीर से अस्वस्थ हो जाते हैं तब तो विचार करते हैं कि ये मत खाओ नहीं तो तबियत और बिगड़ेगी और यहाँ चेतन की तबियत रोज बिगड़ रही है, उसकी हमें कोई चिन्ता नहीं है। जिस प्रकार हम शरीर की चिन्ता करते हैं, उसी

प्रकार हमें अपनी आत्मा की भी चिन्ता करना चाहिए।

ये राग–द्वेष–मोह आत्मा के गुणों को जलाने वाले इस जीव के शत्रु हैं। अतः इनको छोड़कर जीवन में संयम को धारण करो। इष्टोपदेश ग्रन्थ मे पूज्यपाद महाराज ने लिखा है –

वध्यते मुच्यते जीव निर्मम स मम क्रमात।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन निर्मम इति चिन्तयेत।।

पर द्रव्य में 'यह मेरा है', यह राग–बुद्धि बन्ध के लिये कारण है, तथा पर द्रव्य में 'यह मेरा नहीं है', ऐसी विराग–बुद्धि ही मुक्ति के लिये कारण है। इसलिये सर्व प्रयत्न करके जीवन में वैराग्य को धारण करो। संयम के बिना हम अपना ही अहित कर रहे हैं। जब भी हमारा कल्याण होगा, संयम धारण करने के बाद ही होगा। जितने भी जीव आज तक सिद्ध भगवान् हुये हैं व संयम को जीवन में धारण करने के बाद ही हुये हैं और आगे जो भी सिद्ध होंगे, वे जीवन में संयम को धारण करने के बाद ही होंगे। अतः जितनी जल्दी संयम धारण कर सको, उतना ही अच्छा है। संयम से ही जीवन में समता आती है।

उत्तम संयम के धारी मुनिराज की दृष्टि निंदक व प्रशंसक पर एक रहती है, तथा वे देते हैं आशीर्वाद दोनों को समता भाव से। महामुनि यशोधर उपसर्ग दूर होने पर, ध्यान टूटने के उपरान्त देखते हैं, सामने बैठी हुई रानी चेलना व राजा श्रेणिक को। एक उपसर्ग करने वाला व एक उपसर्ग दूर करने वाली। एक सर्प डालने वाला और एक सर्प को यथोचित प्रयत्न करके निकालने वाली। किन्तु, इस ओर दृष्टि न करके देते हैं आशीर्वाद दोनों को साम्यभाव से, करुणा भाव से।

संयम को धारण करने वाले मुनिराज इन्द्रिय संयम एवं प्राणी संयम दोनों का पूर्णतया पालन करते हैं।

एक बार एक साधु महाराज एक गृहस्थ के यहाँ भिक्षा के लिये गये थे। वह उस समय मोतियों की माला बना रहा था। वह साधु जी को देखकर खड़ा हो गया, उनकी विनय की और मोतियों को वहीं छोड़कर अंदर भिक्षा लेने चला गया, उसे साधु जी पर भरोसा था। पर जब वह भिक्षा लेकर आया तो मोती के दाने वहाँ पर नहीं थे। उसने सोचा अभी यहाँ और कोई तो आया नहीं साधु जी ने ही ये मोती चुरा लिये। उसने साधु जी से पूछा पर साधु जी कुछ न बोले। उसने साधु जी को डाटना शुरू कर दिया, पुलिस की धमकी दी पर जब साधु जी कुछ न बोले, तो उसने एक चमड़े की पट्टी को गीला करके साधु जी के मस्तक पर कसकर बांध दिया। ज्यों–ज्यों गर्मी बढ़ती गई पट्टी और अधिक कसने लगी पर साधु जी परीषह जानकर समता भाव से सहते रहे। शाम को ऊपर पेड़ पर घोंसले में बैठी चिड़िया ने बीट की तो वे सब मोती नीचे गिर गये। उस श्रावक ने देखा–अरे! ये मोती तो चिड़िया ने चुग लिये थे। उसे अपने कृत्य पर बड़ा दुःख हुआ, उसने साधु जी से माफी माँगी और पूछा–आप इतना कष्ट सहते रहे, पर आपने बताया क्यों नहीं? साधु जी बोले–मैंने यह कष्ट तो सह लिया पर तुम उस चिड़िया के साथ जो करते, वह मैं नहीं सह पाता। इसलिये कहा है कि मक्खन कोमल होता है, पर सन्त का मन मक्खन से भी कोमल होता है। मक्खन तो खुद की आँच से पिघलता है, पर सन्त दूसरे की पीड़ा से पिघल जाते हैं।

इस प्रकार समता स्वभाव में लीन मुनिराज जहाँ एक ओर इन्द्रिय संयम का पूर्णतया पालन करते हैं, वहीं षटकाय के जीवों की रक्षा

कर द्रव्य अहिंसा का भी पूर्णतया पालन करते हैं। साथ ही इष्टानिष्ट में राग–द्वेष उत्पन्न न कर भाव अहिंसा का भी पूर्णतया पालन करते हैं।

ऐसे साम्य भाव के धारी मुनिराज आज भी विद्यमान हैं। मुरैना की बात है, एक मुनिराज आये हुए थे। सायंकाल की सामायिक करने के लिए मुनिराज शीतकाल में भी खुले मैदान में ईटों के उपर रखी हुई पाषाण शिला पर विराजमान थे। मुनिराज सामायिक में लीन हो गये। कुछ समय पश्चात वहाँ एक भोला श्रावक आया, उसने विचार किया कि मुनिराज को सर्दी लगती होगी, उसी समय उसने घर से लाकर एक कोयले की दहकती हुई अंगीठी उस पटिया के नीचे रख दी, जिसके ऊपर मुनिराज ध्यानारूढ़ थे। कुछ समय पश्चात् दहकती हुई सिगड़ी से पटिया लाल सुर्ख हो गया। परन्तु मुनिराज अपने ध्यान से विचलित नहीं हुये। उसी पत्थर पर जलते रहे, तथा करते रहे चिन्तन निज आत्म स्वरूप का। सभी को अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर संयम धारण करना चाहिये। इन्द्रिय निग्रह ही संयम है और संयम ही मुक्ति का सोपान है।

मुनिराज भी पहले गृहस्थ ही थे। यह उनकी साधना का ही फल है कि आज वे पूर्ण संयमी बन सके। हम भी यदि क्रमशः संयमी बनने का पुरुषार्थ करें, तो देशसंयमी तो बन ही सकते हैं। इन्द्रिय–विषयों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1. आवश्यक 2. अनावश्यक। यह ठीक है कि आवश्यक विषयों का त्याग नहीं किया जा सकता है, पर हम अनावश्यक विषयों का त्याग कर आंशिक रूप से इन्द्रिय विजयी बनकर मोक्ष मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

आवश्यक विषय हैं – सर्दी, गर्मी बचाने के लिये वस्त्र पहनना, क्षुधा शमनार्थ शुद्ध भोजन करना, सम्पर्क में आये व्यक्तियों से मधुर सम्भाषण करना, देव–शास्त्र–गुरु के दर्शन करना, स्वाध्याय करना, शिक्षाप्रद बातें सुनना, धर्म चर्चा करना और भी आवश्यक कार्य जिन्हें हम अपनी कमजोरी के कारण नहीं छोड़ सकते पर अनावश्यक विषयों को तो छोड़ ही देना चाहिये।

स्पर्शन इन्द्रिय के अनावश्यक विषय हैं –

हमें सोने के लिये डनलप के गद्दे चाहिये, पहनने के लिए सिल्क, नायलोन आदि के कीमती वस्त्र चाहिये, अनेकों प्रकार के जेवर, आभूषण, ऐशो–आराम दायक पदार्थ, इत्र, तेल, क्रीम, पाऊडर आदि जिनके कारण हम क्षण भर भी सुख प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। कपड़ों से पेटियाँ भरी पड़ी हैं, पर जब बाजार में कोई नई डिजाईन का कपड़ा आता है, तो हम लेने पहुँच जाते हैं, पैसे नहीं हों, तो उधार ही सही। पचास साड़ियाँ होने के बाद भी अगर किसी सहेली की नई साड़ी देख ली, तो करने लगती हैं जिद पति देव से साड़ी लेने के लिए। पतिदेव भी देंगे क्यों नहीं? नाराज हो जाने पर घर का सारा कार्य ही बिगड़ जायेगा। इसीलिये दिन रात लगे हैं पैसा कमाने में। न तो घर के लिये समय है, न ही धर्म के लिये। स्पर्शन इन्द्रिय के कारण ही हाथी बन्धन में पड़कर अपनी स्वतंत्रता खो देता है।

रसना इन्द्रिय के अनावश्यक विषय हैं –

स्वादिष्ट, मिष्ठान, चाट, नमकीन, पदार्थों मे आसक्ति का होना एक दिन रविवार को नमक का त्याग कर दिया तो हलुवा के बिना काम नहीं चलेगा। हम कितना पैसा बरबाद करते हैं स्वादिष्ट पदार्थों

के खाने, बनाने में मात्र जिव्हा की लोलुपता के कारण।

सुभौम चक्रवर्ती ने मधुर फल खाने के लोभ में णमोकार मन्त्र का अपमान कर डाला, तथा सातवें नरक जाना पड़ा। जिव्हा इन्द्रिय के वशीभूत राजा बक को जो कि बालकों के माँस के खाने के लोभ के कारण, इस लोक में भी अपयश तथा परलोक में नरक जाना पड़ा। इस रसना इन्द्रिय के कारण ही मछलियाँ भी अपनी जान गँवा देती हैं। यदि हम भी अपनी रसना इन्द्रिय वश में नहीं रखेंगे तो कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों के समान अश्लील असत्य भाषण से भी बचें। हम किसी की निन्दा न करें, मजाक न उड़ायें, कभी कठोर व अप्रिय वचन न बोलें। शेर ने मरते–मरते यही कहा था कि मैं आपकी कुल्हाड़ी की चोट सहन कर सकता हूँ, पर कटु वाणी आपकी पत्नी ने जो मुझे गधा कहा था, सहन नहीं कर सका।

घ्राणेन्द्रिय के अनावश्यक विषय हैं–इत्र, क्रीम, पाउड़र आदि। यदि हम वास्तव में संयमी बनाना चाहते हैं तो न करें सुगन्ध व दुर्गन्ध में राग–द्वेष, तभी बन सकेंगे नासिका–इन्द्रिय–संयमी। पुष्पों की सुगन्ध लेने के लिये बागों में घूमने में कई घंटे बिता देते हैं। इसी इन्द्रिय के वशीभूत होकर ही भौंरा कमल में बन्द हो जाता है और अपने प्राण गँवा बैठता हैं।

चक्षु इन्द्रिय के आवश्यक विषय है–चक्षु इन्द्रिय की पूर्ति के लिये दिन में तीन–तीन शो पिक्चर देखने को चाहिये, जो कारण बनते हैं हमें पतन की ओर ले जाने में। चोरी करना, जेब काटना, फैशन करना, अश्लील शब्द बोलना आदि सीखने में सिनेमा ही कारण हैं। देखने को सुन्दर रूप चाहिये, रूप देखकर मोहित हो जाते हैं,

जिससे लोक निन्दा होती है, हम राग कर अशुभ कर्मों का बन्धन करते हैं। मानव जीवन को सफल बनाने व अपने को अपने आप में देखने के लिये नेत्र इन्द्रिय की चंचलता रोकना आवश्यक है। इस नेत्र इन्द्रिय के वशीभूत होकर ही पतंगा अपने प्राण गँवा देता है।

पाँचवी कर्ण इन्द्रिय के अनावश्यक विषय हैं–कुमार्ग पर ले जाने वाले सिनेमा के गीत, होली आदि के राग भरे गीत, राग–द्वेष को पुष्ट करने वाली कथायें आदि। हरिण कर्ण इन्द्रिय के कारण ही अपने प्राण गँवा देता है।

यदि हम वास्तव में संयमी बनना चाहते हैं तो इन अनावश्यक विषयों का त्याग कर दें। इससे फिजूल खर्चों से भी बच जायेंगे और धर्म करने के लिये समय भी मिल जायेगा। यह शरीर तो एक दगा बाज मित्र है। पता नहीं किस दिन साथ छोड़ दे। यदि इस मानव पर्याय को सफल बनाना है, इस अशुचि शरीर को पवित्र करना है, कषायों पर विजय प्राप्त करना है, मोक्ष मार्ग प्रशस्त करना है, तो शक्ति के अनुसार संयम धारण करें। जो अपने हिताहित के विचार में कुशल, साहसी और अतीन्द्रिय सुख के अभिलाषी हैं, उन्हें प्रमाद को छोड़कर इस संयम धर्म के विषय में अतिशय आदर करना चाहिये।

संयम के प्रथम भाग इन्द्रिय–संयम के बाद आता है प्राणी संयम। 'प्राण' शब्द का अर्थ है–जिसके बिना जीवित न रह सकें, उसे प्राण कहते हैं। प्राणी संयम वह है, जहाँ हमारी मन, वचन, काय की किसी भी प्रवृत्ति से पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छवास इन दश प्राणों में से कोई भी एक प्राण किसी प्रकार बाधित न हो। एकेन्द्रिय जीवों के पाँच भेद हैं –

1. पृथ्वी कायिक जीव वह कहलाते हैं जिनका पृथ्वी ही शरीर है।

इनकी रक्षा के लिये हमें अपनी प्रत्येक क्रिया विवेक पूर्वक करनी चाहिये। जैसे आवश्यकतानुसार भूमि के अलावा अन्य क्षेत्र में जाने की सीमा कर लें। नाखून आदि से व्यर्थ जमीन न खोदें।

2. जल कायिक जीव उसे कहते हैं, जल ही जिनका शरीर है। इनकी रक्षा के लिये दिन में इतने जल से अधिक का उपयोग नहीं करेंगे इसकी सीमा कर लें। व्यर्थ में आवश्यकता से अधिक जल प्रयोग में न लायें। नल खुला न छोड़ें। जल को छानकर ही उपयोग में लायें।

3. अग्नि कायिक जीव उन्हें कहते हैं जिनका शरीर अग्नि का ही है। इनकी रक्षा के लिये अनावश्यक अग्नि न जलायें। कूड़ा–करकट के ढ़ेरों में अग्नि न लगायें, बिजली खुली न छोड़ें।

4. वायु कायिक जीव वह हैं, जिनका शरीर ही वायु है। इनकी रक्षा के लिये पंखे खुले न छोड़ें, यदि बन सके तो पंखा न चलायें, जहाँ धीमी हवा से काम चल सकता हो तो फुल स्पीड पर पंखा न खोलें। यही कारण है कि जो उत्तम संयम के धारी हैं, वे कभी अपने हाथ से न तो पंखा चलाते हैं और न आदेश ही देते हैं।

5. वनस्पति कायिक जीवों की संख्या 10 लाख है। यदि हम 50–100 सब्जियों का ही उपयोग करने की सीमा बना लें, तो शेष वनस्पतियों के उपयोग करने के दोष से बच सकते हैं।

संयम के दूसरे भाग प्राणी संयम का पालन करने के लिये हम ध्यान रखें, हमारे माध्यम से किसी जीव को कष्ट न हो। हम अपनी

प्रत्येक क्रिया को विवेकपूर्ण करें, जैसे नाखून आदि से व्यर्थ जमीन न खोदें, व्यर्थ आवश्यकता से अधिक जल का प्रयोग न करें, पंखा, नल, लाईट, आदि व्यर्थ खुले न छोड़ें, जल को छानकर उपयोग में लायें, कूड़ा कर्कट के ढेरों में अग्नि न लगायें, सब्जियाँ खाने की संख्या निश्चित कर लें कि प्रतिदिन इतनी से अधिक सब्जियाँ नहीं खायेंगे।

हम पशु पक्षियों को बांध देते हैं, पिंजरे में बन्द कर देते हैं, शक्ति से अधिक बोझा लाद देते हैं, समय पर खाना नहीं देते, दूसरों से कटु वचन बोलकर प्राणियों का दिल दुखाते रहते हैं, रात्रि में भोजन करते हैं, बिना छना जल पीते हैं, काम मे लाते हैं, चलते समय नीचे देखकर नहीं चलते इत्यादि व्यर्थ क्रियाओं के कारण प्राणियों को कष्ट पहुँचाते रहते हैं। अपने तथा दूसरे जीवों के हित के लिये हमें इन क्रियाओं को अवश्य ही छोड़ देना चाहिये।

अपने आत्म स्वरूप को अच्छे प्रकार से समझकर शक्ति अनुसार संयम धारण करो। जिसके जीवन में संयम रूपी ब्रेक नहीं होता, वह अपनी मंजिल पर नहीं पहुँच सकता।

एक नगर में एक बड़ा साहूकार रहता था। एक मोटर कंपनी का एजेन्ट इस साहूकार के पास जाता है और कहता है—सेठ जी! हमारी कंपनी में बहुत अच्छी कारें बनती हैं आप बहुत बड़े साहूकार हैं, कृपया हमारी कार खरीद लीजिये। साहूकार कहने लगा कि पहले कार की कीमत और गुण बतायें। एजेन्ट कहता है कि हमारी कार पहाड़ी इलाकों में भी ठीक से चलती है, पट्रोल कम खाती है, सीटें भी बड़ी सुंदर हैं और देखने में भी बड़ी अच्छी है।

साहूकार कहता है कि ये सब तो ठीक है किन्तु यह बताओ कि इसके ब्रेक भी ठीक हैं कि नहीं? कार वाला कहता है कि ब्रेक कुछ

कम लगते हैं। साहूकार बोला तुम्हारी कार कितनी भी अच्छी क्यों न हो, पर वह कहीं भी टक्कर मार सकती है। तुम्हारी कार में कितने भी गुण हों, अगर ब्रेक ठीक नहीं हैं तो वह किसी काम की नहीं है। ठीक इसी प्रकार, व्यक्ति यदि देखने में कितना भी सुंदर क्यो न हो, यदि उसके जीवन में संयम नहीं है, तो उसकी कोई कीमत नहीं है। संयम से ही जीवन महान् होता है। अतः सभी को अपने जीवन में शक्ति–अनुसार इन्द्रिय–संयम एवं प्राणी–संयम का पालन अवश्य करना चाहिये। यदि जैन कुल पाकर भी कोई श्रावक, श्रावकों के 12 व्रतों को नहीं पालता अर्थात् संयम को धारण नहीं करता तो उसका जीवन व्यर्थ है।

यदि संयम का महत्त्व अधिक नहीं होता तो बड़े–बड़े राजा, महाराजा, चक्रवर्ती और इन्द्र भी मुनियों को नमस्कार क्यों करते? पूर्ण संयम तो मुनिराजों के ही होता है, किन्तु गृहस्थ भी (पापों का एकदेश त्याग करके) एक–देश–रूप संयम का पालन करते हैं।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों के सेवन से परलोक में तो दुःख मिलता ही है, किन्तु इनका सेवन करने से इस जन्म में भी अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। हिंसक, क्रूर, झूठे, चोर या कुशीली लोग अच्छे लोगों की नजर में निंद्य, पापी गिने जाते हैं और विश्वास के पात्र नहीं रहते। एक पौराणिक कथा (इतिवृत्त) है–

किसी समय विदेह क्षेत्र में एक मुनिराज सर्प सरोवर के निकट वन में आये। एक देव युगल ने उनके दर्शन करके संतुष्ट होकर मुनिराज से धर्मोपदेश देने की प्रार्थना की, तब मुनिराज ने सम्यग्दर्शन, सत्पात्र, दान, श्रावक धर्म व मुनिचर्या आदि का उपदेश दिया। देव बोला–भगवान आपने किस कारण से मुनि दीक्षा ली है, सो कृपा कर

कहिये।

मुनिराज बोले–विदेह क्षेत्र की पुंडरीकिणी नगरी में, मैं एक दरिद्र कुल में उत्पन्न हुआ। मेरा नाम भीम रखा गया। कुछ बड़ा होने पर काललब्धि आदि के निमित्त से एक दिन मैंने एक मुनिराज के दर्शन किये। मैंने उनके पास आठ मूलगुण ग्रहण कर लिये और घर आ गया। जब मेरे पिता को इस बात का पता चला तो वे कहने लगे–अरे पुत्र! हम लोग महादरिद्री हैं, सो हम लोगों को व्यर्थ के इन कठिन व्रतों से क्या प्रयोजन? इनका फल इस लोक में तो मिलता नहीं, अतः आ चल स्वर्ग के इच्छुक उस मुनि को ही ये व्रत वापस कर आवें। हम लोग तो इस–लोक–संबंधी फल चाहते हैं, जिससे कि आजीविका चल सके। अतः व्रत देने वाले गुरु का स्थान मुझे दिखा। ऐसा कहकर पिता मुझे साथ लेकर चल पड़े।

मार्ग में मैंने देखा कि वज्रकेतु नाम के एक पुरुष को दण्ड दिया जा रहा है। तब मैंने पिताजी से कारण पूछा और वे पता लगाकर बोले–यह (सूर्य की किरणों में) धूप में अनाज सुखा रहा था, कि मंदिर का मुर्गा उसे खाने लगा, तब इसने उसे इतना मारा कि वह मर गया, इसलिये लोग इसे दण्ड दे रहे हैं।

आगे बढ़कर मैंने देखा धनदेव की जीभ निकाली जा रही है। पूछने पर पता चला–

इसने जिनदेव के द्वारा रखी गई धरोहर को हड़प लिया और झूठ बोल गया। पता चलने पर इसकी जीभ उखाड़ी जा रही है।

आगे देखा रतिपिंगल को शूली पर चढ़ाने के लिये ले जाया जा रहा है। पूछने पर ज्ञात हुआ–इसने एक सेठ के घर से बहूमूल्य मणियों का हार चुराकर एक वेश्या को दे दिया, इसलिये कोतवाल

द्वारा पकड़ जाने पर प्राणदण्ड की आज्ञा हुई है।

आगे बढ़ने पर देखा कि एक कोतवाल सिपाही का एक अंग काट रहा है। पूछने पर पता चला कि इस पापी ने अपनी मौसी की पुत्री के घर जाकर रात्रि मं उसके साथ व्यभिचार किया है। अतः राज्य कर्मचारी इसे एसा दण्ड दे रहे हैं।

और आग बढ़ने पर देखा कि लोल नामक किसान विलाप कर रहा है। पूछने पर मालूम हुआ कि इसने खेत के लोभ स अपने बड़े लड़के का डंडो से इतना मारा कि वह मर गया। इसलिय इसे देश निर्वासन का दंड किया गया है। अतः यह बिलख रहा है।

आगे बढ़ते ही देखा कि सागर दत्त ने जुये में समुद्रदत्त का बहुत सा धन जीत लिया, परन्तु समुद्रदत्त उस धन को दने में असमर्थ था। अतः उसने क्रोध से बहुत देर तक समुद्रदत्त को दुर्गन्धित धुँए के बीच में बिठा रखा।

पुनः किसी जगह मैंने देखा कि आनन्द महाराज द्वारा अभय घोषणा कराये जाने पर भी उन्हीं के पुत्र अंगद ने राजा के मेंढे को मार कर खा लिया है, इस लिय उसके हाथ काट कर मैले का भक्षण कराया जा रहा है।

पुनः आगे देखता हूँ शराब पीने वाली एक महिला न शराब खरीदने के लिये एक बालक को मारकर जमीन में गाड़ दिया और उसके जेवर निकाल लिये। पकड़े जान पर राजकर्मचारी उस दण्ड दे रहे हैं।

हिंसा आदि पापों से होने वाले इन फलों का मैंने प्रत्यक्ष देखा। अतः मैंने यह निश्चित कर लिया कि यह पाप इस भव में तो दुःख

देने वाले हैं ही, तथा परलोक में भी इनका फल नरक निगोद ही है। मैंने भी जो दरिद्रता पाई है, वह भी तो पाप का ही फल है। अतः मैंने अपने पिता को छोड़कर, मोक्ष की इच्छा से उन्हीं गुरु के पास जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। गुरु के प्रसाद से मैं शीघ्र ही सर्वशास्त्रों का पारगामी हो गया हूँ और मेरी बुद्धि भी विशुद्ध हो गई है। पाप और पुण्य का फल इस जीव को इस भव में तथा पर भव में भोगना ही पड़ता है। मुनिराज की इस अपनी दीक्षा के कारण को सुनकर देव अति प्रभावित हुये।

ये व्रत गृहस्थों के लिये अणुव्रत रूप होते हैं, और निरतिचार पालन करने पर नियम से स्वर्ग को प्राप्त कराते हैं तथा मुनियों के महाव्रत रूप होते हैं, जो स्वर्ग/मोक्ष को प्राप्त कराते हैं।

सभी को अपनी शक्ति अनुसार इन व्रतों का पालन अवश्य करना चाहिये।

उत्तम तप

धर्म का सातवाँ लक्षण है उत्तम तप। जिसके द्वारा किसी वस्तु को तपाकर शुद्ध किया जाता है, उसे तप कहते हैं। आचार्य उमास्वामी महाराज ने एक सूत्र दिया है – 'इच्छा निरोधः तपः' इच्छाओं का निरोध करना ही तप है। हम सभी जानते हैं कि इच्छायें अनन्त हैं, उनकी पूर्ति करना कभी संभव नहीं है। इच्छाओं की तासीर ही ऐसी है कि वे कभी पूरी नही होतीं। जीवन पूरा हो जाता है पर व्यक्ति अपनी इच्छाओं को पूरा नहीं कर पाता।

सामान्यतः इच्छाओं को संसार का कारण माना गया है, या कहें कि इच्छा का नाम ही संसार है। विनोबा जी ने एक सूत्र बनाया है कि मनुष्य–इच्छाएं = ईश्वर। मनुष्य में से यदि इच्छायें निकल जायें तो वह ईश्वर है।

हमारी तपस्या इच्छाओं को रोकने तथा कर्मों को क्षय करने के लिये होना चाहिये। कर्मक्षयार्थ तप्यते इति तपः। जिससे कर्म का क्षय हो, मन की चंचलता मिटे, मन के विकारी भाव दूर हों, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो, वही सच्चा तप कहलाता है। रावण ने तपस्या कर अनेक विद्यायें सिद्ध कीं, परन्तु उद्देश्य खोटा था, इसलिये सारी तपस्या व्यर्थ चली गई। संसार में सैकड़ों लोग हैं, जो लौकिक सामग्री प्राप्त करने के लिए तपस्या करते हैं।

गंगा के किनारे एक साधु जी तपस्या करते थे। लोगों ने उनसे पूछा कि बाबाजी आप कितने वर्ष से यहाँ तपस्या कर रहे हैं? बाबा जी बोले चालीस वर्ष से तपस्या कर रहा हूँ। वे बड़े खुश हुये कि इतने महान तपस्वी के दर्शन करने को मिले। अचानक वहीं खड़े एक व्यक्ति ने पूछ लिया कि बाबा जी इतनी तपस्या के फलस्वरूप आपने क्या प्राप्त किया। साधु जी ने बड़े गर्व से कहा कि इस गंगा नदी को देख रहे हो कितनी बड़ी है, यदि मैं चाहूँ तो इसके ऊपर उसी प्रकार चलकर उस पार जा सकता हूँ जैसे कोई जमीन पर चलकर रास्ता पार कर सकता है। उस व्यक्ति ने फिर कहा कि आपने इसके अलावा और क्या पाया? साधुजी बड़े असमंजस में पड़ गये। बाले– यह क्या कम उपलब्धि है? वह व्यक्ति बोला–बाबाजी आपकी चालीस साल की तपस्या दो कौड़ी की रही। साधु जी गुस्से से बोले–कैसे? वह व्यक्ति बाला–यदि दो कौड़ी उस नाव वाले को देते तो वह आपको नदी पार करा देता, जिसके लिये आपने अपनी चालीस साल की तपस्या व्यर्थ बरबाद कर दी।

आशय यह है कि तपस्या का उद्देश्य कोई सांसारिक सिद्धि पा लेना नहीं होना चाहिये। तपस्या तो कर्मों का क्षय करने के लिये, अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने के लिये करनी चाहिये। अपनी इच्छाओं पर, अपने मन पर विजय प्राप्त करने का उपाय तप है।

एक साधु बाबाजी थे। वे भिक्षावृत्ति से अपना पेट भरते थे। जिसने जो दे दिया उसे प्रेम से खा लेते थे। सरस है या नीरस ऐसा विकल्प नहीं करते थे। एक बार उनके मन में दाल–बाटी खाने की इच्छा हो गई। उन्हौंने किसी गृहस्थ से आटा, दाल माँगकर नदी के किनारे अपने हाथ से दाल–बाटी बनाई। जब खाने के लिये बैठने लगे तो देखा पानी का बर्तन खाली है। मन में विचार आया कि पहले

नदी से पानी भर लेते हैं फिर भाजन करेंगे। लेकिन दाल–बाटी खाने की इच्छा तीव्र थी उन्होंने सोचा पहले दाल–बाटी खा लेते हैं फिर पानी भर लायेंगे। बड़े असमंजस में पड़ गये बाबाजी। अन्त में जब पानी भरकर लाये और खाने बैठे तो उन्हें मन में बड़ी ग्लानि हुई। मन–ही–मन स्वयं को धिक्कारा कि साधु हो गये पर लोलुपता बनी हुई है। बाबाजी ने दाल–बाटी नहीं खाई। आस–पास खेल रहे बच्चों को खिला दी और खुद पानी पीकर आगे बढ़ गये। एक व्यक्ति यह सब देख रहा था, उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने बाबाजी से पूछ लिया कि आपने इतने चाव से भोजन बनाया और बिना खाये चल दिये? बाबाजी जी हंसने लगे और बोले – भाई! यह मन ऐसे ही मानेगा। मैं जीवन भर इस मन की मानता रहूं तो अपनी साधना कब करुंगा? यह तो सदा मनमानी करेगा।

संसार में तप परम् पवित्र है, मुक्ति लक्ष्मी के चित्त को प्रसन्न करने वाला है, पूर्वोपार्जित कर्मों को नष्ट करने वाला है, काम रूपी दावानल की ज्वालाओं को बुझाने के लिए जल है, इन्द्रिय समूह रूपी सर्प को वश में करने के लिए मंत्र है। इस संसार में जितने भी तीर्थंकर, चक्रवर्ती, कामदेव, बलभद्र आदि महापुरुष हुये हैं वे सभी तप के प्रभाव से ही हुये हैं। अपने मन पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र उपाय तप ही है।

एक सम्राट था। उसके पास एक बकरा था। अद्भुत बकरा, जो कभी तृप्त नहीं होता था। उसे कितना भी खिलाओ, कितना भी पिलाओ उसकी भूख कभी शान्त नहीं होती थी। राजा ने घोषणा करवा दी कि जो भी इस बकरे को तृप्त कर देगा उसे आधा राज्य पुरस्कार के रूप में दिया जायेगा। घोषणा सुनकर नगरवासी बड़े प्रसन्न हुये। प्रतियोगिता में सारा शहर उमड़ पड़ा। सभी ने बकरे

को खूब खिलाया–पिलाया, लेकिन सभी बकरे को तृप्त करने में असफल रहे। बकरे को कितना ही खिलाओ–पिलाओ, पर जब सम्राट परीक्षा के लिये घास डाले तो वह पुनः खाने लगे। उसी नगर में एक तत्त्वज्ञानी व्यक्ति रहता था। वह बकरे को लेकर जंगल में गया। वहाँ उसे दिन भर भूखा–प्यासा रखा, न कुछ खाने को दिया, न पीने को। शाम को भूखे–प्यासे बकरे को लेकर वह राज्य दरबार में सम्राट के समक्ष उपस्थित हुआ और आत्म विश्वास से कहा– सम्राट! आपका बकरा अब तृप्त है। तृप्त था नहीं, उसका घुसा–घुसा पेट ही दर्शा रहा था कि वह भूखा है, पूर्ण अतृप्त है। पर वह व्यक्ति बोला महाराज मैंने इसे तृप्त कर दिया है, अब यह पूर्ण तृप्त है। कुछ भी नहीं खायेगा। आप चाहें तो परीक्षा भी कर सकते हैं।

सम्राट ने उसके सामने घास डाली लेकिन देखा कि बकरा घास खाना तो दूर, सूंघ भी नहीं रहा, उस तरफ देख भी नहीं रहा। सम्राट आश्चर्य चकित रह गया और उस व्यक्ति से बोले आप विजयी रहे, वचनानुसार मैं आपको आधा राज्य देता हूं लेकिन आप इतना अवश्य बता दो कि आपने इस कभी तृप्त न होने वाले बकरे को तृप्त कैसे किया?

वह व्यक्ति बोला – मैं इसे जंगल में ले गया। वहाँ इसने घास देखी तो खाने को उद्धत हुआ लेकिन जैसे ही इसने घास खाने को मुँह खोला तो मैंने इसके मुँह में एक लकड़ी मारी। जब–जब इसने घास खाने को मुँह खोला, घास खाना चाहा तब–तब मैंने इसके मुँह में लकड़ी मारी। दिन में कई मर्तबा ऐसा हुआ जिससे इसकी धारणा बन गई कि अगर मैं घास खाने आगे बढ़ा तो मेरी पिटाई होगी, मुझे मार पड़ेगी। इसकी मजबूत धारणा बन गई है कि घास खाने से मार पड़ती है, यही कारण है कि अब वह घास नहीं खा रहा है, बिना

खाये ही तृप्ति का अनुभव कर रहा है। वह कभी तृप्त न होने वाला बकरा और कोई नहीं मनुष्य का मन है, जिसे कितनी भी इन्द्रिय–विषय रूपी घास खिलाओ कभी भी तृप्त नहीं होता। उसे तृप्त करने का उपाय केवल इच्छा निरोधरूपी तप (वह लकड़ी) है। जो भी अपने मन को, अपनी इच्छाओं को जीत लेता है वह परमात्म साम्राज्य को प्राप्त कर लेता है।

यदि इस मन को तृप्त करना है इस पर विजय प्राप्त करना है, तो अपनी इच्छाओं का निरोध करो। हम और आप सभी की आत्मा परिपूर्ण है, सब प्रकार से ज्ञान और आनन्दमय है। सब बातें इस आत्मा में ठीक हैं। केवल एक गड़बड़ी इस आत्मा के अन्दर है, जिससे सारा बिगाड़ हो गया। वह गड़बड़ी क्या है? वह गड़बड़ी यह है कि इस आत्मा में इच्छाएं भरी हुई हैं। आप कुछ मत छोड़ो पर केवल इच्छाओं को ही निकाल दो तो सारे संकट समाप्त हो जायेंगे। इच्छाओं के समाप्त होने पर कषाय भी किस पर नखरे करेंगी। इच्छायें ही एक बन्धन है जो जीवों को बांधे हुये है। कोई किसी से बंधा हुआ नहीं है, केवल इच्छाओं ने ही बांध रखा है।

सुकौशल कुमार विरक्त हो गये। लोगों ने बहुत समझाया–अरे! अभी तुम्हारी कुमार अवस्था है, अभी तुम्हारी शादी को कुछ ही वर्ष हुये हैं, तुम्हारी पत्नी के गर्भ है। उत्पन्न होने वाले राजकुमार को राज–तिलक कर जाओ,फिर चाहे घर–द्वार छोड़ देना। सुकौशल पिंड छुड़ाने के लिये कहते हैं अच्छा जो राजकुमार गर्भ में है उसे मैं राज्य तिलक किये देता हूँ। सुकौशल को बंधन में बंधने की इच्छा नहीं थी तो उनके कोई बन्धन नहीं था। गृहस्थी में क्या बंधन है? अरे! नहीं, गृहस्थी में बन्धन कहाँ है, केवल इच्छाओं के कारण ही फँसे हुये हैं। हमें तो बाल–बच्चों की फिक्र है, घर द्वार कुटुम्ब

परिवार की फिक्र है इसी से हम फँसे हुये हैं। हम तो स्वतंत्र हैं, परन्तु बाल बच्चों में मोह होने से ही फँस गये हैं। क्या उम्मीद है कि हम इन बन्धनों से निकल पायेंगे? जो जो व्यवस्था हम सोचे हुये हैं, क्या इनको पूरा करके विश्राम कर लेंगे? देखो, मेंढकों को कोई तौल सकता है क्या? नहीं। अरे! वे तो उछल जावेंगे। कोई इधर उछलेगा, कोई उधर उछलेगा। वे तौले नहीं जा सकते। इसी प्रकार, क्या अपने परिग्रह में रहकर अपनी व्यवस्था बना सकते हो? कितनी ही व्यवस्था बन जायेगी तो फिर कोई नई बात खड़ी हो जायेगी। क्योंकि बात बाहर में खड़ी नहीं होती, अन्दर में खड़ी होती है, सो अन्दर उपादान अयोग्य है ही। इसलिये सदा इच्छायें बनी ही रहती हैं। इच्छा ही अशान्ति का कारण है। जिसके अन्दर इच्छायें हैं, वे सुख–शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते।

एक समय की बात है। एक राजा का बेटा बहुत बीमार था। उसने अनेक डॉक्टर–वैद्यों को दिखाया लेकिन आराम नहीं हुआ। राजा ने ज्योतिषियों से उपचार पूछा, तो उन्होंने बताया कि यदि इसे किसी सुखी व्यक्ति के कपड़े पहना दिये जायें तो यह ठीक हो जायेगा। राजा सोचने लगा कि मेरे से बड़े राजा बहुत सुखी हैं चलूँ उनसे कपड़े लाकर पहना दूं। वह उन बड़े राजा के पास जाकर बोला–सुखी व्यक्ति के कपड़े पहना देने से मेरा लड़का ठीक हो जायेगा अतः आप अपने कपड़े दे दीजिये। तो वह राजा बोला – मैं तो तुमसे भी ज्यादा दुःखी हूँ। इसलिये तुम मुझसे भी बड़े राजा के पास जाओ। वह और बड़े राजा के पास गया। वह हताश होकर लौट रहा था तो मार्ग में उसे कोई ज्ञानी पुरुष मिला। उसने राजा से हताश होने का कारण पूछा राजा ने सब वृतान्त कह सुनाया और प्रार्थना की कि आप किसी सुखी व्यक्ति का पता बता दीजिये। ज्ञानी

पुरुष ने कहा–हे राजन! इस सामने वाले जंगल में एक दिगम्बर मुनि बैठे ध्यान लगा रहे हैं। उनके समान इस संसार में कोई सुखी नहीं है। राजा ने जंगल में जाकर देखा कि एक दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि ध्यान में लीन हैं, मुख पर तेज चमक रहा है, उन्हें देखते ही राजा प्रसन्न हो गया और अपने लड़के को ले आया तथा महाराज को नमस्कार कर बोला महाराज आप बहुत सुखी हैं। मुनिराज बोले– हे राजन! मैं बहुत सुखी हूँ। राजा ने कहा– महाराज! मेरा यह पुत्र बीमार है, ज्योतिषी ने बताया है कि यह किसी सुखी व्यक्ति के कपड़े पहनने से ठीक हो सकता है। महाराज बोले–देखो मैं तो कपड़े पहनता नहीं, राजन् सच्चा सुख तो त्याग में है, इच्छाओं को घटाने में है, जिसने इच्छाओं को घटाकर उन्हें जीत लिया वही सुखी बना है। अतः त्याग–तपस्या के माध्यम से अपनी इच्छाओं को जीतने का प्रयास करो। महाराज ने उस लड़के को आशीर्वाद दिया और वह ठीक हो गया। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा–जब भी मुक्ति मिलेगी, तप के माध्यम से ही मिलेगी। विभिन्न प्रकार के तपों का आलम्बन लेकर जो आत्मा की आराधना में लगा रहता है उसे ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

जब कोई परम योगी, जीव–रूपी लोह तत्त्व को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र रूपी औषधि लगाकर तप रूपी धौंकनी में धौंककर तपाते हैं, तब वह जीव रूपी लोह तत्त्व स्वर्ण अर्थात् परमात्मा बन जाता है। संसारी प्राणी अनन्त काल से इसी तप से विमुख हो रहा है। और डर रहा है कि कहीं जल न जायें। पर विचित्रता यह है कि आत्मा के अहित करने वाले विषय–कषाय में निरन्तर जलते हुये भी सुख मान रहा है। "रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन।" पर ध्यान रखना जब भी इस

जीव का कल्याण होगा, तप के माध्यम से ही होगा। जो भी तप के माध्यम से अपनी इच्छाओं का निरोध कर देता है, उसी का जीवन पवित्र बनता है।

गर्मी के मौसम में एक बार एक सेठ जी घड़ा खरीदने कुम्हार के यहाँ गये। कुम्हार ने सेठ जी को देखते ही उठकर उन्हें प्रणाम किया। सेठ जी बोले मुझे एक अच्छा–सा घड़ा चाहिये। कुम्हार ने उन्हें एक घड़ा दिया। सेठ जी ने अपनी तर्जनी–उंगली से जैसे–ही उसे बजाया उस घड़े से मधुर स्वर निकल पड़ा सा रे गा म प ध नि स जिसका अर्थ सेठ जी को ऐसा भासित हुआ जैसा आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने अपनी मूकमाटी कृति में लिखा है कि सारे गम आत्मा के पद अर्थात् स्थान नही हैं। ऐसे उस घड़े के उपदेश से सेठ जी बड़े प्रभावित हुये। वे उस कुम्भ से एक प्रश्न करते हैं कि–

हे कुम्भ ! तुम्हारे पास ऐसी अद्भुत शक्ति कहाँ से आई कि जिस कारण तुम अपने शत्रु जैसे पानी को जो मिट्‌टी को गलाकर उसका स्वरूप ही बिगाड़ कर रख देता है, धारण कर ठण्डा बनाते हो तथा सारे संसार को यह उपदेश देते हो कि सारे संसार के गम अर्थात् दुःख आत्मा के पद अर्थात् स्थान नही हैं। अतः समस्त दुःख–सुख में समता भाव धारण कर मोक्ष मार्ग पर चलकर आत्मा से परमात्मा बनो।

तब कुम्भ कहता है–सेठ जी! मैं बहुत बड़ी यात्रा करके आया हूँ सुनो–

एक समय वह था जब मेरा कोई मूल्य नहीं था। मैं मिट्‌टी के रूप में नीचे जमीन पर पड़ा रहता था, मेरे ऊपर से लोग मुझें पैरों से कुचलते हुये निकलते थे। एक बार ऐसा विकट समय आया कि

कोई व्यक्ति (कुम्भकार) एक कुदाली लेकर आया और मेरे ऊपर जब कुदाली चलाई तो मेरा राम–रोम काँप उठा, लेकिन सौभाग्य का ही विषय था कि उसने दोनों हाथों से मुझे एक बर्तन में रखा और सिर पर धारण कर लिया और अपने घर ले चला। मेरे आनन्द का पार नहीं रहा। पर घर पहुँचते ही उसन मुझ जमीन पर पटक दिया, मेरे प्राण–स निकल गये फिर उसने मुझमें पानी मिलाकर मुझे पैरों से कुचल–कुचलकर मुलायम बनाया, मेरे अन्दर स कंकड़–पत्थर बाहर निकाल फेके और मरा लौंदा बनाकर मुझे चाक के बीच रखा तथा चाक को एक डंडे से घुमाया। चाक पर घूमते–घूमते मुझे चक्कर–सा आने लगा। कुम्भकार ने फिर अपन कोमल–कामल हाथों स मुझे छू–छू कर एक घट का आकार दिया फिर छाँव में सुखाया और अन्त में अवे की आग में रखकर खूब तपाया। उसने भट्टी की अग्नि ने मेरी अन्तिम परीक्षा ली। वह अग्नि मेरे कण–कण में प्रवेश कर गई और मेरे अनावश्यक तत्त्वां को जलाकर पूर्ण शुद्ध बनाकर मुझे जल धारण करने के योग्य एवं गर्म व विभाव मं परिणत जल को शीतल स्वभाव में लाने के योग्य बनाया। यह सब मेरी कठिन तपस्या का ही फल है, जो लोग मुझे अपने सिर के ऊपर रखकर चलते हैं।

घड़े की कहानी सुनकर सेठ बहुत गहराई में चला गया और विचारने लगा यह तो माक्ष मार्ग की कहानी है –

बिना किसी मूल्य के मिट्टी का नीचे पड़ा रहना शिष्य का असंयमी अवस्था में रहने का संकेत है। मिट्टी का कुम्भकार से उठना यह शिष्य की अज्ञान अवस्था का द्योतक है। मिट्टी में जल का मिश्रण करना शिष्य गणों का त्याग या नियम आदि से सम्बन्ध कराना है। मिट्टी में से कंकड़, पत्थरां को निकालकर फेक देना शिष्य गणां को अवगुणों से दूर कर निर्दोष बनाने का उद्यम है।

मिट्टी का चाक पर रखना शिष्यों को मोक्ष मार्ग पर स्थिर करने हेतु उन्हें एक योग्य अवस्था को प्राप्त करना है। कुम्भकार द्वारा चाक पर स्थित मिट्टी को कोमल हाथों से सम्हालकर आकार देना गुरुओं द्वारा शिष्यों को दीक्षा देकर योग्य साधक/साधु बनाया जाना है। कच्चे कुम्भ को भट्टी की आग में तपाना बतलाता है कि गुरु शिष्य को दीक्षा देकर बाह्य एवं अंतरंग तपों में तपाकर शिष्य के समस्त विकारों एवं कर्मों को जलाकर दूर करते हैं। आत्मा के कर्म जले बिना यह आत्मा जन्म–मरण की परम्परा से छूट कर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती। संयम एवं तप के माध्यम से ही मोक्षमार्ग की साधना पूरी होती है।

तप ही एक मात्र ऐसा साधन है जो आत्मा को तपाकर शुद्ध करता है। मोही प्राणी तप से तब तक ही डरता है जब तक कि उसे भेद विज्ञान नहीं हुआ।

सुकुमाल को सरसों के दाने चुभते थे, पर जब उन्होंने दीक्षा ले ली, तपस्या में खड़े हो गये तो स्यारनी के खाने पर भी उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ। पर ध्यान रखना जब तक इच्छायें समाप्त नही होती, तब तक बन्धन नहीं मिटता अर्थात् जब तक इच्छायें रहेंगीं, तब तक बन्धन रहेंगे। बगीचे में एक चिड़ीमार जाल फैलाये है। जाल के नीचे थोड़े से चावल या गेहूँ के दाने डाल दिये हैं। अब चिड़िया आती है और उस जाल में फँस जाती है। देखने वाले दो चार लोग आपस में चर्चा करते हैं कि देखो, चिड़ीमार ने चिड़िया को फांस लिया। दूसरा बोला– नहीं चिड़ीमार ने चिड़िया को नहीं फांसा, जाल ने चिड़िया को फांसा है। तीसरा बोला–नहीं–नहीं चिड़िया ने स्वयं दाने चुगने की इच्छा की इसलिये स्वयं ही बंधन में बंध गई है। यदि इस आत्मा में से (हम और आप में से) केवल इच्छाओं को निकाल

दो तो यह आत्मा परमात्मा (निर्दोष शुद्ध आत्मा) बन जायेगी।

केवल इच्छायें ही बन्धन हैं। इच्छायें न करो तो सुखी ही हो। अच्छा देखो, शुद्ध किसे कहते हैं? शुद्ध उसे कहते हैं जिसमें इच्छायें रंचमात्र भी न हों। अन्य पदार्थों के संयोग में सुख नहीं है, दुःख नहीं है, केवल इच्छाओं के होने न होने पर ही सुख–दुःख निर्भर है।

अरे! सुविधाओं से सुख नहीं होता और न सम्पदाओं से ही सुख होता है। इज्जत से भी सुख नहीं होता। इच्छायें यदि न रहें, तो सुख होता है। कैसी भी परिस्थिति आ जाये, यदि इच्छायें कर लीं तो दुःख हो गया। इच्छायें ही एक बंधन है। इन बच्चों को देखो कैसे आजाद से घूमते हैं, कोई फिक्र नहीं है। कैसे सुखी रहते हैं? पर जैसे – जैसे उनकी अवस्था बढ़ती जाती है और इच्छाओं के नाते से ही दुःख भी बढ़ते जाते हैं। यह स्पष्ट है कि दुःखों का कारण इच्छायें ही हैं। पर बड़ा कठिन प्रश्न है कि इन इच्छाओं को कैसे दूर किया जाय?

गृहस्थी में रहकर इच्छायें न हों, यह नहीं हो सकता है। इच्छायें तो होंगी ही। पर गृहस्थी में भी इस बारे में दो काम तो किये जा सकते हैं। एक तो यह कि मैं (आत्मा) इच्छारहित हूँ, ज्ञान स्वभाव वाला हूँ, यदि मैं इच्छायें न करुं और केवल जाननहार रहूँ, तो मेरा कुछ भी नष्ट नहीं हो जायेगा। पर इसे केवल ज्ञानी गृहस्थ ही कर सकता है। इसके लिये कुछ अभ्यास चाहिये, संसार से मुक्ति की भावना चाहिये, आत्मकल्याण की भीतर से भावना होनी चाहिये। गृहस्थ दूसरा यह कर सकता है कि यदि मेरी इच्छा के माफिक कार्य नहीं होता, तो मैं नष्ट नहीं हो जाऊंगा मैं तो वही सत् का सत् हूँ। यदि ऐसा होगा तो क्या, न होगा तो क्या? ऐसी भावना बनायें और बाहरी तत्त्वों से उपेक्षा करें। इच्छाओं से ही हानि है, ये इच्छायें ही

बन्धन हैं। वांछा की यदि इच्छा बन गई तो क्लेश–ही–क्लेश हैं। यदि मैं इच्छायें न रखूं, ज्ञाता दृष्टा रहूं, तो मेरी हानि नहीं है। इच्छाओं से ही हानि है। मेरा पूरा इच्छाओं से नहीं पड़ेगा। इच्छाओं से तो दु:ख ही मिलेंगे।

देखा हाथी, मछली, भंवरा ये प्रत्येक जीव इच्छा होने के कारण ही बंधन में पड़ जाते हैं, जाल में बंध जाते हैं, शिकारियों के चंगुल में फँस जाते हैं। यदि उनकी इच्छा नहीं होती तो वे बंधन में नहीं पड़ते। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के बंधन में पड़ जाते हैं। तो एक दूसरे के बन्धनों में पड़ना भी इच्छाओं के ही कारण है। पुत्र की इच्छा है कि मैं ठीक रहूँ, मेरा बढ़िया गुजारा बने, मेरी उन्नति बने। ऐसी इच्छाओं के कारण ही वह पिता के साथ रहना स्वीकार कर लेता है। यह मेरा बच्चा बुढ़ापे में मेरे काम आयेगा, मेरी सहायता करेगा, इन इच्छाओं के कारण ही वह पुत्र से मिला हुआ चलता है। इसी प्रकार, पत्नी की इच्छायें अपने पति के प्रति, पति की इच्छायें अपनी पत्नी के प्रति होती हैं, इस तरह वे एक दूसरे के बन्धन में बंध जाते हैं। नौकर अपने मालिक के बन्धन में है, मालिक अपने नौकर के बन्धन में है। बड़ा अपने छोटे के बन्धन में है और छोटा बड़े के बन्धन में है। यह सब इच्छा के कारण ही होता है, इसलिये इच्छायें ही बन्धन हैं।

सीता जी अग्नि परीक्षा में सफल हो गयीं तो रामचन्द्र जी हाथ जोड़कर खड़े हो गये। बोले–देवी! क्षमा करो। आपको बहुत कष्ट पहुँचा। चलो, अब महल में चलो। लक्ष्मण ने भी हाथ जोड़े और भी सब लोगों ने हाथ जोड़े। भला सोचो कि सीता जी ने मृत्यु से भेंट कराने वाली अग्नि परीक्षा के बाद क्या अपने मन में इच्छा के भाव बनाये होंगे? क्या सीता जी के मोह की प्रवृत्ति हो सकेगी? नहीं

ऐसा नहीं है। इसी से तो सीता जी के वैराग्य उमड़ा सीता जी के लिये कुछ बन्धन नहीं हुआ, वे विरक्त हो गईं और समस्त इच्छाओं को नष्ट करने के लिये (इच्छा–निरोध–रूपी) तपस्या में लग गईं। जब तक इच्छायें थीं तब तक बन्धन था। अशोक वाटिका में उन्हीं सीता जी की आँखों से राम के वियोग में आँसू नहीं रुकते थे और आज स्वयं रामचन्द्र जी घर जाने की प्रार्थना कर रहे हैं, पर अब सीता जी को बन्धन ग्रहण करना स्वीकार नहीं है। जब इच्छायें खत्म हो गयीं, तब उनका बन्धन भी खत्म हो गया।

बड़े–बड़े रईस लोग आज–कल भी अपनी पत्नी, धन वैभव इत्यादि को छोड़कर अलग हो जाते हैं, विरक्त हो जाते हैं, क्योंकि इच्छा का बन्धन उनके नहीं रहा। इच्छा तक ही साम्राज्यों से लगाव था। इच्छाओं के समाप्त होते ही वे बड़े–बड़े व्यक्ति भी सब कुछ छोड़ देते हैं। कहते हैं न कि फला आदमी मोह–प्रसंग से अलग हो गया। अरे! अलग हो गया तो उसने अपने को बन्धन में बाँधने की इच्छा नहीं की, इसलिये अलग हो गया। बन्धन तो इच्छा को कहते हैं। किसी को अपना मानना कि यह मेरा है, यह अमुक–का है, यह फलाने–का है, इत्यादि से विपदायें हैं। भीतर से अगर जरा भी ज्ञान आ गया कि यह मेरा है तो बस दुःख उत्पन्न हो गया।

जिन्हें हम अपना हितेषी मान रहे हैं, वे सब स्वार्थ के संगे हैं। जिसमें उन्हें लाभ दिखता है, केवल उसी में साथ देते हैं। 'सुख के सभी साथी, दुःख में न कोय'।

एक सेठानी बुढ़िया थी। उसका पति गुजर गया। लोगों ने बुढ़िया से पूछा–क्यों रोती हो? उसने कहा 10–12 दुकानें हैं उनका हिसाब कौन लेगा? पंचायत के सरदार ने कहा गम न करो, रोती

क्यों हो? हम सब सम्हाल लेंगे। बुढ़िया ने कहा अभी 500–600 भैंसें हैं उनका प्रबंन्ध कौन करेगा? सरदार ने सब कुछ सम्हाल लेने का वादा किया। सेठानी ने फिर कहा कि अभी 5 लाख का कर्जा भी देना है तो पंचायत के सरदार ने कहा कि क्या अब हम ही सबकी हाँ करें? और लोग भी बोले। तो, भाई! ऐसा है सुख में साथ देने को सभी तैयार हैं, पर दुःख में कोई भी साथ नहीं देना चाहता। अतः दूसरों से मोह करना छोड़ दो। यह मोह ही हमें अनादि काल से संसार में रुलाता आ रहा है। जिनको मोह है, जिनको इच्छायें हैं, उनको कभी सुख नहीं हो सकता। यदि वास्तव में सुखी होना चाहते हो तो इन इच्छाओं को करना छोड़ दो।

हम सोचते हैं बस, हमारी यह इच्छा पूरी हो जाये तो मुझे शान्ति मिलेगी, पर ध्यान रखना, इस इच्छा का पेट इतना बड़ा है जिसे आज तक कोई भी नहीं भर सका।

एक बार की बात है कि एक मुनिराज जंगल में बैठे ध्यान लगा रहे थे। एक सेठ के लड़के की शादी थी। उस सेठ ने ज्यौनार की थी। सेठ ने जंगल में जाकर मुनिराज से कहा कि महाराज आप भी भोजन कर लीजिये। मुनिराज ने मना कर दिया, सेठ ने विशेष आग्रह किया तो मुनिराज ने सामने से आती हुई एक छोटी–सी लड़की की ओर इशारा किया इसे ले जाओ। लड़की कहने लगी कि मेरा नाम इच्छा है, यदि तुम मेरा पेट भर सको तो मुझे अपने साथ ले जाना, वरना मत ले जाना। सेठ कहने लगा कि तुम छोटी–सी लड़की हो तुम क्या खाओगी? मैं तुम्हारा पेट अवश्य भर दूँगा। इच्छा रूपी लड़की बोली–यदि तुम मुझे पेट–भर भोजन न करा सके तो मैं अन्त में तुम्हें खा जाऊँगी। सेठ ने कहा–ठीक है। ऐसा वादा करके सेठ ने उसे घर लाकर भोजन करने बैठा दिया। इच्छा नाम की लड़की ने

भोजन करना शुरू किया। सेठ के यहाँ बना पाँच हजार व्यक्तियों का भोजन खाकर भी वह भूखी रही, तो सेठ ने कहा कि घर में जितनी सामग्री है, सब बनाकर इच्छा का पेट भरो, नहीं तो वह मुझे खा जायेगी।

इस प्रकार उसने घर की सारी सामग्री बनाकर खिला दी, तो भी उसकी शान्ति न हुई। इस प्रकार जब वह सेठ उस इच्छा नाम की लड़की का पेट भरने में असफल रहा, तो वह उससे बचने के लिये भागा। लेकिन वह लड़की भी उस सेठ के पीछे भागी 'मैं तो तुम्हें अवश्य खाऊंगी।' सेठ ने भागते–भागते सारे गाँव का चक्कर लगा लिया। अन्त में वह उन्हीं मुनिराज के पास पहुँचा कि महाराज मुझे बचाओ, इस लड़की की भूख तो मुझे खा जायेगी। महाराज को देखकर वह लड़की दूर से ही रुक गयी। महाराज बोले–यदि तुम सुखी रहना चाहते हो तो अपनी इच्छाओं को घटाओ। देखो, तुम इस इच्छा के कारण ही व्यर्थ में परेशान हो रहे हो। तुम सोच रहे थे कि इसे एक व्यक्ति का भोजन कराकर शान्त कर दूँगा। इसी प्रकार प्रत्येक मानव सोचता है कि बस, मेरी यह इच्छा पूरी हो जाये तो मुझे शान्ति मिलेगी। लेकिन यह इच्छा कभी शान्त नहीं होती। इसलिये यदि तुम अपना कल्याण करना चाहते हो तो इच्छा निरोध रूपी तप करके इन इच्छाओं को घटाते–घटाते समाप्त कर दो, तो तुम्हें भी धीरे–धीरे शान्ति मिल जायेगी और पूर्ण इच्छाओं के समाप्त होते ही मोक्ष की प्राप्ति होगी, जहाँ पूर्ण निराकुल अनन्त सुख मिलेगा। इच्छाओं के कारण ही राग–द्वेष होता है, यदि इच्छायें घटनी शुरू हो गयीं तो समझो कि मोक्ष का मार्ग मिल गया।

गृहस्थी तो एक जंजाल है। गृहस्थी के चरित्र को आचार्य गुणभद्र स्वामी ने बताया है कि वह तो हाथी के स्नान के समान है।

हाथी ने स्नान किया और बाहर जाकर धूल को सूंड में भरकर अपने ऊपर डाल लिया। पर–सम्बन्ध में हानि–ही–हानि है। अकेला है, तो बड़ा सुख है और यदि दुकेला हो गया, विवाह हो गया तो क्या मिला? चौपाया हो गया। दो पैर खुद के, दो पैर स्त्री के। चौपाया जानवर कहलाता है। दो हाथ–पैर वाला मनुष्य था, चौपाया हो गया। बच्चा हो गया तो छैपाया हो गया। भंवरा हो गया। बच्चे का भी विवाह हो गया तो अठपाया हो गया अर्थात् मकड़ी बन गया। मकड़ी का जाल होता है। वह स्वयं जाल बनाती है और उसी में फँस जाती है। इसी प्रकार इसने स्वयं जाल बनाया और 70–80 वर्ष तक उसी में फँसा रहता है। इनमें हित का नाम ही नहीं है। यदि परपदार्थों से अपना हित मानते हो तो समझो कि हम भ्रम में पड़कर उल्टे मार्ग पर चल रहे हैं। अरे, इन विषय–कषाय के मार्ग को छोड़ो और संयम–तप के मार्ग को अपनाकर अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त करो। जिन्होंने अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर ली, वे मुनिराज ही वास्तव में सुखी हैं। और एक दिन सम्पूर्ण इच्छाओं का अभाव करके परमात्म–पद को प्राप्त करेंगे।

एक मुनिराज किसी जंगल में तपश्चरण करते थे। एक बार एक राजा वहाँ से गुजर रहा था। उसने उनकी निर्ग्रन्थ मुद्रा देखकर सोचा कि यह तो बहुत दरिद्र हैं, इनके पास एक लंगोटी तक नहीं है, अतः हमें इनकी कुछ सहायता करनी चाहिये। ऐसा विचार कर राजा ने अपने मंत्री को 100 स्वर्ण मुद्रायें उस दरिद्र साधु को देने को कहा। मंत्री ने साधु से जाकर कहा कि राजा ने ये मुद्रायें आपके लिये भेजी हैं। इन्हें लेकर आप अपनी दरिद्रता दूर कर लें, यह सुनकर मुनिराज कहते हैं, इन्हें गाँव में बाँट दो। राजा का मंत्री राजा के पास पहुँचता है और साधु का उत्तर बताता है, राजा सोचते

हैं कि शायद ये मुद्रायें कम हैं इसलिये उस दरिद्र ने स्वीकार नही कीं। राजा ने कहा 200 मुद्रायें भेजी जायें।

इस तरह वह पुनः 200 मुद्रायें मंत्री के हाथ भेजता है। मंत्री साधु के पास जाता है और मुद्रायें स्वीकार करने के लिये कहता है। किन्तु इस बार भी उस साधु ने वही उत्तर दिया कि जाओ इन्हें गरीबों में बाँट दो। मंत्री फिर राजा के पास आकर कहता है कि उसने स्वर्ण मुद्रायें स्वीकार नही की हैं। अब राजा सोच में पड़ जाता है कि क्या कारण है कि वह मुद्रायें स्वीकार नहीं कर रहा है। वह सोचता है, शायद उसने मंत्री के हाथों, स्वर्ण मुद्रायें स्वीकार करना अपना अपमान समझा हो, इस कारण मैं स्वयं ही वहाँ जाकर उन्हें ये दे आऊँ। इस प्रकार वह स्वयं 1000 स्वर्ण मुद्रायें लेकर उन मुनिराज के पास पहुँचता है और कहता है ये स्वर्ण मुद्रायें ले लीजिये। मुनिराज ने फिर वही बात कही जाओ इन्हें गरीबों में बँटवा दो। अब राजा बोलते हैं कि तुमसे गरीब मुझे और कौन मिलेगा। अब मुनिराज उत्तर देते हैं कि हे राजन्! तुम नहीं जानते हम श्रीमन्त हैं, हमारे पास अनंत वैभव का भण्डार है, हम यह तुच्छ परद्रव्य स्वीकार नहीं करते हैं। राजा बोला—मुझे उसकी चाबी दे दीजिये, मैं भी वह अनन्त वैभव का भण्डार लूंगा। मुनिराज कहते हैं इसके लिये तुम्हें कुछ दिन यहाँ मेरे साथ रुकना होगा तब उसे पा सकोगे। राजा बोलता है, हाँ – हाँ रह लूँगा। इस तरह राजा मुनिराज के पास रहने लगा। मुनिराज कुछ धर्म का उपदेश उसे देते रहे। कुछ दिन बाद मुनिराज बोलते हैं कि अच्छा तुम्हें मेरा अनंत वैभव का खजाना देखना है तो मेरे जैसे बन जाओ। राजा ने सोचा यही विधि होगी अनन्त खजाने को देखने की, इसलिये वह मुनिराज बन जाता है। मुनिराज जैसी क्रियायें करने लग जाता है। अब उसे बड़ी शान्ति महसूस होने

लगी। कुछ दिन बाद मुनिराज बोले–राजन्! अब तुम अपनी यह धन–सम्पदा वापिस ले लो तो वह पूर्व राजा बोलता है कि प्रभु अब कुछ नहीं चाहिये, अब तो मुझे यह धन–सम्पदा तुच्छ लग रही है, इसके कारण तो मैं पहले बहुत दुःखी था। दिन रात इच्छायें – चिन्तायें बनी ही रहती थीं, पर अब जब मेरी समस्त इच्छायें समाप्त हो गईं तो मुझे अपने अनन्त वैभव तथा असली साम्राज्य का पता चल गया। अब तो मुझे अपने रत्नत्रय खजाने का पता चल गया। जब इच्छायें थीं तो राजा दुःखी था और अब इच्छायें समाप्त हो गईं तो वह सुखी हो गया। वास्तव में इच्छाओं का होना ही दुःख है और इच्छाओं का न होना ही सुख है। अतः अपनी शक्ति को पहचानो और इन इच्छाओं को घटाकर अपना कल्याण करो।

मन की इच्छाओं पर विजय पाना आसान बात नहीं है। कामनाओं का कलश तो कभी भरा ही नहीं जा सकता, क्योंकि ऊपर से तो वह बहुत सुन्दर दिखता है पर उसके नीचे कोई आधार (पैंदी) नहीं है। और ऐसी स्थिति में आप कितना ही भरते जाइये, कलश खाली का खाली रहेगा।

बालक जन्म लेता है, बड़ा होता है, बड़ा होने के बाद में बूढ़ा होता है और फिर यहाँ से जाने का समय आ जाता है। देह मरती है, बार–बार मरती है लेकिन मन की तृष्णा आज–तक नहीं मरी। शरीर बूढ़ा होता है, जर्जर होता है, किन्तु मन बूढ़ा नहीं होता। विचित्रता तो यह है कि देह जैसे–जैसे बूढ़ी होती है, मन की आशा वैसे–वैसे जवान होती जाती है। कबीरदास जी कहते हैं –

मन मरा माया मरी, मर मर जाय शरीर।
तो भी तृष्णा न मरी, कह गए दास कबीर।।

कबीर दास जी ने अपने अनुभव के आधार पर संसारी प्राणी की दशा को दर्शाया है। वह कहते हैं कि यहाँ मन मरता है, माया मरती है और शरीर भी बार–बार मरता है, लेकिन इसकी तृष्णा का अंत आज तक नहीं हो पाया। एक कथानक है यमराज के पत्र –

एक राहगीर चला जा रहा था रास्ते में उसे एक काली परछाई मिली। वह काली परछाई उस राहगीर के साथ–साथ चलने लगी। दोनों ने साथ–साथ चलकर मीलों रास्ता तय कर लिया, चर्चायें भी होती रहीं, पर आपस में एक दूसरे का परिचय नहीं हो पाया। फिर जब अलग–अलग होने लगे तो उस राहगीर ने उस मनुष्याकृति वाली काली परछाई से कहा कि तुम मुझ जानती हो? मैं नगर सेठ हूँ? सभी लोग मुझे बहुत मानते हैं, धन–वैभव बहुत है, कभी आवश्यकता पड़े तो याद करना। ये तो रहा मेरा परिचय, अब आप अपना परिचय भी दें ताकि हम फिर कभी मिल सकें। ऐसा पूछने पर वह काली परछाई बोली–तुम मुझे नहीं जानते? मैं तो यमराज हूँ .. .. यमराज ! जैसे ही उसने सुना यमराज तो वह तो काँप गया, पसीना–पसीना हो गया। अरे! तुम और हमारे साथ में, क्या बात है? फिर धीरे से राहगीर ने यमराज से पूछा–आप यहाँ पर क्यों आये? 'बस, मेरा काम तो एक ही है, धरती पर से लोगों को उठाने आता हूँ।' यह सुनकर सेठ घबरा गया। तो क्या तुम सबको लेने आते हो? 'हाँ! बारी–बारी से सबको लेने के लिये को आता हूँ।' सेठ अब चतुराई से बात करने लगा। बोला–देखो! हम दोनों साथ–साथ चले हैं, घनिष्ठ मित्रता हो गई है, कहा तो ऐसा गया कि कभी सात कदम भी किसी के साथ चल लो तो दोस्त हो जाते हैं फिर हम–तुम तो मीलों साथ चले हैं। जरा मित्रता का लिहाज करना। यदि मेरा नम्बर आये तो कुछ दिन के लिए छोड़ देना। सेठ जी की बात सुनकर

यमराज को हंसी आ गई, उसने कहा कि प्रकृति के नियम का उल्लंघन तो हम नहीं कर सकते, पर इतना अवश्य है कि जब दोस्ती बनाई है तो उसे निभाऊँगा और लेने आने से पूर्व आपको पत्र जरूर भेजूँगा ताकि आप सावधान हो जाओ, इतना कहकर वह काली परछाई अदृश्य हो गई।

समय बीता, उम्र भी बीतती गई, सेठ अपने कार्यों में कुछ इस तरह उलझा कि यमराज द्वारा भेजे गये समाचार/संकेत वह समझ नहीं पाया और एक दिन अचानक यमराज आ धमके। अचानक यमराज को आया हुआ देखकर सेठ तो नीचे से ऊपर तक काँप गया, पसीना-पसीना हो गया, वह बोला यमराज! तुम एकदम आ गये। मैंने कहा था कि पत्र भेजना, पत्र तो भेजा नहीं और सीधे लेने आ गये। जरा दोस्ती तो निभानी थी, इतना बड़ा विश्वासघात? अरे! संसार में हो तो ठीक किन्तु यमराज भी करने लगे यह तो ठीक नहीं। यमराज ने कहा-मैंने तुम्हारे लिए पत्र भेजे और एक नहीं चार-चार पत्र भेजे पर तुमने उन्हें पढ़ा नहीं, उन पर ध्यान ही नहीं दिया। सेठ बोला- मेरे पास तो एक भी पत्र नहीं आया, तब यमराज कहते हैं कि पत्र तो तुम्हारे पास आये हैं, यह बात अलग है कि तुमने उनकी भाषा नहीं समझी। सेठ बोला-ऐसा कैसे हो सकता है? आपने कोई पत्र भेजा हो तो बताओ। यमराज बोले- सिर के बाल सफेद करने के रूप में मैंने तुम्हें पहला पत्र भेजा था, लेकिन सेठ तुम ऐसे निकले कि पत्र पढ़ना तो दूर बाजार में जाकर हेयर डाय कराके आ गये। 20 का नोट फेंका और सफेद बालों को काला करा लिया। मेरे संदेश को तुम समझे ही नहीं। मैंने दूसरा पत्र तुम्हारे दांत गिराने के रूप में भेजा किन्तु तुम बाजार में गये और दांतों का नकली सेट लगाकर आ गये। सेठ! मैंने तुम्हारी आँखें, तुम्हारे कान

कमजोर करने के रूप में तीसरा पत्र भेजा, किन्तु तुमने उसका भी उपाय खोज लिया और आँखों पर चश्मा तथा कानों में मशीन लगाकर काम चलाने लगे। तृप्ति कहाँ? अभी तो बहुत कुछ देखना है, सुनना है। फिर भी तुम सावधान नहीं हुए, मैंने फिर भी दोस्ती निभाई और चौथा पत्र हार्ट अटैक के रूप में भेजा। तुम्हें हार्ट अटैक हुआ, तुम्हारा शरीर कमजोर पड़ गया। लेकिन तुम तो तुम्हीं थे, बाइपास सर्जरी करा ली। कमजोरी के कारण छड़ी लेकर घूमने लगे। तुम कैसे उलाहना देते हो कि मैंने तुम्हें समाचार (संकेत) नहीं भेजे? पत्र तो मैंने चार–चार भेजे हैं, लेकिन आप उनकी भाषा ही नहीं समझ पाये। सेठ को सारी बात समझ में आ गई लेकिन अब वह कर भी क्या सकता था? उन आखिरी क्षणों में सेठ को बहुत पश्चात्ताप हो रहा था। अब पछताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत? कुछ बचा ही नहीं सेठ को करने के लिये, क्योंकि समय बीत चुका था। आखिरी समय आया और सेठ को यहाँ से जाना पड़ा। यमराज के पत्र उस सेठ/श्रीमंत को तो मिले ही थे, इन सेठ/श्रीमन्तों को भी मिल रहे हैं किन्तु पता नहीं किस उपाय के खोजने में लगे हैं। संसार का रस कुछ ऐसा ही रस है कि दांत गिर जायें फिर भी चना, मूंगफली खाने की इच्छा खत्म नहीं हो पाती। चबा नहीं सकते तो कूट–कूट कर खायेंगे, पर खायेंगे जरूर। क्या करें? रस अभी अंदर का खत्म नहीं हुआ है।

भोगो न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याताः तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।
भोगों को इतना भोगा कि, खुद को ही भोग बना डाला।
साध्य और साधन कअ न्तर, मैंने आज मिटा डाला।।

मेरा साध्य क्या था? और उस साध्य को पाने के साधन क्या थे?

साधन और साध्य के अन्तर का ही मैंने मिटा दिया। भोगों को इतना भोगा कि जीवन को ही भोग बना दिया। काल को मैंने बिताया नहीं बल्कि मैं खुद ही बीत गया। तप के लिये मैंने तपा नहीं, बल्कि मैं खुद ही तप गया। तृष्णा जर्जर कहाँ हो पाई? मैं स्वयं जीर्ण/जर्जर होता गया। अपनी इच्छाओं का निरोध करो। इसी में सबका हित है। यही सबसे बड़ा तप है।

उमास्वामी महाराज ने सूत्र दिया है "इच्छा निरोधः तपः।" अन्तस में उठने वाली इच्छाओं का निरोध करना तप है। और वास्तव में सम्यक् तप वही है जिसके माध्यम से इच्छाओं का निरोध हो। देखो वारिषेण महाराज के पास पुष्पडाल ने दीक्षा ग्रहण कर ली थी, पर पुष्पडाल महाराज के मन से इच्छा का अभाव न हो पाने के कारण 12 साल की तपस्या के बाद भी शान्ति का अनुभव नहीं हुआ। जब वारिषण महाराज ने देखा इनके अन्दर अभी भी इच्छा शेष है, तो पुष्पडाल महाराज से बोले—चलो, आज शहर चलते हैं। पुष्पडाल महाराज खुश हो गये कम—से—कम अपना मकान व बीबी—बच्चों को तो देख लेंगे वे कैसे रहते हैं। वे दोनों महाराज जब राजमहल पहुँचे तो माँ चौंक गई कि वारिषेण के मन में कौन—सी इच्छा जागृत हो गई? तब उसने परीक्षा करने के लिये एक सोने का और एक काष्ठ का आसन बैठने का रखा और कहा—महाराज! बैठिये। वारिषेण महाराज काष्ठ के आसन पर और पुष्पडाल महाराज सोने के सिंहासन पर बैठ गये। महाराज माँ से बोले—हमारी सभी पूर्व पत्नियों को पूरे श्रृंगार के साथ बुलाया जाये। ऐसा ही किया गया। उनको देखकर पुष्पडाल महाराज बहुत लज्जित हुये कि देखो इन्होंने ऐसे राज्य—वैभव और सुन्दर—सुन्दर स्त्रियों को छोड़ दिया और मैं अभी तक अपनी सामान्य—सी स्त्री के मोह को भी नहीं छोड़ पाया। अब उन्हें सच्चा

वैराग्य हो गया, वे वारिषेण महाराज से बोले–महाराज! अब आप मुझे फिर से दीक्षा दीजिये। अब मैं अपनी इच्छाओं को निरोध करने वाला तप करूँगा।

इच्छा निरोधः तपः कहकर इच्छाओं के निरोध को तप कहा है। विचार करो जीव के दुःख का मूल कारण तो कषाय और इन्द्रिय–विषयों की इच्छायें ही हैं, इच्छाओं का अभाव हो तो जीव को सुख की प्राप्ति हो।

एक उर्दू कवि ने कहा है – इच्छाओं आकांक्षाओं के पेड़ की जड़ काटकर फेक देना चाहिये, क्योंकि इस पेड़ में न कभी फूल लगे, न फल आया। इच्छायें अनन्त हैं, जिनकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। तप इन इच्छाओं पर नियंत्रण करने में सहायक है। इच्छा निरोध रूप तपाग्नि में जब आत्मा तपता है तो अपने मोह, राग, द्वेष रूप या क्रोध, मान, माया और लोभ रूप समस्त विकारों को तज देता है और यह मलिन आत्मा एक दिन परमात्मा अर्थात् शुद्ध आत्मा बन जाती है। जैसे चकले पर बेलन से बेली गई आटे की रोटी को यदि अग्नि पर सेकते हैं तो फूलकर उसके दो भाग हो जाते हैं। इसी प्रकार अनशनादि बाह्य तप और प्रायश्चित्त आदि अन्तरंग तपों रूप आचरण के सेंक से आत्मा और शरीर भिन्न–भिन्न हो जाते हैं।

तप दो प्रकार के होते हैं–अन्तरंग तप और बाह्य तप।

बाह्य तप 6 प्रकार के हैं –

1. अनशन – अनशन का अर्थ है उपवास। 4 प्रकार के आहार खाद्य, स्वाद, लेह्य और पेय का परित्याग करना, सो अनशन है। जहाँ भोजन के साथ–साथ विषय–कषायों का भी त्याग हो उसे ही उपवास कहते हैं।

भोजन का त्याग करने से इन्द्रिय–विकार नहीं होता, मन की चंचलता मिटती है, शरीर हल्का रहता है, स्वाध्याय, ध्यान आदि धार्मिक कार्यों के लिये अवसर मिलता है। उपवास के दिन धर्म–ध्यान में ही अपना समय व्यतीत करना चाहिये। उपवास के दिन सोते रहना या टी.वी. देखते रहना उपवास नहीं है।

आदिसागर महाराज 6 दिन उपवास के बाद 7 वें दिन आहार ग्रहण करते थे। उन्होंने अपने मुनि जीवन के 25 साल तक इस नियम का पालन किया। शान्तिसागर जी महाराज ने 35 वर्ष के मुनि जीवन काल में से 25 वर्ष तो उपवास पूर्वक ही व्यतीत किये और शेष वर्ष में भी अधिकांश तो केवल दूध, चावल और पानी ही लिया।

2. अवमौदर्य – भूख से कम खाने का नाम अवमौदर्य है। कम खाने से प्रमाद नहीं रहता, स्वास्थ्य ठीक रहता है, निद्रा नहीं आती, ध्यान में मन लगता है। मुनिराज तो अपने उदर को 4 भागों में बाँट लेते हैं। वह उसके 2 भाग को अन्न से, एक भाग को जल से पूर्ण करते हैं व एक भाग को खाली रखते हैं।

एक मुनिराज जी की बात आती है। वे एक महीने के बाद आहार के लिये जाते हैं और निरन्तराय आहार मिलने के उपरान्त भी एक ग्रास लेकर वापिस आ जाते हैं।

यह मुनिराजों के तो होता ही है, पर हमें भी भोजन में आसक्ति घटाना चाहिये। भूख से कम खाने से धर्म व कर्म दोनों में अच्छा मन लगता है।

3. वृत्ति परिसंख्यान तप – भोजन को जाते समय साधु जन कठिन–कठिन विधि (प्रतिज्ञायें) लेकर निकलते हैं। यदि ऐसी विधि मिलेगी, तो आहार ग्रहण करेंगे, अन्यथा निराहार ही वापिस आ

जायेंगे।

इस तप से रागादि भावों पर विजय प्राप्त होती है, कर्मों का क्षय होता है। महाराजों के कठिन नियम कई–कई दिनों तक नहीं मिलते। शान्तिसागर महाराज का नियम बैल के सींग में गुड़ लगा हो तभी आहार ग्रहण करेंगे, कई दिन बाद मिला था।

हम लोग भी जब भोजन करने बैठें तो यह विचार कर सकते हैं कि अमुक वस्तु मिलेगी तो भोजन करेंगे या एक बार का परोसा हुआ भोजन ही करेंगे, मौन लेकर भोजन करेंगे, किसी वस्तु को इशारे से नहीं माँगेंगे, थाली में जैसा भोजन आ जायेगा वैसा ही कर लेंगे। इस तप से भोजन सम्बन्धी इच्छाओं का निरोध होता है।

4. रस परित्याग – छह रसों में से एक, दो अथवा सभी का परित्याग करना रस–परित्याग तप है।

पूर्ण रूप से तो रस–परित्याग तप मुनिराज ही करते हैं। थाली में अच्छी–से–अच्छी चीज देखकर जिसमें अधिक राग हो, उसे कहेंगे हटा लो। घी, दूध आदि समस्त रसों में से कुछ–न–कुछ रसों को छोड़कर ही भोजन करते हैं और अपनी रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करते हैं।

आज भी बहुत से ऐसे गृहस्थ मिलते हैं जिनके मन में आया कि आज अमुक चीज खानी है तो तुरन्त उसका त्याग कर देते हैं। यदि हम भी अपनी रसना इन्द्रिय को वश में करना चाहते हैं, तो हमें भी ऐसा करना चाहिये।

5. विविक्त शय्यासन – प्रमाद रहित होकर एकान्त स्थान में सोना, बैठना, रहना विविक्त शय्यासन तप है। क्योंकि मनुष्यों से संबंध रहेगा तो वहाँ वाक् व्यवहार से स्नेह बढ़ेगा। स्नेह का बन्धन

ही दुःख देता है। इस तप से राग–द्वेष के साधन नहीं रहते। मन शान्त रहता है।

मुनिराज तो वन में या कहीं भी किसी भी परिस्थिति में कंकरीली, पथरीली भूमि पर रात्रि के पिछले पहर में थोड़ी निद्रा लेते हैं। ,

हम लोगों को भी चाहिये, कि शरीर से ममत्व हटाकर कम–से–कम अष्टमी, चतुर्दशी, दशलक्षण आदि पर्वों में पलंग, गद्दे, तकिये आदि को छोड़कर चौकी, जमीन, चटाई आदि पर रात्रि व्यतीत करें। इस तप के बिना शरीर से ममत्व नहीं टूटता।

6. कायक्लेश तप–गर्मी, सर्दी, वर्षा के स्थान में ध्यान करना, अनेक प्रकार के कष्ट सहते हुये समता–परिणाम रखना, सो कायक्लेश तप है।

इस तप से विषय–कषाय की वृत्ति नहीं रहती, सुखिया स्वभाव नष्ट हो जाता है, ध्यान में स्थिरता आती है।

इस तप के पालयता भी मुनिराज ही होते हैं। गर्मी के दिनों में कई–कई दिनों तक अन्तराय आने के बाद भी मन में खेद नहीं करते। आतापन योग, वृक्षमूल योग आदि कठिन–कठिन तरीकों से ध्यान करते हैं।

हम लोग भी अष्टमी, चतुर्दशी को एकान्त स्थान में या मंदिर आदि में जाकर आसन लगाकर यथाशक्ति सामायिक, ध्यान आदि का अभ्यास करें। सेठ सुदर्शन भी गृहस्थ थे, वे पर्व के दिन में श्मशान, निर्जन वन में रात्रि व्यतीत करते थे, मुनिराजों के समान ध्यान लगाते थे।

इन बाह्य तपों का आचरण करने से मन भोगों से हट जाता है, मन इधर–उधर नहीं जाता। दूसरी बात यह है कि यदि आराम से

सुखिया रहकर ज्ञान अर्जित किया है, तो उपद्रव आने पर विचलित हो जाने का भय रहता है।

हमें ये तप बिना लौकिक वान्छा के करना चाहिये। सम्यक श्रद्धा व संयम के साथ किया गया तप ही मुक्ति पथ की ओर ले जाने वाला है। तप करके लौकिक इच्छा करना गेहूँ बोकर भूसे की याचना करना है। इसके विषय में एक ढोंगी तपस्वी की कहानी आती है –

एक बार राजा की सभा में लोग एक साधु की प्रशंसा कर रहे थे कि वह साधु बहुत अच्छा है, छः–छः महीने के उपवास कर लेता है। यह सब सुनकर मंत्री ने कहा महाराज मुझे तो वह ढोंगी मालूम होता है। तब राजा ने कहा उसकी परीक्षा कर ली जाय, वह सच्चा है या नहीं। मंत्री ने कहा कुछ दिन के लिये उनकी पूजा स्तुति करना बंद कर दिया जाय और नगर का कोई भी व्यक्ति उनके दर्शन के लिये न जाये और फिर कुछ आदमी छिपकर देखें की साधु क्या करता है?

राजा ने आज्ञा दी और ऐसा ही किया गया। किसी को अपने पास न आया देखकर साधु जी को चिन्ता हुई और देखने लगे नगर की ओर सारा दिन व्यतीत होने जा रहा है और अभी तक कोई नहीं आया पूजा करने वाला, प्रशंसा करने वाला। साधु जी मन में ऐसा विचार करने लगे। तप छोड़ दिया साधु जी ने और जैसे–तैसे रात्रि व्यतीत की। दूसरे दिन भी जब कोई नहीं आया उनके तप की प्रशंसा करने वाला, तो फिर देर ही क्या थी। इधर–उधर देखकर छोड़ दिया साधु वेश और भाग गया नजर बचा के। लोगों ने राजा से कहा–वह सच्चा तपस्वी नहीं था, मात्र ढोंगी था। उसके अन्दर सच्चाई नहीं थी, सत्य नहीं था, तभी तो तप छोड़ दिया।

दिखावे के लिये या किसी भी लौकिक इच्छा को रखकर किया गया तप कार्यकारी नहीं होता। हमारा तप मायाचार, ख्याति, लाभ तथा इच्छाओं से रहित होना चाहिये।

बाह्य तप के समान अन्तरंग तप भी छः प्रकार के होते हैं –

1. प्रायश्चित्त तप – कोई अपने में दोष लगे तो गुरुजनों के समक्ष पश्चात्ताप ग्रहण करना प्रायश्चित्त तप है। अन्तरंग में बिना परिणाम निर्मल बने गुरुजनों के समक्ष प्रायश्चित्त लेने की बात मन में नहीं आती। अपनी गलती पर जब मन में रोना आ जाये तब प्रायश्चित्त लेने की बात मन में आती है। इस तप से अन्तरंग परिणाम अत्यन्त निर्मल हो जाते हैं।

कुलभूषण, देशभूषण की कथा आती है। जब वे दोनों भाई बहुत दिनों बाद विद्या पढ़कर वापिस आये और नगर–प्रवेश के समय अपनी बहिन कमलोत्सवा को देखा, तो जानकारी न होने से उन दोनों के भाव उससे शादी करने के हो गये, बाद में जब वह माता–पिता के साथ भाइयों की आरती करने आयी, माता–पिता ने कहा–देख, तेरे भईया कितने बड़े हो गये हैं? तब इन्हें पता लगा कि यह तो हमारी बहिन है। तो उनको अपने विभाव पर बड़ा पछतावा हुआ, वे विचार करने लगे देखो तो, मैंने अपने मन को कितना गंदा कर लिया और वे तुरन्त वापिस लौट गये तथा उन्होंने मुनि दीक्षा धारण कर ली। यह प्रायश्चित्त का ही फल था।

राजा श्रेणिक ने यशोधर मुनिराज के गले में मरा हुआ सर्प डालकर 33 सागर की 7 वें नरक की आयु का बन्ध कर लिया था पर बाद में जब उन्हें ज्ञात हुआ यह तो सच्चे परम तपस्वी मुनिराज हैं, मैंने घोर अनर्थ का कार्य किया तो उन्हें इतना पश्चात्ताप हुआ कि

उसके फल से उन्हें सम्यक्त्व की उपलब्धि हो गई और 33 सागर की नर्क की आयु घटकर मात्र 84 हजार वर्ष की प्रथम नरक की आयु बची।

हम लोगों को भी शाम को अपने दिन भर किये पापों का लेखा कर सच्चे मन से प्रायश्चित्त करना चाहिये। प्रायश्चित्त करने से पाप कम हो जाता है और कुछ ही दिनों में हम पाप करना छोड़ भी देते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि चार आना दोष पश्चात्ताप करने से नष्ट हो जाता है। चार आना गुरु को बतलाने से, चार आना प्रायश्चित्त लेने से और शेष बचा हुआ दोष सामायिक में बैठने से समाप्त हो जाता है। जब भी हमसे कोई दोष हो जाये तो उसे तुरन्त स्वीकार कर प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये।

2. विनय तप – विनय तप से मन में कोमलता आती है, विनय नाम आदर–भाव का है। हमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र एवं इनके धारकों की विनय अत्यन्त विनम्र होकर करना चाहिये। विनय तप वह है जो मोक्ष मार्ग के प्रति और मोक्षमार्गी के प्रति उनके–जैसे गुणों की प्राप्ति के लिये किया जाता है।

यदि कोई गुरु की विनय न करे, तो क्या सीखे? रावण मृत्यु शैय्या पर पड़ा था तब राम ने लक्ष्मण से कहा रावण बहुत विद्वान् है जाओ, अन्तिम समय में कुछ सीख लो। लक्ष्मण गये और रावण के सिर के पास खड़े होकर अपना अभिप्राय प्रगट किया और उसे मौन देखकर वापिस लौट आये और राम से बोले–वह बड़ा अभिमानी है, कुछ बोलता ही नहीं। राम बोले – हे लक्ष्मण! अभिमानी वह नहीं, तू है। स्वभाव से ही तू उद्दण्ड है तूने अवश्य उद्दण्डता दिखाई होगी। वह कैसे बोले? तुझे अगर कुछ सीखना है तो विजेता बनकर

नहीं, दास बनकर सीखना होगा। जाओ, उसके चरणों में बैठकर विनय–पूर्वक विनती करो, उसे गुरु स्वीकार करो। लक्ष्मण ने ऐसा ही किया और अब की बार उसे निराश नहीं लौटना पड़ा।

एकलव्य ने भी धनुर्विद्या सीखी थी गुरु द्राण की प्रतिमा से, प्रतिमा से नहीं साक्षात् गुरु से, शिष्य बनकर, सच्चा शिष्य बनकर। जब वह सही निशाना लगाता तो गुरु (अर्थात् उस प्रतिमा) के चरण छू लेता और जब लक्ष्य चूक जाता तो गुरु के समक्ष अपनी निन्दा करता। उसकी विनम्रता का ही परिणाम था कि उसने अर्जुन को भी मात कर दिया। हमें भी देव, शास्त्र व गुरु की अत्यन्त भक्ति–भाव से विनय करनी चाहिये, तभी सीख पायेंगे धर्म के स्वरूप को, अपने आत्म तत्त्व को।

3. वैयावृत्य तप – वैयावृत्य तप का अर्थ है, विरक्त संत–पुरुषों की सेवा करना, पूज्य पुरुषों की सेवा करना। सेवा करते समय पूज्य पुरुषों के प्रति श्रद्धाभाव हो और उनके गुणों में अनुराग हो, तो ही सही सेवा कहलाएगी। मुनिराजों की सेवा करते समय हमें उनके जैसे बनने की भावना रखनी चाहिए। वैयावृत्ति करने वाले के अंतरंग में दया, करुणा और अनुकम्पा सहज ही उत्पन्न हो जाती है। आचार्यों ने लिखा है कि जो वैयावृत्ति करता है वह ग्लानि को जीत लेता है, उसे समाधि की प्राप्ति होती है और आगामी जीवन में निरोग शरीर की प्राप्ति होती है। महाराजों की सेवा से हमें ज्ञान, वैराग्य की प्राप्ति सहज ही हो जाती है।

अन्य धर्मों में भी वैयावृत्य कहीं–कहीं दूसरे रूपों में भी देखने में आती है। गौतम बुद्ध के जीवन की घटना है। एक बार बाण से घायल पक्षी को उन्होंने अपनी गोद में उठा लिया, उसका आवश्यक

उपचार किया, इतने में शिकारी आकर कहने लगा कि यह मेरा शिकार है, इसे मुझे दे दो। बुद्ध बोले—यह हंस तुम्हारा नहीं है। शिकारी लड़ने लगा और जोर—जोर से बोला कैसे नहीं है? हमने ही तो इसका शिकार किया है, यह मेरे बाण से ही तो घायल हुआ है। गौतम बुद्ध बोले कि सोचो मालिक मारने वाला है या बचाने वाला। जो प्राण ले वह मालिक नहीं है, जो प्राणों की रक्षा करे, वह मालिक है।

4. स्वाध्याय तप — स्वाध्याय को परम तप कहा जाता है। "स्वाध्यायः परमं तपः।" स्व माने आत्मा और अध्याय माने अध्ययन करना। आत्मा का अध्ययन करना, चिंतन—मनन करना। किसी का स्वाध्याय का नियम है तो झट 3—4 लाइनें शास्त्र की पढ़कर चले गये यह स्वाध्याय नहीं है।

हमने जो कुछ पढ़ा है, या ज्ञानी पुरुषों से जो कुछ उत्तर मिला है, उसका बार—बार मनन—चिन्तन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है। निर्णीत विषय को स्थिर/कंठस्थ, धारण करने के लिए बार—बार पाठ करना आम्नाय स्वाध्याय है, विषय पर पूरा अधिकार हो जाने पर दूसरे जीवों के हितार्थ उपदेश देना धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय है।

ज्ञानोपयोग बिना आत्मा का कल्याण नहीं। अतः हमें क्रम से स्वाध्याय में प्रगति अवश्य करना चाहिये। स्व का जहाँ अध्ययन हो वही स्वाध्याय है। सबकी तो हमने व्यवस्था की पर अपनी कोई व्यवस्था न की। संसार में अज्ञान दुःख का कारण है और एक मात्र सम्यग्ज्ञान सुख की खान है। सभी को जिनवाणी का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। जिनवाणी मोक्षमार्ग में साक्षात् माता के समान है। जिस प्रकार माँ पाल—पोसकर पुत्र को सक्षम और सामर्थ्यवान् बनाती

है, उसी प्रकार जिनवाणी माँ हमें अनादि काल के अज्ञान रूपी अन्धकार से निकालकर मोक्षरूपी प्रकाश भवन में बैठा देती है। स्वाध्याय करने से ही हमें धर्म का स्वरूप व उसकी महिमा समझ में आती है।

स्वाध्याय करने से ज्ञान–वैराग्य दोनों बढ़ते हैं और आचरण में निर्मलता आती है। सभी को प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

5. व्युत्सर्ग तप – व्युत्सर्ग का अर्थ है त्याग करना – बाह्य में इन धन धान्यादिक का त्याग करना और अंतरंग में शरीर से ममत्व का त्याग करना।

पाँचों पांडवों का शरीर बाहर से जलता रहा पर उन्होंने शरीर की ओर ध्यान भी नहीं दिया। सुकुमाल मुनि के शरीर को स्यालनी तीन दिन तक भक्षण करती रही पर वे शरीर का ममत्व छोड़कर ध्यान में खड़े रहे।

जीवों को सबसे अधिक ममत्व अपने शरीर से होता है।

एक बंदरिया थी। बंदरिया को सबसे अधिक प्यार अपने बच्चे से होता है। वह बंदरिया अपने बच्चे को पेट से चिपकाये पेड़ पर बैठी थी कि अचानक बाढ़ आ गई। बंदरिया ऊपर चढ़ गई, पानी ऊपर बढ़ता गया। बंदरिया वृक्ष की सबसे ऊँची शाखा पर पहुँच गई, पर तब भी अपना बचाव न कर सकी तब अन्त में बच्चे के ऊपर पैर रखकर खड़ी हो गई। किसलिये? अपने शरीर की रक्षा के लिये। इस जीव को सबसे प्यारा शरीर है। शरीर बनाये रखने के लिये यह स्त्री, पुत्रादि सभी कुछ छोड़ सकता है। जितने पाप किये जाते हैं, सब शरीर के लिये।

पर ध्यान रखना यह शरीर तो दगा–बाज मित्र है और दगाबाज

मित्र से सावधान रहना चाहिये।

एक बार दो मित्र घूमने जा रहे थे। एक मित्र आगे चल रहा था और एक मित्र पीछे चल रहा था। पीछे वाले ने देखा आगे से भालू आ रहा है। वह एक वृक्ष पर चढ़ गया और अपने मित्र से कुछ नहीं कहा। आगे वाले मित्र ने देखा कि सामने भालू खड़ा है। पीछे देखता है मित्र गायब, आपत्ति सिर पर है क्या करे? वह ध्यान व प्राणायाम का अभ्यासी था। कुँभक ध्यान में चला जाता है। भालू आकर सम्पूर्ण शरीर को सूंघता है, किन्तु मृत जानकर आगे बढ़ जाता है। दूसरा मित्र आकर के पूछता है कि क्यों, भालू तुमसे क्या कह गया? मित्र बोला–बहुत अच्छी बात कह गया, बोला क्या? वह बोला कि दगाबाज मित्र से दोस्ती कभी नहीं करना। मित्र शर्म के मारे पानी–पानी हो गया।

सबसे बड़ा दगाबाज हमारा शरीर है। जिस समय आत्मा को जाना होगा, चला जायेगा यह शरीर यहीं छूट जायेगा। ऐसे शरीर से ममत्व का त्याग करना, राग छोड़ना ही कार्यकारी है। अहंकार और ममकार का त्याग करना ही व्युत्सर्ग नाम का तप है। देखो, सारा संसार मैं और मेरे की उलझन में उलझा है। सारा झगड़ा ""आई एण्ड माइन" का ही है। इसे छोड़ना भी बड़ी तपस्या का काम है। बाह्य में धन, धान्य आदि वस्तुएँ छोड़ना आसान हैं पर अंतरंग में बैठे "मैं" और "मेरेपन" के भाव को छोड़ना आसान नहीं है। इसलिये साधना करने वाला साधक सावधानी पूर्वक अहंकार और ममत्व भाव को छोड़ने का अभ्यास करता है। जिससे चेतना में उज्ज्वलता आती है, देहासक्ति घटती है और आत्मा के वास्तविक स्वरूप के प्रति अनुराग बढ़ता है।

6. ध्यान तप – "एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम्"। एक विषय में चित्तवृत्ति को रोकना ध्यान है। ध्यान के चार भेद होते हैं – आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें से आर्त और रौद्र ध्यान संसार के हेतु हैं और धर्म और शुक्ल ध्यान मोक्ष के हेतु हैं।

आर्तध्यान – पीड़ा से उत्पन्न हुए ध्यान को आर्तध्यान कहते हैं। इसके चार भेद हैं – अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, वेदना जन्य और निदान। विष, कंटक, शत्रु आदि अप्रिय पदार्थों का संयोग हो जाने पर "वे कैसे दूर हों" इस प्रकार की चिन्ता करना प्रथम अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है।

अपने इष्ट पुत्र–स्त्री और धनादिक के वियाग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए निरन्तर चिन्ता करना, द्वितीय इष्ट वियोगज आर्तध्यान है।

वेदना के हाने पर उसे दूर करने के लिए सतत् चिन्ता करना, तीसरा वेदनाजन्य आर्तध्यान है। आगामी काल में विषयों की प्राप्ति के लिए निरन्तर चिन्ता करना, चौथा निदानज आर्तध्यान है।

यह आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक हो सकता है। छठे गुणस्थान में निदान नाम का आर्तध्यान नहीं हो सकता है।

रौद्रध्यान–क्रूर परिणामों से उत्पन्न हुए ध्यान को रौद्रध्यान कहत हैं। उसके चार भेद हैं –

1. हिंसा में आनन्द मानना, हिंसानन्द रौद्रध्यान है।
2. झूठ बालने में आनन्द मानना, मृषानन्द रौद्रध्यान है।
3. चोरी में आनन्द मानना, चौर्यानन्द रौद्रध्यान है।
4. विषया के संरक्षण में आनन्द मानना, परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है।

यह ध्यान पाँचवें गुणस्थान तक हो सकता है किन्तु देशव्रतियों का रौद्रध्यान नरक आदि दुर्गतियों का कारण नहीं होता।

धर्मध्यान– संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होने के लिए या विरक्त होने पर उस भाव की स्थिरता के लिए जो प्राणिधान होता है, उसे धर्म ध्यान कहते हैं।

उसके चार भेद हैं – आज्ञा, उपाय, विपाक और संस्थान। इनकी विचारणा के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्म ध्यान है।

सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण मान करके यह इसी प्रकार है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं हैं। इस प्रकार सूक्ष्म पदार्थों का भी श्रद्धान कर लेना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

मिथ्यादृष्टि प्राणी उन्मार्ग से कैसे दूर होंगे? इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना उपाविचय धर्म ध्यान है।

ज्ञानावरणादि कर्मों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव निमित्तक फल के अनुभाग के प्रति उपयोग का होना विपाकविचय धर्मध्यान है।

लोक के आकार और स्वभाव का निरन्तर चिन्तवन करना संस्थान–विचय धर्मध्यान है।

'सहज सुख–साधन' ग्रंथ में ब्रह्मचारी श्री शीतल प्रसाद जी ने ध्यान करने की कुछ विधियाँ बताई हैं। यहाँ उनका वर्णन किया जा रहा है।

ध्यान की विधि :– बहुत सीधी विधि यह है कि अपने शरीर के भीतर व्याप्त आत्मा को शुद्ध जल की तरह निर्मल भरा हुआ विचार करें और मन को उसी जल समान आत्मा में डुबाये रक्खें। जब हट, तब अर्हं, सोऽहं, सिद्ध, अरहंत–सिद्ध, ऊँ, आदि मंत्र पढ़ने लगें फिर उसी में

डुबोएं। इस तरह बार–बार करें। कभी–कभी आत्मा का स्वभाव विचार लें कि यह आत्मा परम शुद्ध ज्ञानानन्दमयी है।

दूसरी विधि यह है कि अपने आत्मा को शरीर प्रमाण आकारधारी स्फटिक मणि की मूर्ति के समान विचार करके उसी के दर्शन में लय हो जावें। जब मन हटे तब ऊपर बताये मंत्र पढते रहं, कभी–कभी आत्मा का स्वभाव विचारते रहें।

तीसरी विधि यह है कि पिंडस्थ ध्यान करें। इसकी पाँच धारणाओं का क्रमशः अभ्यास करके आत्मा के ध्यान पर पहुँच जाएं। धारणाओं का स्वरूप यह है :–

(क) पार्थिवी धारणा :– इस मध्य लोक को सफेद निर्मल क्षीर समुद्रमय चिंतवन करें। उसके मध्य में तपाए हुए सुवर्ण के रंग का एक हजार पत्रों का कमल, एक लाख योजन का चौड़ा जम्बूद्वीप के समान विचारें, इसके मध्य में कर्णिका को सुमेरु पर्वत के सामन पीत वर्ण का सोचें। इस कर्णिका के ऊपर सफेद रंग का ऊँचा सिंहासन विचारें। फिर ध्यान करें कि मैं इस सिंहासन पर पद्मासन से बैठा हूँ। प्रयोजन यह है कि मैं सर्व कर्म मल को जलाकर आत्मा को शुद्ध करुं। इतना चिन्तवन पार्थिवी धारणा है।

(ख) आग्नयी धारणा :– उसी सिंहासन पर बैठा हुआ यह सोचे कि मेरे नाभिमण्डल के भीतर एक सोलह पत्रों का निर्मल सफेद खिला हुआ कमल ऊपर की ओर मुख किये हुये है। उसके सोलह पत्रों पर सोलह अक्षर पीत रंग के लिखे विचारें। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः। उस कमल के नीचे कर्णिका में चमकता हुआ र्हं अक्षर विचारें फिर इस

नाभिकमल के ऊपर हृदय में एक अधोमुख (औंधा) आठ पत्रों का कमल विचारें जिसके पत्रों पर ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों को स्थापित करें। फिर यह सोचें कि नाभिकमल के मध्य में जो र्हं मन्त्र है उसकी रेफ से धुंआ निकला, फिर अग्नि का फुलिंगा उठा, फिर लौ उठी और वह बढ़कर हृदय के कमल को जलाने लगी। वही अग्नि की शिखा मस्तक पर आ गई और चारों तरफ शरीर के उसकी रेखा फैलकर त्रिकोण में बन गई। तीन रेखाओं को र र अग्नि मय अक्षरों से व्याप्त देखें तथा तीनों कोनों के बाहर हर एक में एक–एक स्वस्तिक अग्निमय विचारें भीतर तीनों कोनों पर ऊँ रं अग्निमय विचारें, तब यह ध्याता रहे कि बाहर का अग्नि–मंडल धूम रहित शरीर को जला रहा है व भीतर की अग्नि शिखा आठ कर्मों को जला रही है। जलाते–जलाते सर्व राख हो गई, इतना ध्यान करना सो आग्नेयी धारणा है।

(ग) मारुती धारणा :– वही ध्याता वहीं बैठा हुआ सोचे कि तीव्र पवन चल रही है, जो मेघों को उड़ा रही है, समुद्र को क्षोभित कर रही है, दशों दिशाओं में फैल रही है, यही पवन मेरे आत्मा के ऊपर पड़ी हुई शरीर व कर्म की रज को उड़ा रही है। ऐसा ध्यान करना पवन धारणा है।

(घ) वारुणी धारणा :– वही ध्याता सोचे कि बड़ी काले–काले मेघों की घटाएं आ गईं। उनसे मोती के समान जल गिरने लगा तथा अर्धचंद्राकार जल का मंडल आकाश में बन गया, उससे अपने आत्मा पर जल पड़ता हुआ विचारें कि यह जल बची हुई रज को धो रहा है। ऐसा सोचना जल धारणा है।

(ङ) तत्त्वरूपवती धारणा :– फिर वही ध्यानी सोचे कि मेरा आत्मा सर्व कर्मों से रहित व शरीर रहित पुरुषाकार सिद्ध भगवान के समान शुद्ध है। ऐसे शुद्ध आत्मा में तन्मय हो जावे। यह तत्त्वरूपवती धारणा है।

चौथी विधि यह है कि पदों के द्वारा पदस्थ ध्यान किया जावे। उसके अनेक उपाय हैं। कुछ यहाँ दिये जाते हैं–

(क) ह्रीं मंत्रराज को चमकता हुआ नासाग्र पर या भौंहों के मध्य पर स्थापित करके चित्त को रोके। कभी मन हटे तो मंत्र कहे व अरहंत–सिद्ध का स्वरूप विचारा जावे।

(ख) ॐ प्रणव मंत्र को हृदयकमल के मध्य में चमकता हुआ विचारें। चारों तरफ 16 सोलह स्वर एवं कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग एवं य र ल व श ष स ह इन सब व आठ पत्तों पर शेष अक्षरों को बांट लें और ध्यान करें। कभी–कभी ॐ का उच्चारण करें, कभी पंच परमेष्ठी के गुण विचारें।

(ग) नाभि स्थान में या हृदय स्थान में सफेद रंग का चमकता हुआ आठ पत्रों का कमल विचारें। मध्य कर्णिका में सात अक्षर का णमो अरहंताणं" लिखा विचारें चार दिशाओं के चार पत्रों पर क्रम से "णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमोउवज्झायाणं, णमोलोए सव्वसाहूणं" इन चार मंत्र पदों को लिखें, चार विदिशाओं के चार पत्रों पर "सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः" इन चार मंत्रों को स्थापित करे, फिर क्रम से एक एक पद मन को रोक कर कभी–कभी पद बोलकर कभी अरहंत आदि का स्वरूप विचार कर ध्यान करे।

(घ) मुख में सफेद रंग का एक कमल आठ पत्रों का सोचें। उन आठों पत्रों पर क्रम से आठ अक्षरों को स्थापित करे "ऊँ णमो अरहंताणं" एक–एक अक्षर पर चित्त रोकें। कभी मन्त्र पढ़ें, कभी स्वरूप विचारें।

(ङ) इसी कमल के बीच में कर्णिका में सोलह स्वरों को विचारें, उनके बीच में ही मन्त्र को विराजित ध्यायें।

(5) रूपस्थ ध्यान – की विधि यह है कि समवशरण में विराजित तीर्थंकर भगवान को ध्यानमय सिंहासन पर शोभित, बारह सभाओं से वेष्ठित, इन्द्रादिकों से पूजित ध्यावें। उनके ध्यानमय स्वरूप पर दृष्टि लगावें।

(6) छठी विधि रूपातीत ध्यान की है – इसमें एकदम से सिद्ध भगवान को शरीर रहित पुरुषाकार शुद्ध स्वरूप विचार करके अपने आपको उनके स्वरूप में लीन करें।

ध्यान तप में हम आत्मज्ञान पूर्वक अपने कर्मों की निर्जरा करने के लिए चित्त की चंचलता को रोकने का अभ्यास करते हैं। जो इष्ट–वियोग या अनिष्ट संयोग की पीड़ा से मुक्त है, जो शारीरिक पीड़ा में समताभाव रखता है, जिसे आगामी सुख–सुविधा की प्राप्ति की चिंता नहीं है और जिसका मन हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह के प्रति विरक्त है वास्तव में वही ध्यान कर पाता है। ध्यान से ही कर्मों का क्षय होकर मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।

'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ में आचार्य शुभचन्द्र महाराज ने लिखा है –

हे आत्मन्! तू संसार के दुःख विनाशार्थ ज्ञानरूपी सुधारस को पी और संसार रूप समुद्र के पार होने के लिए ध्यानरूपी जहाज का अवलम्बन कर।

आत्मा का हित ध्यान ही है। इस कारण जो कर्मों से मुक्त होने के इच्छुक मुनि हैं, उन्होंन प्रथम कषायों की मंदता के लिये तत्पर होकर कल्पना – समूहों का नाश करके नित्य ध्यान का ही अवलम्बन किया है।

हे आत्मन्! यदि तू कष्ट से पार पाने योग्य संसार नामक महा पंक (कीचड़) से निकलने की इच्छा रखता है, तो ध्यान में निरन्तर धैर्य धारण क्यों नहीं करता?

हे भव्य! यदि तेरे तत्त्वों के उपदेश से बाह्य और अभ्यन्तर की समस्त मूर्च्छा (ममत्व परिणाम) नष्ट हो गई हो, तो तू अपने चित्त को ध्यान में ही लगा।

हे भव्य! यदि तू प्रमाद और इन्द्रियों के विषयरूपी पिशाच अथवा जलजन्तुओं दांतरूपी यंत्र से छूट गया है, तो क्लेशों के समूह को घात तथा नष्ट करने वाले ध्यान का आश्रय कर।

हे धीर पुरुष! जो तू दुरन्त संसार के भ्रमण से विरक्त है, तो उत्कृष्ट ध्यान की धुरा को धारण कर। क्योंकि संसार से विरक्त हुए बिना ध्यान में चित्त नहीं ठहरता।

जिस मुनि का चित्त कामभोगों से विरक्त होकर और शरीर में स्पृहा को छोड़कर स्थिरीभूत हुआ है, निश्चय करके उसी को ध्याता कहा है। वही प्रशंसनीय ध्याता है।

गज कुमार की सगाई हो गई थी पर भगवान के समवशरण में दिव्य ध्वनि सुनकर उन्हें वैराग्य हो गया और जंगल में जाकर दीक्षा ले ली। जब उनके ससुर को पता चला तो उन्हें बड़ा क्रोध आया, वे उन्हें ढूंढ़ते हुये उसी जंगल में पहुँच गये जहाँ वे ध्यान में लीन बैठे थे। ससुर ने उनको बहुत बुरे वचन बोले, पर वे तो ध्यान में लीन थे,

जब वे कुछ नहीं बोले तो उसको और क्रोध आया और उसने वहीं से गीली मिट्टी उठाकर उनके सिर पर अंगीठी बनाकर उसमें आग लगा दी। पर वे तो ध्यान में ऐसे लीन हुये कि समस्त कर्मों को नष्ट कर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया।

जो विषय कषायों का त्याग करके इन बारह प्रकार के तपों को करते हैं, उन्हीं का जीवन सार्थक है। तप की महिमा अचिन्त्य है, वर्णनातीत है। तपश्चरण का कितना चमत्कार है, इसका एक जीता जागता उदाहरण है।

एक रूपलक्ष्मी नाम की महिला थी। वह पंचमी के 5–5 दिन के उपवास किया करती थी। वह बड़ी भोली–भाली थी। उसने अपने जीवन में कभी रोना नहीं सुना था। एक बार क्या घटना घटी कि, वह अपने घर से कहीं बाहर जा रही थी। उसे रास्ते में एक रोती हुई महिला दिख गई। उसका बेटा मर गया था। जब रूपलक्ष्मी ने उसका रोना सुना तो समझा, कि यह स्त्री कोई गीत गा रही है। उसने कभी रोना सुना ही न था, इसलिये उसे गीत समझ लिया। वह उस रोने वाली स्त्री से कह उठी कि, बहिन तुम तो बहुत अच्छा गा रही हो। उस महिला को बुरा लग गया, देखो हमारा तो पुत्र मर गया, जिससे हम रो रहे हैं और यह कह रही है कि तुम बड़ा अच्छा गीत गा रही हो। उसने यह प्रतिज्ञा की कि मैं भी इसको इसी तरह रुलाकर रहूँगी।

उसने एक सकोरे में जहरीला सर्प रखकर उसे बन्द करके रूपलक्ष्मी को दिया और कहा कि इस सकोरे के अन्दर बड़ी कीमती रत्नों की माला है। उसे तू अपने बेटे को पहना देना। उसने घर जाकर अपने बेटे से कहा कि बेटा तुम नौ बार णमोकार मंत्र पढ़कर

इस सकोरे के अन्दर से रत्नमाला निकालकर पहन लो। बेटे ने वैसा ही किया। उसने उस सकोरे के अन्दर से रत्नमाला को निकालकर पहन लिया और फिर उसी सकोरे में रखकर बन्द कर दिया।

दूसरे दिन वही स्त्री, जो कि सकोरा दे गयी थी, आती है। वह सोच रही थी कि उसका बेटा तो सर्प के काटने से मर चुका होगा। पर वहाँ जाकर देखा तो बात कुछ और ही थी। उसने पूछा—बहन पहनाई थी रत्नों की माला अपने बेटे को? हाँ बहिन पहनाई थी। वह तो बहुत सुन्दर रत्नों की माला है। कहाँ रखी है? उसी प्रकार सकोरे में। जब उस स्त्री ने उस सकोरे में हाथ डाला तो उस जहरीले सर्प ने उसको डस लिया और उसकी मृत्यु हो गयी। रूपलक्ष्मी पंचमी के पाँच—पाँच उपवास करती थी जिससे उसकी व उसके पुत्र की रक्षा हुई।

यह शरीर तो अशुचि है दुःखों को उत्पन्न करने वाला है, और विनाशीक भी है, इसको कितना ही खिलाओ, पिलाओ, सेवा करो पर अन्त में यह नियम से धोखा ही देगा। इस शरीर का सदुपयोग तो तप करने में ही है। हमसे जितना बन सके इन बारह प्रकार के तपों को अत्यन्त हितकारी समझकर करते रहना चाहिये।

तप की महिमा जिनागम में पद—पद पर गाई है। भगवती आराधना में लिखा है—जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो निर्दोष तप से पुरुष प्राप्त न कर सके। जैसे सोने में लगा हुआ मैल सोने को आग में तपाने से दूर हो जाता है, उसी प्रकार अनादिकाल से आत्मा के ऊपर जो मलिनता चढ़ी हुई है वह तपस्या की आग से नष्ट हो जाती है। उत्तम प्रकार से किये गये तप के फल का वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। उत्तम तप ही सब प्रकार से सुख देने वाला है। कहा भी है—

जो तप तपै खपै अभिलाषा, चूरे करम–शिखर गुरु भाषा।

अर्थात् जो अभिलाषायें छोड़कर तपस्या करता है उसको इस लोक एवं परलोक में सुख की प्राप्ति होती है।

शरीर को कष्ट देने का नाम तपस्या नहीं है, कर्मों को क्षय करने का नाम तपस्या है। सभी को अपनी शक्ति अनुसार तप अवश्य करना चाहिए। एक बार एक संगीतज्ञ एक महात्मा जी का शिष्य हो गया। उसने सोचा –चलो शीघ्रता से साधना की गहराई में प्रवेश करें और वह दो दिन का, पाँच दिन का, सात दिन का, बारह दिन का, महीन–महीने का उपवास करने लगा। शरीर अस्थि कंकाल हो गया, आँखें धँस गई, गाल पिचक गये। शरीर में दिव्यता के स्थान पर भयानकता ने डेरा डाल लिया। कोई उनके पास जाता भोजन के लिये पूछता तो सीधे मुँह उत्तर नहीं मिलता। प्रायः जो जबरन की साधना या त्याग करते हैं वे क्रोधी या चिड़चिड़े हो जाते हैं। महात्मा जी के पास किसी ने शिकायत की कि आपका संगीतज्ञ शिष्य तपस्या की अति कर गया है और उसके स्वभाव से संगीत गायब हो गया है। महात्मा जी ने उसे बुलाया और पूछा–सुना है तुम पहले बहुत बड़े संगीतज्ञ थे। हाँ महात्मन्। अच्छा एक बात बताओ–अगर तुम्हें वीणा से मधुर स्वर निकालने हों तो क्या वीणा के तार को एक दम ढीला छोड़ देते हो? नहीं महात्मन्। तो क्या एक दम तेज कस देते हो? नहीं महात्मन्। तो वत्स तुम्हें इस शरीर रूपी वीणा से परमात्मा रूपी संगीत को निसृत करना है। अगर साधना के माध्यम से शरीर के तारों को अत्यन्त कस दोगे तो अन्तरात्मा के दर्शन नहीं होंगे और शरीर को विषय–भोगों में लगा दोगे तो भी आत्मानुभूति नहीं होगी। जो शक्ति अनुसार तपस्या करके इन्द्रिय और मन का निग्रह करता है, इच्छाओं को रोकता है, वही आत्मानुभूति कर पाता है।

अतः आत्म कल्याण के इच्छुक जनों को अपनी शक्ति के अनुसार तप अवश्य करना चाहिये।

"जं सक्कई तं कीरइ, जं च ण सक्कई तहेव सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो, पावई अजरामर ठाणं।।"

अपनी शक्ति को न छिपा कर सभी को तपस्या करनी चाहिये। यदि शक्ति न हो तो पूर्ण रूप से श्रद्धान करना चाहिये। जो मनुष्य तप का श्रद्धान भी करते हैं वे जीव अजर–अमर पद को प्राप्त करते हैं। संयम की साधना तपस्या से होती है। स्वेच्छापूर्वक कष्ट को सहन करना तपस्या है। कष्टों और कठिनाइयों को सहन किये बिना संयम की साधना संभव नहीं है। भगवान महावीर जन्म से ही अवधिज्ञानी थे। दीक्षा ग्रहण करते ही उन्हें मनः–पर्ययज्ञान भी प्राप्त हो गया था। वे जानते थे और दुनिया को जाहिर हो गया था कि वे तीर्थंकर हैं, उन्हें मोक्ष अवश्य प्राप्त होगा। फिर भी उन्होंने दीक्षा लेकर बारह वर्ष तक घोर तप किया। अतः आत्मकल्याण के लिये तप करना अनिवार्य है।

ये इच्छायें अभिलाषायें तो आत्मा की पवित्रता को मलिन करने वाली हैं, जिनसे व्यक्ति दुःखी रहता है। इन इच्छाओं को जीतकर समता भाव की उपलब्धि केवल तप के माध्यम से ही संभव है। इच्छा रहित प्राणी ही निराकुल और सुखी रह सकता है।

इच्छायें तो आगवत् आत्मा के गुणों को जलाने वाली हैं। अतः उनका त्याग कर सुख, दुःख, शत्रु, मित्र, इष्ट–अनिष्ट, श्मशान या महल सब में समता भाव धारण करो। अनन्त काल से इन इच्छाओं की पूर्ति कर अपना अहित किया, अब संयम–तप को धारण कर इन इच्छाओं को जड़ से नष्ट कर दो। सभी जानते हैं जब कोई चिन्ता

लग जाती है तो रात भर नींद नहीं आती।

रात्रि का दूसरा प्रहर बीता, तीसरे प्रहर की बेला आयी, किन्तु अभी तक सम्राट श्रेणिक की आँखों में नींद न उतर सकी। उनके शयन कक्ष में शीतल मंद प्रकाश था, गवाक्षों से ठंडी–ठंडी हवा आ रही थी, मुलायम–मुलायम सेज थी, सारा वातावरण प्रिय और प्रशान्त था किन्तु महाराज श्रेणिक का हृदय एकदम अशान्त था। मन में अशान्ति और बेचैनी इतनी उमड़–घुमड़ रही थी कि महाराज की पलकों पर खुमारी की छाया तक नहीं दिखाई देती थी।

सारी रात सम्राट कभी सेज पर लेटते, कभी करवटें बदलते फिर बेचैनी से शयन कक्ष में चहल–कदमी करने लगते। वे किसी गंभीर विचारधारा में बह रहे थे। और समय–असमय बड़–बड़ा रहे थे। वे बड़े चिन्तित थे कि भगवान महावीर ने मेरे प्रश्न के उत्तर में कहा था कि मुझे नरक जाना पड़ेगा। सुनकर मैं तो सन्न रह गया। मैं इतना बड़ा सम्राट, अपार शक्ति और वैभव का स्वामी। इतने राजाओं का अधिपति, क्या नरक जाने के योग्य हूँ? मैं नरक नहीं जाऊँगा, नहीं जाऊँगा .....। माना कि मुझसे कुछ भूलें हुई हैं तो क्या उनका प्रतिकार नहीं हो सकता है? पर ध्यान आता है, यह जगत विख्यात है कि भगवान महावीर की वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। मुझे भी उनकी वाणी पर अटूट श्रद्धा है।

कुछ सोचकर .... फिर भी मैं उनका अनन्य भक्त हूँ और उनकी कृपा मुझ पर बरसती रहती है। साथ ही मुझे पूर्ण विश्वास है कि भगवान महावीर पूर्ण समर्थ हैं। वे चाहें तो मेरा उद्धार कर सकते हैं। मैं अड़कर, हठकर, चरण थाम कर विनती करुंगा कि हे भगवन! किसी भी कीमत पर मुझे नरक जाने से बचाईये, मैं नरक नहीं जाना

चाहता, नहीं जाना चाहता। .... मैं उसकी कीमत चुकाने को तैयार हूँ। मैं उनके चरणों पर राजकोष की रत्नराशि बिखेर दूँगा। अपना राजमुकुट उनके चरणों पर रख दूँगा, यहाँ तक कि अपना विशाल साम्राज्य भी उन्हें समर्पित करने में नहीं हिचकिचाऊँगा। पर मैं नरक नहीं जाना चाहता हूँ। ..... क्या इतनी विशाल कीमत चुकाने पर भी वे मेरा नरकगमन नहीं टालेंगे?

ऐसी ही विचारधाराओं के बीच सम्राट गोते खा रहे थे, विचार कर रहे थे, बड़े बेचैन और चिन्तित थे।

सबेरा हो गया लेकिन उन्हें नींद नहीं आ सकी। सूर्य की नरम किरणें विपुलाचल पर्वत पर पहुँची ही थीं कि सम्राट श्रेणिक, भी वहाँ पहुँच गये। भगवान की वंदना कर उनसे अपनी हृदय–व्यथा बड़े अनुनय–विनय से कही। यह भी कहा कि वे नरकदण्ड टालने के लिये अपनी रत्न राशि, मुकुट और साम्राज्य भी भगवान के चरणों में अर्पित करने को तैयार हैं। भगवान की दिव्य ध्वनि मे आया भव्य श्रेणिक! तुम्हारे ही राज्य में पुण्य–प्रभ नाम का एक श्रावक है उसकी एक दिन की सामायिक ले आओ, फिर मैं आगे का उपाय बताऊंगा।

श्रेणिक बड़े हर्ष, उत्साह और आशा से विपुलाचल से उतर कर रथ पर बैठे और सारथी को पुण्य प्रभ के घर की ओर रथ ले जाने का संकेत किया।

सम्राट जब श्रावक के द्वार पर पहुँचे तो उसने महाराज का यथावत् आदर सत्कार किया। सम्राट बोले – हे श्रावक श्रेष्ठ! मैं तुमसे याचना करने आया हूँ। मुझे निराश न करना, मूल्य जो माँगोगे मैं दे दूँगा और उसकी एक दिन की सामायिक की माँग की।

महाराज की माँग सुनकर वह श्रावक दृढ़ गंभीर वाणी में

बोला—महाराज! सामायिक तो समता का नाम है। सुख—दुःख, शत्रु—मित्र, वन—भवन, योग—भोग आदि में अलिप्तता होना (या) समभाव रखना सामायिक है। ऐसी सामायिक कोई किस प्रकार दूसरे को दे सकता है? वह तो पर में ममता के त्याग से, तपश्चरण के द्वारा इच्छाओं का निरोध करने से हृदय में उतरती है, महाराज! सामायिक देय वस्तु नहीं है, हाँ वह उपादेय अवश्य है।

सम्राट कुछ देर चुप रहे, फिर अपनी समस्या उन्होंने रखी तो श्रावक श्रेष्ठ बोला—महाराज! पहले अपने हृदय से अपने रत्न, वैभव एवं साम्राज्य के अहंभाव को हटायें, सब पर्यायें मिथ्या हैं, नश्वर हैं, स्वर्ग, नरक भी पर्यायें हैं उनमे आसक्ति त्यागें तो न वे सुख देने वाली हैं, न दुःख देने वाली हैं।

सम्राट बोले – हे श्रावक वर! क्या सामायिक से नरक का दुःख मिट सकता है?

पुण्य प्रभ श्रावक बोला, महाराज! सामायिकी या समदृष्टि होने पर बाहर के न सुख प्रिय लगते हैं और न दुःख अप्रिय। पं. दौलतराम जी ने लिखा है – वह स्वर्ग में भी रमत अनेक सुरनि संग, पै नित तिस परिणति तें हटाहटी तथा नरक में बाहर नारकी कृत दुःख भोगत, अंतर सुखरस गटागटी करता है। स्वर्ग में देवियों के साथ रमण करता हुआ भी उनसे छुटकारे के लिये छटपटाता है और नरक के दुःख भोगते हुए भी अंतर में आत्म—सुख का गटागट पान करके अपूर्व सुख का अनुभव करता है। सुख—दुःख तो पर—पदार्थों में हमारी ममता की देन है। ममता से नाता तोड़ो और समता से नाता जोड़ो तो सुख—दुःख की सब उलझनें अपने आप सुलझ जाती हैं।

राजा श्रेणिक ने सब कुछ बड़ी लगन से सुना। वे ध्यान मग्न हो गये। श्रावक श्रेष्ठ के वचन उनके हृदय में सीधे उतर गये और बार–बार गूंजने लगे। सम्राट श्रेणिक को लगा। उनके ज्ञान के बंद कपाट मानो खुल रहे हों और उनका हृदय समता के प्रकाश से भर रहा हो। उन्हें यह भी लगा कि उनकी समस्या सुलझ गई है और उनकी याचना पूर्ण कृतार्थ हो गई है। सम्राट अति संतुष्ट और प्रसन्न मन से श्रावक श्रेष्ठ को नमस्कार कर अपने राजभवन लौट गये।

दूसरे दिन समवशरण में देखा गया कि श्रेणिक शान्त और संतुष्ट बैठे हुये महावीर भगवान की वाणी को मनोयोग से सुन रहे हैं। भगवान की वाणी में यह भी आया कि श्रेणिक का जीवन परम भव्य है और वह इसी भरत खण्ड में तीर्थंकर होगा।

यह सुन अनेक लोग सम्राट श्रेणिक को देखने मुड़े, लेकिन श्रेणिक के मुख मण्डल पर, आह्लाद के और न ही विषाद के कोई भाव लक्षित हो रहे थे। ऐसा लगता था कि वे समता में निमग्न हैं। समता धन के आ जाने से कल के और आज के श्रेणिक में कितना परिवर्तन आ गया था।

"तपसा निर्जरा च" आचार्य उमास्वामी महाराज ने लिखा है कि तप के द्वारा संवर तथा निर्जरा दोनों ही होते हैं। मोक्ष उपादेय तत्त्व है और संवर तथा निर्जरा उसके साधक तत्त्व हैं। इनके बिना मोक्ष होना संभव नहीं। अतः मुक्ति प्राप्त करने के लिये तपश्चरण करना जरूरी है। तप करने वाले मुनिराज ही कठिन परिस्थितियों में अपने समताभाव को स्थिर रख पाते हैं –

अभिनन्दन आदि 500 मुनिराजों को घानी में पेल दिया था। इस

महान दु:खद उपसर्ग को प्राप्त होकर भी वे मुनिराज अपने साम्यभाव से नहीं चिगे और शुक्लध्यान में लीन होकर सबने मोक्ष रमा का वरण किया।

उस समय का दृश्य सोचो उन मुनिराजों ने अपने साम्यभाव को कैसे स्थिर रखा होगा। एक–एक साधु घानी में डाला जा रहा है, 499 साधु पेले जा चुके हैं, जिनके रक्त से खून की नदी बह रही है, पर्वत बराबर हड्डियों का ढेर सामने दिखाई दे रहा हैं, चारों ओर जनता त्राही–त्राही कर रही है, फिर भी कोई रक्षा नहीं कर सकता। अपने परमोपकारी आचार्यादि को नेत्रों के समक्ष इस प्रकार की हृदय विदारक दशा को प्राप्त होते देखकर भी उन अन्तिम मुनिराज को अपने साम्यभाव को ज्यों–का–त्यों स्थिर रखना है। इतना ही नहीं वे मुनिराज जानते हैं अब घानी में डाले जाने की अन्तिम बारी मेरी है और देखो अब मुझ उसमें डाल ही दिया गया है, फिर भी निर्लिप्त हूँ, निर्विकल्प हूँ, और अपन ही ज्ञानरस मं निमग्न हूँ, क्योंकि मेरे लिये तो जैसे अन्य मुनिराज मुझस भिन्न थे, वैसे मेरा शरीर भी मुझ से भिन्न है। जैसे अन्य मुनिराजों के छिन्न–भिन्न किये जाने पर मुझे कष्ट नहीं हुआ, वैस मेरे ज्ञायक स्वभाव से भिन्न इस शरीर के छिन्न–भिन्न किये जाने पर मुझे कोई कष्ट नहीं है और व मुनिराज अपने साम्यभाव स च्युत नहीं हुये तथा समस्त कर्मों को नष्ट कर मुक्ति का प्राप्त कर लिया। यह सब संयम वा तप की ही महिमा है। तपश्चरण के द्वारा समस्त इच्छाओं का अभाव होन पर ही इस संसार के आवागमन से छुटकारा प्राप्त हो सकता है। हम सभी का अपनी शक्ति के अनुसार तप अवश्य करना चाहिये।

भगवान ऋषभदेव के तप का वर्णन आया है। तप के माध्यम से जिस आनन्द को भगवान ऋषभदेव ने प्राप्त किया था, वही आनन्द

प्राप्त करने की सामर्थ्य हम सभी में है। यदि वैसा आनन्द चाहिये तो इन इच्छाओं का निरोध करो। जीव की दो परिस्थितियाँ होती हैं। (1) इच्छा सहित और (2) इच्छा रहित। अब सोचो इच्छा सहित वाली स्थिति में आनन्द है या इच्छा रहित वाली स्थिति में आनन्द है? तो स्पष्ट है कि आनन्द तो इच्छारहित स्थिति में है। इच्छा सहित स्थिति तो आत्मा के लिये दुःख रूप है। आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है – 'मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा स मोक्षमचिगच्छति, इत्युक्तवा – द्वितान्वेषी कांक्षा न क्वापि योजयत्।' अर्थात् जिसके मोक्ष में भी इच्छा है, वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। इस कारण हित चाहने वाला पुरुष कहीं भी इच्छा न करे। इसकी रीति यह है कि पहिले तो इच्छा होती है मोक्ष के लिये, वह अभ्यस्त हो जाता है और अपने ब्रह्मस्वरूप के अनुभव में पारगामी हो जाता है उस समय उसे कोई भी इच्छा नहीं रहती। केवलज्ञानस्वरूप आनन्दमय आत्म तत्त्व का भान रहता है। ऐसे योगी को मोक्ष होता है।

समस्त परिस्थितियों में समताभाव रखो। अपने लिये किसी से कुछ न चाहो, यह एक बड़ा तप है। अपने लिये घर न चाहो, इज्जत न चाहो जन्म–मरण के चक्र में रुलने वाले किसी पुरुष ने आपसे कह दिया कि बाबू साहब तो बड़े अच्छे हैं, इससे कौन–सी उन्नति होगी? सर्व प्रकार की इच्छाओं का निरोध करो और ऐसी निगाह रखो कि जो कुछ भी होता है, वह भले के लिये ही होता है।

एक राजा और मंत्री थे। मंत्री को यह कहने की आदत थी कि जो कुछ होता है वह भले के लिये होता है। एक बार राजा मंत्री के साथ जंगल में मंत्री से पूछता है कि मेरे 6 अंगुली हैं सो यह कैसा है? मंत्री ने कहा बहुत अच्छा है, यह भी भले के लिये है। उस राजा को गुस्सा आ गया। सोचा कि मैं तो छिंगा हूँ और यह कहता है कि

बहुत अच्छा हे। मंत्री को कुँए मे ढकेल दिया और आप आगे बढ़ गया। अब क्या हुआ? एक देश में राजा नरमेध–यज्ञ कर रहा था। उसमें बलि देने के लिये सुंदर निर्दोष मनुष्य चाहिय था। सो राजा ने चार पंडों को अच्छा मनुष्य खोजन के लिये छोड़ा। उन .चारों पंडों को वही राजा जंगल में मिल गया, राजा सुंदर था ही। उसे चारों पंडे पकड़ ल गये और पकड़कर उन्होंने यज्ञ के पास एक खूटे में बाँध दिया। बलि देन की तैयारी हो रही थी कि एक पंडे न देखा कि अरे! इसके एक हाथ में तो 6 अंगुली हैं। उस यज्ञ मं निर्दोष शरीर वाला मनुष्य चाहिये था। राजा की 6 अंगुली देखकर वहाँ से डंडे मारकर उस राजा को भगा दिया। अब राजा रास्ते में सोचता है कि मंत्री ठीक कहता था कि मेरी 6 अंगुली हैं तो बड़ा अच्छा है, उसकी बात ठीक हुई। राजा प्रसन्न होकर उस कुँए के पास आया और मंत्री को उस कुँए से निकाल लिया। मंत्री से कहा कि तुम ठीक कहते थे कि जो होता है सो भले के लिय ही होता है। मंत्री ने पूछा क्या हुआ? राजा ने सारा किस्सा सुनाया, और कहा कि हमार 6 अंगुली थीं, इसलिये बच गये। अच्छा, मंत्री! यह बताओ कि तुम्हें जो मैंने कुँए में पटक दिया सो कैसा हुआ? मंत्री बोला यह भी अच्छा हुआ। राजा बोले–कैसे? मंत्री ने कहा–महाराज! यदि मैं साथ में होता, तो मैं भी पकड़ा जाता। आप तो बच जाते 6 अंगुली की वजह से और मैं ही फँसता। सो यह भी भले के लिये हुआ। सो इस जीवन में दुःखी होने का कोई काम नहीं है, चाहे धन आवे, चाहे न आवे, इज्जत हो, चाह न हो, परिवार रहे, चाह न रह, पर सदा प्रसन्नता से रहना चाहिये। य सब पदार्थ हैं, परिणमते रहते हैं। यही इनका स्वभाव है, जो होता है सब भले के लिये हाता है। तप के लिये पर वस्तुओं की चाह का संबंध नहीं होना चाहिये।

12 प्रकार का तप उत्तम धर्म है। यह दुर्गति का परिहार करने वाला है, दुर्गति में तो यह जीव अनादि से ही घूमता चला आया है, इस मनुष्य गति को हम सुगति कह सकते हैं। एकमात्र यही ऐसी गति है जिसमें उत्कृष्ट संयम व तप किया जा सकता है। यदि इस मनुष्य भव को इन विषय–भोगों में ही खो दिया तो बताओ कौन–सा भव ऐसा है जहाँ हित का मार्ग मिल सकेगा? जैसे कोई अन्धा व्यक्ति किसी नगर में जाना चाहता है, बता दिया लोगों ने कि यह नगर के किनारे की दीवाल है, सो हाथ से इस दीवाल को पकड़ते हुये चले जाओ और जब दरवाजा मिले तो उसमें घुस जाना। सो वह उस दीवाल के सहारे चलता जाता है। खूब चला और जहाँ दरवाजा आया, सो अपना सिर खुजलाने लगा और पैरों से चलना बंद न किया, दरवाजा निकल गया, फिर चक्कर लगाये। इसी प्रकार कई योनियों में चक्कर लगाते हुये यह आज मनुष्य जीवन का दरवाजा आया है, इसे विषयों में ही खो दिया, इन विषयों की ही खाज खुजलाने लगा तो यह दुर्लभ मनुष्य भव व्यर्थ चला जायेगा और पुनः अनन्त काल तक संसार में ही भटकना पड़ेगा।

रत्नत्रय के साथ बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार के तपों का आलंबन लेकर साधना करने वाला ही मुक्ति को प्राप्त करता है। यही एक मुक्ति का मार्ग है। अतः सभी को प्रमाद को छोड़कर अपनी शक्ति प्रमाण इन बारह तपों को करने का अभ्यास शुरू कर देना चाहिये, जिससे एक दिन पूर्ण तपस्वी बनकर मुक्ति को प्राप्त करें। जिन्होंने भी तप के मार्ग को अपनाया वे नर से नारायण बने। बिना तप के आज तक किसी को भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हुई।

एक बार अकबर ने बीरबल से कहा–बीरबल तुम्हें काला कोयला सफेद करके दिखाना है। बीरबल तो जरा सकते में आ गये। कोयला

और सफेद? असंभव–सी बात लगी, वह सोचते रहे कि काला कलूटा कोयला सफेद कैसे होगा? बीरबल बोले–हूजर कुछ समय दिया जाय फिर कोयले को सफेद करके दिखाऊँगा। बीरबल के निवेदन पर उन्हें एक सप्ताह का समय दे दिया गया। सभी सोचने लगे कि बीरबल शायद पानी, साबुन से कोयला सफेद करेगा। सातवें दिन बीरबल दरबार मे पहुँचे। बीरबल की चतुराई देखने के लिये लोगों का जमघट लगा गया। बीबरल ने काले कोयले को सबके सामने रखा और उसने आग लगा दी। कोयला धू–धू करके जलने लगा और जलकर सफेद राख बन गया। यह देखकर सभी ने बीरबल की प्रशंसा की।

जिस प्रकार कोयले को सफेद करने का उपाय संसार में अग्नि में जलाने के अलावा दूसरा नहीं है। उसी प्रकार कर्मों से मलिन आत्मा को शुद्ध व पवित्र बनाने का उपाय उत्तम तप के अलावा दूसरा कोई नहीं है। अतः हम सभी को इन बारह प्रकार के तपों को अत्यन्त कल्याणकारी जानकर अवश्य ही करना चाहिये। जैसे सोने में लगा हुआ मैल सोने को आग में तपाने से दूर हो जाता है, उसी प्रकार अनादिकाल से आत्मा के ऊपर जो कर्मों की मलिनता लगी हुई है, वह तप के माध्यम से दूर हो जाती है।

आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज ने लिखा है –

मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता है, पर बिना क्रिया किए मिट्टी घड़ा नहीं बन सकती। दुग्ध में घृत है, लेकिन घृत प्राप्त करने के लिये प्रक्रिया पूरी करनी पड़ेगी। बिना प्रक्रिया के दुग्ध से घृत संभव नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में परमात्मा की शक्ति मौजूद है, यानी आत्मा में परमात्मा विराजमान है। पर जैसे बिना छैनी के पाषाण से

प्रतिमा नहीं निकलती, वैसे ही बिना तप के आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती। जो तप जाता है, वह चमक जाता है। यदि स्वर्ण–पाषाण को तपाया नहीं जाए, तो स्वर्ण प्राप्ति संभव नहीं। स्वर्ण–पाषाण को तपाने से ही स्वर्ण की प्राप्ति होगी।

इच्छा निरोध करना वास्तविक तप है। तपस्वी का वेष धारण कर लिया, पर कामनाएं ज्यों–की–त्यों मौजूद रहीं, तो कोरा तपस्वी वेष तप का प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता, मात्र जन समुदाय को पागल बनाना है और स्व आत्म वंचना करना है। मन और इन्द्रियों का दमन करना तपस्वी के लिये अनिवार्य है और इनका दमन या निग्रह तप के अभाव में संभव नहीं। क्योंकि मन व इन्द्रियों का निग्रह करने वाला साधन यदि कोई है तो वह है तप। आत्मा की विषय कषाय रूपी कालिमा संयम–तप के माध्यम से ही दूर होगी। संयम–तप ही जीवन का सुरक्षा कवच है। दुर्ग के बिना जिस प्रकार सम्राट की सुरक्षा नहीं होती, उसके ऊपर करोड़ों आपत्तियाँ एवं शत्रुओं का आक्रमण संभव है, उसी प्रकार आत्म–सम्राट की सुरक्षा संयम–तप रूपी दुर्ग से ही संभव है, अन्यथा अनेक प्रकार के विकारी भाव रूपी शत्रु आक्रमण कर इस आत्म सम्राट को निर्बल करके असंयम रूपी घोर अटवी में डाल देंगे। यदि आत्मा को परमात्मा बनाने की इच्छा है तो संयम–तप के पथ पर चलो।

आचार्यों का कहना है जितनी शक्ति हो, उतना तप अवश्य करो, यदि शक्ति नहीं है, तो आप श्रद्धान करो कि कल्याण का मार्ग संयम–तप ही है। जिस प्रकार अग्नि की अनुपस्थिति में भोजन आदि का पकना कठिन है, उसी प्रकार तपाग्नि में तपे बिना कर्मों का क्षय होना असंभव है। आप स्वयं विचार करें कि तप के बिना आज तक किसी को मोक्ष हुआ है क्या? तप ही आत्मिक संपदा, 'केवलज्ञान'

प्राप्त करने का मूल मंत्र–तंत्र है।

श्री सुधासागर जी महाराज ने लिखा है कि यदि सम्यग्दृष्टि को इतना भर पता चल जाता है कि मुझे केवलज्ञान होगा, तो उसके आनन्द का पार नहीं रहता। अभी हुआ नहीं, लेकिन रिजर्वेशन तो हो गया।

एक महाराज पेड़ के नीचे बैठे थे। दो श्रावक वहाँ से निकल रहे थे। महाराज ध्यान में बैठे थे। श्रावक समवशरण में जा रहे थे। वे समवशरण में जाते ही भगवान से पूछते हैं, भगवन्! एक जिज्ञासा है, हमारे नगर के राजा ने दीक्षा ले ली और वृक्ष के नीचे ध्यान में बैठे हैं। उनके संसार में कितने भव शेष है? भगवान ने कहा जिस पेड़ के नीचे वे बैठे हैं उसमें जितने पत्ते हैं उतने उनके भव शेष हैं। भगवन्! यह क्या मामला है? वह तो इमली के पेड के नीचे बैठे हैं। उसमें तो अनगिनत पत्ते हैं। हाँ! अभी उनके इतने भव शेष हैं। भगवान! हम दोनों के भव कितने हैं? बोले सात–आठ भव।

वे दोनों श्रावक सम्यग्दर्शन से रहित थे अतः वे श्रावक मुनिराज के पास गये और बोले–अरे! आपको तो अभी संसार में इतना भटकना है जितने इस पेड़ में पत्ते हैं और हम लोगों के तो मात्र सात, आठ भव शेष हैं। महाराज हँसने लग गये। महाराज प्रसन्न हो गये। दोनों श्रावक सोचते हैं कि लगता है यह अपना भव सुनकर पागल हो गये हैं। वे बोले–महाराज! आप खुश हो रहे हैं? आपको तो दुःख होना चाहिये था? महाराज कहते हैं–अरे भैया! इतना प्रमाण पत्र तो मिल गया कि भले ही इमली के पेड़ के पत्तों बराबर सही, लेकिन यह तो पक्का हो गया कि एक दिन मुझे केवलज्ञान होगा। मैं धन्य हो गया। वे महाराज कुछ दिन में मरण को प्राप्त हो

गए, पुनः मनुष्य पर्याय धारण की और मनुष्य पर्याय में एक अंतर मुहूर्त रहे और मरकर वे निगोद चले गये और निगोद में एक भव कितने समय का होता है? एक श्वास में अठारह भव होते हैं। वहाँ पर वे एक सप्ताह के अंदर जन्मे और मरे, आठ दिन में पूरे भव करके आ गये। निगोद से निकलकर और उसी नगर में मनुष्य बनकर मुनि हुये अर्थात् आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के बाद फिर मुनि बनकर के उसी पेड़ के नीचे बैठ गए। देखिये, कितना समय लगा? एक अन्तर्मुहूर्त दूसरी मनुष्य पर्याय का, आठ दिन निगोद के और आठ वर्ष इस बालक दशा के। कुल आठ वर्ष, आठ दिन और एक अन्तर्मुहूर्त या दो अन्तर्मुहूर्त ऊपर, इतने में आकर मुनि बनकर उसी जगह पर, उसी पेड़ के नीचे बैठ गए। वह श्रावक अभी वहीं के वहीं हैं। वे श्रावक अभी मरे नहीं। वे दोनों श्रावक फिर समवशरण में जाते हैं, रास्ते में उसी वृक्ष के नीचे मुनिराज बैठे थे। उन महाराज को बैठे देख वे दोनों श्रावक कहते हैं – अरे महाराज! इस पेड़ के नीचे से उठ जाओ, इस पेड़ के नीचे आठ साल पहले एक महाराज बैठे थे, भगवान से मैंने पूछा था उनके कितने भव शेष हैं तो वे बोले पेड़ के पत्ते जितने। आप उठ जाइये, नहीं तो मैं अभी भगवान से पूछकर आता हूँ और वे भगवान के पास जाकर पूछते हैं–आठ साल पहले आपने उस पेड़ के नीचे बैठे मुनिराज के भव बताये थे, इमली के पेड़ के पत्ते जितने। उसी पेड़ के नीचे उसी आसन में एक मुनि महाराज और बैठे हैं, उनके भव कितने शेष हैं? भगवान कहते हैं–तुम जब तक लौटकर पहुँचोगे तब तक उनको केवलज्ञान हो गया होगा। यह वही महाराज हैं जो आठ वर्ष पूर्व वहाँ पर बैठे थे और जिनके विषय में मैंने कहा था कि उनके भव इमली के पत्ते के बराबर शेष हैं। वही जीव, वही महाराज। वही कैसे? हम तो यहीं

हैं, कैसे क्या हुआ? सारी कहानी बताई। वे श्रावक उन मुनिराज के पास जाते हैं तो देखते हैं उन महाराज को केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

कर्मों की निर्जरा करने का प्रधान कारण तप ही है। जिसने भी दिगम्बर दीक्षा लेकर तप के माध्यम से अपनी आत्मा को पवित्र कर लिया उसे ही केवलज्ञान व मुक्ति की प्राप्ति होती है। तपोवन को प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। तप तो कोई महाभाग्यवान् पुरुष पापों से विरक्त होकर, समस्त स्त्री, कुटुम्ब धनादि परिग्रह से ममत्व छोड़कर परम धर्म के धारक वीतराग निर्ग्रन्थ गुरुओं के चरणों की शरण में पाता है। गुरुओं को प्राप्त करके जिसके अशुभ कर्म का उदय अति मंद हो गया हो, सम्यक्त्व रूप सूर्य का उदय प्रकट हुआ हो, संसार, विषय–भोगों से विरक्तता उत्पन्न हुई हो, वही संयम–तप ग्रहण करता है।

समस्त जीवों को उलझाने वाले राग–द्वेष आदि को जीतना, परिग्रह में ममता नष्ट कर वांछा रहित हो जाना तथा प्रचण्ड काम का खण्डन करना, यह बड़ा तप है।

सभी तपों में प्रधान तप तो दिगम्बरपना है। कैसा है दिगम्बरपना? घर की ममता रूपी फंदे को तोड़कर, देह का समस्त सुखियापना छोड़कर अपने शरीर में शीत, उष्ण, गर्मी, वर्षा, वायु, डाँस, मच्छर, मक्खी आदि की बाधा को जीतने के सम्मुख होकर कोपीनादि समस्त वस्त्रों का त्याग कर दिगम्बरपना धारण करना बहुत बड़ा अतिशयरूप तप है।

जिसके स्वरूप को देखने–सुनने पर बड़े–बड़े शूरवीर काँपने लगते हैं।

नग्न रहना, यावज्जीवन स्नान नहीं करना, जमीन पर शयन करना, अल्पनिद्रा लेना, मंजन नहीं करना, खड़े होकर रस–नीरस स्वाद छोड़कर थोड़ा भोजन करना आदि 28 मूलगुणों का पालन करना महा तप है। मुनिराज इन 28 मूलगुणों के प्रभाव से आत्म स्वरूप में लीन होकर घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान को प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं। दिगम्बर दीक्षा लेकर उसका निर्दोष पालन करना मोक्ष प्राप्ति का कारण है। निम्न दृष्टान्तों से इस बात को समझा जा सकता है।

इस जम्बूदीप के पूर्व विदेह में पुष्कलावती नामक एक देश है, उसके वीतशोकपुर नामक राज्य में महापद्म और वनमाला रानी के शिवकुमार नामक एक पुत्र हुआ। एक बार वह अपने मित्र के साथ वन क्रीड़ा करके अपने नगर को आ रहा था। तब वह मार्ग में देखता है कि कुछ लोग पूजा सामग्री लेकर जा रहे हैं। तब वह अपने मित्र से पूछता है कि ये लोग क्या कर रहे हैं? मित्र ने कहा ये सागरदत्त नामक ऋद्धिधारी मुनिराज को पूजन के लिये वन में जा रहे हैं। तब शिवकुमार मुनि के पास वन में जाता है और अपना पूर्व भव सुनता है। सुनकर वह विरक्त हो जाता है और मुनिदीक्षा ले लेता है। एक दृढ़धर नामक श्रावक के घर प्रासुक आहार होता है। इसके बाद वह मुनिचर्या का पालन करते हुये बारह वर्ष तक तपकर अंत में संन्यास पूर्वक मरण करके ब्रह्मकल्प स्वर्ग में देव हो जाता है। वहाँ से आयु पूर्ण कर जम्बूकुमार नामक राजपुत्र हो, मुनिदीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार शिव कुमार ने मुनिचर्या का निर्दोष पालन करते हुये मोक्ष को प्राप्त किया।

एक शिवभूति नामक मुनिराज थे। उन्होंने गुरु के पास बहुत से शास्त्रों को पढ़ा किन्तु धारणा नहीं कर पाये। तब गुरु ने ये शब्द

पढ़ाये–'मा रुष, मा तुष।' वे इन शब्दों को रटने लगे। इन शब्दों का अर्थ यह है कि रोष मत करो, तोष मत करो। अर्थात् राग–द्वेष मत करो, इससे ही सर्व सिद्धि होती है। कुछ समय बाद उनको यह भी शुद्ध याद न रहा, तब तुष–माष ऐसा पाठ रटने लगे, दोनों पदों के स और तु भूल गये और तुष–माष ही याद रह गया। एक दिन वे यही रटते एवं विचारते हुये कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक स्त्री उड़द की दाल धो रही थी। स्त्री से कोई व्यक्ति पूछता है कि तू क्या कह रही है? स्त्री ने कहा–तुष और माष भिन्न–भिन्न कर रही हूँ। यह वार्ता सुनकर उन मुनि ने यह जाना कि यह शरीर तुष है और यह आत्मा माष है। दोनों भिन्न–भिन्न हैं इस प्रकार भाव जानकर आत्मानुभव करने लगे। कुछ समय बाद घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त हो गये। इस प्रकार अपने व्रतों का पालन करते हुये शिव कुमार मुनिराज ने 'तुष–मास' जैसे शब्दों को रटते हुये भावों की विशुद्धता से केवलज्ञान पाया। आचार्य समझा रहे हैं यदि संसार के बंधन से छूटना चाहते हो तो जिनेश्वर देव द्वारा बताई गई दीक्षा धारण करो। उस तप से शरीर का सुखियापना नष्ट हो जाता है। उपसर्ग/परीषह सहन में कायरता का अभाव हो जाता है, इन्द्रियों के विषय में प्रवर्तन का अभाव हो जाता है।

श्री जिनेन्द्र वर्णी जी ने लिखा है – यह शरीर तो अशुचि है, दुःखों को उत्पन्न करने वाला है और विनाशिक है, इसको कितना भी खिलाओ, पिलाओ, सेवा करो पर अंत में यह नियम से धोखा ही देगा। शरीर की चिन्ता क्यों करते हो? यह है ही किसलिये? तपश्चरण के द्वारा क्षीण हो, तो हो। आप कारखाना लगाते हैं और उसमें मशीने फिट करते हैं, तो किसलिये? यदि मशीन को चलाया तो घिस जायेगी? क्या ऐसा अभिप्राय रखकर माल बनाना बंद करते हैं आप?

घिस तो घिसे, टूटे तो टूटे माल तो बनाना ही है, नहीं तो मशीनें हैं ही किसलिये? टूट जायेगी तो मरम्मत कर लेंगे, अधिक घिस जाने पर मरम्मत के योग्य नहीं रहेगी तो बदलकर और नई लगा लेंगे। शरीर के प्रति योगी का भी यही अभिप्राय है। आप मशीन समझकर 'मैं' रूप मान बैठे हैं इस इसलिये इसके घिसने या टूटने से अर्थात् रोग व मृत्यु से डरते हैं पर योगी इसे मशीन समझते हैं, जिसे उन्होंने शान्तिरूपी माल तैयार करने के लिये लगाया है। अतः वे इसके घिसने व टूटने से अर्थात् रोग व मृत्यु से नहीं डरते। जब तक मरम्मत के योग्य है अर्थात् शान्ति प्राप्ति के काम में कुछ सहायता के योग्य है तब तक इसकी मरम्मत कर-करके इसे भोजनादि आवश्यक पदार्थ दे-दे कर इससे अधिक-से-अधिक काम लेना। जिस दिन मरम्मत के योग्य नहीं रहेगा उस दिन इसे छोड़ देना अर्थात् समाधिमरण कर लेना। नया शरीर मिल जायेगा, उससे पुनः मोक्ष-मार्ग पर आगे बढ़ना। यही इस शरीर का सदुपयोग है।

तप के प्रभाव से यहाँ ही अनेक ऋद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, तप का अचिन्त्य प्रभाव है। तप बिना काम को, निद्रा को कौन मारे? तप बिना इच्छाओं को कौन मारे? इन्द्रियों के विषयों को मारने में तप ही समर्थ है। आशा रूपी पिशाचिनी तप से ही मारी जाती है, काम पर विजय तप से ही होती है। तप की साधना करने वाला परीषह उपसर्ग आदि आने पर भी रत्नत्रय धर्म से च्युत नहीं होता। तप किये बिना संसार से छुटकारा नहीं होता। चक्रवर्ती भी शल्य को छोड़कर तप धारण करके तीन लोक में वंदन योग्य/पूज्य हो जाते हैं। तीन लोक में तप के समान अन्य कुछ भी नहीं है। अतः अपनी शक्ति को न छिपाकर इन 12 प्रकार के तपों का अत्यन्त कल्याणकारी समझकर अवश्य ही करना चाहिये।

इस दुर्लभ मनुष्य–जीवन को पाकर श्रेष्ठ कर्तव्य यह है कि संयम को धारण कर तपश्चरण करें। यह आयु क्षण–क्षण में ऐसी बही जा रही है, जैसे पहाड़ से गिरने वाली नदी। जितना पानी बह गया, वह फिर ऊपर नहीं आता। इसी तरह जितना समय निकल गया, वह फिर वापिस नहीं आता। तप करने के लिये, ज्ञान की साधना करने के लिये हमें जल्दी करनी चाहिये। अपना जीवन व्यर्थ न गमावें। यदि समय निकल गया, तो बाद में पछतावा ही हाथ लगेगा। यह मनुष्य अपने बचपन की उम्र तो यों ही खेल–खिलौने में रमकर गँवा देता है, किशोर अवस्था आने पर नाना तरह की कल्पनाओं में उलझकर अपना सारा समय खो देता है। जवानी में यह अनेक प्रकार के गोरख धंधों मे फँसकर अपनी जवानी का समय गँवा देता है और वृद्धावस्था में तो बस उल्लू–जैसे अंध बनकर खाट पर पड़े–पड़े अपनी उम्र व्यर्थ खो देते हैं।

अतः आप अपनी शक्ति को मत छिपाइये, यह महान अपराध है। जितनी शक्ति लौकिक कार्यों में लगाते हो, उतनी इधर भी लगाओ। योगीजनों को भी अपने महान् बल का स्वामित्व एक दिन में प्राप्त नहीं हो गया था। उन्होंने भी गृहस्थ अवस्था में तप के द्वारा धीमे–धीमे अपने बल को बढ़ाया था और उत्कृष्ट तप धारण करने के योग्य होकर आज योगी कहलाने लगे हैं।

सम्यक् तप निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त कराने वाला होता है। तप चारित्ररूप होने से मोक्ष मार्ग बनाता है, जिस पर चलकर तपस्वी मोक्ष को प्राप्त करता है। यह बात निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती है।

चम्पापुरी नामक नगर में एक बहुत प्रतापी एवं कामदेव के समान

रूपवान्, गुणवान् सेठ सुदर्शन रहते थे। एक दिन युवा सेठ सुदर्शन अपने मित्रों के साथ घूमने के लिये निकलते हैं। वहाँ वे एक मनोरमा नामक कन्या को देख उस पर मोहित हो जाते हैं। जब उनके पिता श्रेष्ठी वृषभदास जी को पता चलता है, तो वे सुदर्शन का विवाह मनोरमा के साथ करवा देते हैं। कुछ समय बाद उनके सुकान्त नाम का पुत्र उत्पन्न होता है।

सुदर्शन के माता–पिता अपना सारा गृहभार सुदर्शन को सौंपकर दीक्षित हो जाते हैं। सेठ सुदर्शन अपने धार्मिक षटआवश्यकों का अच्छी तरह पालन करते थे और अष्टमी एवं चतुर्दशी को गृहत्याग कर प्रोषधापवास करते थे। रात्रि में मुनि सदृश सर्वपरिग्रहों का त्याग कर वे एकान्त स्थान श्मशान में कायोत्सर्ग अवस्था में आत्मध्यान किया करते थे। वे सम्यग्दर्शन में दृढ़ थे।

एक बार उनके मित्र कपिल की स्त्री कपिला सेठ सुदर्शन पर मोहित हो जाती है। इसका पति जब बाहर गया हुआ था, तब वह मौका देखकर छल से सुदर्शन सेठ को अपने घर बुला लेती है और अपना प्रयोजन उसे बता देती है। सेठ सुदर्शन कहता है कि मैं नपुंसक हूँ, इस प्रकार कहकर वह अपने शील की रक्षा कर लेता है। बाद में रानी भी इसी प्रकार मोहित होकर सेठ को छल से अपने महल में बुलवा लेती है। पर रानी के अनेकों प्रयास करने पर भी सेठ सुदर्शन अपने ब्रह्मचर्य अणुव्रत से च्युत नहीं होते। तब रानी सेठ पर झूठा दोष लगाती है। राजा सुदर्शन सेठ को फाँसी की सजा सुना देता है। पर सेठ सुदर्शन के ब्रह्मचर्य की दृढ़ता से सूली भी सिंहासन बन जाती है। सेठ सुदर्शन मुनि दीक्षा धारण कर लेते हैं।

एक बार सुदर्शन मुनि महाराज पटना नगर के उद्यान में आहार

के लिये निकलते हैं तब एक वेश्या उन पर मोहित हो उन्हें छल से पड़गा लेती है और अंदर ले जाकर मुनिराज के शरीर से कुचेष्टायें करती है, किन्तु मुनिराज अपने शील व्रत में दृढ़ रहते हैं। बाद में वह वेश्या उनसे क्षमा माँगने लगती है। मुनिराज उसे क्षमा कर देते हैं। अंत में सुदर्शन महाराज वापिस लौट जाते हैं और ध्यान–मग्न हो जाते हैं। अपने चारों घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञान प्राप्त कर, अन्ततः मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

इस दृष्टान्त से सिद्ध हो जाता है कि सद्गृहस्थ अपने षट् आवश्यकों का पालता हुआ तप करता है तो वह भविष्य में मुनिधर्म स्वीकार कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अतः सभी को प्रतिदिन अपनी शक्ति अनुसार तप अवश्य करना चाहिये।

उत्तम त्याग

धर्म का आठवाँ लक्षण है उत्तम त्याग। त्याग का अर्थ है मूर्च्छा का विसर्जन। परपदार्थों से ममत्व–भाव का छोड़ना। पर–वस्तुओं के रहते ममत्व–भाव छूटता नहीं, अतः उन बाह्य वस्तुओं का त्याग किया जाता है। सभी वस्तुयें पहले से ही अपने आप छूटी हैं, केवल पदार्थों के संबंध में 'यह मेरा है' इस तरह का भाव कर लेने का नाम है ग्रहण, और मेरा नहीं है, इस प्रकार का भाव कर लेने का नाम है त्याग। मोक्षमार्ग में त्याग का बहुत महत्त्व है। इससे सर्व संकट दूर हो जाते हैं। यह मेरा है, इस प्रकार का विकल्प जो है, उसको छोड़ना है। त्याग और दान के बिना न व्यक्ति का जीवन चलता है और न समाज का। जो बुरा है, उसे त्यागो। राग–द्वेष का त्याग और औषधि, शास्त्र, अभय और आहार का दान करना, यही धर्म है। इसके बिना न जीवन चल सकता है, न धर्म पल सकता है, न साधना हो सकती है और न साध्य की प्राप्ति हो सकती है।

जिन –जिन बाह्य कारणों से आत्मा में विकार उत्पन्न हो रहे हैं, उन्हें छोड़ने का नाम त्याग है। जो आत्म कल्याण में बाधक तत्त्व हैं, उनका विसर्जन ही त्याग है। मोह–माया से मुक्त होने के प्रयास का नाम त्याग है। त्याग ही जीव को ऊपर उठाता है, त्याग ही मुक्ति का मार्ग है।

भगवान महावीर स्वामी का जीव सिंह की पर्याय में था। अमितगति और अमित तेज मुनिराज ने आकाश मार्ग से गुजरते हुये नीचे देखा—एक सिंह ने हिरण को दबोच रखा है। वे मुनिराज नीचे उतरकर उस सिंह को सम्बोधन करते हैं और कहते हैं—हे मृगराज! तू आगामी भव में तीर्थंकर बनकर समस्त विश्व को अहिंसा का सन्देश देने वाला है, छोड़ दे इस दुष्कृत्य को और धार ले अहिंसा व्रत को। बस फिर क्या था? सिंह ने मुँह में दबाये हिरन को छोड़ दिया और धार लिया मुनिराज से जीव रक्षा का व्रत। उसका यह परिणाम निकला कि वही सिंह का जीव दस भव बाद तीर्थंकर भगवान महावीर बना। त्याग ही जीव को भगवान बनाने में सक्षम है।

'बारस अणुवेक्खा' ग्रंथ में आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने त्याग धर्म की परिभाषा बताते हुये लिखा है —

णिव्वे—गतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्य हवेचागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं।।

अर्थात् जो मुनि समस्त परद्रव्यों से मोह छोड़कर संसार, शरीर और भोगों से उदासीन भाव रखता है, उसको त्याग धर्म होता है।

'छहढाला' मे पं. दौलतराम जी ने लिखा है — "मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।।"

इस जीव ने अनादि काल से मोह रूपी मदिरा को पी रखा है, इसलिये यह अपने स्वरूप को भूलकर परपदार्थों को अपना मानकर व्यर्थ ही संसार में भ्रमण कर रहा है। वास्तव में यहाँ किसी का कुछ भी नहीं है।

एक युवक साधु जी के पास पहुँचा और बोला—महाराज! मैं संसार छोड़ना चाहता हूँ, पर बहुत मुश्किल लग रहा है। आप कुछ उपाय

बताइये। साधु जी बोले–बताऊँगा। अभी तुम ध्यान करो। वह बोला–महाराज! मुझे तो संसार छोड़ना है और आप कह रहे हैं ध्यान करो? साधु जी बोले–हाँ, तुम भैंसे का ध्यान करो।

गुरुजी के कहने से वह युवक कमरे में बैठकर भैंसे का ध्यान करने लगता है। तीन दिन ध्यान करने के बाद कमरे में से आवाज आई–'बचाओ–बचाओ' गुरुजी ने जाकर देखा युवक ध्यान कर रहा है। गुरुजी बोले–क्या हो गया है? कमरे से बाहर आ जाओ। उसने कहा–इस दरवाजे में से मैं कैसे निकल पाऊँगा? मेरे इतने बड़े–बड़े तो सींग हैं। वह भैंस का ध्यान करते–करते अपने को भैंसा ही समझने लगा था। जब गुरुजी ने उसे हिलाया–डुलाया, अरे! तुम तो मनुष्य (युवक) हो, भैंसा थोड़े ही हो, तो वह समझ गया और कमरे से बाहर आ गया।

इसी प्रकार हम लोगों को जीवन–भर परपदार्थों को अपना मानने से ऐसा लगने लगा है कि यह मेरा है, यह मेरा है, पर वास्तव में यहाँ किसी का कुछ भी नहीं है। जब सच्चा ज्ञान हो जाता है, तो सब कुछ स्वयं छूट जाता है, कुछ छोड़ना नहीं पड़ता।

मेरा अन्य पदार्थों के साथ क्या सम्बंध है? बाह्य पदार्थों में जितना समय लगा रखा है, वह सब पागलपन है। कौन–सी ऐसी वस्तु है, कौन–सा ऐसा काम है, जो ज्ञान मात्र आत्मा का पूरा पाड़ देगा? ऐसा जगत में कुछ नहीं है, फिर भी इस संसारी प्राणी को काम करने का रोग लगा है। मुझे अमुक काम करने को पड़ा है, इस प्रकार का जो परिणाम है, वही महारोग है। क्या पड़ा है करने को? इस ज्ञान–मात्र आत्मा में सिवाय जानने के अन्य कुछ करने की सामर्थ्य ही नहीं है, फिर बाहर में कौन–सा काम करने को पड़ा है?

एक रुई धुनने वाला था। वह कमाई के लिये परदेश गया था। वह समुद्री जहाज से वापिस आ रहा था। जिस जहाज पर वह बैठा था, उसमें देखा कि हजारों मन रुई लदी हुई है। मुसाफिर तो एक–दो ही थे। रुई को देखकर उसका सिर दर्द करने लगा क्योंकि मन में यह बात आ गई कि हाय इतनी सारी रुई हमें धुननी पड़ेगी और भी उसका गहरा विचार बन गया, सो वह बीमार हो गया। घर आया, डाक्टर बुलाया, वैद्य बुलाया, पर किसी से ठीक न हो सका। एक चतुर पुरुष आया जो, मनोविज्ञान को समझता था, बोला–हम इसे अच्छा कर देंगे। तो सबने बड़ा अहसान माना, कर दो अच्छा। अच्छा तुम सब लोग जाओ, हम अकेले में दवाई करेंगे।

पूछा–भैया! कितने दिन हो गये तुम्हें बीमार हुये? तीन दिन हो गये। कहाँ से बीमार हुए? 'अमुक नगर से चला, तो रास्ते में बीमार हो गया। जहाज पर आ रहा था।' जहाज पर कितने लोग बैठे थे? बोला–'लोग तो दो–तीन ही थे, पर, हाय! उसमें हजारों मन रुई लदी हुई थी। जब 'हाय' के साथ बोला, तो वह समझ गया। चिकित्सक बोला–अरे! जिस जहाज से तुम आये थे, उस जहाज में पता नहीं कैसे क्या हो गया कि जहाज में आग लग गई और सारी रुई जल गयी। 'क्या सारी रुई जल गई?' हाँ, जल गयी। यह सुनते ही वह चंगा हो गया। बीमारी तो इसलिये हुई थी कि हाय इतनी रुई हमें धुननी पड़ेगी। जब यह बोध हो गया कि मेरे धुनने को रुई अब नहीं रही, तो ठीक हो गया। रात दिन देख लो, सभी इसीलिये परेशान हैं कि अभी हमें इतना काम करना है। तो जैसे उस धुनिया को यह बात आ गई कि मेरे धुनने को कोई रुई नहीं रही, तो अच्छा हो गया, इसी तरह सम्यग्दृष्टि पुरुष के और विशेषता ही क्या है? यही विशेषता है कि ज्ञानी पुरुष को यह दृढ़ विश्वास है कि मेरे को

जगत में करने को कोई काम नहीं पड़ा है। "होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम?" वस्तुतः तो कर्तृत्व बुद्धि को छोड़ कर जगत का साक्षी रहना, मात्र ज्ञाता–दृष्टा रहना चाहिये।

ज्ञानीजीव का बाह्य परिग्रह से कोई सम्बन्ध भी हो, तो भी अन्तरंग में उनके प्रति मूर्च्छा न होने के कारण उनका त्याग ही होता है। एक माँ ने अपने लड़के से पूछा कि बता, तुझे धन का एक बड़ा पहाड़ मिल जाये तो तू उसे कितने दिनों में दान कर देगा? उसने उत्तर दिया कि मैं तो उसे एक क्षण में ही दान कर दूँगा, पर उठाने वालों की गारंटी मैं नहीं लेता कि वे कितने दिनों में उसे उठायें। उठाने वालों का ठेका मैं नहीं लेता। यह है उत्तम त्याग की बात। सारे बाह्य पदार्थों को छोड़कर आत्मा के स्वरूप पर दृष्टि करो। जहाँ पर का प्रवेश नहीं, एकाकी ज्ञानमय चैतन्य मूर्ति पर दृष्टि हो, तो सब चीजों का त्याग हो गया। इन पर–पदार्थों के मोह को छोड़ो, जगत का बाह्य पदार्थ कोई भी साथ नहीं देगा। मोह के त्याग से ही संसार के संकट का अन्त हो सकता है।

एक बादशाह पशुओं की बोली जानता था। एक दिन वह छत पर खड़ा हुआ था, जहाँ घोड़े और बैल बंधा करते थे। घोड़े बैलों से कह रहे थे–क्यों रे भोले मूर्खो! तुम्हें जरा भी अक्ल नहीं। तुम्हारे ऊपर राजा इतना सारा बोझ लदवाता है और तुम ले आते हो। बैल बोले कि लाना ही पड़ता है। घोड़े ने बताया कि जब तुम्हें जोतने के वास्ते राजा के नौकर आयें, तो तुम मरे के समान पड़ जाना। राजा जानवरों की बोली जानता था, अतः उसने यह बात सुन ली। जब नौकर बैलों को जोतने के वास्ते गये, तो वे घोड़ों की सलाह के अनुसार मरे से पड़ गये। नौकरों ने यह बात राजा से कही। राजा ने आज्ञा दी कि घोड़ों को जोत ले जाओ। घोड़े जोते गये, परन्तु घोड़े

तो रईस पशु हैं, वे बैलों के समान इतना बोझा लादकर नहीं ला सकते। बड़ी मुश्किल से किसी तरह लाये, फिर राजा छत पर आया तो घोड़ों को बैलों से कहते सुना कि भाई बैलो तुम आज मर–से पड़े रहे, सो ठीक है, परन्तु राजा की आज्ञा हुई है कि जब बैल बीमार पड़ें, तो उनकी इतनी पिटाई करना कि वे याद रखें। राजा ने सोचा कि ये घोड़े तो बड़े बदमाश हैं। जब राजा रानी के महलों में गये, तो उन्हें हँसी आ गई। रानी ने पूछा कि आप हँसे क्यों? राजा ने बहुत मना किया कि देखो, मत पूछो। परन्तु रानी न मानी, तब राजा बोलने लगे कि मुझे पशुओं की बोली समझ में आती है, मैंने घोड़ों की बात सुनी, वे बड़े ही बदमाश हैं। राजा ने घोड़ों और बैलों की बात रानी को बता दी। तब रानी जिद करने लगी कि मुझे यह पशुओं की बोली सिखाओ। तब राजा ने मना किया कि जिन्होंने मुझे यह बोली सिखाई है, उन्होंने यह कहा है कि यदि यह बोली तुम किसी अन्य व्यक्ति को सिखाओगे तो तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी। अतः यदि मैं तुम्हें यह सिखाऊँगा, तो मैं मर जाऊँगा। रानी फिर भी नहीं मानी और बहुत जिद की। तब राजा को वायदा करना पड़ा। अब राजा बहुत दुःखी थे। जब सब जानवरों को यह बात मालूम हुई, तो सबको शोक पैदा हो गया। वे कहने लगे कि आज राजा रानी को जानवरों की बोली सिखायेंगे और उनकी मृत्यु हो जायेगी। सारे–के–सारे जानवर इससे बहुत दुःखी थे। राजा एक स्थान पर जाकर चिन्ता ग्रस्त होकर बैठ गया। वह क्या देखता है कि सब जानवर तो दुःखी थे, परन्तु एक स्थान पर एक मुर्गा और मुर्गी खेल रहे थे और बड़े हँस रहे थे। दूसरे जानवरों ने उनसे कहा कि अरे कृतघ्नी! तुम बड़े दुष्ट हो। राजा मर जायेगा, इससे सारे पशु तो दुःखी हैं और तुम खुशी मना रहे हो? तब उन्होंने उत्तर दिया कि

हम राजा के मरने से नहीं हँस रहे। जो मूर्खता वह अपने आप करने जा रहा है, उस पर हँस रहे हैं। यदि कोई उल्टी हठ करता है, तो उसके एक चाँटा इधर लगावे और एक चाँटा उधर लगावे, फिर देखें कोई कैसे हठ करता है? राजा स्वयं अपने आप प्राण दे रहा है और दुःखी हो रहा है। राजा को यह बात समझ में आ गई और उसने सोचा कि मैं क्यों अपने प्राणों का घात करूँ? रानी से कह दिया कि मैं तुम्हें बोली नहीं सिखाता, जो कुछ तुम्हें करना हो कर लो। स्त्री के मोह में पड़कर राजा व्यर्थ ही अपने प्राण नष्ट करने वाला था। हमारी आत्मा संसार के महासागर में डूब रही है। इसका एकमात्र कारण मोह का बोझ है।

जो भी अपना कल्याण करना चाहते हैं, उन्हें इस मोह का त्याग करना चाहिये। त्यागी की वृत्ति कैसी होती है, इसका चित्रण शास्त्रों में किया गया है। वास्तविक त्यागी वही है, जो सुख–दुःख में समता रखता हो। सुख हो तो क्या है, दुःख हो तो क्या है?

ये दोनों सुख और दुःख आत्मा के स्वभाव से भिन्न चीजें हैं। ये विकार हैं। दुःख भी विकार, सुख भी विकार। सुख–दुःख में सुख को अच्छा मानना और दुःख को बुरा मानना, यह अज्ञान की बात है। तत्त्व–ज्ञानी त्यागी पुरुष तो सुख–दुःख में समानता रखते हैं। उन्हें दुनिया की कोई परवाह नहीं, वह लोककीर्ति को नहीं चाहता, उसके लिये यश, अपयश में समता–बुद्धि है। वह इन बाह्य चीजों को अत्यन्त असार समझता है।

वह तो अपने आत्मीय आनन्द में तृप्त रहता है। जो धीर–वीर विवेकी है, निन्दा और प्रशंसा में समता–बुद्धि रखता है। वह वास्तविक त्यागी पुरुष है। जो मान–अभिमान में, शत्रु–मित्र में समान बुद्धि

रखता है, जो सर्व आरम्भ परिग्रहों का त्यागी है, वही वास्तविक त्यागी है।

एक त्यागी जी श्मशान भूमि में बैठे आत्मचिंतन कर रहे थे। एक राजा वहाँ से निकला और त्यागी जी से कहा तुम इतना कष्ट क्यों उठाते हो? बताओ तुम्हें क्या चाहिये, मैं तुम्हें दूँगा। उन्होंने कहा–मुझे तीन चीजें चाहिये, यदि आपके पास हों तो दे दीजिये। ऐसा तो मुझे जीना दो, जिसके बाद मरना नहीं हो। ऐसी मुझे खुशी दो, जिसके बाद दुःख न हो और ऐसी मुझे जवानी दो, जिसके बाद बुढ़ापा न आये। इस पर राजा लज्जित होकर चला गया। इन बाह्य पदार्थों में क्या–क्या विकल्प फँसा रखे हैं। इनका समागम सदा नहीं रहता। हमें बाह्य वस्तुओं में बखेड़ा करने की आवश्यकता ही नहीं है। अपने ज्ञान स्वभाव को देखो और मोह ममता का त्याग करो।

श्री जिनेन्द्र वर्णी जी ने लिखा है – शरीर आदि को अपना मानकर निष्प्रयोजन इसकी सेवा में जुटे रहना अथवा इसके लिये कुछ इष्ट से दीखने वाले धनादिक अचेतन पदार्थों की तथा कुटुम्ब आदिक चेतन पदार्थों की सेवा में जुटे रहना ही वह बन्धन है जो स्वयं मैंने अपने सर लिया हुआ है। कुटुम्ब आदिक वास्तव में बंधन नहीं हैं। यदि मैं इनकी सेवा स्वयं स्वीकार न करूँ, तो ऐसी कोई शक्ति नहीं कि जबरदस्ती मुझे इनकी सेवा करने को बाध्य कर सके। सेवक बने रहना मेरी अपनी ही भूल है। हम स्वयं त्याग नहीं करना चाहते और दोष पर को देते हैं।

एक बार एक व्यक्ति वर्णी जी के पास आया, बोला–आप महाराज बन गये हैं। हम और आप बचपन में साथी रहे हैं। अब मैं भी चाहता हूँ कि आपके साथ रहूँ, पर मैं क्या करूँ यह स्त्री–पुत्र मुझे छोड़ नहीं

रहे हैं। बताइये क्या करें? वर्णी जी बोले—आपके इस 'पर क्या' शब्द का जवाब कल सुबह 9 बजे मिलेगा। दूसरे दिन वह व्यक्ति ठीक 9 बजे आ गया। वर्णी जी अपने कमरे में चले गये। वह व्यक्ति बोला—जवाब दीजिये। वर्णी जी चुपचाप रहे, बाहर निकलकर भी नहीं आये। अब 9 बजकर 5 मिनट हो गये, वर्णी जी अंदर बैठे हूँ—हूँ कर रहे हैं। वह व्यक्ति बोला—क्या अंदर कीचड़ है, जो बाहर नहीं निकल पा रहे हो? पुनः उत्तर मिला, हूँ—हूँ। आखिर वह व्यक्ति अंदर घुस गया और देखता क्या है कि वर्णी जी एक खम्भ को पकड़े खड़े हैं। वर्णी जी उस व्यक्ति से बोले—क्या करूँ? बाहर आना तो चाहता हूँ। पर यह खम्भा छोड़ता ही नहीं है। वह व्यक्ति बोला—छोड़ दो मुट्ठी और आप मुक्त। वर्णी जी बोले—बस, यही आपके प्रश्न का उत्तर है। इसी तरह आपके स्त्री—पुत्र आदि आपको पकड़े हुये नही हैं। आप स्वयं उन्हें पकड़े हुये हैं। वर्णी जी बोल—खोल दो भइया! मुटठी और आप मुक्त। व्यक्ति स्वयं तो परिग्रह को छोड़ना नहीं चाहता और दोष पर को देता है।

पर परिग्रह में, शरीर में जब तक ममता बुद्धि लगी है, तब तक सद्बुद्धि कहाँ से आये? ये संसारी प्राणी बाह्य परिग्रहों की ओर ऐसे दौड़ रहे हैं जैसे बहकाया हुआ लड़का भागता फिरता है। किसी ने बहका दिया कि रे बेटे! तेरा कान कौआ ले गया तो वह बालक दौड़ता है और चिल्लाता है—अरे! मेरा कान कौआ ले गया। अरे भाई कहाँ भागे जा रहे हो? अरे! मत बोलो—मेरा कान कौआ ले गया। . ... अरे! जरा टटोल कर देख तो सही, कहाँ तेरा कान कौआ ले गया? तेरा कान तो तेरे ही पास है? जब टटोल कर देखा तो कहा—अरे! है तो सही मेरा कान मेरे ही पास। बस उसका रोना बंद हो गया। ठीक ऐसे ही संसारी प्राणी बाह्य पदार्थों के पीछे दौड़

लगा रहे हैं। उन्हें यह पता नहीं कि मेरा सारा वैभव तो मेरे ही पास है। इस अपने वैभव का पता न होने से यह बाह्य पदार्थों के पीछे दौड़ लगाता–फिरता है और दुःखी होता है। कोई भी पदार्थ इसके लिये बोझ नहीं बनता, पर यह ही उन पर–पदार्थों के प्रति नाना प्रकार की कल्पनायें करके अपने पर बड़ा बोझ मानता है। जैसे किसी सेठ का कोई नौकर ऐसी कल्पना कर ले कि मेरे ऊपर तो सेठ की जायदाद का सारा बोझ है तो वह घबड़ाता फिरता है,पर उसकी इस घबड़ाहट को देखकर लोग उसकी मजाक उड़ाते हैं। कहते हैं कि देखो इसका है कहीं कुछ नहीं, है तो सब सेठ–सेठानी का, पर कैसा यह सारी जायदाद को अपनी मानकर उसको बोझा मानता है। इसी प्रकार दुनिया के इन पर–पदार्थों को अपना मानकर हम व्यर्थ ही दुःखी होते हैं। आचार्य समझाते हैं–हे भाई! सुख–शान्ति चाहिये तो इन पर–पदार्थों से ममत्व बुद्धि का त्याग कर दे। यही वह बंधन है जिसे महात्माओं ने तोड़ दिया है। तू भी तोड़ दे, तो वैसा ही हो जावे। जिस प्रकार रस ले–लेकर इन बाह्य बंधनों को स्वीकार किया है, उसी प्रकार रस ले–लेकर इनका त्याग करना होगा।

एक वह जीवन है, जिसमें से यह पुकार निकल रही है कि और ग्रहण कर, और ग्रहण कर और एक वह जीवन है, जो मूक भाषा में कह रहा है कि और त्याग कर और त्याग कर। एक वह जीवन है, जो कह रहा है कि धनादि सम्पदा में सुख है, इसमें ही सुख है, और एक वह जीवन है जो कह रहा है कि इसमें ही दुःख है, इसमें ही दुःख है। एक वह जीवन है, जो कह रहा है कि इसके बिना मेरा काम नहीं चलेगा और एक वह जीवन है, जो कह रहा है कि इसके रहते हुए मेरा काम नहीं चलेगा। एक वह जीवन है, जो कह रहा है कि धन चाहिये, धन चाहिये और एक वह जीवन है, जो कह रहा है

कि धर्म चाहिये धर्म चाहिये।

यह कैसे अनुभव में आवे कि ग्रहण में दुःख है? तो आचार्य समझाते हैं—कुछ थोड़ा—सा त्याग करके देखा, तो पता चल जायेगा कि जब इतने से त्याग से इतनी शान्ति आई है, तो पूर्ण त्याग करने वाले योगियों को कितनी शान्ति आई होगी। योगी का जीवन तो सदा शान्ति के झूले में झूलता है। सब अभिप्राय की महिमा है। जब धन से अभिप्राय को हटाकर शान्ति पर लगा देते हैं, तो यह जीव कल्याण के मार्ग, त्याग के मार्ग को अंगीकार कर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

आचार्य समन्त भद्र स्वामी ने कहा है कि —

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता।।

सांसारिक सुखों की वांछा व्यर्थ है, क्योंकि सांसारिक सुख सब कर्माधीन हैं। कर्म का उदय कैसे परिवर्तन लायेगा, कहा नहीं जा सकता। सांसारिक सुखों की आकांक्षा दुःख लेकर आती है, और दुःख का बीज छोड़कर जाती है। ये इन्द्रियों के भोग अतृप्तिकारी, अथिर और तृष्णा को बढ़ाने वाले हैं। इनके भोगने से किसी को भी तृप्ति नहीं हो सकती है। जैसे जल रहित वन में मृग प्यासा होता है, तो वह जल की खोज में दौड़ता है। वहाँ जल तो है नहीं, परन्तु दूर से उसको चमकती बालू में जल का भ्रम हो जाता है। वह जल समझकर जाता है, परन्तु वहाँ जल को न पाकर अधिक प्यासा हो जाता है। फिर दूर से देखता है, तो दूसरी तरफ जल के भ्रम से जाता है, वहाँ भी जल न पाकर और अधिक प्यासा हो जाता है। इस तरह बहुत बार भ्रम में भटकते रहने पर भी उसको जल नहीं मिलता

है। अन्त में वह प्यास की बाधा से तड़प–तड़प कर प्राण दे देता है।

यही हाल हम संसारी प्राणियों का है, हम सब सुख चाहते हैं, निराकुलता चाहते हैं। भ्रम यह हो रहा है कि इन्द्रियों के भोगों में सुख मिल जायेगा, तृप्ति हो जायेगी, इसलिये यह प्राणी पाँचों इन्द्रियों का भोग बार–बार करता है, परन्तु तृप्ति नहीं होती। इन भोगों का जितना भोगो, उतनी ही तृष्णा और बढ़ती जाती है। मनुष्य का शरीर तो पुराना पड़ता जाता है, इन्द्रियां की शक्ति घटती जाती है, परन्तु भोगों की तृष्णा दिन–दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाती है।

सर्व संसार के दुःखों का मूल कारण भोगों की तृष्णा है। यह प्राणी भोगों के लिये दिन–रात धन कमाता है। जब न्याय से धन नहीं आता तब अन्याय पर कमर कस लेता है, और समस्त धर्म–कर्म को छोड़ देता है। जिस मनुष्य–पर्याय से आत्म कल्याण करना था, उसको भोगों में वृथा गँवा देता है। परन्तु जो ज्ञानी पुरुष होते हैं, साधु/महात्मा होते हैं, उन्हें धन की आकांक्षा नहीं होती वे तो इसे भार स्वरूप समझते हैं।

शान्ति विलासता या ग्रहण में नहीं, त्याग में है। जितना ग्रहण, उतनी अशान्ति और जितना त्याग, उतनी शान्ति। त्याग बिना शान्ति आ नहीं सकती है। किसी भी प्रकार त्याग हो, वह निष्फल नहीं जाता है। इस त्याग से बैरीजन भी चरणों में सिर नवाते हैं। एक राजा दूसरे राजा पर चढ़ाई करने जा रहा था। दूसरा शत्रु भी चढ़ आया। रास्ते में उस राजा को एक मुनिराज के दर्शन हुये। राजा मुनिराज के पास बैठ गया, कुछ उपदेश सुना। इतने में कुछ शत्रु की सेना की आवाज कानों में आने लगी तो राजा सावधानी से तनकर बैठ गया। मुनिराज कहते हैं–राजन! यह क्या करते हो? राजा

बोला–ज्यों–ज्यों शत्रु मेरे निकट आता जा रहा है, त्यों–त्यों मुझे क्रोध बढ़ रहा है। उस शत्रु को भस्म करने के लिये भीतर से प्रेरणा जग रही है। मुनिराज बोले–राजन! तुम अच्छा कर रहे हो। यही करना चाहिये। जैसे–जैसे शत्रु निकट आये, उस शत्रु को नष्ट कर देने का, उखाड़ देने का यत्न करना चाहिये। पर जो शत्रु तुम्हारे बिल्कुल निकट बैठा है, तुममे ही आ गया है, उस शत्रु का नाश तो पहले कर दना चाहिये।

राज बोला – वह कौन–सा शत्रु है जो मेरे बिलकुल ही निकट आ गया है? मुनिराज बोले – दूसरे का शत्रु मानने की जो कल्पना है, वह कल्पना तुम्हारे में घुसी हुई है। यह बैरी तुम्हार अन्दर है। उस बैरी को दूर करो। राजा ने कुछ ध्यान लगाया, उसे समझ में आया, अर जगत में मरा बैरी कौन है? कोई इस जगत में मेरा शत्रु नहीं है। मैं ही कल्पना कर लेता हूँ, चष्टायें कर डालता हूँ। राजा ने शत्रुता का भाव छोड़ा, वैराग्य जागा और वहीं साधु दीक्षा ले ली। शत्रु आता है, सेना आती है और राजा को शांत मुनिमुद्रा मं दखकर सब शत्रु चरणों में गिर जाते हैं। राजा अपने आत्मकल्याण में लग गया। त्याग की महिमा अचिन्त्य है। त्याग हाने से बैरी भी चरणां में प्रणाम करत हैं।

जिन्होंन धन–सम्पदा आदि परिग्रह को कर्म के उदयजनित पराधीन, विनाशिक, अभिमान का उत्पन्न करन वाला, तृष्णा को बढ़ान वाला, राग–द्वेष की तीव्रता करने वाला, आरम्भ की तीव्रता करन वाला, हिंसादि पाँचों पापां का मूल जानकर इसे अंगीकार ही नहीं किया, व उत्तम पुरुष धन्य हैं। जिन्होंने इसे अंगीकार करके फिर इसे हलाहल विष के समान जानकर जीर्ण तृण की तरह त्याग दिया, उनकी भी अचिन्त्य महिमा है।

परिग्रह समान भार अन्य नहीं है। जितने भी दुःख, दुर्ध्यान, क्लेश, बैर, शोक, भय, अपमान हैं, वे सभी परिग्रह के इच्छुक के होते हैं। जैसे–जैसे परिग्रह से परिणाम भिन्न होने लगते हैं, परिग्रह में आसक्ति कम होने लगती है, वैसे–वैसे ही दुःख कम होने लगते हैं। समस्त दुःख तथा समस्त पापों की उत्पत्ति का स्थान यह परिग्रह ही है। जिन्होंने इस परिग्रह को त्याग दिया, वे त्यागी पुरुष ही वास्तव में सुखी हैं और भविष्य में अनन्त सुख के धारी बनेंगे।

एक नगर का राजा मर गया। मंत्रियों ने सोचा कि अब किसे राजा बनाया जाये? सभी ने तय कर लिया कि सुबह के समय अपना राज–फाटक खुलेगा, तो जो व्यक्ति फाटक पर बैठा हुआ मिलेगा उसको ही राजा बनायेंगे। फाटक खुला, तो वहाँ मिले वह साधु महाराज। वे लोग उस साधु को हाथ पकड़ कर ले गये, बोले–तुम्हें राजा बनना पड़ेगा। .... अरे! नहीं, नहीं हम राजा नहीं बनेंगे। .... तुम्हें राजा बनना ही पड़ेगा। उतारो यह लंगोटी और ये राजभूषण पहनो। साधु कहता है–अच्छा, अगर हमें राजा बनाते हो तो हम राजा बन जायेंगे पर हमसे कोई बात न पूछना, सब काम–काज आज आप लोग ही चलाना। .... 'हाँ–हाँ, यह तो मंत्रियों का काम है, आपसे पूछने की क्या जरूरत है? हम लोग सब काम चला लेंगे।' उसने अपनी लंगोटी एक छोटे–से संदूक में रख दी और राजवस्त्र पहिन लिये। दो चार वर्ष गुजर गये। एक बार शत्रु ने चढ़ाई कर दी। मंत्रियों ने पूछा–राजन! अब क्या करना चाहिये? शत्रु एक दम चढ़ आये हैं। अब हम लोग क्या करें? साधु बोला–अच्छा हमारी पेटी उठा दो। सब राजभूषण उतारकर लंगोटी पहिन ली और कहा 'हमें तो यह करना चाहिये और तुम्हें जो करना हो करो।' ऐसा कह कर चल दिया। साधु जी को राज्य के प्रति कोई ममत्व नहीं था।

त्याग का अर्थ है—वस्तु के त्याग के साथ उसके प्रति ममत्व भाव का भी त्याग करना। यह ममत्व भाव ही दुःख का कारण है।

एक बार एक व्यक्ति के घर में आग लग गई। वह छाती पीट—पीट कर रोने लगा। आस—पास लोगों की भीड़ जमा हो गई। भीड़ में से एक व्यक्ति उसके पास आया और कहने लगा सेठ जी घबराइये मत यह मकान तो आपके बेटे ने कल ही दूसरे को बेच दिया है। लिखा—पढ़ी हो गई है पैसे भी शायद मिल गये हैं, अब यह मकान आपका नहीं है।

मकान मालिक एकदम चुप हो गया, आँखों के आँसू सूख गये। वह पूर्ण स्वस्थ हो गया, लोगों से कहने लगा — अरे मैं कितना मूर्ख था, व्यर्थ रो रहा था।

तभी अचानक सेठ जी का लड़का दौड़ता हुआ आया और कहने लगा—'पिता जी मकान जल रहा है, और आप खड़े—खड़े देख रहे हैं? जल्दी बुझाइये।' सेठ जी कहते हैं, मकान बिक चुका है न?

लड़के ने कहा—'मकान बिकने की केवल बात ही हुई है, अभी तो लिखा—पढ़ी भी नहीं हुई है। अरे! यह अपना ही मकान जल रहा।' सेठ जी फिर छाती पीटकर रोने लगे। यह ममत्व भाव ही दुःख का कारण है। जितना—जितना हमारा ममत्व बढ़ेगा, उतना—उतना दुःख भी बढ़ता जायेगा और जितना ममत्व भाव कम होगा, उतना दुःख भी कम हो जायेगा।

जिन्हें संसार के स्वरूप का बोध हो जाता है, उन्हें यह सारी संपदा जीर्ण तृण के समान लगने लगती है। त्याग करते समय और त्याग करने के बाद भी उन्हें उसके प्रति ममत्व भाव नहीं रहता।

"त्यागो विसर्गः" त्याग का अर्थ है—छोड़ना या देना। त्याग करते

समय अहंकार या विषाद का भाव नहीं होना चाहिये। त्याग अत्यन्त सहजभाव से होना चाहिये, जैसे अपने घर को साफ–सुथरा रखने के लिये हम कूड़ा–कचरा घर से बाहर सहज भाव से फेक देते हैं। कूड़ा–कचरा फेकते समय हमारे मन में संक्लेश नहीं होता और न ही अहंकार का भाव आता है कि मैंने इतना ढेर–सारा कचरा त्याग दिया। मन में भाव आता भी है तो इतना ही कि कचरा फेकना जरूरी था, सो मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया।

ऐसे ही अपने जीवन को अच्छा और सुन्दर बनाने के लिये सहज भाव से विकारों का, धन सम्पदा का त्याग करना चाहिये। अहंकार और संक्लेश से रहित होकर अपना कर्तव्य मानकर त्याग करना चाहिये।

'वैराग्य भावना' में आता है कि –

छोड़े चौदह रतन, नवों निधि, अरु छोड़े संग साथी।
कोड़ि अठारह घोड़ छोड़े, चौरासी लख हाथी।।
इत्यादिक सम्पत्ति बहुतेरी, जीरण तृण–सम त्यागी।
नीति विचार नियोगी सुत को, राज दियो बड़भागी।।

संसार, शरीर और भोगों की वास्तविकता जानकर अत्यन्त वैराग्य भाव से वज्रनाभि चक्रवर्ती ने अपार सम्पदा का, जीर्ण तृण के समान त्याग कर दिया। सूखी घास का तिनका भी उपयोगी जान पड़ता है। इसलिये उसके प्रति भी ममत्व रह सकता है, परन्तु जीर्ण–शीर्ण तिनके के प्रति ममत्व भाव सहज ही छूट जाता है। इसलिये त्यागी हुई वस्तु को जीर्ण–तृण के समान समझकर छोड़ना चाहिये।

जिसे अपनी निजी सम्पदा का बोध हो जाता है, उसका बाह्य सम्पदा के प्रति ममत्व अपने आप कम हो जाता है। और बाह्य

सम्पदा का त्याग सहज रूप से हो जाता है। एक बार पड़ोसी राज्यों में परस्पर युद्ध हुआ। जो राजा जीत गया, उसने दूसरे के राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। और घोषणा करा दी कि आज से यह राज्य हमारा है। इस राज्य में पहले से रहने वाले लोग इसे खाली कर दें और अपनी जितनी सम्पत्ति सिर पर रखकर ले जायी जा सके, उतनी ले जायें। उस राज्य के लोग बड़े दुःखी हुये। सब एक–एक करके राज्य छोड़ने लगे। रास्ते में सैकड़ों लोग सिर पर अपना–अपना सामान उठाये पैदल जा रहे थे। सभी के चेहरे उदास थे। जो सम्पदा छोड़कर जाना पड़ रहा था, उसके लिये सभी दुःखी थे। और मजा ये था कि जो सम्पदा अपने सिर पर रखे थे उसका बोझ भी कम पीड़ा दायक नहीं था, पर जो छूट गया था उसकी पीड़ा ज्यादा थी।

हम सभी के साथ भी ऐसा ही है। हमें जो प्राप्त है, उसका बोझ इतना है कि झेला नहीं जाता, परन्तु जो प्राप्त नहीं है, उसकी पीड़ा बहुत है। अचानक लोगों ने देखा कि उस भीड़ में एक व्यक्ति ऐसा भी है जो सबकी तरह दुःखी नहीं है, बल्कि आनंदित है। लोगों ने सोचा कि शायद कोई बेशकीमती सामान साथ में लाया होगा, इसलिये खुश है। पर मालूम पड़ा कि वह तो खाली हाथ है। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और दया भी आई, कि बेचारे के पास कुछ भी नहीं है। किसी के पास कुछ भी न हो और वह आनंदित हो, तो लोगों को सहसा विश्वास नहीं होता। लोगों ने पूछा कि तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है, तुम कुछ भी नहीं लाये। उसने कहा कि जो मेरा है, वह सदा से मेरे साथ है। लोग जरा मुश्किल में पड़ गये। लोगों ने सोचा कि सम्पदा छूट जाने से शायद इसका दिमाग गड़बड़ा गया है। सचमुच, अगर कोई सब छोड़ दे और आनंदित होकर जीवन

जिये तो अपन को लगता है कि इसका दिमाग ठिकाने नहीं है। त्याग वगैरह की बातें पागलपन–सी लगती हैं। और मजा ये है कि अनावश्क चीजों का संचय करना और उसके संरक्षण की चिन्ता रखना, बुद्धिमानी जान पड़ती है।

उस व्यक्ति ने कहा मेरी निजी सम्पदा आत्मशान्ति और संतोष है। जो सदा मेरे साथ है। जिसके छिन जाने, लुट जाने या खो जाने का भय मुझे जरा भी नहीं है। जो खो जाये या जिसे छोड़ना पड़े वह निजी सम्पदा नहीं है। जिसे अपनी निजी सम्पदा का बोध हो जाता है, उसका बाह्य–सम्पदा के प्रति ममत्व अपने आप घट जाता है। उसे यह बाह्य सम्पदा जिसे वह अज्ञान दशा में सुख का कारण मान रहा था अब दुःख का कारण मालूम पड़ने लगती है, और तब उस बाह्य सम्पदा का त्याग सहजरूप से हो जाता है, तथा त्याग करते समय उसे न त्याग का अहंकार होता है और न ही त्याग का संक्लेश।

त्याग के बिना न तो आज तक किसी का उद्धार हुआ है और न आगे होगा। चाहे कोई कभी भी त्याग के मार्ग पर बढ़े, पर कल्याण होगा त्याग से ही। यह प्राणी जब तक त्याग नहीं करता, तब तक विपत्तियों में ही तो रहेगा। जैसे किसी पक्षी को कोई भोजन मिल जाये, कोई टुकड़ा मिल जाये, तो उस पर अनेक पक्षी टूट पड़ते हैं। वह पक्षी परेशान हो जाता है। यदि वह पक्षी टुकड़े को छोड़ दे तो एक भी पक्षी उसे परेशान न करे। इसी प्रकार यह मोही प्राणी अपने परिणामों में बाह्य वस्तुओं को पकड़े हुये है और आकुल–व्याकुल बना हैं। मिथ्यात्व मोह में तो व्यर्थ ही अनेकों की गुलामी करनी पड़ती है। यदि हम इन बाह्य पदार्थों का त्याग करके आत्मसाधना करें तो सदा के लिये सुखी बन जायें। कहा भी है–

त्याग बराबर तप नहीं, जो होवे निरदोष।
भविजन कीजे त्याग अब, मिले बड़ा संतोष।।

त्याग का अर्थ होता है, वस्तु के त्याग के साथ उसके प्रति ममत्व भाव का भी त्याग करना। त्याग करने के बाद त्यागी हुई वस्तु का पुनः ध्यान नहीं आना चाहिये। त्याग दिया, त्याग दिया अब उससे कनेक्टिेड नहीं रहना चाहिये। व्यक्ति किसी पदार्थ से दो प्रकार से जुड़ता है, एक तो उसमें आसक्त होकर और दूसरा उन पदार्थों को छोड़ दिया फिर भी 'मैंने छोड़ा है' इस बात का अभिमान करके। एक तो पकड़ के जुड़ा है और एक छोड़ के जुड़ा है। तो इस जुड़ने को छोड़ने का नाम त्याग है। जिसका त्याग कर दिया, फिर उसका विकल्प भी छूट जाना चाहिये। त्याग करने के बाद उस त्याग का गरुर भी अंदर नहीं रखना चाहिये।

एक मुनिराज अपने प्रवचन में बार-बार कह रहे थे, मैंने लाखों की सम्पत्ति पर लात मार दी। दूसरे मुनिराज पास में बैठे थे। जब उन्होंने यही बात उनके मुख से बार-बार सुनी, तो वे बोले-महाराज जी लगता है अभी आपकी लात अच्छे से नहीं लगी, नहीं तो छोड़ने के बाद उसका ख्याल भी नहीं आना चाहिये। त्याग करने के बाद भी यदि अंदर से राग बना रहा, तो त्याग से कोई लाभ नहीं।

एक बार आचार्य शान्ति सागर जी महाराज जंगल के रास्ते से गुजर रहे थे। एक सन्यासी महाराज से आग्रह करता है, महाराज! मेरी झोपड़ी में आपके चरण पड़ जायें, मेरी झोपड़ी पवित्र हो जायेगी, आप मेरी झोपड़ी पर अवश्य चलें। महाराज उसकी झोपड़ी में ठहर गये। थोड़ी देर पश्चात महाराज ने बिहार किया, तो सन्यासी भी साथ हो गया। सन्यासी बड़ा प्रसन्न था कि महाराज के साथ चल

रहा हूँ। रास्ते में उसने पूछा–महाराज! आपको हमारी झोपड़ी कैसी लगी? महाराज ने कहा–तुमने घर–परिवार छोड़ दिया, किन्तु एक झोपड़ी बना ली, आखिर क्या किया? मोह का परिवर्तन ही किया और कुछ नहीं। उस सन्यासी को लगा महाराज सही कह रहे हैं। वह वापिस आया और झोपड़ी में आग लगा दी। झोपड़ी को जलाकर वह महाराज के पास पहुँचा और बोला–महाराज! न रहेगा बाँस, बजेगी बाँसुरी। इसलिये मैंने झोपड़ी जला दी। पर महाराज यह तो बतला दो कि वह झोपड़ी कैसी थी?

महाराज ने कहा–हे सन्यासी! बाहर की झोपड़ी तो जल गई, किन्तु अंदर की नहीं। अंतरंग में अभी भी झोपड़ी बनी हुई है। अर्थात् उसके प्रति मोह बना हुआ है। बाहरी त्याग के साथ अंतरंग में आसक्ति नहीं होनी चाहिये। अंतरंग में विरक्ति नहीं और बाहर से घर छोड़ दिया, फिर भी अंदर झोपड़ी बनी रही तो उससे कोई लाभ नहीं। त्याग करने के बाद मैंने त्यागा, इस विकल्प का भी त्याग कर देना चाहिये। त्याग की महिमा बताते हुये आचार्यों ने लिखा है–

त्यागो हि परमो धर्मः, त्याग एव परं तपः।
त्यागाद् इह यश लाभः, पराभ्युदयो महान।।

अर्थात् त्याग ही परम धर्म है। त्याग ही परम तप है। त्याग से ही इस जगत में यश का लाभ होता है और परलोक में महान् अभ्युदय की प्राप्ति होती है। जिसने भी त्याग के मार्ग को अपनाया वे नर से नारायण बन गये, उनका जीवन धन्य हो गया।

जो संसारियों के कहे अनुसार चलते हैं वे संसार में ही रहते हैं। यह संसार है ही ऐसा। एक व्यक्ति घोड़े पर बैठा जा रहा था और उसकी पत्नी पैदल नीचे चल रही थी। पति बैठा था घोड़े पर। एक

गाँव से निकले तो गाँव वाले बोले कि देखो, ये कितना मूर्ख है? पत्नी को तो पैदल चला रहा है और स्वयं घोड़े पर बैठा है? पति ने सोचा बात तो सही है कि मैं तो घोड़े पर बैठा हूँ और पत्नी को पैदल चला रहा हूँ। वह उतर गया और पत्नी को घोड़े पर बैठा दिया। दूसरे गाँव में गया तो कुछ लोगों ने कहा, देखो, इस निर्लज्ज औरत को। पति को तो पैदल चला रही है, स्वयं घोड़े पर बैठी है। पत्नी ने सोचा, बात तो सही है कि पति पैदल चले और मैं घोड़े पर बैठूँ, यह ठीक नहीं। वह नीचे उतर गई। अब दोनों पैदल–चलने लगे। तीसरे गाँव में पहुँचे तो वहाँ पर कुछ लोग कहने लगे–कैसे मूर्ख हैं, घोड़ा खाली जा रहा है और दोनों पैदल चल रहे हैं? वे दोनों सोचते हैं ये बुरा हुआ, अपन ने ये तीनों कार्य बुरे किये।

अब उन्होंने क्या किया दोनों ही घोड़े पर बैठ गये। अब वे चौथे गाँव में पहुँचे। तो लोग चिल्लाने लगे कि अरे ये मूर्ख देखो, घोड़े की जान ही लेने पर तुले हुए हैं। कहने का अभिप्राय है कि दुनिया में तुम कुछ भी करो, इनको सही कहना ही नहीं। जो कुछ भी करो, उनको गलती ही निकालना है। जो इज्जत नहीं बनाते, उनको तो ये करना ही है कि दूसरे की इज्जत में बट्टा लगाना है। उन्हें धर्म तो कुछ नहीं करना, उनको तो खण्डन ही करना है। यह ठीक नहीं।

एक बार अलग–अलग देशों के केकड़ों को किसी अन्य स्थान पर ले जा रहा था एक व्यक्ति। हर देश के केकड़ों का डिब्बा बंद था। जिस डिब्बे में भारत के केकड़े रखे थे, वह डिब्बा खुला था। किसी ने कहा इसको बंद कर लो, अन्यथा ये केकड़े भाग जायेंगे। व्यापारी कहता है–चिन्ता मत करो, ये कहीं नहीं जायेंगे। यदि एक केकड़ा बाहर भागेगा तो दूसरा केकड़ा उसकी टांग पकड़कर खींच लेगा, ये भारत के केकड़े हैं। ऐसी छिद्रान्वेषिता स्व–पर का विनाश

करने वाली है। सारी जिन्दगी निकल गई कई लोगों की जिन्होंने कभी दान नहीं दिया, बल्कि जिन्होंने दिया है, उनके दोष ही निकाले हैं।

बादशाह अकबर एक बार बीरबल से पूछते हैं कि लोगों की हथलियों में बाल क्यों नहीं होते? बीरबल बोले—राजन्! आपके हाथों के बाल दान देते—देते और हम लोगों के लेते—लेते समाप्त हो गये। कुछ लोग हाथों से देते भी नहीं, लेते भी नहीं, फिर इनकी हथलियों पर बाल क्यों नहीं? तो बीरबल ने कहा, जो न देते हैं, न लेते हैं, वे देते हुए को देखकर ही हाथ मलते रहते हैं, इसलिये मलते—मलते इनके हाथ साफ हो गये। सोचो, आप इन तीनों में से कौन हो? अपने आप से पूछ लेना। तुम हाथ मलने वाले हो कि लेने वाले हो या देने वाले हो? दान से गृहस्थ की शोभा है। त्याग से साधु की शोभा है। त्याग साधु नहीं करेगा तो साधु नहीं कहलायेगा। गृहस्थ दान नहीं देगा तो गृहस्थ नहीं कहलायेगा। 'परमात्म प्रकाश' के दूसरे अधिकार में कहा है कि जो साधु त्यागी नहीं है, वह साधुपने से भ्रष्ट है और जो श्रावक दानी नहीं है, वह श्रावकपने से भ्रष्ट है। मानव जीवन में तो त्याग धर्म ही उपादेय है।

जितने भी दुःख, दुर्ध्यान, क्लेश, बैर, शोक, भय, अपमान हैं, वे सभी परिग्रह के इच्छुक को होते हैं। जैसे—जैसे परिग्रह से परिणाम भिन्न होने लगते हैं, परिग्रह में आसक्ति कम होने लगती है, वैसे—वैसे ही दुःख कम होने लगता है। समस्त दुःख तथा पापों की उत्पत्ति का स्थान यह परिग्रह है। जिन्होंने इस परिग्रह को त्याग दिया, वे त्यागी पुरुष वास्तव में सुखी हैं और भविष्य में अनन्त सुख के धारी बनेंगे।

जो पूर्ण परिग्रह को त्यागने में समर्थ नहीं हैं, वे अपने धन का

सदुपयोग दान के रूप में, आहार दान के रूप में, ज्ञान दान के रूप में, औषधि दान के रूप में व अभय दान के रूप में करते हैं। इसके अलावा जरुरतमदों को करुणादान भी करते है। ये सभी दान स्व–पर के उपकार के लिये हैं। देना ही जगत में ऊँचा है। मनुष्य की निर्मल कीर्ति दान से ही फैलती है। दानी में कोई दोष हों तो वह दोष भी दान देने से ढंक जाते हैं। दान देने से बैरी भी बैर छोड़ देते हैं। धन पाना तो दान से ही सफल है। यदि धन पाया है तो दान में ही उद्यम करो।

दान देना श्रावक का आवश्यक कर्तव्य है। जो उत्तम पात्रों को दान देता है, वह जीव भोग–भूमि व स्वर्ग को प्राप्त करता है। जिसने भी पूर्व भवों में दान दिया है, उसने अनेक प्रकार की सुख–सामग्री पाई है तथा जो अभी देगा, सो आगे पायेगा। आचार्य समन्तभद्र महाराज ने लिखा है –

जिस प्रकार योग्य भूमि में पड़ा हुआ वट का छोटा–सा बीज कालान्तर में बहुत बड़ा वट का वृक्ष बनकर छाया प्रदान करता है, उसी प्रकार योग्य पात्र को दिया हुआ छोटा–सा दान भी समय पाकर अपरिमित वैभव को प्रदान करता है। धन्य कुमार को घर से निकलने पर स्थान–स्थान पर जो अनायास ही धन का लाभ होता था, वह उसके पूर्व पर्याय में दिये दान का ही फल था।

गृहस्थ धन का संग्रह करते हैं। गृहस्थी की गाड़ी चलाने के लिये धनार्जन करना जरूरी होता है, किन्तु यह बात एकदम सच है कि उस धनार्जन में आरम्भ–परिग्रह का महापाप भी उसे लगता है। इस महापाप की शुद्धि के लिये ही आचार्यों ने गृहस्थों को दान देने का उपदेश दिया है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है –

ग्रहकर्मणापि निचित कर्म विमार्ष्टि खलु गृह विमुक्तानाम।
अतिथानां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि।।

जिस प्रकार रक्त से सने हुये वस्त्र को जल से धोकर शुद्ध कर लिया जाता है, उसी प्रकार आरम्भ–परिग्रह से उत्पन्न पाप को गृह–त्यागियों को आहार दान आदि देकर शुद्ध कर लिया जाता है।

धन की तीन ही गति मानी गई हैं–दान, भोग और नाश। पूजा में पढ़ते हैं 'निज हाथ दीजे, साथ लीजे, खाया खोया बह गया।'

जो देता है, वह पाता है और जो संग्रह करता है, उसका सब यहीं पड़ा रह जाता है। जो दिया जाता है, वह कीमती स्वर्ण–सा हो जाता है, किन्तु जो संग्रह कर लिया जाता है, वह मूल्यहीन माटी का रह जाता है।

एक बार राज्य पर संकट आया हुआ जानकर राजा ने एक ज्योतिषी से उसके निवारण का उपाय पूछा। ज्योतिषी ने कहा राजन्! संकट का निवारण तो हो सकता है पर आपको प्रातःकाल भीख माँगने के लिये राजपथ पर निकलना होगा और जो भी भिखारी आपको सबसे पहले मिले उससे भिक्षा माँगनी होगी। भिक्षा में जो भी मिले उसे लाना और महलों में सुरक्षित रख देना, वही तुम्हारे संकट के निवारण में कारण होगा।

राजा रात भर बेचैन रहा, सम्राट और याचक बनकर निकले, जिसने आज तक फैले हुये हाथों को दिया है, वही आज दूसरों के सामने हाथ फैलाये। पर करे भी क्या? राज्य की सुरक्षा का प्रश्न था। राजा सुबह–सुबह अपने रथ पर बैठकर राजपथ पर निकला। यहाँ एक भिखारी के मन में आया कि वर्षों बीत गये भीख माँगते–माँगते, पर आज तक पूर्ति नहीं हो पाई, क्यों न हो आज राजा के दरबार में

चला जाये और सम्राट के सामने हाथ फैला दिये जायें, ताकि कुछ ऐसा मिले जिससे यह भीख माँगना हमेशा के लिये छूट जाये।

आज भिखारी भी पूरा मन बनाकर राजदरबार की ओर आगे बढ़ा। उसने अपनी झोली में थोड़े से दाने डाल रखे थे। भिखारी ने देखा सम्राट का रथ स्वयं मेरी ओर आ रहा है। अहोभाग्य है मेरा, मैं तो उनके दरबार में जा रहा था पर आज तो सम्राट स्वयं मुझे रास्ते में मिल गये। बस आने दो पास में रथ, हाथ फैला दूँगा और माँग लूंगा सम्राट से ताकि हमेशा–हमेशा के लिये इस भीख माँगने से छुटकारा मिले। भिखारी सड़क के किनारे खड़ा होकर सोच ही रहा था कि रथ आकर एक दम उसके सामने रुक गया और राजा ने रथ से उतरकर भिखारी के सामने हाथ फैला दिये। राज्य के संकट का सवाल है, भिक्षा में कुछ मिल जाये ताकि संकट का निवारण हो।

भिखारी तो हक्का–बक्का रह गया, उसे कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था कि यह क्या हो रहा है। वह तो कुछ और ही सोच रहा था पर यहाँ तो सम्राट स्वयं ही माँग रहे हैं, अब वह क्या करे? जिसने कभी न दिया हो और देने की स्थिति बन जाये तो उसकी दशा क्या होगी, आप स्वयं समझ सकते हैं। भिखारी की स्थिति भी वही थी। उसके तो मानों होश उड़ गये। भिखारी ने भारी मन से झोली में हाथ डाला, कुछ दाने मुट्ठी में आ गये। पर इतने दाने कैसे दें? इस विचार से कम करते–करते सिर्फ एक दाना निकला और राजा के हाथ पर रख दिया। राजा ने उसे लेकर मुट्ठी बन्द की और राजमहल की ओर वापिस चला गया।

यहाँ भिखारी की दशा तो ऐसी हो गई जैसे उसका सब कुछ लुट गया हो। उसने कई जगह भीख माँगी, उसे प्रतिदिन की अपेक्षा

ज्यादा भीख मिली, पर एक दाना देने का मलाल तो बना ही रहा। भिखारी शाम को घर लौटा, उदास मन से उसने जैसे–ही भीख को उड़ेला तो वह एक दम से छाती पीट–पीट कर रोने लगा, क्योंकि उन सारे दानों में उसे चमचमाता हुआ केवल एक स्वर्ण का दाना दिखा। भिखारी को समझते देर न लगी। उसने रोते–रोते अपनी पत्नी से कहा कि काश! यदि मैं सम्राट को ये सारे दाने दे देता तो मेरे सारे दाने स्वर्ण के हो जाते।

दिया गया ही स्वर्ण का होता है, पास में रखा हुआ तो माटी का रह जाता है।

श्रावक को गृहस्थी के कार्य करने पड़ते हैं। आरम्भ–परिग्रह के कारण उन्हें हमेशा पाप कर्मों का बंध होता रहता है। उसकी शुद्धि के लिये उन्हें प्रतिदिन दान अवश्य करना चाहिये।

जिस तालाब में पानी आने का द्वार हो पर निकलने का द्वार न हो तो उसका क्या हाल होता है? किसी कवि ने लिखा है –

बिना दान को द्रव्य, औ बिन मौरी को ताल।
कुछ ही दिन में देखलो, रावण जैसा हाल।।

जिस प्रकार कपड़े मैले हो जाने पर उन्हें धोना अनिवार्य होता है, उसी प्रकार गृहस्थ को गृहस्थी के काम करने से होने वाले पाप को धोने के लिये दान करना अनिवार्य है। यदि हम कपड़ों को पहनते तो रहें और धोएं कभी नहीं, तो वे कपड़े मैले होकर सड़ जायेंगे और फट जायेंगे, उसी प्रकार जो गृहस्थ दान नहीं देता, उसकी आत्मा भी पाप कर्मों से मैली होकर संसार में भ्रमण करती रहती है।

'परमात्म प्रकाश' ग्रन्थ की टीका में पं. दौलतराम जी ने लिखा है–

गृहस्थ अवस्था में जिसने भगवान की पूजा, भक्ति, दान, शील आदि श्रावक के कर्तव्यों का पालन नहीं किया, वे अपनी आत्मा को ठगने वाले हैं। उनका महा दुर्लभ मनुष्य देह का पाना निष्फल है। उससे कुछ फायदा नहीं।

दान देने की प्रेरणा देते हुये आचार्य पद्मनन्दी मुनिराज ने लिखा है–

सत्पात्रेषु यथाशक्ति, दानं देयं गृहस्थितैः।
दान हीना भवतेषां, निष्फलैव गृहस्थता।।

गृहस्थ श्रावकों को यथाशक्ति मुनिराजों को दान अवश्य देना चाहिए, क्योंकि दान के बिना उनका गृहस्थाश्रम निष्फल ही होता है।

धन–संचय कब तक करोगे? यह तो इसी प्रकार है जैसे कोई नाव में पत्थर डालता जाये, तब वह नाव एक दिन अवश्य डूबेगी। स्व और पर का उपकार करने के लिए अपने द्वारा अर्जित धन का चार प्रकार के दान आहारदान, अभयदान, ज्ञानदान, औषधिदान में उपयोग अवश्य करना चाहिये।

1. आहारदानः– पड़गाहन, उच्चासन, पाद प्रक्षालन, पूजा, नमस्कार, मन, वचन, काय शुद्धि, आहारजल शुद्धि नवधाभक्ति पूर्वक संतोषी, अलोभी, विवेकी आदि सप्तगुणों के साथ श्रावक के द्वारा शास्त्रोक्त विधि अनुसार मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं को शुद्ध आहार जल प्रदान करना, आहार दान कहलाता है। आहार दान समस्त दानों में प्रधान है। प्राणी जीवन, शक्ति, बल, बुद्धि ये सभी आहार के बिना नष्ट हो जाते हैं। जिसने आहार दान दिया, उसने प्राणियों को जीवन, शक्ति, बल, बुद्धि सभी कुछ दिया। मुनिराजों को आहारदान देकर श्रावक अपने आप को धन्य समझते हैं। आहारदान देने से ही मुनि व श्रावक का समस्त धर्म चलता है।

आहारदान के समान कोई दान नहीं। भगवान ऋषभदेव को बारह महीनों के बाद राजा श्रेयांस ने आहारदान दिया था जिसकी निर्मल यशचंद्रिका इस धरातल पर आज भी फैल रही है। भरत चक्रवर्ती ने भी राजा श्रेयांस की पूजा की थी। राजा श्रीषेण बड़े धार्मिक पुरुष थे। उन्होंने आदित्यगति, अरंजय दो मुनियों को बड़ी श्रद्धा–भक्ति से आहारदान दिया, तो देवों ने प्रसन्न होकर अपार रत्नवर्षा उनके घर के आंगन में की, और श्रीषेण राज षोडश कारण भावनाओं के द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके सोलहवें तीर्थंकर शांतिनाथ हुये। वह कामदेव थे और चक्रवर्ती थे। आहारदान की ऐसी महिमा है। अतः प्रत्येक श्रावक को योग्य पात्र को आहारदान करके अपना कल्याण करना चाहिए।

2. औषधिदान – रोग नाश करने वाली प्रासुक औषधि देना औषधि दान है। अर्द्धचक्री नारायण कृष्ण की राजधानी द्वारिका में एक मुनि पधारे। उन्हें कोई भीषण रोग हो गया था। कृष्ण को उनका रोग देखकर बड़ा दुःख हुआ। इस चिंता मे पड़ गये कि रोग कैसे दूर किया जाय। आखिर एक वैद्य से बहुत बड़ा लड्डू बनवाकर सारे नगर में बाँट दिया जिससे कि मुनिराज चाहे नगर के किसी भी घर आहार करें, वहाँ लड्डू का आहार ही दिया जाये। सारे नगर में यह सूचना कर दी। अब मुनिराज जिस घर जावें, उसी घर लड्डू मिले। फल यह हुआ कि उनका रोग आठ दिनों में ही मिट गया। जैसे–जैसे रोग दूर होता था वैस ही कृष्ण का हर्ष बढ़ता था। वे निरंतर षोड़श कारण भावना भाते थे। फलतः उस औषधिदान का निमित्त तीर्थंकर प्रकृति का कारण हुआ, तो औषधिदान का यह महत्त्व है। अतः योग्य पात्र को इस उत्तम औषधिदान को देकर, पुण्यफल का संचय करना चाहिए।

3. शास्त्रदान (ज्ञानदान) – हमारे यहाँ शास्त्रदान की परिपाटी अत्यंत प्राचीन है। वस्तुतः इसी परिपाटी के कारण हमारे शास्त्र सुरक्षित हैं। गृहस्थों द्वारा दशलक्षण व्रत उपवासादि के पश्चात् हाथ से लिखकर दस शास्त्र मंदिरों में रखने की परम्परा रही है। ज्ञानदान से निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञानदान के प्रभाव से अज्ञान–रूपी–अंधकार दूर होता है और जिन धर्म का प्रचार–प्रसार होता है।

ज्ञानदान की महिमा अचिन्त्य है। किसी जीव को ज्ञान दिया और उसे ऐसा आत्मा–ज्ञान हो जाये कि उसके सारे दुःख समाप्त हो जायें, आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग–द्वेषादि विकारी भाव समाप्त हो जायें, अनादिकाल से बंधे कर्मों से मुक्ति हो जाये, तो बताइये इस ज्ञानदान की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है। ज्ञान के समान संसार में सुख को देने वाला अन्य कुछ भी नहीं है। सभी को जिनधर्म की महिमा के प्रचार–प्रसार में अपने धन का सदुपयोग अवश्य करना चाहिये।

गोविन्द नामक एक ग्वाले ने वृक्ष की कोटर से निकालकर एक प्राचीन शास्त्र की पूजा की थी तथा भक्ति पूर्वक वह शास्त्र पद्मनन्दी मुनिराज को दे दिया था। जिससे बहुत से मुनिराजों ने स्वाध्याय किया था। वह गोविन्द मरकर उसी ग्राम में ग्राम प्रमुख का पुत्र हुआ। एक बार उन्हीं पद्मनन्दी मुनिराज को देखकर उसे जातिस्मरण हो गया और वह संयम को धारण कर शास्त्रों का पारगामी बहुत बड़ा मुनि बना। यह उसके पूर्व भव में दिये शास्त्रदान का फल था।

4. अभयदान – छह काय के जीवों की रक्षा करना, किसी भी प्राणी को मन, वचन, काय से पीड़ा नहीं पहुँचाना, अभयदान है। भयभीत धार्मिक जनों तथा अन्यों को भय से मुक्त करना अभयदान कहलाता है। पंचतंत्र में लिखा है कि –

न गोप्रदानं न मही प्रदानं, न चान्नदानं हितया प्रधानम्।
यथा वदंतीह बुधाः प्रधानं सर्व प्रदानेष्वभय प्रदानम्।।

अर्थात् सभी प्रकार के दानों में अभयदान को विद्वान लोग जितना श्रेष्ठ बतलाते हैं, उतना श्रेष्ठ न तो गोदान है, न भूदान और न अन्नदान ही है। सुमेरु पर्वत के बराबर सुवर्णदान देने से, जिस पुण्य की प्राप्ति होती है, वह अभयदान के प्रभाव से हो जाती है। अभयदान देने से परभव सम्बन्धी समस्त दुःख दूर हो जाते हैं।

अभयदान का फल – अनंगसरा नाम की एक कन्या थी। उसे कोई विद्याधर हर कर ले गया था। वह विद्याधर मार्ग में लिए जा रहा था, तो कुछ लोगों ने उसे देखा और पीछा किया। तो वह उसे एक भयानक जंगल में छोड़ गया। उस जंगल में उस कन्या ने 3000 वर्ष बिताये। बाद में जब उसके पिता को पता चला तो देखा कि वह अजगर के मुख में थी। शरीर का आधा अंग वह अजगर निगल गया था। जिस समय उसके पिता ने उस अजगर को मारकर बच्ची को बचाने का प्रयास किया, तो कन्या ने अजगर को अभयदान दिया। बोली इस अजगर को मत मारो। आखिर उस अभयदान का फल यह हुआ कि वह विशल्या बनी। उसका इतना माहात्म्य था कि, उसके स्नान किये जल को स्पर्श करने से सब रोग दूर हो जाते थे। तो यह था उसके अभयदान का फल। प्रत्येक आत्मकल्याणार्थी को अभयदान देकर, अपने जीवन को कल्याण पथ पर लगाना चाहिये।

घट गाँव नाम के शहर में एक देविल नाम का कुँभार और एक धर्मिल नाम का नाई रहता था। दोनों ने मिलकर एक धर्मशाला बनवाई। देविल ने मुनिराज को ठहरा दिया। तब धर्मिल ने उन्हें निकालकर एक सन्यासी को ठहरा दिया। देविल को ऐसा मालूम

होने पर वे दोनों आपस में लड़ मरे और क्रम से सूकर और व्याघ्र हो गये।

एक दिन गुप्ति और त्रिगुप्ति नाम के दो मुनिराज वन की गुफा में ठहर गये। सूकर को जातिस्मरण हो जाने से वह उनके पास आया और शान्ति भाव से उपदेश सुनकर कुछ व्रत ग्रहण कर लिये। इसी समय वह व्याघ्र वहाँ आया और मुनियों को खाने के लिए गुफा में घुसने लगा। सूकर ने उसका सामना किया और अन्त में लड़ते–लड़ते दोनों ही मर गये। सूकर के भाव मुनि रक्षा के थे, इसलिये अभयदान के फल से वह मरकर अनेक ऋद्धियों सहित देव हो गया और व्याघ्र के भाव मुनिराजों के भक्षण के थे, अतः वह मरकर नरक चला गया।

दान से ही संसार में गौरव प्राप्त होता है। सभी को अपनी शक्ति अनुसार दान अवश्य देते रहना चाहिये।

देयात् सतोकमपि स्तोकं न व्यपेक्षा महोदये।
इच्छानुसारिणी शक्तिः कदाकस्य भविष्यति।।

थोड़े में थोड़ा तथा उसमें भी थोड़ा–थोड़ा देते ही रहना चाहिये। बहुत धन होगा, तब दान देंगे, ऐसी अपेक्षा नहीं रखना चाहिये, क्योंकि इच्छानुसार शक्ति कब किसकी हुई है? लखपति, करोड़पति बनना चाहता है, करोड़पति, अरबपति बनना चाहता है, व्यक्ति अरबों–खरबों को पाकर भी तृप्त नहीं हो सकता है, क्या कभी ईंधन से अग्नि की तृप्ति हुई है? नहीं । अतः यदि संपत्ति को बढ़ाने की इच्छा है, तो दान देते ही रहना चाहिये। जिस प्रकार कुँए से जल निकालने से बढ़ता है, वैसे ही दान देने से धन बढ़ता है।

दान देने वाला कभी गरीब नहीं होता। उसका भण्डार सदा भरपूर रहता है। सभी को स्व–पर कल्याण की भावना से अपनी

शक्ति अनुसार दान अवश्य देते रहना चाहिये। सद्भावना पूर्वक दान देने से बहुत पुण्य का संचय होता है। दान में मात्र भावना देखी जाती है।

एक मनुष्य कहीं जा रहा था। रास्ते में उसे एक भूखी कुतिया मिली, जिसने बच्चे पैदा किये थे, बड़ी भूखी थी। कुतिया को उस मनुष्य ने जो भी चार–छः रोटियाँ थीं खिला दीं, उस दिन वह उपवास करके रह गया। उस पुरुष ने अपने जीवन में बहुत से यज्ञ भी किये थे। एक बार जब वह बहुत गरीब हो गया तो उसने सोचा कि अब हम अपना एक यज्ञ राजा को बेच आयें तो कुछ गुजारा चलेगा। सो राजा के पास यज्ञ बेचने गया। वह राजा कहता है कि तुमने कौन–कौन से यज्ञ किये हैं सो बताओ, उसने अनेक यज्ञ बताये। वहीं एक जानकार मंत्री बैठा था तो उसने कहा कि महाराज आप यज्ञ न खरीदें। इसने एक बार एक कुतिया को 4–6 रोटी खिलाकर उसके प्राण बचाये थे, उसमें जो पुण्य इसने कमाया था वह इसके सभी यज्ञों में कमाये पुण्य से भी अधिक है, अतः आप वह खरीद लें। वह सोचता है कि दो–चार रोटी खिलाने का इतना महत्त्व बता रहे हैं और जिसमें हजारों रुपये खर्च हुये उसका महत्त्व नहीं बताते हैं। उसे कुछ श्रद्धा हुई वह बोला–महाराज! मैं यह पुण्य न बेचूंगा। आप मेरे सारे यज्ञ खरीद लें पर इसको न बेचूंगे।

जिनकी स्थिति थोड़ी है, उसी के अन्दर अपनी शक्ति के अनुसार दान करते हैं, धर्म करते हैं तो उनको बड़ा पुण्य होता है। अतः अपनी शक्ति अनुसार सभी को दान अवश्य करना चाहिये। दान देने में मात्रा को नहीं, भावना को देखा जाता है। सद्भावों पूर्वक कम दान का भी वृहत्फल प्राप्त होते देखा जाता है। अतः निरन्तर पवित्र मन से दान अवश्य देना चाहिये।

हस्तिनापुर में एक सेठ जी थे, वे दानवीर कहलाते थे। उनका एक ही पुत्र था और वह बुद्धू था उसका नाम धर्म पाल था। यदि कोई 10 हजार दान देता था, तो सेठ जी 20 हजार दान देते थे। मन्दिर या धर्मशाला के लिये यदि कोई 1 लाख दान देता था तो सेठ जी 2 लाख दान देते थे। धन–पैसा था, इसलिये लड़के की शादी हो गई। लड़की भी अच्छी मिल गई। कुछ दिन बाद सेठ जी का देहान्त हो गया। लड़का तो बुद्धू था ही सो कुछ ही दिनों में सारी धन दौलत समाप्त हो गई।

उसकी पत्नी ने कहा तुम हमारे मायके चले जाओ, वहाँ का राजा पुण्य गिरवी रखकर धन देता है उससे कुछ ले आओ। वह रास्ते के लिये थोड़े से दाल–चावल लेकर चल दिया। रास्ते में एक जगह मुनि महाराज के दान पर प्रवचन हो रहे थे वह बैठकर सुनने लगा। उसके भाव भी दान देने के हो गये। उसने पास के चौके में वह दाल–चावल दे दिये। चौके वालों ने उसकी खिचड़ी बनाई और उससे कहा आप भी धुले वस्त्र पहनकर पड़गाहन करें। महाराज उसी के सामने आकर खड़े हो गये। सबने आहार दिये। बाद में उससे भी भोजन करने के लिये कहा। पहले तो उसने मना किया पर सबके कहने पर उसने भी वहीं भोजन कर लिया और फिर अपनी ससुराल पहुँचा। वह मन में सोच रहा था मैंने क्या दान दिया? जितना दिया उसका दुगना तो मैंने भोजन कर लिया।

ससुराल पहुँचकर उसने वहाँ के मंत्री से कहा मुझे पुण्य गिरवी रखना है। मंत्री जी ने उसे एक कागज दिया और कहा अपने दान इस कागज पर लिख दो। उसने उसके पिता जी ने जो दान दिये थे उनमें से कुछ दान उस कागज पर लिख दिये। मंत्री ने उस कागज को तराजू पर रखा, पर तराजू हिला भी नहीं। मंत्री बोले इससे तो

कुछ भी पुण्य नहीं हुआ। तब मंत्री ने समझाया, ऐसा लगता है तुम्हारे पिताजी ने ये सब दान मान बढ़ाई के लिये दिये हैं। यदि तुमने कुछ दान दिया हो तो इस कागज पर लिख दो। वह सोचता है बड़ी मुश्किल से तो मैंने थोड़े से दाल–चावल दान के लिये दिये थे पर उससे दुगना तो वहाँ खा आया उससे क्या पुण्य होगा? पर क्या करें, उसने वही उस कागज पर लिख दिया। मंत्री ने जैसे ही वह कागज तराजू पर रखा, तो पलड़ा नीचे बैठ गया। मंत्री उससे बोला अरे इसमें तो इतना पुण्य है कि हमारे पूरे राज्यकोष की सम्पत्ति भी कम पड़ेगी। वह मंत्री से कहता है। जब मेरे पास इतना पुण्य है तो मुझे यहाँ से कुछ नहीं चाहिये। मुझे तो सब कुछ अपने आप ही मिल जायेगा। वह जैसे ही घर पहुँचा कि मकान की एक दीवार गिर पड़ी और उसमें से हीरे–मोती आदि बहुत–सी सम्पत्ति निकली। इसलिये कहा है–सच्चे भाव पूर्वक दिया गया थोड़ा–सा दान भी बहुत फलदायी होता है। और झूठ–मूठ की गप्पों का दान हो तो उसका कोई महत्त्व नहीं होता।

एक बड़ा शहर था, वहाँ के मंदिर में आरती की बोली बोली जा रही थी, वहाँ एक देहाती भी पहुँचा। वह सब सुन रहा था। पहली बोली बोली गई तो कोई लगाये 1 मन घी और कोई लगाये 2 मन घी। उन लोगों ने ऐसा नियम बना रखा था कि 2 मन घी के मायने 1 रुपया। कोई 4 मन घी बोले तो उसके मायने 2 रुपया दे दो। तो जो अधिक बोली बोले उसको ही मिले। बोली में कोई 4 मन घी बोले कोई 6 मन घी बोले। वह देहाती सोचता है, अरे! ये कितने दानी हैं? बड़ा दान करते हैं। वह तिल की गाड़ी ले गया था। उसने भी बोल दिया हमारी एक गाड़ी तिली। अब जब कार्यक्रम समाप्त हो गया, लोग जाने लगे तो उसने मंदिर के आगे गाड़ी खड़ी कर दी।

कहा हमारी गाड़ी के तिल ले लो। लोगों ने कहा अरे तू बड़ा बेवकूफ है। जो घी बोला जाता है। वह दिया नहीं जाता है। जितने मन घी बोला जाता है, उसके आधे रुपये दिये जाते हैं। यदि किसी ने 4 मन घी बोला तो दो रुपये दे दिये। उस देहाती ने कहा—यह तो नहीं होगा। हमने एक गाड़ी तिल बोल दिये तो ये तुम्हें लेने ही पड़ेंगे। ले लिये और पंचों ने बाजार में बेचकर रुपया कर लिये।

अब उस देहाती ने सोचा कि ये लोग मंदिर में रोज झूठ बोलते हैं। इनकी अक्ल ठिकाने लगाना चाहिये। उसने सब से कह दिया कि भाइयो कल 12 बजे दिन का हमारे यहाँ आप सबका निमंत्रण है। चूल्हे का निमंत्रण है। अगर कोई अतिथि आ जाये तो उसका भी निमंत्रण है। सो अब उसने एक मैदान में चारों तरफ कनात लगा दी और यहाँ—वहाँ से बहुत सी गीली लकड़ियाँ जला दीं। खूब धुँआ होने लगा। सब गाँव वाले सोचते हैं कि खूब पूड़ियाँ बन रही हैं। उनको विश्वास हो गया। तो ठीक 11 बजे ही सब पहुँच गये। पत्तल भी परोस दी। पत्तल परोसने के बाद और कुछ तो परोसा नहीं और कहा आप लोग भोजन करिये। लोग बोले—अरे! क्या भोजन करें? अभी तो कुछ परोसा ही नहीं। उसने कहा—'जैसी आप लोगों की आरती की बोली है, वैसा ही यह निमंत्रण समझ लो।' सोचा यह दंड ठीक है।

बताओ सिर्फ गप्पें करने से क्या मिलेगा? यहाँ—वहाँ का आरम्भ बढ़ाने से कौन—सा तत्त्व मिलेगा? अथवा मन संयत न कर लेने से इस आत्मा को क्या फायदा होगा? यह तो अब भी अकेला है, आगे भी अकेला रहेगा, इसके तो जैसे भाव होंगे उसके अनुकूल सुख—दुःख मिलेंगे। झूठ बोलने से क्या प्रयोजन, अगर 1 रुपया देना है तो बोल दिया 2 मन घी और अगर 2 रुपया देना है तो बोल दिया चार मन

घी। यह क्या है? झूठ–मूठ की कोरी गप्पों से कुछ नहीं मिलता।

इस अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जीवन को बहुत सम्हालकर रखना चाहिये। सदा सत्य बोलना चाहिये। जो प्रामाणिक बात हो उसे ही बोलना चाहिये। एक मनुष्य भव ही ऐसा है, जिसमें दान किया जा सकता है, त्याग किया जा सकता है। यदि इस भव में भी कुछ न कर सके अपने कल्याण के लिये, तो जैसे और भव बिताये, वैसा ही यह भव भी व्यर्थ चला जायेगा। जिन्हें आत्मकल्याण करना हो, उन्हें चाहिये कि अपनी शक्ति अनुसार चारों प्रकार का दान दें। बाह्य समागम तो कर्म का ठाठ है। पुण्य का जहाँ उदय रहता है, वहीं धन रह सकता है। दान ही एक ऐसा है जो परभव में सुखी होने के लिये नास्ता है। सद–गृहस्थ वही है जो अपने धन का सदुपयोग परोपकार में करता है।

दान देते समय दाता के परिणाम विशुद्ध होना चाहिये। विशुद्ध भावों पर सुगति की प्राप्ति होती है। दान देने की बात छोड़ो, केवल अनुमोदना करने वाला भी उत्तम भोग भूमि में जन्म लेता है। जब राजा बज्रजंघ एवं उनकी रानी श्रीमती भक्तिपूर्वक मुनियों को आहार दान दे रहे थे, उस समय सिंह, नेवला, बैल, बन्दर आदि पशु दातार की प्रशंसा कर रहे थे। दान के माहात्म्य से राजा–रानी को भोगभूमि की प्राप्ति हुई और अनुमोदना करने वाले भी उसी भोग भूमि में गये। कर्मभूमि के प्रारम्भ में ब्रजजंघ का जीव तीर्थंकर आदिनाथ तथा रानी का जीव राजा श्रेयांस के रूप में पैदा हुआ। पर ध्यान रखना, सद्भावना पूर्वक केवल स्व–पर के कल्याण की भावना से दिया गया दान ही वास्तविक दान है। हमारा दान मान बढ़ाई के लिये या किसी लौकिक इच्छा से नहीं होना चाहिये।

एक नगर में एक गरीब महिला रहती थी, उसके पास द्रव्य एवं बर्तन नहीं थे। एक दिन उस नगर में एक महान तपस्वी मुनिराज विहार करते हुए आ गये। उस महिला के मन में मुनि महाराज का आहार करवाने की बात आई। लेकिन घर में कुछ था ही नहीं। मन में विचार किया कि बाजरा रखा है, मिट्टी की हांडी और लोहे का तसला है। हांडी में बाजरे की खिचड़ी बना लेती हूँ और तसले में पैर धो लूंगी। ऐसा विचार करके वह करवा और सरई लेकर पड़गाहन के लिये खड़ी हो गई। भाग्य की बात है कि मुनि महाराज का पड़गाहन उसी के यहाँ हो गया। नगर मं बड़े–बड़े साहूकार सोने के कलशों से युक्त छत्तीस प्रकार के भोजन के लिए पड़गाहन हेतु खड़े थे। लकिन मुनिराज गरीब महिला के द्वारा पड़गाहे गये। वह मुनिराज को लेकर झोपड़े में गई। लोहे के तसले में पैर धोये। वह तसला सोने का हो गया। फिर बाजर की खिचड़ी से महाराज को आहार करवाया। मुनिराज ऋद्धिधारी थे, उस महिला के यहाँ रत्न बरसे। बिना इच्छा के त्याग में बड़ा बल है। एक पड़ोसन को ईर्ष्या हुई, उसने सोचा जब बाजरे की खिचड़ी स आहार कराया सो इसके यहाँ रत्न बरसे हैं। मैं कल छत्तीस प्रकार के व्यंजन बनाऊँगी मेरे यहाँ तो ना जाने कितन रत्न बरसेंगे। अगले दिन उसने ऐसा ही किया। महाराज आय, लेकिन उस इच्छा थी रत्न की वहाँ दान नहीं था। महाराज पड़गाये गये। पहली बार पानी दिया वह पानी उबलता हुआ था। महाराज के हाथ पर डाल रही थी और ऊपर को देख रही थी, गर्म–गर्म पानी हाथ पर पड़ा अंजुली छूट गई, अन्तराय हो गया और आँगन में अंगारे बरसने लगे।

तब उसने महाराज से पूछा, ऐसा क्यों हुआ? मुनि महाराज जी ने कहा–तुम्हारा दान सच्चा दान नहीं है, तुम्हें मान था, इच्छा थी,

इसलिये ऐसा हुआ। त्याग पैसे से नहीं होता, त्याग भावना से होता है।

एक बार धर्मराज युधिष्ठिर हजामत बनवा रहे थे। नाई जब हजामत बना चुका तो धर्मराज ने उस सोने का प्याला जिसमें हजामत का पानी भरा हुआ था, दान में दे दिया किन्तु दिया बायें हाथ से। वह बोला–महाराज दान तो दायें हाथ से दिया जाता है। युधिष्ठिर महाराज बोले–माँगलिक कार्य में देर नहीं करना चाहिये, हो सकता है भावना में परिवर्तन आ जाये, मन के विचार बदल जायें। अतः जब भी संयम के, त्याग के, दान के भाव हों तुरन्त कर लेना चाहिये। इसमें ज्यादा नहीं सोचना चाहिये।

ये बाह्य परिग्रह तो दुःख के ही कारण हैं, इनका त्याग करने में ही आत्मा की भलाई है। सत्य बात को मान लो, अगर सत्य बात को नहीं मानते तो दुःखी कौन होगा? कोई दूसरा दुःखी होने नहीं आयेगा। जैसे कोई बच्चा रूठ गया, बहुत रोता है, हठ पकड़ गया है तो उस बच्चे को बहुत–बहुत लोग समझाते हैं–बेटा हठ न करो, रोओ मत, यहाँ बैठ जाओ, कुछ खाना ही नहीं है तो वह एक कौने में बैठकर रोता रहता है। अब भला बतलाओ जब उसने ऐसी हठ पकड़ ली, तो फिर दुःखी कौन होगा? उसे ही तो दुःखी होना पड़ेगा। तो, भाई! यहाँ व्यर्थ की हठ को छोड़ो। पर का आग्रह छोड़कर, उनका त्याग कर अपने आपके स्वरूप की ओर आयें, यहाँ का आनन्द लूटें। बाह्य पदार्थों को ऐसा जान लें कि आखिर ये 10–20 वर्ष बाद में मेरे से छूट ही जायेंगे, तो अभी से उन्हें छूटा हुआ मान लें और उत्तम त्याग धर्म को जीवन में धारण करें। त्याग से ग्रहण में आकर ही पता चलता है कि ग्रहण में कितना दुःख है।

एक अन्य मत का साधु बड़ा संतोषी था। घर–घर जाता एक–एक रोटी माँगता और आठ–दस घरों से अपना पेट भर लेता। कभी थोड़ा पानी चुल्लू में लेकर पी लेता और दिन भर भजन करता, प्रभु की भक्ति करता, गुणगान गाता। बड़ी शान्ति में उसकी जिन्दगी बीत रही थी। एक भक्त कहने लगा कि महाराज, अगर खाते–खाते प्यास लग जाये तो आप क्या करंगे इसलिए एक सस्ता कटोरा ला देता हूँ। साधु ने विचारा कि चलो एक कटोरे से क्या बिगड़ेगा। ला दने दो। इसका भी चित्त प्रसन्न हो जायेगा। कटोरा आ गया। एक दिन शिवालय से निकल कर संध्या ध्यान के लिये जंगल की ओर जाते समय कटोरा रह गया। जब साधु जी ध्यान कर रह थे तो उन्हें कटोर की याद आई, यदि कोई कटोरा ले गया तो? साधु को झुंझलाहट–सी उठी अच्छा लिया कटोरा, सब कुछ खो बैठे। उठे और बोले–पहले कटोरे का इलाज कर आऊँ, फिर करूँगा ध्यान। आये द्वार पर कटोरा पड़ा था। पत्थर लेकर तोड़ा–मरोड़ा और फेंक दिया। इधर से भक्त भी आ निकला। क्या बिगाड़ा है इस बेचारे ने, पूछने लगा जो इस प्रकार इसके पीछे पड़े हो। बिगाड़ा ही नहीं सर्वस्व लूट लिया है, साधु बोले। तू क्या जाने बेटा क्या लिया है इसने। साधु संतोष की सांस लेकर चला गया पुनः जंगल की ओर। त्याग से ग्रहण में आकर पता चला साधु को कि कितना दुःख है ग्रहण में। इस प्रकार ग्रहण से त्याग में आकर ही पता चलता है कि त्याग में कितना सुख है। इसलिए संतोष धारण करो। संयम से, त्याग से हमारे जीवन में कितना संतोष प्राप्त होता है इसे त्याग करने के बाद ही महसूस किया जा सकता है।

पं. दौलतराम जी ने लिखा है –

यह राग आग दैह सदा, तातें समामृत सेइये।
चिर भजै विषय कषाय, अब तो त्याग निजपद बेइये।।

कहा रच्यो पर पद में, न तेरो पद यहै क्यों दुःखः सहै।
अब दौल होऊ सुखी स्व–पद रचि, दावा मत चूको यहै।।

राग, तपन पैदा करता है। विषय–कषाय हमें जलाने वाले हैं। यह हमारा पद नहीं है, पर–पद है। अपने पद में आओ। आज तक हम भोगों में सुख मानते रहे। त्याग का लक्ष्य रहा नहीं। इसलिये अब आत्मा का अहित करने वाले इन विषय–कषायों, राग–द्वेष, मोह से दूर रहें और शक्ति अनुसार इनका–त्याग करें।

किसी नगर में एक धनी सेठ रहता था। वह ऊपर से तो मीठी और चिकनी–चुपड़ी बातें करता लेकिन उसके मन में कपट रहता था। छल–कपट से उसने लाखों का धन इकट्ठा किया था। पर जब कोई भिखारी उसके द्वार पर आकर रोटी, कपड़े की याचना करता तो सेठ उसे कुत्ते की तरह दुतकार कर भगा देता। वह धन को ही अपना सर्वस्य समझने लगा। चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाये। यह कहावत सेठ पर पूरी तरह घटित होती थी। लोग उसे कन्जूस के नाम से पुकारने लगे। नगरवासी कभी–कभी उससे कह दिया करते थे कि, सेठ जी! क्या करोगे इतना धन जोड़कर किसी शुभ कार्य में भी कुछ लगा दिया करो। दान दोगे तो उभय लोक में सुख पाओगे।

पर कन्जूस सेठ उनकी बातों को हँसी में टाल देता और कहता–अरे! तुम तो सब मूर्ख हो, पैसे की इज्जत तुम सब क्या जानो। मैं तो पैसे को अपना सब कुछ समझता हूँ। धन से मृत्यु को भी जीता जा सकता है। देखते नहीं सारा नगर मेरे सामने सिर पकड़ता है। बड़े–बड़े आदमी मुझसे ही मिलते हैं, लोग टकटकी लगाकर देखते हैं, द्वार पर भीड़ बनी रहती है। यदि मैं इस धन को दान में दे दूँ तो मेरी खुशामद कौन करेगा? मेरी कोठी है, बगीचे हैं।

मुझे चिन्ता किस बात की है? झूठ बोलो, बेईमानी करो तथा प्रपंच कर पैसा बनाओ। एक दिन कन्जूस सेठ का परिवार सात दिन के लिये बाहर चला गया। तभी सेठ ने यह अच्छा अवसर देख तहखाने में प्रवेश किया और अन्दर जाकर ताला लगा दिया।

सेठ देख रहा है कि एक ओर सोने–चाँदी की सिल्ली की तह–पर–तह लगी हैं। और एक तरफ हीरे, जवाहरात और मोतियों के ढेर लगे हुए हैं। नोटों की गड्डियाँ सन्दूक में भरी पड़ी हैं। कई घण्टे दौलत को निहार कर जब बाहर को चला तो द्वार बन्द था चाबी अन्दर आते समय बाहर रह गयी थी। ताला चाबी के बिना बन्द हो जाता था। परन्तु खुलता नहीं था। सेठ घबरा गया अन्दर से शोर मचाया, चिल्लाया पर वहाँ कौन बैठा था, जो पुकार सुनता। तीन चार दिन में सेठ ने तड़प–तड़प कर प्राण दे दिये।

इस परिग्रह की आसक्ति ही दुःख व संसार–भ्रमण का कारण है। अब तक संसार में रुलते–रुलते इन प्राणियों ने सब कुछ देखा, बाहरी अनेक बातें देखीं, किन्तु एक निज को न देख सका। इसका परिणाम यह हुआ कि यह जन्म–मरण के दुःख भोगता आ रहा है। अतः अब तो इस शरीर से भिन्न अपनी आत्मा की पहचान करो।

एक साधु जी रोज राजा के दरबार में जाते थे और राजा को एक सुन्दर–सा फल भेंट में देते थे। राजा उसे सामान्य फल जानकर मंत्री को दे देता था। मंत्री समझदार था। वह सारे फल रखता जाता था। एक दिन जब साधु जी राजा को फल भेंट कर रहे थे। तब राजा के मन में विचार आया कि आखिर बात क्या है। ये साधु जी मुझे रोज एक फल भेंट में देकर जाते हैं। देखना चाहिये कि यह फल कैसा है? जैसे ही फल खाने के लिये राजा ने उसे तोड़ा तो

उसके अन्दर एक मोती निकला, राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा ने मंत्री की ओर देखा। मंत्री ने कहा कि राजन्! सारे फल रख लिये थे, फेके नही हैं। आप निश्चिंत रहें अभी लाता हूँ। राजा इस रहस्य को समझ नहीं पाये। उन्होंने साधु जी से इसका कारण पूछा तो साधु जी ने कहा कि राजन्! आप राजकाल में इतने व्यस्त रहते हैं कि अलग से उपदेश सुनने का समय नहीं निकाल पाते। मैंने सोचा ये फल किसी–न–किसी दिन आपको उपदेश देगा। यह फल तो मनुष्य की देह के समान है और इसमें रखा मोती, इस मनुष्य देह में बैठी आत्मा के समान है। मनुष्य की देह तो पूर्व संचित पुण्य से प्राप्त हो गई। अब इस बाह्य परिग्रह का त्याग कर मोक्षमार्ग पर चलकर इस देह में बैठी आत्मा को पाना शेष है। आत्मा का कल्याण करना शेष है, यही उपदेश मुझे इस फल के माध्यम से आपको देना था। राजा अपनी राजगद्दी से नीचे उतरकर साधु जी के चरणों में गिर गया और संसार से विरक्त होकर आत्म कल्याण में लग गया।

त्याग में हमने कितना छोड़ा यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि हमने किन भावों से छोड़ा। जो जीर्ण तृण के समान अनुपयोगी जानकर अत्यन्त निस्पृह भाव से छोड़ा जाता है, वही त्याग श्रेष्ठ माना जाता है। इसी प्रकार वह दान श्रेष्ठ माना जाता है जो अत्यंन्त हर्ष पूर्वक प्रत्युपकार की भावना के बिना दिया जाता है।

दान सदा स्व–पर कल्याण की भावना से सम्मान के साथ देना चाहिये और उसके बदले किसी प्रकार का अभिमान हृदय में उत्पन्न नहीं होना चाहिये, अन्यथा उससे आत्मा का कुछ लाभ भी नहीं हो पाता। हम लोग मान बढ़ाई के लिये कई प्रकार से दान देते आ रहे हैं। यदि मंदिर में काफी भीड़ हो तो हम बड़ी–बड़ी बालियाँ ले लेते

हैं। पर जब मंदिर खाली हो, तो हम थोड़ा भी दान नहीं कर पाते। कारण की मान बढ़ाई की इच्छा है। कभी एकान्त में बैठकर विचार करना आखिर क्या होगा इस मान का। मान बढ़ाई के लिये दिया गया दान फलदायी नहीं होता।

महाभारत में एक कथन आया है कि जब युद्ध समाप्त हो गया और हस्तिनापुर के राजपद पर युधिष्ठिर का राजतिलक हो गया। तब युधिष्ठिर ने एक बहुत बड़ा यज्ञ किया। उसमें हजारों ब्राह्मणों को भोजन कराया गया। महाराज युधिष्ठिर कुछ लोगों से वार्ता कर रहे थे कि वहाँ एक नेवला आया जिसका आधा शरीर स्वर्णमयी था, वह जूठन में बार–बार लोटने लगा। तब महाराज युधिष्ठिर बोले हे नेवले! तू यह क्या रहा है? तब नेवला बोला–महाराज! एक गाँव में एक ब्राह्मण, उसकी पत्नी, लड़का तथा लड़के की बहू चार जीवों का परिवार रहता था। वे बहुत ही गरीब थे, खेत से शिला बीन कर लाते थे। और उससे गुजर–बसर करते थे। कभी–कभी तो कई दिन तक उन्हें भूखे रहना पड़ता था। एक दिन कई दिन भूखे रहने के बाद जो शिला बीनकर लाये थे, उससे उन्होंने आठ रोटियाँ बनाकर सभी खाने बैठे ही थे कि बाहर किसी की आवाज आई, मैं सात दिन का भूखा हूँ, भूख की वेदना सहन नहीं हो रही है। उसकी इस प्रकार की वाणी सुनकर ब्राह्मण को करुणा आई और अपने हिस्से की रोटी उसको दे दी, इन विचारों के साथ कि मुझे तो केवल तीन दिन ही हुए हैं, मुझसे ज्यादा जरूरी उसको है। तब ब्राह्मण की पत्नी लड़के तथा बहू सभी ने अपने हिस्से की रोटियाँ उस भूखे को खिला दीं। उन रोटियों को खाकर वह तृप्त हो गया और उसके हाथ धोने से जो पानी जमीन पर फैल गया उसमें लौटने से मेरा आधा शरीर स्वर्णमयी हो गया था। अब आधा शरीर स्वर्णमयी मुझे अच्छा नहीं लगता, सोचा था कि महाराज धर्मराज यज्ञ

करा कर ब्राह्मणों को भोजन करा रह हैं, वहाँ पर मेरा बाकी बचा आधा शरीर भी स्वर्णमयी हो जायेगा। इस प्रकार विचार करके यहाँ पर आया था, परन्तु मेरा शेष शरीर स्वर्णमयी नहीं हो रहा है। महाराज जान पड़ता है कि यह ब्राह्मण भोजन करुणा बुद्धि से नहीं केवल मान–बढ़ाई, प्रतिष्ठा के लिए कराया जा रहा है। इसलिए मेरा शरीर स्वर्णमयी नहीं हो रहा है। क्योंकि मान–बढ़ाई, प्रतिष्ठा आदि से किया गया कार्य निरर्थक होता है।

त्याग या दान करते समय प्रत्युपकार की कामना नहीं करना चाहिये। ऐसा भाव नहीं आना चाहिये कि मैं इतना त्याग कर रहा हूँ, मुझे इसके बदले में कुछ मिलेगा या नहीं। सोचो त्याग करने से मन में जो निराकुलता आई, जो आत्म संतोष और आनन्द मिला वह क्या कम है। दान करने से मुझे यश ख्याति मिले, मेरा नाम हो, मेरी बढ़ाई हो, मुझे सम्मान मिले ऐसी आकांक्षा नहीं रखना चाहिये। घर की शोभा दान से है, अतः दान अवश्य देना चाहिये। इसमें मात्रा को नहीं भावना को देखा जाता है। जैसी भावना, वैसा ही फल। प्रेमपूर्वक, शुभ वचन बोलकर सदा विनय पूर्वक दान देना चाहिये। प्रेम पूर्वक दिया हुआ थोड़ा भी बहुत होता है।

वर्णी जी के जीवन की घटना है। एक बार वे नैनागिर तीर्थ पर वंदना करने जा रहे थे। उन दिनों पक्की सड़क नहीं थी। धूल भरे रास्ते में ताँगे से जाना पड़ता था। वर्णी जी एक ताँगे में बैठकर जा रहे थे। रास्ता लम्बा था। ताँगा धीरे–धीरे जा रहा था। वर्णी जी ने सोचा नैनागिर तक पहुँचने में देर हो जायेगी इसलिये 4 पेड़े साथ में रख लिये, ताकि उन्हें रास्ते में ही खा लेंगे, नहीं तो रात हो जायेगी तो फिर भूखे रहना पड़ेगा।

वर्णी जी ने चार में से दो पेड़े निकालकर ताँगे वाले को बड़े प्यार से दिये और दो स्वयं खा लिये। ताँगे वाला कृतज्ञता से भर गया। अभी थोड़ी देर ही चले थे कि पैदल जाती हुई चार सवारियाँ मिल गईं। वर्णी जी ने बड़े दया भाव से कहा कि, भइया! इन्हें भी बिठा लो। चार सवारियाँ और बैठ गईं। ताँगा अपनी चाल से धीरे–धीरे चल रहा था। उन चार सवारियों ने हड़बड़ी मचाई। ताँगे वाले से बार–बार कहना शुरू किया कि जरा जल्दी चलाओ। आप देख रहे हैं, इस संसार की दशा। जो थोड़ी देर पहले पैदल जा रहे थे, जिन्हें कृपा करके ताँगे में बैठा लिया अब वे लोग बड़े अधिकार पूर्वक ताँगे वाले को जल्दी चलने के लिये कह रहे हैं। सिर्फ अपना जीवन, अपनी सुख–सुविधा का ही जिन्हें ख्याल है, वे और चाहे जो प्राप्त कर लें पर सच्ची सुख–शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते।

अचानक तेजी से हवा आई और धूल उड़ने लगी। वर्णी जी को थोड़ी परेशानी महसूस हुई। ताँगे वाले ने ताँगा थोड़ी तेज–रफ्तार से चलाना शुरू कर दिया, ताकि वर्णी जी को धूल कम लगे। उन चार सवारियों में से एक व्यक्ति ताँगे वाले से थोड़ा गुस्से में बोल पड़ा कि देखो इस आदमी (वर्णी जी को ओर इशारा करके) के लिये तुमने ताँगे की रफ्तार तेज कर दी और इतनी देर से हम लोग जल्दी चलने को कह रहे थे तो हमारी बात सुनी नहीं। पैसे तो हम भी देंगे। ताँगे वाले की आँखों में आँसू आ गये, उसने हाथ जोड़ लिये और कहा–आप लोग नाराज न हों। पैसा ही सब कुछ नहीं है। पैसे तो हमें सबसे मिलते हैं, पर इन्होंने (वर्णी जी ने) जो दो पेड़े प्यार से दिये हैं, वह कोई नहीं देता। इसीलिये कहा प्रेम पूर्वक दिया हुआ थोड़ा भी बहुत होता है।

त्याग का महत्त्व प्रत्येक जगह है। जो लौकिक त्याग करते हैं,

त्याग के कारण वे भी महान बन जाते हैं। इतिहास उन्हें सदा याद करता है।

कौशल देश का एक राजा जिसका राज्य छिन गया था वह भिखारी के वेष में दर–दर की ठोकरें खाता हुआ अपने राज्य के एक गाँव में पहुँचा। गाँव का हाल देखकर राजा हैरान हुआ, चारों ओर भुखमरी, बीमारी, चेहरों पर हताशा, इससे भी ज्यादा हैरानी राजा को यह हुई कि एक भी जवान आदमी गाँव में न दिखा, सभी बूढ़े आदमी व बेवा स्त्रियाँ थीं। राजा से न रहा गया, तब एक दादा से पूछा कि क्या गाँव में एक भी जवान आदमी नहीं, तब दादा बोले, तुम्हें नहीं मालूम मुसाफिर हमारे राज्य पर किसी बड़े राजा ने आक्रमण किया, चारों ओर देशभक्ति की लहर दौड़ गई, सभी वीर युवक रण भूमि में वीरगति को प्राप्त हो गये। तब राजा ने पूछा कि क्या कोई भी नहीं बचा है? वृद्ध बोला हे मुसाफिर! माता और मातृभूमि के ऋण से मानव कभी उऋण नहीं हो सकता इसीलिये जन्म भूमि की रक्षा के लिये हमारे गाँव के लोगों ने अपने प्राणों की आहुति दे दी। राजा की आँखों में आँसू आ गये, उसने विचार किया कि मुझे जिन्दा या मुर्दा पकड़ने वाले को मिथला नरेश ने 1000 स्वर्ण मुद्रायें पुरस्कार में देने की घोषणा की है। क्यों न मैं इन असहायों को लेकर राजा के समक्ष हाजिर हो जाऊँ और पुरस्कार इन ग्रामीणों को दिलवा दूँ, ताकि वे सुखी जीवन जी सकें।

दूसरे दिन राजा उन ग्राम वासियों को लेकर मिथला नरेश के पास पहुँचा, मिथला नरेश सकते में आ गया, वह विचार करने लगा कि जिसे मैं खोज रहा हूँ, वह स्वयं मौत के मुँह में आ गया। मिथलेश अभी कौशल नरेश को देख ही रहा था कि कौशल नरेश बोला कि हे मिथलेश! तुम्हें मेरा राज्य प्रिय था, वह तुम मुझसे छीन

चुके हो, अब मेरी जान चाहते हो तो मैं हाजिर हूँ, किन्तु जो पुरस्कार आपने मेरे ऊपर घोषित किया है, वह पुरस्कार मेरे इन ग्राम वासियों को दे दिया जाय, ताकि वे अपना दुःख दूर कर सकें। इतना सुनते ही ग्रामीण बुजुर्ग तो रोने ही लगे पर राजा मिथलेश भी सिंहासन पर बैठा न रहा। ऐसा अभूतपूर्व प्रजा प्रेम देखकर वह सिंहासन से नीचे उतरा और कौशल नरेश को गले से लगा लिया तथा गद्–गद् कंठ से बोला–हे राजन्! मुझे क्षमा करो, और अपना राज्य स्वीकार कर अपनी प्रजा का पालन करो। मैं तुम्हारा राज्य तुम्हें वापिस करता हूँ। जिस देश का राजा अपनी प्रजा के कल्याण में अपना कल्याण समझता हो, जो प्रजा के दुःख दर्द में साथ रहता हो, वही सच्चा शासक है। जब राजा को प्रजा–प्रेम व त्याग के कारण अपना खोया हुआ राज्य वापिस मिल गया, तब यदि हम विषय वासनाओं, कामनाओं एवं आकांक्षाओं का त्याग कर सकें तो अवश्य ही अपनी आत्मा का कल्याण कर सकते हैं।

यह इस दुनिया का नियम है कि हल्की वस्तु ऊपर उठती है। दूध पानी छोड़ता है तो घी बनकर ऊपर तैरता है। इसी प्रकार जो परिग्रह छोड़ते हैं, वे ऊपर उठते हैं और जो जोड़ते हैं, वे डूबते हैं। अतः सुख जोड़ने में नहीं, त्याग में है।

वट वृक्ष का बीज छोटा होता है, पर उसे उपजाऊ भूमि में डाल दिया जावे तो वह विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार अल्पमात्रा में दिया गया दान भी महान फल को देने वाला होता है।

महान् कहानीकार मुंशी प्रेमचंद जी ने मुक्तिधाम नाम की कहानी में लिखा है– एक बार रहमान नाम का किसान गरीबी के कारण

अपनी जान से प्यारी गाय को बेचने गया तो बाजार में कई कसाई उस गाय पर ललचाये। रहमान का दिल उनकी शक्ल देखकर ही काँप जाता था, मोल–भाव चल रहा था, कसाई लोग 60 रुपये तक देने को तैयार थे। पर रहमान अपनी गाय उन्हें देने को तैयार नहीं हुआ। तभी सेठ दाऊदयाल उस बाजार से गुजरे, उन्हें गाय बहुत पसंद आई। रहमान ने देखा भले आदमी हैं, मेरी गाय मजे में रहेगी, ऐसा विचार कर उसने अपनी गाय मात्र 35 रुपये में सेठ जी को दे दी। सेठजी को आश्चर्य हुआ कि इसने उन्हें 60 रुपये में भी गाय नहीं दी और मुझे 35 रुपये में दे दी। सेठ दाऊदयाल और पीछे–पीछे रहमान गाय को लेकर चल रहा था, आँखों से आँसू गिर रहे थे। सेठ जी का घर आ गया, तब रहमान ने सेठ जी से कहा कि आप अपने नौकर से कह देना कि वह मेरी गाय को मारे ना। इतना कहकर रहमान रो पड़ा, जैसे एक पिता अपनी बेटी की विदा कर रहा हो।

कालान्तर में रहमान, सेठ दाऊदयाल से कभी माँ को तीर्थयात्रा को, तो कभी माँ के अंतिम संस्कार के लिये कर्ज लेता है, किन्तु भावना देने की रखता है। इस बार रहमान की फसल ऐसी आई कि सारे गाँव में धूम मच गई, रहमान प्रभु को याद करते हुये सोच रहा था कि इस बार सेठ जी का पूरा कर्जा चुका दूँगा, पर भाग्य में कुछ और ही लिखा था। पूस का महीना था, ठंड के मारे रहमान काँप रहा था, तापने को अग्नि जलाई तभी तेज हवा चली, आग फैल गई और देखते–ही–देखते सारी फसल जल गई। रहमान चिन्तित था कि सेठ दाऊदयाल का कर्ज कैसे चुकाऊँगा।

तभी सेठ जी ने रहमान को अपने घर बुलवाया, रहमान डरता–डरता सेठजी के घर गया और जाकर चरणों में गिर कर

बोला—हुजूर! अब आप ही रक्षक हैं, सारी फसल जल गई, पर विश्वास करो मैं बाद में आपके पूरे पैसे चुका दूँगा। सेठ जी ने रहमान को उठाकर गले से लगाया और बोले—रहमान तू दुःखी मत हो, तेरे ऊपर मेरा कोई कर्ज नहीं है, मैं तो तुझे आजमा रहा था, आज तू मेरे कर्ज से मुक्त है। इतना सुनते ही रहमान बोला कि हुजूर यहाँ नहीं तो वहाँ चुकाना पड़ेगा। तब सेठ जी बोले—मैंने यहाँ, वहाँ सब जगह माफ किया, तू इंसान नहीं देवता है। तूने विपत्ति में भी घाटा उठाकर मुझे गाय दी थी और धर्म की रक्षा की थी। आज से यह घर तेरे लिये सदा के लिये खुला है, जो चाहेगा सब मिलेगा। रहमान के त्याग ने उसे महान बना दिया। इसी प्रकार जो धर्म—मार्ग पर चलते हुये त्याग व्रत का पालन करते हैं, इतिहास उन्हें सदा याद करता है।

दान का अर्थ है, अपने तन, मन और धन से औरों की सहायता करना। मनुष्य जीवन ही ऐसा है कि दूसरों की सहायता के बिना हमारा कोई काम नहीं बन सकता। जब हमें औरों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है, तो हमारा भी कर्तव्य है कि हम औरों की भी सहायता करें। अतः दान करना परमावश्यक है। देखो मनुष्य दोनों हाथों से कमाता है, मगर खाता एक हाथ से है। इसका मतलब यही है कि जो अपने दोनों हाथों की कमाई है, उसमें से एक हाथ की कमाई को तो अपने शरीर व कुटुम्ब के पालन—पोषण में खर्च करें। शेष एक हाथ की कमाई को परोपकार के कार्यों में खर्च करे। हम किसी को छोटा न समझें। सभी को चाहिये कि घर आये मेहमान का आदर सत्कार करें और कुछ नहीं तो कम—से—कम मीठा बोलकर उसे अपने पास बैठने की जगह दें।

राजस्थान के इतिहास में महान् उदयन के बारे में लिखा है—वह

बहुत बड़ा विद्वान था पर गरीबी के कारण नंगे पैर पैदल ही सिद्धपुर पाटन चला गया। उसने दो दिन से कुछ नहीं खाया था और शरीर पर मैले–फटे कपड़ों को पहने हुये था। पर वहाँ उसे कौन पूछने वाला था। वह भटकता–भटकता एक जैन मंदिर के दरवाजे पर जाकर बैठ गया। मंदिर से बड़े–बड़े लोग दर्शन कर वापिस जा रहे थे जो अपनी नामवरी के लिये तिजोरी खोलकर पैसों को पानी की तरह बहाने वाले थे, मगर गरीब मुसाफिर की तरफ कौन देखने वाला था। थोड़ी देर बाद एक लक्ष्मीबाई नाम की दयालु बहिन जी निकली। उसने उदयन को विकल दशा में बैठे देखा तो पूछा–यहाँ पर किसलिये आये हो? वह बोला–रोजी की तलाश में और उसने अपने बारे में सब कुछ बता दिया। बहन जी बोली–भाईजी फिर कैसे काम चलेगा? बिना जान पहचान के तो कोई पास में भी नहीं बैठने देता है। उदयन ने कहा बहनजी! कोई बात नहीं, मैं तो अपने पुरुषार्थ और भाग्य पर भरोसा करके यहाँ पर आ गया हूँ।

लक्ष्मीबाई उसे घर ले गई और प्रेम व आदर के साथ उसे भोजन कराया तथा अपने पतिदेव से कहकर उसके योग्य समुचित काम भी उसे दिलवा दिया, जिसे पाकर उन्नति करते हुये वह सिद्धपुर पाटन के महाराज का महामंत्री बन गया जिसने प्रजा के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाया।

सच्चा दान वही होता है जो दाता के सात्विक भावों से ओत–प्रोत हो तथा जिसको दिया जाये उसको भी उन्नत बनाये। दान में भावों की महत्ता है, रुपयों की नहीं। यद्यपि आमतौर पर लोग रुपया देने वाले की अपेक्षा पचास तथा पाँच सौ देने वाले को महान् दानी कहकर उसके दान की बढ़ाई करते हैं। पर यदि कोई करोड़पति 1000 रुपये दान देता है, उसकी अपेक्षा कोई गरीब जो बड़ी मुश्किल

से अपना पेट पाल पाता हो वह यदि दो रोटियों में से आधी रोटी भी किसी भूखे को देता है तो उसका दान बड़ा दान है, उसकी बड़ी महिमा है।

एक बार कलकत्ता में कांग्रेस का सालाना जलसा हुआ जिसके अंत में गांधीजी ने कांग्रेस की सहायता करने के लिये आम जनता के सम्मुख अपील रखी। जिसमें कई धनवान लोगों ने लाखों रुपये दान दिये। इतने में एक खोचा मुटिया आया और बोला कि महात्मा जी! मैं भी ये आठ आने जो कि दिन भर मुटिया मजदूरी करने से मुझे प्राप्त हुये हैं देश सेवार्थ कांग्रेस के लिये अर्पण करता हूँ। क्या करूँ अधिक देने में असमर्थ हूँ, राज मजदूरी करता हूँ और पेट पालता हूँ। मगर मैंने यह सोचकर कि देश सेवा के कार्य में मुझे भी शामिल होना चाहिये, यह आज की कमाई कांग्रेस को भेंट कर रहा हूँ। मैं आज उपवास से रह लूँगा और क्या कर सकता हूँ।

इस पर गाँधी जी बहुत प्रसन्न हुये और उसकी प्रंशसा करते हुये बोले—जब हमारे देश में ऐसे त्यागी पुरुष विद्यमान हैं, तो हमारे देश को स्वतंत्र होने में अब देर नहीं समझना चाहिये।

हमें सदा निष्काम व निरीह भाव से केवल स्व व पर के कल्याण की भावना से दान देना चाहिये। दान करते समय ऐसी भावना रखना कि इसके बदले मुझे कुछ मिलेगा तो वह राजस दान कहलायेगा। कीर्ति, यश, मान बढ़ाई के लिये दिया गया दान फलदायी नहीं होता। मगर हमें नाम के बिना दान देने की इच्छा ही नहीं होती पर ध्यान रखना यह नाम व मान किसी का न रहा है, न रहेगा।

भरत चक्रवर्ती ने वृषभाचल पर्वत पर अपना नाम लिखने मंत्री को भेजा। पर जब मंत्री वापिस आया और बोला—महाराज! वृषभाचल

पर्वत पर तो नाम लिखने के लिये कोई स्थान ही खाली नहीं है।

मंत्री की बात सुनकर भरत चक्रवर्ती बोले—इसमें ज्यादा सोचने की क्या बात है? ऊपर के दो चार नाम मिटा दो और मेरा नाम लिख दो।

भरत चक्रवर्ती ने मंत्री को ऐसा आदेश दे तो दिया मगर वे ज्ञानवान पुरुष थे। वे अपने मन में विचार करने लगे—आज मैंने किसी का नाम मिटाकर अपना नाम लिखवाया है, कल कोई दूसरा आयेगा वह मेरा नाम मिटाकर अपना नाम लिखवायेगा। यह नाम व मान आज तक किसी का भी स्थिर नहीं रहा। ऐसा विचारते—विचारते अपने अखण्ड आत्म स्वभाव की महिमा आई। क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो थे ही अतः सोचने लगे केवल आत्मा का अखण्ड स्वभाव ही शाश्वत है, शेष सब तो छूट जाने वाला है।

जिस नाम, मान, सम्मान के पीछे मनुष्य दिन—रात एक किया करता है, दिन—रात पसीना बहाया करता है वह नाम व मान क्या स्थायी है।

मान—बढ़ाई एक कषाय है और कषाय का काम आत्मा को जलाना है। जिसके फल में नियम से हमारी दुर्गति ही होगी और दुर्गति में जाकर हम तो अनन्त दुःख भोग रहे होंगे और यहाँ हमारा नाम रोशन हो रहा होगा। इससे हमें क्या प्राप्त होगा। फिर एक बात यह भी है कि एक ही नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं, भविष्य में हमारे चले जाने के बाद यह कौन जानेगा कि ये मेरा ही नाम है। हमारे चले जाने के बाद जब हम ही नहीं रहेंगे, तो क्या होगा। उस संगमरमर के पत्थर का जो हमने नाम के लिये दान देकर लगवाया है।

दातार का सर्वप्रथम कर्तव्य है कि इस मान कषाय से दूर रहें जो सब किये कराये पर पानी फेर देता है। नाम के लिये दिया गया दान लोकेषणा युक्त होने से निरर्थक है। अतः निष्काम दातार बनो और केवल स्व व पर के कल्याण की भावना से दान दो।

जो दयालु पुरुष होते हैं वे दान देने में कभी पीछे नहीं हटते।

कर्ण का नाम सबने सुना है, व दानवीर माने जाते थे। एक गरीब ब्राह्मण था उसके पिता जी की अन्तिम इच्छा थी कि उसका दाह संस्कार चंदन की लकड़ी से किया जाय। एक बार वर्षा के दिनों में उसके पिता की मृत्यु हो गई। वह ब्राह्मण तो गरीब था पर पिता की अंतिम इच्छा भी पूरी करनी थी। अतः दान में चंदन की लकड़ी माँगने दानवीर माने जाने वाले युधिष्ठिर के पास पहुँचा। युधिष्ठिर ने सभी जगह दिखवाया पर वर्षा के कारण चंदन की सूखी लकड़ी कहीं नहीं मिली। ब्राह्मण निराश होकर वापिस लौटा और चंदन की लकड़ी माँगने कर्ण के पास पहुँचा। जब कर्ण को भी कहीं चंदन की सूखी लकड़ी नहीं मिली। तो कर्ण ने अपने सिंहासन के पाये जो चंदन की लकड़ी के थे कटवा कर उस बाह्मण को दान में दे दिये। कर्ण के बारे में कहा जाता है, जब वे मृत्यु शैय्या पर लेटे थे तभी एक याचक उनसे दान माँगने आ गया। कर्ण ने कहा—वो बड़ा पत्थर उठा लाओ, वह बोला—क्या पत्थर का दान करोगे? कर्ण ने कहा—मैंने दो सोने के दाँत लगावाये थे, उन्हें तोड़कर दान में दिये तो उस याचक ने खून से लथपथ दाँत लेने से मना कर दिया। तब कर्ण ने प्रार्थना की कि भगवान क्या मैं अंत समय में दान देने से वंचित रह जाऊँगा। तभी वर्षा शुरू हो गई, जिससे सारा खून धुल गया और दानवीर कर्ण ने उन दाँतों का दान दिया।

बाह्य समागम तो कर्म को ठाठ है। पुण्य का जहाँ उदय रहता है वहीं धन रह सकता है। अतः हमेशा दान करते रहना चाहिये। दान ऐसा है कि जा परभव में सुखी होने के लिये कलवा है। सद्गृहस्थ वही है जो अपने धन का सदुपयाग परापकार में करता है। दान प्रकृति वाले महापुरुषों को दान न दे सकने की परिस्थिति पर विषाद होता है–

एक गरीब उदार कवि था दाने–दाने को मुहताज। उसकी ऐसी प्रकृति थी कि उसको जो मिल जाता उस वह भिखारियों को दे देता था। वह कवि था। उसकी पत्नी ने कहा–हम इतने दुःख पा रहे हैं। जाओ, राजाभोज के दरबार में एक कविता बनाकर ले जाओ, देखो वह कवियां का बड़ा आदर करता है और कविता सुनाने वाले को लाखों रुपया दान देता है। वह दरबार में कविता ले गया और सुनाने लगा–

कुमुदवनमश्रि श्रीमंद भोजखंड, त्यजति मुदमूलकः
उदयमहिमरश्मिर्यात शीता शुरस्त, प्रीतिमाश्चक्रवाकः।।
हतविधिलचितानां हि विचित्रो विपाकः।।

जिसका भावार्थ यह है कि कर्म का फल बड़ा विचित्र है। प्रभात काल हाते ही कमलनियों का वन तो शोभारहित हो गया है और कमलां का वन शाभा सहित हो गया। हे प्रभात! तेरे आते ही एक का नाश हो रहा है और दूसरे का उदय हो रहा है। सुबह होते ही उल्लू का हर्ष नष्ट हो गया और चकवा सुखी हा गया। प्रभात होते ही सूर्य का उदय हो रहा है और चन्द्रमा अस्त को प्राप्त हो रहा है। कर्म के प्रेरे हुये प्राणी का बड़ा विचित्र स्वभाव है। इस कविता पर प्रसन्न होकर राजा ने उसको एक लाख रुपया दिया। ज्यों ही वह राज

दरबार से चला तो भिखारियों ने उसे घेर लिया, क्योंकि वे जानते थे कि वह जो कुछ धन उसके पास होता है, दान दे देता है। आदत ही ऐसी होने के कारण वह उन्हें दान देता गया और आगे बढ़ता गया और इस प्रकार बीच में ही सब रुपया दान कर दिया। जब वह घर पहुँचा तो उसके चित्त पर उदासी छा रही थी। स्त्री ने पूछा कि आप उदास क्यों हैं? राजा ने इनाम नहीं दिया क्या? वह बोला कि इनाम तो मिला था, परन्तु मैं इसलिये दुःखी हूँ कि–

दारिद्रयानलसंतापः शान्तः संतोषवारिण।
याचकाशावितान्तर्दाहः केनोपशाम्यते।।

दरिद्रता का संताप तो मैंने संतोष रूपी जल से शान्त कर लिया, परन्तु याचक लोग आशा लेकर मेरे पास आते हैं और उसकी पूर्ति मैं नहीं कर सकता। उनकी आशा का इस प्रकार घात हो जाने से मेरे मन में आघात पैदा हो गया है। उसे कैसे शान्त करूँ इसकी उदासी है?

जो दयालु प्रकृति के महापुरुष होते हैं, जिन्हें अपने वीतराग स्वरूप का बोध हो गया है, वे दान व त्याग में कभी पीछे नहीं हटते। जिस प्रकार व्यर्थ समझकर साँप काँचरी छोड़ देता है, और मोर अपने पंख छोड़ देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष आत्महित में बाधक इन पर–पदार्थों को कचड़ा समझकर छोड़ देते हैं।

रायचन्द्र जी बहुत बड़े सौदागर थे। एक बार उन्होंने एक व्यक्ति के साथ हीरा–मोती का सौदा किया। कागज लिख दिया और सौदा तय हो गया। पर खरीद के दिन से ही भाव तेजी से बढ़ने लगे और इतने अधिक बढ़ गये कि वह सामने वाला व्यक्ति यदि अपने घर को भी बेच दे तो भी सौदे की रकम नहीं चुका सकता।

अब तो उसने घर से निकलना ही बंद कर दिया। जब रायचन्द्र जी को पता चला तो उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। वे उस व्यापारी के घर पहुँचे। रायचन्द्र जी को देखकर वह घबड़ा गया, उसे लगा ये सौदे की रकम माँगने आये हैं। वह हाथ जोड़कर बोला–हम अपना सब कुछ बेचकर आपकी पूरी रकम चुका देंगे आप मुझ पर विश्वास कीजिये। रायचन्द्र जी ने उससे सौदे का कागज बुलाया और उसके टुकड़े–टुकड़े कर कहा–रायचन्द्र जैन है, वह दूध पीता है, खून नहीं पी सकता। इस सौदे की वजह से आपने घर से निकलना तक बंद कर दिया। मैं इस सौदे को यहीं समाप्त कर देता हूँ। और उन्होंने लाखों रुपये का त्याग कर दिया। यही एक सच्चे ज्ञानी की पहचान है।

मनुष्य जन्म पाकर बुद्धिमानी तो इसी में है कि जो छोड़ना पड़ेगा, उसे पहले ही छोड़ दिया जाय। और यदि सर्व त्यागी नहीं बन सकते तो, कम–से–कम इस दान के माध्यम से हमें अपनी विषय–कषायों को तो अवश्य ही कम करना चाहिये। जब भी भाव हों तुरन्त दान कर देना चाहिये क्योंकि भाव बदलते देर नहीं लगती।

युधिष्ठिर पांडवों में सबसे बड़े थे। वे दानवीर माने जाते थे। एक बार एक याचक ने आकर दान की याचना की। वे किसी कार्य में व्यस्त थे तो कह दिया थोड़ी देर बाद आना। जब भीम को मालूम पड़ा तो वे आये और बोले–भैया! ये भी कोई बात हुई। क्या आपने मृत्यु को जीत लिया है? क्या अगले क्षण का आपको भरोसा है, कि आप बचेंगे ही? अभी दे दो अन्यथा विचार बदलने में देर नहीं लगती। त्याग का भाव आते–आते भी राग का भाव आ सकता है। क्योंकि राग का संस्कार अनादि काल का है। अतः जब भी दान देने का भाव हो, उसी समय दे देना चाहिये।

एक अंग्रेज ने अपनी जीवन गाथा में लिखा है। एक बार वह दान पर प्रवचन सुन रहा था। कोई पादरी जी दान पर बड़ा अच्छा प्रवचन कर रहे थे। उस प्रवचन को सुनकर उसके भाव हो गये कि जब ये लोग झोली लेकर दान लेने आयेंगे तो मैं झोली में 100 डालर डाल दूंगा।

थोड़ी देर बाद वह सोचता है 100 डालर तो बहुत होते हैं, 50 डालर तो डाल ही दूंगा। अब प्रवचन सुनना बन्द हो गया और वह विचारों में खो गया, जबकि अभी भी प्रवचन चल रहा है, पर अब उसे कुछ सुनाई नहीं दे रहा। वह फिर सोचता है 50 डालर भी बहुत होते हैं, 25 डालर तो अवश्य ही डाल दूँगा। इस प्रकार वह कम करता गया और थोड़ी देर बाद तो वह प्रवचन में से उठकर बाहर आ गया, क्योंकि अन्त में उसके भाव हो गये थे कि मैं डालूँगा तो आधा डालर और उठा लूँगा एक डालर।

इसीलिये कहा है–"शुभस्य शीघ्रं" शुभ कार्य का विचार आये तो तुरन्त कर लेना चाहिये। जब भी संयम, तप, त्याग के भाव हों उसे उसी समय धारण कर लेना चाहिये उसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये।

जीवन्धर कुमार के पिता राजा सत्यंधर जीवन्धर के जन्म से पहले विलासिता में इतने डूबे रहते थे कि राज्य का काम–काज कैसा चल रहा है, ध्यान ही नहीं रख पाते थे। मंत्री ने सोचा अच्छा अवसर है। उसने भीतर–ही–भीतर राज्य हड़पने की योजना बना ली और किसी को कुछ पता ही नहीं चला। जब मालूम पड़ा तो राजा सत्यंधर की पत्नी गर्भवती थी। वंश का संरक्षण करना आवश्यक है, इसलिये पहले पत्नी को विमान में बैठाकर दूर भेज दिया और स्वयं

युद्ध की तैयारी में लग गये। अपने ही मंत्री काष्ठांगार से युद्ध करते–करते राज सत्यंधर के जीवन का अंत समय जब निकट आ गया, तो वे विचार मग्न हो गये –

सर्व निराकृत्य विकल्पजालं, संसारकान्तार निपातहेतुम्।
विविक्तामात्मांनम् वक्षमाणों, निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्व।।

पहले राजा लोग बड़े सजग होते थे। पुत्र रत्न की प्राप्ति होते ही घर द्वार छोड़कर तपस्या के लिये वन में जाकर दीक्षा धारण कर लेते थे। यदि आकस्मिक मृत्यु का अवसर आ जाता तो तत्काल सब छोड़कर आत्मकल्याण के लिये संकल्पित हो जाते थे। यही सत्यंधर ने किया। वे रणांगन में ही सब कुछ त्यागकर दीक्षित हो गये तथा सद्गति को प्राप्त हुए।

आज तक त्याग के बिना किसी को भी मुक्ति नहीं मिली और मिलना सम्भव भी नहीं है। एक साधु महाराज थे। वे उपदेश दिया करते थे कि त्याग से तो संसार समुद्र पार कर लिया जाता है। एक बार वह साधु किसी दूसरे गाँव में जाने लगा तो रास्ते में नदी पड़ती थी। साधु जी का नदी के उस पार जाना था पर नाव वाले को देने के लिय 2 पैसे नहीं थे, सो शाम तक नदी पर बैठे रहे। शाम को उनक भक्त सेठ जी आये और समझ गये साधु जी के पास देने को पैसे नही हैं इसलिय बैठे हैं। सेठ जी ने नाव वाले को 4 पैसे दिये और साधु जी के साथ नाव में बैठकर नदी पार कर गये। उस पार पहुँच जाने पर सेठ जी कहत हैं, आप तो कहा करते हो कि त्याग से संसार समुद्र भी पार कर लिया जाता है, पर आप तो यह छोटी–सी नदी भी पार नहीं कर पाये। साधु जी बोले–भैया जब आपने 4 पैसे का त्याग किया तभी तो पार हुये और मैंने भी पूर्व में

त्याग किया, साधु बना तभी तो आपने हमें नाव में बिठाया। त्याग से तो गुजारा चल सकता है, पर मात्र ग्रहण से गुजारा नहीं चल सकता। अच्छा खूब पैसों का संचय करो। संचय करके क्या पूरा पड़ेगा, शान्ति होगी, संतोष होगा, समता बनेगी? तो सोच लो, और देखो यहाँ त्याग से बहुत बढ़िया गुजारा होता है। इस परिग्रह को तीर्थंकरों ने त्यागा, चक्रवर्तियों ने त्यागा, अनेक महापुरुषों ने त्यागा तो वे सदा के लिये सुखी हो गये।

यह परिग्रह तो जंजाल का कारण है, अतः जितनी जल्दी हो सके इससे निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिये।

त्याग बिना आज तक किसी का उद्धार न हुआ है और न ही होगा। चाहे कोई कभी भी त्याग के मार्ग पर बढ़े पर कल्याण होगा त्याग से ही। त्याग में है शान्ति और ग्रहण में है संघर्ष।

जीवन में एक ऐसा निर्णय करें कि जब मरने पर हम कुछ साथ नहीं ले जाते, ये परिजन, मित्रजन आदि सब अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं तब फिर उनके पीछे अन्याय से, पाप से भरा हुआ जीवन बिताने से क्या लाभ। हम अपना जीवन न्यायनीति से भरा हुआ अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन करते हुये बितायें। चाहे चने खाकर ही जीवन बिताना पड़े, पर न्याय नीति से च्युत न हों। गृहस्थों का अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन करते हुये न्यायनीति से जीवन बिताना यही उनका आदर्श त्याग है।

इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे हमने अनेकों बार न भोगा हो। देव बन-बनकर, इन्द्र बन-बनकर, चक्रवर्ती व राजा बन-बनकर कौन-सी वस्तु ऐसी रह गई है जो हमने न भोगी हो? भूल गये हैं आज हम अपना पुराना इतिहास, इसी से ये वस्तुयें ये

नई लगती हैं। याद करें तो जान जायें कि हर भव में हमने इन्हें ग्रहण किया और हर भव में इन्होंने मेरा त्याग किया। हम एक–एक करके इन्हें ग्रहण करते, इनका पोषण करते और ये पुष्ट होकर एकदम मुझे आँखें दिखा देतीं। आचार्य दया करके समझाते हैं ऐसे कृतघ्नी को तू पुनः ग्रहण करने चला है, आश्चर्य है। अब तो आँखें खोल और इससे पहले कि ये तुझे त्यागे, तू इन्हें त्याग दे।

त्याग के आनन्द को असंयमी पुरुष नहीं समझ सकते। जिसे अभी पर–पदार्थों में ही रस आ रहा है वे उत्तम त्याग को धारण नहीं कर सकते। वे भगवान के आनन्द को और स्वरूप के आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते।

एक काल्पनिक कहानी है। एक बार भगवान ने प्रसन्न होकर भक्त से पूछा – तुम क्या चाहते हो? भक्त ने उत्तर दिया कि मैं कुछ नहीं चाहता, बस यही चाहता हूँ कि दुखियों का दुःख दूर हो जाये। भगवान ने कहा तथास्तु, किन्तु यह ध्यान रहे कि जो सबसे अधिक दुःखी हो सर्वप्रथम उसको लेकर आना। भक्त ने स्वीकार कर लिया। भक्त बहुत प्रसन्न हुआ कि अब मैं दुनिया को सुखी कर दूंगा। सारी दुनिया दुःखी है। वह सर्व प्रथम सबसे अधिक दुःखी की तलाश करने लगा। एक–एक व्यक्ति से पूछता जाता कि तुम्हें क्या दुःख है, लोग उत्तर देते और तो सब ठीक है, बस एक कमी है, कोई पुत्र की कमी बताता, कोई धन की, मुझे पूर्ण कमी है, ऐसा किसी ने भी नहीं कहा। चलते–चलते उसने देखा, एक कुत्ता नाली में पड़ा हुआ है, तड़प रहा है, मरणोन्मुख है। वह जाकर उससे पूछता है, कि तुम्हें क्या हुआ? कुत्ता कहता है कि मैं बहुत दुःखी हूँ। भक्त सोचता है, बस पकड़ में आ गया पूर्ण दुःखी। उसने कुत्ते से

पूछा क्या—तुम दुःख से निवृत्त होना चाहते हो? वह बोला—होना चाहता हूँ। भक्त ने कहा मुझे भगवान ने भेजा है। तुम मेरे साथ स्वर्ग चलो वहाँ सुख ही सुख है दुःख नहीं है। कुत्ता बोला, यह तो बताओ वहाँ पर रहने की सारी व्यवस्था है कि नहीं? कुत्ता एक—एक वस्तु के बारे में पूछता जा रहा था। और भक्त उसे आश्वासन देता जा रहा था। कुत्ते ने कहा ठीक है। किन्तु एक और बात पूछनी है कि स्वर्ग में गंदा—नाला है या नहीं? भक्त बोला कि गंदा नाला तो यहाँ की देन है, स्वर्ग की नहीं। कुत्ता बोला नहीं है तो फिर क्या है? फिर तो मुझे यहीं रहने दो, यहाँ ही मैं ठीक हूँ।

यही हाल समस्त संसारी प्राणियों का हैं विषय—भोग, आरम्भ—परिग्रह भी न छूटें और हम आत्मा के आनन्द का भी चखते रहें, पर यह कैसे सम्भव है कि हम विष भी पीते रहें और अमृत का स्वाद भी लेते रहें।

एक चींटी नमक की खान में रहती थी। उसकी एक सहेली उससे मिलने गई और बोली—बहिन! तू इस खारे स्वाद में क्यों रहती है, मेरे साथ हलवाई की दुकान पर चल वहाँ तुझे अच्छा स्वाद मिलेगा, वहाँ जाकर तू बड़ी प्रसन्न होगी। सहेली के कहने से वह हलवाई की दुकान में आ गई परन्तु मिठाई पर घूमते हुये भी उसको विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। वह बोली—बहन! मुझे तो वही स्वाद आ रहा है जो पहले आता था। सहेली सोच में पड़ गई। यह कैसे सम्भव है? मीठे में नमक का स्वाद कैसे आ सकता है। कुछ—न—कुछ गड़बड़ अवश्य है। झुककर देखा उसके मुख की ओर। अरी बहन! यह तेरे मुख में क्या है? बोली—नमक की डली। चलते समय सोचा वहाँ यह पकवान मिले या न मिले इसलिये थोड़ा—सा मुँह में रख लाई। अरे तो पहले इस नमक की डली को अलग कर दो तब इस

मिठाई का आनन्द मिलेगा। सहेली के कहने से नमक की डली को अलग रख दिया और मिठाई को खाया तो मीठा स्वाद पाकर प्रसन्न हो गई।

यों ही चींटी की तरह जब तक हम लोग इस परिग्रह को रखे हैं तब बतलाओ शुद्ध आत्मा का विलक्षण आनन्द कैसे चख सकते हैं। जब तक हम इस आरम्भ–परिग्रह का त्याग नहीं करते तब तक आत्मस्वरूप में स्थिरता प्राप्त नहीं कर सकते। परमार्थ से आत्म शान्ति का उपाय यही है कि परपदार्थों का त्याग किया जाय और आत्म परिणति का विचार किया जाये।

विषय–कषाय, आरम्भ–परिग्रह का त्याग ही संसार बन्धन से मुक्ति का उपाय है। यह परिग्रह तो जंजाल का कारण है। अतः जितनी जल्दी हो सके इससे निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिये। और सदा दान देने की भावना रखना चाहिये। दान देने से स्व व पर दोनों का कल्याण होता है।

किसी कवि ने लिखा है – "दातारों का मजा इसी में खाने और खिलाने में। कंजूसों का मजा इसी में, जोड़–जोड़ मर जाने में।।"

जो दानशील प्रवृत्ति का मानव होता है, वह हमेशा परोपकार में अपने धन को लगाता है और जो कंजूस आदमी होता है, वह हमेशा धनार्जन करता रहता है और मरकर उसी धन की रक्षा हेतु सर्प योनि को धारण कर लेता है।

एक राजा ने अपने नगर के सभी विद्वानों को भोजन का निमंत्रण दिया। सभी विद्वान् भोजन करने के लिये राजमहल में आये। राजा ने सभी को एक दूसरे के सामने मुँह करके बिठा दिया और सभी की थालियों में लड्डू परोसे गये। साथ ही राजा ने आदेश

दिया कि सभी सीधा हाथ करके लड्डू खायेंगे, जिसने भी हाथ मोड़कर लड्डू खाया उसे सजा दी जायेगी। सभी विद्वान् सोचने लगे सीधे हाथ से लड्डू कैसे खाये जा सकते हैं। तब एक वृद्ध विद्वान् ने कहा कि ऐसा करो कि तुम मेरे मुँह में लड्डू रख दो और मैं तुम्हारे मुँह में लड्डू रख देता हूँ। ऐसा ही किया गया। जब सब भोजन कर चुके तब राजा ने कहा कि मैंने यह शर्त इसलिये रखी थी कि दूसरों को पहले खाना खिलाकर के फिर स्वयं को खाना चाहिये। भारत की यह प्राचीन संस्कृति है कि अतिथि का आदर–सत्कार करने के बाद ही स्वयं भोजन करो।

इसी अतिथि सत्कार की परम्परा को अविछिन्न रूप से चलाने के लिये श्रावकों को द्वार प्रेक्षण की क्रिया का विधान आचार्यों ने बताया है। प्रथम चक्रवर्ती महाराज भरत स्वयं नित्यप्रति द्वार प्रेक्षण किया करते थे और बाद में भोजन करते थे।

जब नाव में पानी ज्यादा हो जाय और नाव मंझधार में हो पानी उसमें भरता ही जाये तो उस नाव का पानी अपने हाथों से निकालकर फेंक देना चाहिये नहीं तो नाव डूबने में ज्यादा देर नहीं लगेगी।

इसी प्रकार जिन्दगी की नाव में जब धन का पानी भरता जाये तो उसका उपयोग दान के माध्यम से धार्मिक कार्यों में कर लेना चाहिये जिससे जिन्दगी की नाव किनारे लग सके। ज्ञानी वही है, जो समय रहते धन का सदुपयोग कर लेता है। सभी को अपनी आय का एक निश्चित भाग अवश्य दान के माध्यम से धार्मिक कार्यों में खर्च करना चाहिये।

धन का भोग, त्यागपूर्वक करना चाहिये। भोग करते समय इतना ध्यान रहे कि ये सब छूटने वाला है, ज्यादा दिन नहीं रहेगा। कब

समय अपनी करवट बदल ले और आदमी महलों से सड़कों पर आ जाये। रातों रात महल खाली हो जाते हैं, और धनपति खाकपति हो जाते हैं। सेठ जी भिखारी हो जाते हैं और भिखारी सेठ बन जाता है।

तिरुवल्लुवर आचार्य कहते हैं—यदि कोई भिखारी तुम्हारे द्वार पर आकर भीख माँगे, अपना कटोरा तुम्हारे सामन फैलाये तो ये मत सोचना वो भिखारी तुमसे भीख माँगने आया है। वह भीख माँगने नहीं बल्कि सीख दने आये है कि दखो मैंने अपने अतीत में कभी किसी का दान नहीं दिया उसकी वजह से ये कटोरा आज मेरे हाथ में है और तुम दान नहीं दोगे, तो ध्यान रखना य कटोरा कब बदल जाये। मेरे हाथों से तुम्हार हाथों में भी आ सकता है। कल तुम्हारी भी यही स्थिति बन सकती है।

पहले के व्यक्ति अपने सफेद बाल देखकर समस्त परिग्रह को छोड़कर त्याग धर्म को धारण कर लेत थे। एक सम्राट था। उसके सौ पुत्र थ। सम्राट बूढ़ा हो गया। पहले के जमाने में बुढ़ापा देखकर लोगों को चिन्ता हा जाती थी परलोक की। वह साचने लगता था कि बुढ़ापे का अर्थ है—मौत का पैगाम। जन्म के बाद बचपन आता है। बचचन के बाद जवानी आती है और जवानी क बाद बुढ़ापा आता है। लेकिन बुढ़ापे के बाद कुछ आता नहीं है। बुढ़ापे के बाद तो जाता—ही—जाता है। सम्राट चिंतित था कि मेरे बाल सफेद हो गये इसका अर्थ है कि मुझे अब यहाँ से जाना है, मौत कभी भी आकर मुझे गिरफ्तार कर सकती है। मौत गिरफ्तार करे उससे पहले व्यक्ति को संसार की और पापों की रफ्तार कम कर दनी चाहिये।

सम्राट ने सोचा मौत आये उससे पहल मुझे मोक्ष की तरफ बढ़

जाना चाहिये। अर्थात् संसार की झंझटों को, समस्त आरंभ, परिग्रह को छोड़कर त्याग धर्म को धारण कर लेना चाहिये। मोक्ष का मार्ग एक मात्र उत्तम त्याग धर्म ही है। सम्राट के बहुत पुत्र थे। उसने सोचा अपना राज्य किसे सौंपना चाहिये। सम्राट को एक युक्ति सूझी और उसने अपने सभी पुत्रों को भोजन के लिये अपने महल में आमंत्रित किया। सभी राजकुमार बड़े प्रसन्न हुये कि आज पिता के साथ भोजन करेंगे। सभी पुत्र राजमहल में पहुँचे। वहाँ बड़ा ही स्वादिष्ट भोजन बना था। भोजन की खुशबू चारों ओर फैल रही थी। राजकुमारों के आगे भोजन की थालियाँ आतीं हैं, सारे राजकुमार एक लाइन में भोजन करने बैठ जाते हैं।

जैसे ही वे राजकुमार भोजन करने के लिये पहला ग्रास तोड़ते हैं सम्राट ने सैनिकों को इशारा किया कि एक सेकंड भी नहीं लग पाया, पलक झपकते ही सैकंड़ों शिकारी कुत्ते राजकुमारों पर झपट पड़े, जिनकी दाढ़ें विकराल, नाखून बड़े–बड़े शेर की तरह खूंखार जो क्षण भर में आदमी को चीर फाड़ डालें ऐसे कुत्ते राजकुमारों पर आक्रमण करने लगे कुत्तों को देखकर सारे राजकुमार थाली छोड़कर बाहर भाग गये।

सांझ को सम्राट ने अपने सभी पुत्रों को दरबार में बुलाया और पूछा–आप सबने भोजन कर लिया सारे भाइयों ने मिलकर खाया बड़ा आनंद आया होगा। राजकुमारों ने कहा–पिताजी आप भी अच्छा मजाक कर लेते हैं, आप कह रहे हैं कि बड़े आनंद से भोजन किया होगा, वहाँ तो प्राणों के लाले पड़ गये, मौत सामने खड़ी थी और हम भोजन करते। सम्राट ने पूछा–क्या हुआ? राजकुमारों ने कहा पिताजी! आज आपने भोजन पर बुलाकर हमारा अपमान किया, हमारी बेइज्जती की। यदि हमें मालूम होता तो हम कभी आपका

आमंत्रण स्वीकार नहीं करते। हम भोजन का पहला ग्रास तोड़ ही रहे थे कि सैनिकों ने हमारे ऊपर बड़े खूंखार और शिकारी कुत्ते छोड़ दिये, इससे ज्यादा और हमारा अपमान क्या हो सकता है?

सम्राट ने कहा मैं बहुत दुःखी हूँ कि मेरे सभी पुत्रों में से एक भी ऐसा पुत्र नहीं निकला जिसे मैं अपना यह राज्य भार सौंपकर चला जाऊँ और त्याग धर्म को धारण कर आत्मा का कल्याण करूँ। तभी सबसे छोटा राजकुमार पिता के पास आया और बोला–पिता जी आप निराश मत होइये मैंने आज बड़े आनन्द और उत्साह से भर पेट भोजन किया है।

पिता ने पूछा–बेटे! तूने इतने कुत्तों के बीच भरपेट भोजन कैसे किया? उस बेटे ने कहा–पिताजी जैसे ही कुत्ते आये, मैं एक स्थान पर एक–एक टुकड़ा उन कुत्तों को डालता रहा, कुत्ते अपना भोजन करते रहे और मैं अपना भोजन करता रहा। जो दूसरों को खिलाता है, वो कभी भूखा नहीं रहता और जो दूसरों को सताता है, वह कभी सुखी नहीं रह सकता। जो दूसरों को खिलाता है, वो खिलखिलाता है और जो दूसरों को सताता है, वो आँसू बहाता है।

सम्राट प्रसन्न हो गया। उस छोटे बेटे का नाम था श्रेणिक, जो मगध की राजगद्दी पर बैठा। जो संपूर्ण परिग्रह छोड़कर संयम धारण नहीं कर सकते उन्हें दान के माध्यम से अपने धन का सदुपयोग अवश्य करना चाहिये। संसार में मनुष्यों की प्रवृत्ति दान देने के संदर्भ में भिन्न–भिन्न पायी जाती है, जो निम्न चार प्रकार के मनुष्यों के रूप में है–

1. मक्खीचूस मनुष्य – जो न स्वयं खायें और न दूसरों को खाने दें।

2. कंजूस मनुष्य – जो स्वयं खाते हैं, परन्तु दूसरों को नहीं देते।
3. उदारचित्त मनुष्य–जो स्वयं भी खाते हैं, तथा दूसरों को भी देते हैं।
4. दातार मनुष्य – जो स्वयं न खाने की अपेक्षा, दूसरों को देते हैं।

दान नहीं देना और केवल धन का संग्रह–ही–संग्रह करना अशान्ति को निमंत्रण देना है। धन का संग्रह करना कितनी बड़ी अज्ञानता है। यह बात इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती है–

एक पंडित जी थे जो सदा परिग्रह में लिप्त रहते थे। वे ठीक से न खाते, न पहनते, दिन–रात पैसा इकट्ठा करके ब्याज पर साहूकार के यहाँ भेज देते। एक दिन पंडित जी विचार करने लगे कि मुझे पता लगाना चाहिये कि मेरा पैसा ठीक भी है या नहीं। पंडित जी सेठ जी के यहाँ पहुचते हैं और जाकर देखते हैं कि सेठ जी तो कोठी बंगले में खूब आनन्द से रह रहे हैं। किसी बात की कमी नहीं है। फिर सोचते हैं कि पैसा तो मेरा है और आनन्द सेठ जी ले रहे हैं। सेठ जी वहाँ पर नहीं थे। नौकरों ने पंडित जी के ठहरने का प्रबंध कर दिया। वे जानते थे कि इनके यहाँ से ही पैसा आता है।

रात्रि में जब पंडित जी सो जाते हैं तो स्वप्न में लक्ष्मी कहती है कि आप कौन हैं, पंडित जी कहते हैं कि मैं तो पंडित हूँ। किन्तु आप कौन हैं, वह कहती है, मैं लक्ष्मी हूँ। पंडित जी कहते हैं कि तुम इनके यहाँ क्यों आती हो, लक्ष्मी बोली कि मैं इन सेठ जी की दासी हूँ, क्योंकि सेठजी परिग्रह से मोह न रखकर दान देते हैं। अब पंडित जी कहते हैं कि आप हमारे यहाँ क्यों नहीं आतीं। तब लक्ष्मी कहती है कि आप तो पैसे के मोही हैं, इसलिये मैं आपके पास नहीं आती।

पंडित जी कहते हैं कि जब हम दान देने लगेंगे तब तो हमारे पास आओगी न। तब लक्ष्मी कहती है कि जब तुम दान देने लगोगे तब तुम्हें तुम्हारे लड़के मारने लगेंगे। पंडित जी कहते हैं कि मैंने तो सारा धन अपने हाथों से कमाया है, मुझे वे क्यों रोकेंगे और इतने में आँख खुल जाती है और उनका स्वप्न भंग हो जाता है।

पंडित जी अपने घर जाते हैं और अपने लड़कों से कहते हैं कि बेटा तुम सब दान किया करो, दान करने से लक्ष्मी आती है। लड़के कहते हैं पिता जी धन संग्रह करने के लिये होता है, खोने के लिये नहीं। बेटा पिता जी का कहना नहीं मानते। अब पंडित जी स्वयं दान देने की कोशिश करते हैं। परन्तु जब भी वे कुछ दान देते, बेटे पंडित जी की दुर्दशा कर देते।

पंडित जी सोचते हैं—काश मैं शुरू से ही दान में प्रवृत्ति रखता तो बच्चों का भी वही अभ्यास रहता और मेरी भी दुर्दशा न होती। ध्यान रखना धर्म के लिये दान देने से धन कभी नहीं घटता, जब भी घटता है तो पाप के उदय से ही घटता है। जिस प्रकार कुँए का जल निकालने से कभी नहीं घटता एवं विद्या कभी देने से नहीं घटती, उसी प्रकार धन की दशा है। अर्थात् धन देने से बढ़ता है, घटता नहीं है। ज्यों—ज्यों धन का दान किया जाता है, पुण्य की प्राप्ति होती है। जो लोग दान देने से धन का घटना, समझते हैं, वे भूल करते हैं।

आचार्य कहते हैं—हे भव्य जीवो! मनुष्य जीवन को सफल बनाने के लिये दान अवश्य करना चाहिये। जैसे खेती का मुख्य फल धान्य होता है, वैसे ही पात्रदान का मुख्य फल मोक्ष होता है और जैसे खेती का गौण फल भूसा होता है, उसी प्रकार पात्रदान का गौण

फल भोग सामग्री होता है। दान देते समय हमारे जैसे भाव होते हैं, उसी के अनुरूप फल की प्राप्ति होती है। अतः दान देते समय और उसके बाद सदा पवित्र भाव रखना चाहिये।

एक नगरी के अंदर एक लड़का व्यापार करने जाया करता था। उसकी माता प्रायः उसे लड्डू बनाकर दिया करती थी। वह घर से शुद्ध लड्डू बनवाकर ले जाया करता था। एक दिन जब जंगल से गुजर रहा था, तब वह एक ऋद्धिधारी मुनिराज के दर्शन करता है। उनको देखकर लड़के के भाव बनते हैं कि आज मुझे मुनिराज को आहार कराना चाहिये। वह नवधा भक्ति पूर्वक मुनिराज को पड़गा लेता है। मुनिराज आहार में एक लड्डू छोड़कर शेष सब लड्डू ले लेते हैं। ऋद्धि के बल से उस लड्डू में विशेष स्वाद आ जाता है। इस एक लड्डू के खाते ही, वह अपने भावों को बिगाड़ लेता है, सोचता है, आज माँ ने लड्डू बहुत बढ़िया एवं स्वादिष्ट बनाये थे और आज ही मैंने सभी लड्डू महाराज को खिला दिये। इस प्रकार शोक करने लगता है और तभी आयु का क्षय हो जाता है, और वह यह सोचता हुआ मरण को प्राप्त हो जाता है।

मरण कर वह एक सेठ साहूकार के यहाँ जन्म ले लेता है। पैदा होने के साथ ही यह बीमार रहने लगता है। सेठ की तिजोरी में धन भरा हुआ है, लेकिन यह लड़का उसे भोग नहीं सकता और पलंग पर पड़ा रहता है। बीमारी की अवस्था में ही लड़का बड़ा हो जाता है। कुछ समय बाद नगर में एक मुनिराज आते हैं। वह लड़का उनसे पूछता है–मेरे पास धन तो बहुत है लेकिन उसे मैं भोग क्यों नहीं सकता, इसका क्या कारण है? मुनिराज कहते हैं कि तुमने पूर्व भव में एक मुनिराज को दान दिया था लेकिन दान देने के बाद तुमने अपने भाव बिगाड़ लिये, इस कारण तुम उस सम्पत्ति का भोग नहीं

कर पा रहे हो। इस प्रकार हमारे भावों की शुद्धि का दान पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

सभी को बड़े उत्साह और पवित्र भावों से दान अवश्य देना चाहिये। जो मनुष्य लक्ष्मी का संचय करके पृथ्वी के गहरे तल में उसे गाड़ देता है, वह मनुष्य उस लक्ष्मी को पत्थर के समान कर देता है। इसके विपरीत जो मनुष्य अपनी बढ़ती हुई लक्ष्मी को सर्वदा धर्म के कार्यों में लगा देता है, उसकी लक्ष्मी सदा सफल रहती है। किसी ने कहा है–

दान बिना नहिं मिलत है, सुख सम्पत्ति सौभाग्य।
कर्म कलंक खपाय कर, पावे शिव पद राज।।

अर्थात् दान से ही संसारी जीवों को महान सुख की प्राप्ति होती है। दान के प्रभाव से शत्रु भी शत्रुता छोड़कर अपना हित करने लगते हैं। दानी जीव ही संसार में महान यश को प्राप्त करता है। कहाँ तक कहा जावे इस संसार में दान के प्रभाव से ही जीव अत्यन्त दुर्लभ भोग भूमि के सुख, देव, विद्याधर, प्रतिनारायण, नारायण, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि पदों को प्राप्त करता है। और अन्त में समस्त सम्पत्ति को छोड़कर, उत्तम त्याग धर्म को धारण कर, समस्त कर्मों को नष्ट कर शिव पद अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है।

हमारी आत्मा संसार के महासमुद्र में डूब रही है, इसका एक मात्र कारण यह परिग्रह का बोझ है। आज का मानव श्रीमन्त बनने के ख्वाब में धर्म की ओर से दरिद्री होते जा रहे हैं। त्याग और दान करना तो दूर रहा वे तो स्वयं के लिये भी सम्पत्ति का उपभोग नहीं करना चाहते।

ऐसा ही एक सेठ था, वह अपार सम्पत्ति होते हुये भी स्वयं के

लिये तक उस सम्पत्ति का उपभोग नहीं करता था। वह इसी प्रतीक्षा में रहता था कि कहीं से निमंत्रण आ जाये और अपना काम बन जाये। परिस्थितिवश यदि उपवास भी हो जाये तो उसे भी वह तैयार रहता था, पर अपना अन्न उसके गले नहीं उतर सकता था। एक बार उसके घर बहुत बड़ा डाका पड़ गया, चोर सारा माल लूटकर ले गये। इसने हाय तोबा मचाना शुरू कर दिया, काफी भागदौड़ की चोरी का पता लगाने के लिये, लेकिन सफलता नहीं मिली।

कुछ दिन निकल गये पर इनती बड़ी चोरी करने से चोरों के मन में भी पाप का भय लगा। उन्होंने आपस में सलाह की और चोरी के पाप को नष्ट करने के लिये नगर भोज दिया। उसमें सभी लोग आमंत्रित थे। ये सेठ जी भी भोज में सम्मिलित हुये, भोजन शुरू हुआ। सेठ जी ने ज्यों ही पहला ग्रास मुँह में लिया, वह नीचे गिर गया। दूसरा ग्रास मुँह में दिया, वह भी नीचे गिर गया। बाकी सभी का भोजन अच्छी तरह से चल रहा था। परन्तु सेठ जी के गले से ग्रास नीचे नहीं उतर रहा था, वह नीचे गिर जाता था। सेठजी बोले—पकड़ा गया .... चोर पकड़ा गया, अब मुझे मालूम हो गया कि मेरे यहाँ किसने चोरी की। इस बात को सुनकर लोग बहुत आश्चर्य चकित हुये? भोज देने वाला तो एकदम घबड़ा गया, क्योंकि बात में सच्चाई थी। जब लोगों ने पूछा कि आप ऐसे कैसे कह रहे हैं कि चोर पकड़ा गया, आखिर कौन है चोर? किसने तुम्हारे यहाँ चोरी की। तब वह कहता है 'यह भोज देने वाला ही चोर है', इसने ही मेरे यहाँ डाका डाला है। लोगों ने पूछा—आप किस आधार पर कह रहे हैं कि इसने ही आपके यहाँ चोरी की। वह कंजूस सेठ बोला कि मेरा माल आज तक कभी मेरे गले के नीचे नहीं उतरा, आज इस भोजन में से एक भी ग्रास मेरे गले के नीचे नहीं उतर रहा। अतः मैं दावे के

साथ कहता हूँ कि मेरे यहाँ डाका डालनेवाला यही है, यह सारा माल हमारा ही है।

एसे कंजूसों की स्थिति बड़ी खराब होती है, वे न तो स्वयं ही सम्पत्ति का उपभोग करत हैं और न ही दूसरों को करने दते हैं। एसे कंजूसों को ही ध्यान में रखकर किसी नीतिकार ने व्यंग की भाषा में लिखा है–

कृपणेन समो दाता न भूतो न भविष्यति।
अस्पृशन्नेव वित्तानि यःपरेभ्यः प्रयच्छति।।

कंजूस से बड़ा कोई दूसरा दानी नहीं है। क्यांकि शेष दानी तो कुछ बचाकर दान करते हैं, किन्तु कंजूस तो बिना हाथ लगाये ही सारी सम्पदा दूसरों के लिए छोड़कर चला जाता है।

समाज मं सभी तरह के लाग होते हैं। कुछ लोग धन–सम्पदा होने क बाद भी दान नहीं करते, पर कुछ ऐसे भी महापुरुष हो गये हैं जो गरीब हाने के बाद भी महान दानी थे।

संस्कृत के प्रसिद्ध कवि माघ के जीवन का प्रसंग है – वे धन स गरीब हाने क बाद भी बड़ दयाालु और दानशील प्रकृति के थे। जब कोई व्यक्ति उनसे याचना कर लेता तो वे बिना दिये नहीं रहते । जा वस्तु उनके पास होती, उसकी माँग करन वाले का वह निश्चित ही मिल जाती है। एक बार एक व्यक्ति आया और दीन स्वर में बोला पण्डित जी! लड़की का विवाह करना है। पैसे नहीं हैं पास मं। इस समय आप ही लाज रख सकते हैं। कवि माघ ने सोचा अब क्या दूँ? पास में फूटी कौड़ी भी नहीं है। इसकी माँग कैसे पूरी करूँ? उन्होंन इधर–उधर देखा किन्तु देने याग्य काई भी वस्तु नहीं मिली। अचानक उनकी दृष्टि अपनी पत्नी पर जा टिकी। वह सो रही थी। उसके हाथ

में स्वर्ण का कंगन देख माघ चुपके से वहाँ गय और धीरे से एक हाथ का कंगन निकाला। पत्नी जाग गई। उसने समझ लिया कि पति ने कंगन निकाला है। कोई–न–कोई याचक आया है। माघ कुछ सकुचाने से पर वह तत्काल बोली–यह दूसरा कंगन और ले लो, भला एक कंगन से क्या होगा? पत्नी के इस सहयोगी श्रेष्ठ भाव को देखकर माघ का मन एकदम प्रसन्नता से भर गया। कन्या के विवाह हेतु जब दोनों स्वर्ण कंगन याचक के हाथ पर रखे तो फिर याचक के पास कहने के लिये कुछ शब्द ही नहीं थे। वह कृतज्ञ आँखों से माघ की दानशीलता को देखता हुआ चुपचाप चला गया।

दान देना ही जगत में ऊँचा है। मन की निर्मल कीर्ति दान देने से ही फैलती है। सच्ची भक्ति से थोड़ा भी दान देने वाला भोग भूमि में तीन पल्य पर्यन्त सुख भोगकर, देव लोक में चला जाता है। सत्पात्र को दिया गया दान चारित्र की वृद्धि करता है। दान देते समय दाता के परिणाम अत्यन्त विशुद्ध होना चाहिये। दान देने की बात तो दूर दान की अनुमोदना करने वाला भी महान पुण्य का भागी होता है। प्रत्येक गृहस्थ को अपनी शक्ति अनुसार सत्पात्रों को आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान और अभयदान अवश्य देना चाहिये।

माघ कवि के समान निष्काम दातार बनो और सदा विनयपूर्वक दान दो। दानी को ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिये कि मैं इनका उपकार कर रहा हूँ। दानी तो पात्र को अपना महान उपकार करने वाला मानता है। पात्र बिना संसार से उद्धार करने वाला दान कैसे बनता? धर्मात्माजनों को तो पात्र के मिलने के समान तथा दान देने के समान अन्य कोई आनन्द नहीं है। दान सदा सद्भावना पूर्वक, प्रेमसहित बचन बोलकर करना चाहिये।

दातार का सर्व प्रथम कर्त्तव्य है कि उस महादोष के प्रति

सावधान रहें जा कि सब किये – कराये पर पानी फेर दता है। वह दाष है एषणा–पुत्रषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा "यदि मेर व्यापार में लाभ हो जाय, अथवा, मेरी नौकरी लग जाय, अथवा परीक्षा में या मुकदमें में सफल हा जाऊँ, अथवा यदि मेरे पुत्र उत्पन्न हो जाये तो हे प्रभो! मैं तेरे चरणों में अमुक वस्तु भेंट दे दूं, अथवा इतना रुपया दे दूँ, अथवा छत्र चढ़ा दूं अथवा मंदिर में वेदी बनवा दूँ। इस प्रकार के प्रयोजन से भगवान को दी गई घूस वित्तेषणा और पुत्रेषणा से युक्त होन से दान नहीं है। इसी प्रकार इस दान से समाज में मेरा नाम हा जाय, मेरे पिता, पितामह का नाम हा जाय, मेरी कीर्ति फैल जाये कि मैं बड़ा ही धनाढ्य, धर्मात्मा तथा दानवीर हूँ, इस प्रकार के अभिप्राय से दिया गया सर्व दान लाकेषणा युक्त होने से निरर्थक है।

वर्णी जी न लिखा है, क्या करोगे इस नाम को लेकर, खाओगे, बिछाओग या आढ़ोगे इसे? मात्र तुम्हारी एषणाओं, कामनाओं का, इच्छाओं का पोषण ही तो हो रहा है इससे और क्या। राग अथवा इचछाओं का कम करने के लिये दिया था दान और कर बैठे उसका पाषण। सौदेबाजी क अतिरिक्त और क्या कहें इसे? जिस प्रकार बाजार में पैस देकर वस्तुयें खरीद ली जाती हैं, उसी प्रकार यहाँ भी पैसे देकर कीर्ति खरीद ली। घूसखोरी का व्यापार है यह। इससे स्व व पर किसी का भी हित नहीं होगा। त्याग करते समय प्रत्युपकार की कामना की भावना नहीं हाना चाहिये।

पश्चिम बंगाल में ईश्वरचन्द हुये हैं। वे बड़े परापकारी थे। एक बार रास्त में एक व्यक्ति को दुःखी देखकर वे ठहर गय। मालूम पड़ा कि व्यापार में घाटा हो जाने से उसकी सारी सम्पत्ति डूब गई। एक मात्र छोटा–सा मकान बचा है जिसमें अपने परिवार सहित वह अपने दुःख के दिन व्यतीत कर रहा है। परन्तु आज मकान भी नीलाम हो

जायेगा। इस कारण वह दुःखी है। अब परिवार को लेकर कहाँ जाएँ, किससे मदद माँगे। यदि कहीं से 300 रुपयों की मदद मिल जाये तो मकान बच जायेगा। नीलामी नहीं होगी। आज की तारीख में कोर्ट में 300 रुपये जमा करना जरूरी है। ईश्वर चन्द्र ने सारी बात सुनी और कहा कि चिंता मत करो, दुःखी मत होओ, भगवान पर श्रद्धा रखो, सब ठीक हो जायेगा। उस व्यक्ति ने सोचा कि ओरों की तरह ये भी आश्वासन देकर चले गये। वह दुःखी मन से घर पहुँचा और इन्तजार करने लगा कि मकान नीलाम करने वाले आते ही होंगे। सारा दिन बीत गया पर कोई नहीं आया। उसे मालूम पड़ा कि अब घर नीलाम नहीं होगा। कोर्ट में 300 रुपये जमा कर दिये गये हैं। वह समझ गया कि यह उपकार तो ईश्वर चन्द्र का है। वह भागा–भागा उनके घर गया और उनके चरणों में गिरकर आँसू बहाने लगा। ईश्वर चन्द्र ने उसे उठाकर गले लगाया।

जिस दान में प्रदर्शन की भावना नहीं होती, वही सच्चा दान कहलाता है, अतः निष्काम दातार बनो। दान से व त्याग से ही व्यक्ति की महानता है।

एक सेठ जी बहुत कंजूस थे उन्होंने कभी भी दान नहीं दिया था। एक बार वे दुकान से लौट रहे थे। मन्दिर में दान पर प्रवचन चल रहा था। सेठ जी भी सबसे पीछे जाकर प्रवचन सुनने बैठ गये। प्रवचन सुनकर उनके भाव भी दान देने में दे दूं। वे खड़े हुये और महात्मा जी के पास जाने लगे। किसी ने उन्हें जाने के लिये जगह तक नहीं दी। लोगों ने सोचा ये कंजूस सेठ महात्मा जी से कहेगा मुझे ऐसा आशीर्वाद दे दो जिससे कहीं से लाख–दो लाख रुपये प्राप्त हो जायें। बड़ी मुश्किल से सेठ जी महात्मा जी के पास पहुँचे और कहा मैं यह रुपयों से भरी थैली दान मे दे रहा हूँ। इतना सुनते

ही सभी लोग सेठ जी की जय–जयकार करने लगे।

सेठ जी बोले मुझे दो मिनट माइक पर बोलने को मिलेगा। सभी ने कहा हाँ–हाँ दो मिनट क्या आप 10 मिनट तक बोलिये। सेठ जी बोले–मुझे लग रहा था इस धर्म सभा में धन की नहीं, त्याग की महिमा होगी पर मैं देख रहा हूँ, यहाँ भी धन का ही महत्त्व है। मैंने धन क्या दिया लोग मेरी जय–जयकार करने लगे। अब महात्मा जी बोले–सेठ जी आप आराम से बैठिये और सुनिये महिमा धन की नहीं त्याग की होती है। धन तो अभी दो मिनट पहले भी आपके पास बहुत था, पर आप वहाँ जूते–चप्पलों में बैठे थे। जब आपने उस धन का त्याग किया तभी तो आपकी जय–जयकार हुई।

धर्म की इमारत त्याग की नींव पर ही खड़ी होती है। आत्मा को पवित्र करने के लिये त्याग अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि आत्मा अरूपी है, अविनश्वर है किन्तु जड़ पदार्थों की संगति से आत्मा भी वैसी ही लगने लगती है। इसलिये आत्म स्वभाव को पाने के लिये इस अन्तरंग एवं बहिरंग परिग्रह का त्याग करना अनिवार्य है। सभी को अपनी शक्ति अनुसार त्याग एवं दान अवश्य करना चाहिये।

उत्तम आकिंचन्य

धर्म का नौवाँ लक्षण है–उत्तम आकिंचन्य। त्याग करते–करते जब यह अहसास होने लगे यहाँ मेरा कुछ भी नहीं है, तब यह आकिंचन्य धर्म प्रगट होता है। जहाँ कुछ भी मेरा नहीं है, वहाँ है आकिंचन्य। खालीपन, रिक्तता, बिल्कुल अकेलापन यह है आकिंचन्य। विश्व के किसी भी परपदार्थ से किंचित मात्र भी लगाव न रहना आकिंचन्य धर्म है।

मेरा मेरे से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इसी भाव का नाम आकिंचन्य है। "न किंचन इति आकिंचन्य" किंचित मात्र भी मेरा नहीं है। आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य को दश धर्मों का सार एवं चतुर्गति के दुःखों से निकालकर मुक्ति में पहुँचा देने वाला महान धर्म कहा है –

"आकिंचन्य ब्रह्मचर्य, धर्म दश सार हैं।
चहुँगति दुःखतैं काढ़ि, मुक्ति करतार हैं।"

जिस प्रकार क्षमागुण का बाधक क्रोध, मार्दव गुण का बाधक मान, आर्जव गुण का बाधक माया है। उसी प्रकार आकिंचन्य का विरोधी परिग्रह है। परिग्रह को छोड़ देने वाले आकिंचन्य के धारी कहलाते हैं। आकिंचन्य धर्म हमें तृण मात्र भी परिग्रह न रखने की शिक्षा देता है। आकिंचन्य धर्म को धारण करने वाला ऐसा विचार

करता है कि जब यह शरीर ही मेरा नहीं है तो दूसरे पदार्थ मेरे कैसे हो सकते हैं। चर्म को पृथक कर देने पर रोम शरीर में कैसे रह सकते हैं। वास्तव में यहाँ किसी का कुछ भी नहीं है। मोह के कारण यह अज्ञानी जीव पर वस्तुओं को अपनी मानता है और जगजाल में ही फँसा रहता है। कोई किसी से बंधा है क्या? अरे कोई किसी से बंधा हुआ नहीं है। केवल खुद ही कल्पनायें करके, विकल्प बना लिया है। विकल्प बन जाने से अपने आकिंचन्य स्वरूप को न समझ पाने के कारण मोह हो गया है और मोह में आकर ही पर से बंध गया है।

सुकौशल राजकुमार अपनी कुमार अवस्था में विरक्त हो गये। वह घर छोड़कर चल दिये। देखो राजकुमार की अवस्था छोटी थी वे अपनी माँ से, पत्नी से व साम्राज्य सुख से, विलग हो गये। मंत्री जनों ने उन्हें बहुत समझाया, अन्य लोगों ने भी बहुत समझाया पर वे न माने। उन्हें ज्ञान हो गया था, वे अपनी आत्मा में ही लीन होना चाहते थे। तब फिर दूसरों का असर उनके ऊपर किस प्रकार से हो सकता था। मंत्रियों ने राजकुमार को बहुत समझाया कि आपकी पत्नी के गर्भ है, बच्चा तो हो जाने दो, फिर बाद में चले जाना, बेटा उस बच्चे को राजतिलक दिये जाओ। दुनिया को यह बता जाओ कि मैं बच्चे को राजतिलक दे रहा हूँ। इसलिये हे महाराज! अभी इतनी जल्दी मत जाओ। भले ही दो–तीन माह बाद चले जाना। राजकुमार सुकौशल कहते हैं कि अच्छा गर्भ में जो सन्तान है, उसे मैं तिलक किये देता हूँ। जो गर्भ में सन्तान है, उसे मैं राजा बनाये देता हूँ। ऐसा कहकर सुकौशल राजकुमार विरक्त हो गये।

जिसने आकिंचन्य धर्म को प्राप्त कर लिया वही सुखी है नहीं तो आजीवन क्लेश हैं। परिग्रह की लालसा तो दुःख का ही कारण है।

मेरा शरीर है, मेरे स्त्री–पुत्र हैं, मकान वैभव आदि हैं, यह मिथ्या मान्यता ही संसार भ्रमण का कारण है। अपने आकिंचन्य स्वरूप को न समझना और पर–पदार्थों को अपना मानना, बस इसी का नाम है जगजाल में रुलना। मुक्ति का रास्ता और कोई दूसरा नहीं है। यही अपनी आत्मा का जैसा शुद्ध चैतन्य मात्र स्वरूप है, यदि वैसा माना जाये, बस यही मोक्ष का रास्ता है, मुक्ति का पथ यही है। आप धर्म पालन के लिये कितनी भी क्रियायें कर लो, किन्तु यदि पर द्रव्यों से भिन्न अपनी आत्मा का श्रद्धान व अनुभव, नहीं हुआ तो धर्म पालन नहीं हुआ, शांति का मार्ग नहीं मिला, मोक्ष का मार्ग नहीं पाया। धर्म एक होता है, धर्म पचासों नहीं होते। अपने धर्म से अर्थात् आत्मा से स्नेह करो। जगत में कहाँ भटक रहे हो? इन पर–पदार्थों से शरण नहीं मिलेगी, हर एक से धोखा मिलेगा, हर एक से बहकावा मिलेगा, शरण कहीं नहीं मिलेगी। यह परिग्रह ही समस्त अनर्थों एवं दुःखों की जड़ है। इस परिग्रह को अपना मानना छोड़ देना, सब आपदाओं–विपदाओं को समाप्त कर देता है।

जैसे बच्चे लोग एक कथानक कहा करते हैं। किसी जंगल में स्यार, स्यारनी थे। स्यारनी को गर्भ था, डिलेवरी का समय था। स्यार ने स्यारनी से शेर के बिल में प्रसव वेदना को समाप्त करने के लिए कहा। बच्चे हो गये। स्यारनी को विधि समझा दी। स्यार ऊपर चट्टान पर बैठ गया। स्यारनी ने अपने बच्चों को समझा दिया कि जब कोई आवे तो रोने लगना। एक शेर आया। बच्चे रोने लगे। स्यार ने स्यारनी से पूछा – बच्चे क्यों रोते हैं? स्यारनी ने कहा कि बच्चे भूखे हैं, शेर को खाना चाहते हैं। शेर डर कर वहाँ से भाग गया। इस तरह से 10–20 शेर आए तो वे सब भी डरकर भाग गए। सब शेरों ने मिलकर एक मीटिंग की। सबने सोचा कि ऊपर चट्टान

पर जो बैठा है, उसकी सब करतूत है। सब शेरों ने हिम्मत की और स्यार के पास पहुँचे। अब सब यह सोचते हैं कि इसके पास कैसे पहुँचा जाय। सोचा कि एक के ऊपर एक खड़े हो जावें। उन सबमें से एक लंगड़ा शेर था। सलाह हुई कि यह ऊपर नहीं चढ़ सकेगा सो इसको नीचे ही खड़ा करो। लंगड़ा शेर नीचे खड़ा होता है और एक के बाद दूसरा, तीसरा, चौथा खड़ा होता चला जाता है। इतने में ही स्यारनी के बच्चे रोने लगते हैं। स्यार, स्यारनी से पूछता है कि बच्चे क्यों रो रहे हैं? स्यारनी ने कहा कि बच्चे लंगड़े शेर का मांस खाना चाहते हैं। लंगड़ा शेर इतना सुनकर घबड़ा गया। वह एकदम से भागा। दूसरे शेर जो ऊपर चढ़ पाए थे वे शेर भदभद गिरने लगे और सब भाग गए। इसी प्रकार हम सब पर अनेक विपत्तियाँ छाई हैं। जितने जगत के क्लेश हैं, वे पर में आपा बुद्धि है, इस बुनियाद पर खड़े हैं। ये सारे क्लेश, विपदाएं यों ही खत्म हो जाएं, यदि पर में जो ममत्व बुद्धि है, वह खिसक जाए।

अपने आकिंचन्य स्वरूप को न जानने के कारण यह जीव पर–पदार्थों को अपना मानते हैं और इनका अभिमान करते हैं। पर ध्यान रखना जिन सारी बातों में हम गरवाये होते हैं अर्थात् घमंड करते हैं, वे मेरी कुछ नहीं हैं। वे सब मुझे भ्रम में डालने वालीं बातें हैं। जिनमें हम इतराते हैं वे ही हमें धोखा देती हैं।

एक नगर में एक सेठ जी थे। उन्होंने 7 खंड की सुन्दर नई डिजाइन की एक हवेली बनवाई। उद्‌घाटन कराने के लिये उन्होंने बहुत से निमंत्रण भेजे, लोग आये उद्‌घाटन हुआ। सेठ जी के यहाँ पर बहुत बड़ा जल्सा था। यह जल्सा सेठ जी के ही निमित्त से हुआ था। सेठ जी खड़े हो गए, बोले कि भाई यह हवेली जो हमने बनवायी है, जो आप लोगों के सामने है, उसमें यदि कोई गलती हुई हो तो

बताओ, गलती सुधरवाऊंगा। चाहे आधी हवेली गिरवानी पड़े तो भी कौन–सी बात है, उसे सुधरवाऊंगा अवश्य। एक व्यक्ति खड़ा होकर बोला, मानो कोई जैनी हो। कहा कि सेठ जी इसमें दो गलतियाँ हैं। यह सुनकर सेठ जी चौकन्ना हो गए। अपने इंजीनियरों से कहा कि देखो यह जो गलतियाँ बतावे उनको अवश्य सुधारना। रुपयों की परवाह नहीं। इंजीनियर लोग बोले कि क्या गलती है यह बताओ। वह ज्ञानी बोला कि एक गलती तो यह दिखती है कि यह हवेली सदा बनी नहीं रहेगी। सेठ जी सुनकर दंग हो गए। इस गलती को कैसे सुधारा जाए। और बोला कि दूसरी गलती यह है कि इसका बनवाने वाला भी सदा नहीं रहेगा। सेठ जी फिर सुनकर दंग हो गए। बोले कि ये दो गलतियाँ कैसे सुधारी जावें कि न तो यह हवेली ही सदा रहेगी और न इसको बनवाने वाला ही सदा रहेगा। सच है, अरे कुछ नहीं रहेगा। जिनमें तुम इतराते हो, वे तुम्हें धोखा देंगे। हजार वर्ष पहले की बनवाईं हुईं हवेलियाँ तुम्हें क्या दिखाई पड़ती हैं? क्या वे उस समय मजबूत नहीं बनवाई गई होंगीं? उनमें खूब मसाले भर–भरकर बनवाया गया होगा, तब भी वे हवेलियाँ नहीं रहीं। सो ये भी हवेलियाँ अवश्य बरबाद हो जावेंगीं, मिट जावेंगीं। उन हवेलियों के बनवाने वाले लोग भी मिट गए होंगे। तब फिर इन हवेलियों में क्यों इतराएं? यहाँ कुछ भी मेरा नहीं है।

तू बाह्य पदार्थों को अपना सर्वस्व न मान, क्योंकि उनसे तेरा हित नहीं होगा। तू अपने आत्म स्वरूप का ख्याल कर, सारे विकल्प जो बने हुए हैं उनको भुला दे तो तेरा हित होगा। तू उन विकल्पों का स्मरण कर जिनको पहिले किया उनके फल में क्या कुछ अब रहा है? नहीं, तो विकल्प कहाँ हैं? विकल्प कहीं दिखते नहीं हैं और यदि दिखते हों तो दिखा दो। इनका रंग कैसा होता है, किस रूप के

होते हैं? अरे विकल्पों की शक्ल सूरत नहीं होती। केवल कल्पनाएं बना लेने से विकल्प हो जाते हैं।

एक समय जब कि बूंदें पड़ रही थीं, झौपड़ी में पानी चू रहा था, झोपड़ी के पास शेर खड़ा था। झोपड़ी में एक व्यक्ति बोला कि इतना तो शेर का भी डर नहीं, जितना टपके का डर है। जितना टपका परेशान करता है, उतना तो यह शेर नहीं परेशान करता। पास में खड़े शेर ने समझा कि टपका कोई मुझ से भी बहादुर है। उसी समय एक कुम्हार का गधा खो गया था। वह रास्ते में ढूंढ़ रहा था। जाते–जाते जहाँ पर शेर खड़ा था, वहाँ पर पहुँचा। वह शेर को गधा समझ गया। झट से उसे गधा समझकर उसका कान पकड़ लिया। अब शेर यह समझता है कि टपका आ गया। उसने उस शेर के ऊपर डंडे भी चलाए। शेर ने सब सह लिया। उसने शेर को बाड़ी में बांध दिया। जब सबेरा हुआ तो देखा कि यहाँ तो टपका–वपका कुछ नहीं है। तब शेर ने छलांग मारी और चल दिया। उस शेर ने विकल्प बनाकर ऐसा भाव बनाया कि अरे यह तो टपका आ गया, डर गया। इसी तरह ये विकल्प कुछ नही हैं। ये विकल्प पकड़ में नहीं आते, कुछ क्लेश नहीं करते, फिर भी विकल्पों के अधीन होकर यह विकल्पों का दास हो गया और वैसे ही परिणाम हो गए। और जब विकल्पों के द्वारा इस प्रकार के परिणाम हो जाते हैं तो शान्ति नहीं रहती है, चैन नहीं आती है। इस प्रकार यह जीव अपने विकल्प बनाकर, कर्मों के फलों को अपनाकर व्यर्थ ही दुःखी होता है। तो अच्छा यह है कि जितना अधिक ज्ञान का उपयोग मिले, आत्म चरित्र का शिक्षण मिले उतना ही अच्छा फल है। हे आत्मन्! तू अपनी वर्तमान अवस्था को मायारूप मानकर, अपनी आत्मा को पहिचानकर सदा स्वाधीन हो। और इन आकिंचन्य आदि धर्मों को धारण करो।

अनादि काल से भ्रमण करते–करते आज यह दुर्लभ मनुष्य जन्म मिला है, अगर यह विषय और कषायों में ही लगा दिया, तो जीवन बेकार समझिये। सभी को अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन अवश्य ही करना चाहिये।

एक राजा और रानी थे। राजा का मन धर्म करने में कम था। रानी बहुत समझाया करती थी कि राजा धर्म करो, संसार के वैभव में गर्व न करो। तब राजा कहते कि हम क्या करें? धर्म का फल हमको मिल चुका, हमें अब धर्म की क्या जरूरत? रानी ने एक दिन कह दिया कि तुमने राजाजी सकल सुख पाए पर धर्म नहीं किया, इसलिए जब मरोगे तब ऊंट बनोगे। कुछ दिन बाद राजा मरे और ऊंट बन गए। वह एक बादशाह के घर में ऊंट पैदा हुए। थोड़े दिन बाद में रानी भी गुजर गई और वह उसी बादशाह की लड़की हुई। अब जब लड़की विवाह योग्य हुई। थोड़े दिन बाद में विवाह भी हुआ, तब उस लड़की की माँ ने यह सोचा कि इसके दहेज में कोई अच्छी चीज दूं, ऊंट बड़ा सुन्दर है, उसे मैं दहेज में दे दूं। बादशाह का भी विचार ऊंट दहेज में देने का हो गया। दहेज में ऊंट दे दिया। अब ऊंट भी बारात के साथ जा रहा था। बारात वालों ने सोचा कि ऊंट में कुछ सामान लाद ले जावें। लड़की का लहंगा, साड़ी तथा अन्य कपड़े इत्यादि मूल्यवान चीज समझकर लाद दिये, अब रास्ते में ऊंट को अपने पिछले जन्म का स्मरण होता है और दुःखी होता है। हाय! मैंने अपनी स्त्री का लहंगा, साड़ी इत्यादि अपने ऊपर लादा है। इस प्रकार से वह मन में विचारकर दुःखी होता है, उससे चला नहीं जा रहा है। नौकर डंडे भी लगाता है, पर दुःखी होने के कारण, उससे चला नहीं जाता है। अब लड़की को भी स्मरण हो गया कि यह ऊंट तो मेरा पूर्व जन्म में पति था, परन्तु धर्म न करने के कारण अब ऊंट

बन गया है। यही कारण है कि दुःख के कारण इससे चला नहीं जा रहा है। लड़की ने नौकर से कहा कि भाई मारो मत। हम इसे समझा देंगे, तब चलेगा। ऊंट भी पहचान गया। लड़की भी पहचान गई। स्त्री कहती है ऊंट से कि देखो पूर्व जन्म में तुम हमारे पति थे और धर्म न करने के कारण तुम ऊंट बन गये हो। परन्तु यह मेरे पति हैं, ऐसा कहने में तो मुझे शर्म लगती है, सो मैं तो कहूंगी नहीं। अब तो चलने में ही कुशल है। चलना तो पड़ेगा ही अन्यथा डंडे लगेंगे। यही हाल यहाँ के समस्त प्राणियों का है कि वे धर्म नहीं करते और संसार में कहीं ऊंट, कहीं कीड़े–मकोड़े, कहीं कुछ, कहीं कुछ नाना प्रकार के जीव हो जाते हैं। देखो ना, राजा ने धर्म नहीं किया था इसलिए ऊंट बन गया था। तो ऊंट की ही बात नहीं, कुछ भी अटसट बन जावें।

जो धर्म नहीं करता वह मरकर दुर्गति का पात्र होगा। इस मनुष्य भव में सब तरफ के रास्ते खुले हैं। यदि ये मनुष्य चाहें तो कीड़े–मकोड़े बन सकते हैं, पशु–पक्षी बन सकते हैं, देव बन सकते हैं, मनुष्य बन सकते हैं। सारे रास्ते इस मनुष्य भव में खुले हैं। नारकी मरकर नारकी व देव नहीं हो सकता, देव मरकर देव व नारकी नहीं हो सकता। पर इस मनुष्य भव में जो जैसा चाहे वैसा ही बन सकता है। तो धर्म के लिए करना क्या है? धर्म के लिए दान करना है क्या, श्रम करना है क्या? अरे भीतर से यह ज्ञान बनाना है कि यह तन–धन मेरा नहीं है। मैं तो सबसे निराला हूँ, ज्ञान मात्र हूँ, ज्ञायक स्वरूप हूँ। अन्य मैं कुछ नहीं हूँ। मेरा किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं है। मैं अपने आपको सबसे निराला ज्ञानमात्र देखूं। जो अपने आपको पहचान लेता है उसकी पर से ममत्व बुद्धि स्वतः छूट जाती है।

दो आदमी हैं। अपनी–अपनी चादर धोबी को धोने के लिए देते हैं। दो तीन दिन बाद एक आदमी धोबी के घर चादर लेने चला गया, तो धोबी ने दूसरे व्यक्ति की भूल में बदल करके चादर दे दी। उस व्यक्ति ने सोचा कि हाँ यह मेरी चादर है। वह अपने घर गया और चादर तान कर सो गया। अब वह दूसरा व्यक्ति अपनी चादर लेने धोबी के पास आया, तो धोबी ने जो चादर निकाल कर दी उसे उसने कहा कि यह मेरी नहीं है। यह तो किसी दूसरे की है। धोबी ने कहा कि अरे वह तो बदल गई है। तुम तो उस व्यक्ति को जानते हो, जो साथ आया था, उसी के पास वह चादर चली गयी है। सो वह व्यक्ति उसके घर जाता है जिससे चादर बदल गयी थी। जब वह वहाँ गया तो देखा कि वह चादर ताने सो रहा है। वह उससे बोला कि आपसे मेरी चादर बदल गयी है सो आप मेरी चादर दे दीजिए। वह जाग जाता है और देखता है कि मेरी चादर में कोई निशान है कि नहीं। चादर में देखा तो कोई निशान नहीं। यह चादर मेरी नहीं है, ऐसा सोचते ही उसको चादर का त्याग हो गया। भीतर में ज्ञान हो गया कि यह मेरी चादर नहीं है। देखो भीतर से ज्ञान उसका सही बन गया। सही ज्ञान बन जाने से यह ज्ञान हो गया कि ये मेरी नहीं है। उपयोग में चादर का त्याग कर दिया। इसी तरह गैर पदार्थ जिन पदार्थों में मोही रत हो रहे हैं, कुटुम्ब, परिवार इत्यादि जो सामने हैं, उनको भिन्न समझ कर निश्चय कर लो कि तेरा कोई नहीं है। तेरा मात्र तू ही है। तू अपने आपको देख, अपने आपको पहिचान, तब तो तेरा गुजारा चलेगा, नहीं तो तेरा गुजारा नहीं हो सकता है। तू ऐसा समझ कि यह मेरा नहीं है। जब तू ऐसा समझेगा कि ये मेरे नहीं हैं तो तेरा मोह और झंझट खत्म हो जायेगा। और यदि तू भूल करके अपने कुटुम्ब–परिवार इत्यादि में

ही पड़ा रहता है, तो तेरे से विपदाएं समाप्त नहीं होंगीं।

जो अपने को इन परपदार्थों से भिन्न मानते हैं, वे साधु अपनी इज्जत पोजीशन आदि की कुछ परवाह न करके, आत्मकल्याण की धुन में रहते हैं। एक वेदान्त के कथानक का संग्रह है। उसमें लिखा है कि एक गुरु–शिष्य थे। वे एक पहाड़ी पर रहते थे। एक दिन उन्होंने देखा कि एक नगर का राजा कुछ लोगों के साथ दर्शन के लिए आ रहा है। गुरुजी ने सोचा कि अगर इसका मन मेरी ओर आ गया तो बहुत से लोग यहाँ दर्शन हेतु आवेंगे। बहुत से लोगों के आने के कारण हम ध्यान से विचलित हो जावेंगे। गुरुजी ने जब देखा तो अपने शिष्य से कहा कि देखो बेटा राजा आ रहा है। अब हम तुमसे रोटियाँ खाने के विषय में लड़ेंगे और जब हम दोनों को रोटियों के विषय में लड़ता हुआ राजा देखेगा, तो वह हमें तुच्छ समझेगा। फिर वह यहाँ न आवेगा। फिर हम अपने ध्यान में लगे रहेंगे। अब राजा आ गया। गुरु ने अपने शिष्य से कहा हमने तो दो ही रोटियाँ खाई हैं, आपने कैसे ज्यादा खा लीं? शिष्य बोला कि महाराज! कल आपने 10–12 रोटियाँ खा ली थीं, हमने तो केवल दो ही खायीं थीं। इसलिए आज मैं ज्यादा खा गया। राजा सोचने लगा कि अरे ये तो महातुच्छ हैं, रोटियों के विषय में झगड़ते हैं। राजा चला गया। शिष्य ने तीन–चार दिन बाद में गुरुजी से पूछा कि आपने उस दिन रोटियों के विषय में झगड़ा क्यों किया था। गुरु ने कहा कि देखो झगड़ने से राजा का मन बदल गया है, वह हमें तुच्छ समझकर नहीं आता है, और उसी के न आने से यहाँ भीड़ भी नहीं लगती। जिसको अपने कल्याण की बात मन में है, वह अपनी बात करता है। वह अपनी इज्जत धूल में मिला करके यदि अपनी रक्षा करता है तो कर ले।

जहाँ किन्चितमात्र भी परद्रव्य हमारा नहीं है, वहाँ आकिंचन्य धर्म होता है। भले ही हमें गृहस्थी में रहना पड़ रहा हो, पर ऐसा मानें मैं परिवार वाला नहीं हूँ, मैं तो एक चैतन्य स्वरूप सत् पदार्थ हूँ। हालांकि कहना होगा, चलना होगा, खाना होगा, ठीक है, किन्तु ज्ञान है, वैराग्य है, तो वही चलना, खाना, संयम पूर्वक करना पड़ेगा। बातें सब होंगीं, मगर श्रद्धा में तो यह बात बसी हो कि मैं वही हूँ जैसा कि बड़े–बड़े योगी अपने को चैतन्य स्वरूप मानते हैं। ऐसा ही गृहस्थ को भी अपने को मानना चाहिए। भैया! ऐसा नहीं हैं, कि साधुजन तो अपने को चैतन्य स्वरूप मानें और गृहस्थजन अपने को परिवार वाला समझें, दुकान वाला समझें। अरे संतोष का तो उपाय एक ही है चाहे साधु हो, चाहे गृहस्थ हो, दोनों की मुक्ति का एक ही उपाय है।

अपना मूल प्रयोजन और मूल पुरुषार्थ यही है कि यह आत्मा जो अपने उपयोग को चारों ओर भटका रहा है, दौड़ा रहा है वह भटक समाप्त हो जाये।

अच्छा बतलाओ कि धनी होकर क्या करना है? शान्ति प्राप्त करना है? अरे तो उस धन का त्याग करके ही क्यों नहीं शान्ति प्राप्त करते हो? तो इस जीव ने अपने आप में अनेक विकल्प करके न जाने अपने को किस–किस रूप बना डाला है? यह इन विकल्पों से हटता नहीं है, विकल्प किए जा रहा है। इन विकल्पों का काम केवल अशांति उत्पन्न करना है। शान्ति का तो उपाय जैसा शुद्ध सहज केवल अपने आपका यह आत्मा स्वरूप को लिए हुए है, उस स्वरूप के दर्शन करना, उसके उन्मुख होना है।

पुराणों में कितनी जगह चर्चाएं हैं, इन बातों को बताने की कि सोचते हैं कुछ और होता है कुछ और अपने जीवन में ही रोज–रोज

देख लो। तो जब हमारे विकल्पों के अनुसार बाह्य में परिणमन हो ही नहीं सकता, ऐसा निर्णय है तो फिर हमें उस बाह्य का ख्याल ही न रहे, एसा यत्न करें। जो होता हो, हो। उसके हम ज्ञातामात्र रहें। हमारा तो काम जानने भर का है। जो केवल ज्ञाता रहता है, वह आकुलित नहीं होता है और जो किसी बात में पड़ता है, उसको आकुलता होती ही है। जैसे कोई कमेटी हो और उसके तुम केवल दर्शक हो तो तुम देखते ही तो जा रहे हो, कोई आकुलता तुम्हें नहीं रहती है और उस कमेटी के सदस्य हो गए तो कुछ–न–कुछ आकुलता हो जावेगी और कहीं उस कमेटी के अधिकारी बना दिए गए तो समझो आकुलता और बढ़ जायेगी। तो जैसे–जैसे अध्यवसान बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे इस जीव के साथ आकुलता बढ़ती जाती है। इस कारण इस बात पर ऋषिजन जोर देते हैं कि हे आत्मन्! तू अपने आपके स्वभाव को अविनाशी जानकर, केवल आत्मस्वरूप जानकर, बाह्य पदार्थों से उपेक्षा कर, इनमें राग मत कर। इनमें ममत्व बुद्धि न कर।

अपने ज्ञान दर्शन स्वरूप के बिना, अन्य किन्चित मात्र भी मेरा नहीं है, ऐसे अनुभव को आकिंचन्य धर्म कहते हैं। इस आकिंचन्य धर्म को न समझ पाने के कारण ही मैं परिग्रह को अपना मानता रहा और कर्म का बंध ही किया। परिग्रह को महादुःख रूप तथा बंध का कारण जानकर छोड़ना आकिंचन्य धर्म है।

जिसे आकिंचन्यपना होता है, उसे परिग्रह में वांछा नहीं रह जाती है, आत्म ध्यान में लीनता होती है, देहादि में तथा बाह्य बेष में अपनापन नहीं रह जाता है तथा अपना स्वरूप जो रत्नत्रय है, उसी में प्रवृत्ति होती है। आकिंचन्य तो परम वीतरागपना है। जिनका संसार का किनारा आ गया, उनको ही यह आकिंचन्य धर्म होता है।

परिग्रह को छोड़ दने वाले, आकिंचन्य धर्म क धारी कहलात हैं। परिग्रह का छोड़कर जा आकिंचन्य धर्म क धारी बन हैं, वे ही ज्ञानी हैं, उन्होंने समझा है, किचिंत मात्र भी मेरा नहीं है। ज्ञानी आत्मा पर–पदार्थों का संचय नहीं करता। ऐसा ज्ञानी आचार्य कुन्द–कुन्द महाराज ने कोई चुना है, तो वह हैं दिगम्बर मुनिराज, जिनके शरीर पर कपड़े का एक धागा भी नहीं है, उन्होंने कहा– नंगोहिमोक्ख मग्गो, अर्थात् निश्चय से नग्न दिगम्बर मुनि के ही मोक्ष मार्ग है।

जहाँ तृणमात्र भी परिग्रह नहीं अथवा तृणमात्र में भी मूर्च्छा नहीं है, वहाँ ही आकिंचन्य धर्म है। कहा भी है– "फांस तनिक सी तन में साले, चाह लंगोटी की दुःख भाले"। एक लंगोटी का धारण करना भी मोक्षमार्ग को रोक दिया करता है। भैया! बिना मुनि लिंग धारण किये मोक्ष हो ही नहीं सकता। जहाँ तृणमात्र भी परिग्रह नहीं, वहाँ आकिंचन्य धर्म है। ये नग्न दिगम्बर स्वरूप जो मुनि हैं, वे आकिंचन्य धर्म की मूर्ति हैं। यदि सुखी होना है तो सब पर–पदार्थों को छोड़कर, आकिंचन्य धर्म को धारण करो।

किंचित मात्र भी परिग्रह आकिंचन्य धर्म को प्रकट करने में बाधक है। परिग्रह की लालसा और परिग्रह का सम्बन्ध केवल अपने क्लेशों के लिये ही होता है। परिग्रह को 'पाप का बाप' कहा गया है। इस परिग्रह की छीना–झपटी में भाई–भाई का, पुत्र–पिता का और पिता–पुत्र तक का घात करता सुना गया है। चक्रवर्ती भरत ने अपने भाई बाहुबली के ऊपर चक्र चला दिया, किसलिये? पैसे के लिये। क्या वे यह नहीं सोच सकते थ कि आखिर वह भी तो उसी पिता कि सन्तान है जिसका मैं हूँ? यह एक वश में न हुआ तो न सही, षट खण्ड के समस्त मानव तो वश में हो गये। पर वहाँ तो भूत मोह का सवार था इसलिये संतोष कैसे हो सकता था। महाभारत का

भयंकर युद्ध भी इसी परिग्रह के कारण ही हुआ। समस्त अनर्थों की जड़ यह परिग्रह ही है। वर्तमान समय में मनुष्य इस परिग्रह को संचित करने के पीछे पड़े हुये हैं। उसके पीछे नास्तिक से बनकर, अपनी समस्त धार्मिक क्रियाओं को छोड़ बैठे हैं। पर ध्यान रखना, अन्त में यह सब समागम छूट जाने वाला है। किसी नीतिकार ने लिखा है—

धनानि भूमौ पश्वश्च गोष्ठ, भार्या गृहद्वारे जनः श्मसाने।
देहश्चितायां परलोक मार्ग, कर्मानुगा गच्छति जीव एकः।।

यह धन भूमि में पड़ा रह जायेगा। स्त्री जिसे अर्द्धांगिनी कहते हैं, गृह द्वार तक ही साथ जाती है, दरवाजे से बाहर नहीं जाती है। तथा परिजन जिनके कारण अनेक पाप क्रियाओं में संलग्न रहते हैं, श्मशान भूमि तक ही साथ देते हैं। यह देह जिसको आप सजाते—संवारते हैं, अच्छा—अच्छा खिलाते हैं, चिता में जला दिया जाएगा। यदि जीव के साथ कोई जाने वाला है, तो वह मात्र जीव के द्वारा किया गया पुण्य और पाप। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं जायेगा। इस बात को भूल कर समस्त जगत के प्राणी परिग्रह में ही आसक्त हो रहे हैं। परिग्रह से ही अपने आपको महान मान रहे हैं।

किसी भी पर वस्तु में ममत्व नहीं रखना अथवा किसी भी पदार्थ को अपना नहीं समझना, आकिंचन्य है। पर का ममत्व ही समस्त दुःखों का मूल है। जब पर—पदार्थ को अपना समझा जाता है, तब उन पदार्थों के विनाश या वियोग से दुःख होता है। परन्तु जो किसी भी पदार्थ को अपना नहीं मानता उसे दुःख किस बात का। दुःख का मूल ममता है और सुख का मूल समता है। समताभाव को प्राप्त करने के लिये, परिग्रह का त्याग आवश्यक है।

मुक्ति के अभिलाषी मुनिराज, आकिंचन्य धर्म के धारी होते हैं। वे किंचित मात्र भी परिग्रह नहीं रखते। प्रत्येक गृहस्थ को भी अपनी शक्ति और आवश्यकतानुसार परिग्रह का परिमाण अवश्य कर लेना चाहिए।

आचार्य समझाते हैं, ये संसारी प्राणी आज तक अपने आकिंचन्य स्वभाव को न समझ पाने के कारण पर–पदार्थों में ममत्व करके, उनका संग्रह करके व्यर्थ ही महान दुःखी हो रहे हैं। तनिक भी आकिंचन्य भावना भा लो दुःख नहीं मिटे तो कहना कि शास्त्रों में झूठ बात लिखी है। जो अपने में यह भावना भायेगा कि जगत में मेरा कुछ भी नहीं है, वह नियम से सुखी होगा, कभी भी उसको दुःख नहीं होगा। अतः इन सब वस्तुओं को बाह्य वस्तु जानकर इनसे राग हटाना चाहिये। जगत के समस्त पदार्थों से मैं जुदा हूँ, ये बाह्य पदार्थ स्पष्ट रूप से भिन्न दिख रहे हैं, फिर भी हम भिन्नता की श्रद्धा नहीं करते। जिनको जगत् में रिश्तेदार, नातेदार मानते हैं, वे भी हमसे भिन्न हैं। बस, उनसे अपने को जुदा समझो। धन है, वह भी प्रत्यक्ष भिन्न है, उसको भी भिन्न समझो। अपने शरीर से भी अपने आपको जुदा समझो। इसके बाद द्रव्य कर्मों, भाव कर्मों से भी अपने आपको जुदा समझो। अपने आप से, अपने आप को दुःख नहीं होता, परन्तु पर का संग होने से, दुःख पैदा होता है। जिसने भी एकत्व के रहस्य को समझ लिया, उसका नियम से कल्याण होता है। उसे मुक्ति की प्राप्ति होती है।

नमिराय राजा की कथा आती है, उसे दाह–ज्वर हो गया था। उसका रोग दूर करने के लिये रानियाँ चन्दन घिस रही थीं। रानियों की चूड़ियों के खनकने की आवाज सुनकर, राजा बोला यह शोर क्यों हो रहा है। मंत्री बोला, महाराज! आपका रोग दूर करने के

लिये रानियाँ चन्दन घिस रही हैं। राजा को शोर अच्छा नहीं लग रहा था, अतः बोला यह शोर बन्द करो।

रानियों ने एक–एक चूड़ी को छोड़कर, शेष चूड़ियाँ उतार दीं, जिससे चूड़ियों के खनकने की आवाज बन्द हो गई। राजा बोला–क्या चन्दन घिसा जाना बन्द हो गया है। मंत्री बोला–महाराज चन्दन तो अभी भी घिसा जा रहा है पर रानियों ने सिर्फ एक–एक चूड़ी छोड़कर, शेष चूड़ियों को उतार दिया है। राजा को शोर बन्द हो जाने से बड़ी शान्ति महसूस हो रही थी। राजा को बात समझ में आ गई, वह एकत्व भावना का चिन्तवन करने लगा। वह विचार करने लगा। एकत्व में ही शान्ति है, अपने स्वभाव के अलावा जितने भी पर भाव हैं, वे ही अशांति के कारण हैं। और उस राजा ने सुबह रोग दूर होते ही, वन में जाकर दीक्षा लेकर अपना कल्याण किया।

धर्म का सम्बन्ध केवल अपने एकत्व से होता है, अकेलेपन से होता है। आकिंचन्य भाव वहाँ है, जहाँ इन्द्रिय–विषयों की निवृत्ति है, देह की ममता का त्याग है। सीधी बात है, सबको भूल जायें और स्वाधीन आनन्द भोग लें। यदि किसी का ख्याल बनाये रहें, तो क्लेश भोग लें।

संसार में जितने भी अत्याचार, अन्याय आदि महापातक होते हैं, उनका मुख्य कारण, यह परिग्रह की आसक्ति ही है। इसलिये परिग्रह के लोभ का त्यागकर, ज्ञानोपार्जन व शीलादि गुणों का लाभ करो। जिससे हमारी आत्मा इस मनुष्य जन्म में भी आनन्द का अनुभव करे और पर भव में कैवल्यादि विभूति का भोगने वाला बने।

जिसने समस्त जगत से भिन्न, ज्ञान स्वभाव निज आत्मा को पहचाना, आकिंचन्य धर्म उसी के होता है। पर्याय में बुद्धि हो, श्रद्धा

हो कि मैं मनुष्य हूँ, कुटुम्बी हूँ इत्यादि भाव हों, तो आकिंचन्य धर्म नहीं हो सकता। आकिंचन्य धर्म वहाँ प्रकट होता है, जहाँ यह समझ लिया जाय कि मेरा तो मात्र चैतन्य स्वभाव है, यह बाह्य पदार्थ मेरे कुछ नहीं हैं। इस जगत के बन्धनों का त्याग करने पर ही, आकिंचन्य धर्म प्रगट होगा। बस, यही तो धोखा है कि हमने पर–पदार्थों को अपना मान रखा है, आचार्य कहते हैं, इतनी–सी बात मान लो कि कोई पदार्थ मेरे नहीं हैं, तो सब सुख तुम्हारे पास आ जायगा।

जिन तीर्थंकारों की हम उपासना करते हैं, उन तीर्थंकारों ने इसी मार्ग का अनुशरण किया। निज–को–निज पर–को–पर जानो, ऐसा ही उन्होंने जाना और फिर सबको छोड़कर रत्नत्रय की साधना की, जिसके परिणाम में वे परमात्मा बने और हम सब उनकी पूजा करते हैं।

मोक्ष जाने का एक मात्र यही मार्ग है, अन्य नहीं। जब तक हम धन–धान्यादि बाह्य परिग्रह और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अन्तरंग परिग्रह का त्याग नहीं करते, तब तक आकिंचन्य धर्म प्रकट नहीं हो सकता।

एक बार एक राजा साधु जी के पास पहुँचा और बोला–महाराज! मै आकिंचन्य की साधना सीखना चाहता हूँ। साधु जी बोले–पहले यह भीड़ घर छोड़कर आओ। वह सबको छोड़कर अकेला साधु जी के पास पहुँचा। परन्तु साधु जी फिर से बोले–अभी भी आपके पास बहुत भीड़ है। उसने देखा मैं तो अकेला हूँ। साधु जी बोले–अच्छा जाओ पहले तुम आश्रम में झाड़ू लगाने का काम करो। राजा को कुछ अच्छा नहीं लगा। वह मन में सोचता है–मैं राजा और महाराज ने मुझे झाड़ू लगाने का काम दिया, देना ही था तो कोई अच्छा–सा

काम दे देते, पर क्या करें, साधु जी की बात तो मानना ही पड़ेगी और वह राजा आश्रम में झाडू लगाने का काम करने लगा। 8–10 दिन बाद जब वह कचरा फेकने जा रहा था, तो साधु जी का एक चेला उससे टकरा गया। राजा को बहुत गुस्सा आई बोला–मैं राजा और तू देखकर भी नहीं चलता। वह चेला सब रिर्पाट साधु जी तक पहुँचा देता था। 10–15 दिन बाद वह चेला फिर से राजा से टकराया। इस बार राजा बोले–भाई देखकर तो चला करो। और कचरा उठाकर फेकने चला गया। जब साधु जी के पास रिपोर्ट पहुँची तो साधु जी समझ गये, राजा सही रास्ते पर है, पर अभी दूर है। कुछ दिन बाद वह चेला पुनः राजा से टकराया, तो इस बार राजा कुछ भी नहीं बोला और चुपचाप कचरा उठाकर फेकने चला गया।

अब साधु जी ने राजा को बुलाया और कहा–अब तुम खाली हुये हो। जब तक तुम अपने आपको राजा मानते रहोगे, जब तक अन्तरंग में ये क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकार बैठे रहेंगे, तब तक तुम आकिंचन्य धर्म को प्रकट नहीं कर सकते।

आकिंचन्य धर्म के लिये 10 प्रकार के बाह्य और 14 प्रकार के आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग आवश्यक है। पाँच पापों में परिग्रह भी एक पाप है। इसी परिग्रह पाप ने हमारे आकिंचन्य गुण को ढक रखा है। कुल परिग्रह 24 प्रकार के होते हैं। बाह्य परिग्रह 10 प्रकार के हैं – क्षेत्र (खेत, प्लाट), वास्तु (निर्मित भवन), हिरण्य (चाँदी), सुवर्ण (सोना), धन (रुपये–पैसे), धान्य (अन्नादि), द्विपद (मनुष्य, पक्षी), चतुष्पद (पशु आदि), कुप्य (कपड़े), भांड (बर्तन)।

अन्तरंग परिग्रह 14 प्रकार के हैं – मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया,

लोभ, हास्य, रति, अरति, शाक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवद और नपुंसक वेद।

मिथ्यात्व कषाय आदि भी परिग्रह हैं। हास्य, रति, अरति यह भी परिग्रह हैं। किसी को देखकर हँसना भी पाप है, किसी से डरना भी पाप है।

आप मानें या न मानें, दुनिया रोने को बुरा मानती है, हँसने को नहीं। लेकिन आचार्य कहते हैं कि जब तक हँसते रहेंगे, तब तक आकिंचन्य धर्म की प्राप्ति नहीं होगी। स्त्रीवेद–पुरुषवेद, मैं स्त्री हूँ या मैं पुरुष हूँ, इस प्रकार की भावना जिसके मन में बनती है, यह भी परिग्रह है। नपुसंक वेद जिसकी नैया डावां डोल है, दोनों और झुक रही है, यह परिग्रह है। हमने तो धन, मकान आदि को ही परिग्रह माना है, इसके आगे दृष्टि ही नहीं गयी। यही कारण है कि हमने कई बार इस बाह्य परिग्रह को छोड़ दिया, पर आकिंचन्य धर्म के धारी नहीं बन पाये।

ये सभी परिग्रह दुःख के कारण हैं। पहले तो हम यह मानत ही नहीं कि परिग्रह पाप है। दुःख का कारण है। हम बिल्कुल ईमानदारी से अपन मन से पूछें कि हम परिग्रह को दुःख का कारण मानते हैं या सुख का। यद्यपि शास्त्र सभा की बात आती है और हमें व्याख्यान के लिये खड़ा किया जाता है तो हम परिग्रह का पाप बतायेंगे, दुःख का कारण बतायेंगे। परन्तु हमारी क्रिया यह बता रही है कि हम परिग्रह को सुख का कारण मानकर अपना रहे हैं और अपनाते चले जायेंगे। इसे कहत हैं ढोंग, यह है छल, दूसरों के साथ नहीं, अपने साथ छल है। इस संसार में झगड़े की जड़ कितनी हैं; तीन, जड़, जोरू, और जमीन, इन तीनों में से किसी एक के प्रति राग छोड़ने

को तैयार हो क्या? बिल्कुल नहीं, स्वप्न में भी नहीं। परिग्रह को पाप माना ही नहीं, दुःख का कारण माना ही नहीं, आकिंचन्य गुण का घातक माना ही नहीं, अगर मान लिया होता, तो आज तक चला गया होता दुःख, हो गयी होती प्राप्ति सच्चे सुख की। आकिंचन्य धर्म की प्राप्ति संग्रह से नहीं, विमोचन से है। इच्छा ही दुःख का मूल कारण है –

एक दिन की बात है। एक पत्नी अपने पंडित पति से बोली कि पतिदेव बच्चा होने वाला है। घर में कुछ है नहीं, आप जितना लाते हो, उदरपूर्ति हो जाती है। राजदरबार में चले जाओ, कुछ इनाम मिल जायेगा। अपना काम भी बन जायगा। जब किसी प्रकार की चिन्ता लग जाती है, तो रात भर नींद नहीं आती। रात्रि में 12 बजे चन्द्रमा पर बादल आ गये, तो सोचा सबेरा हो गया। उल्टी–सीधी बाँधी पगड़ी, पंचांग लिया हाथ में और पहुँच गये राज दरबार में। कोतवालों ने समझा कोई चोर है, हाथ में डाली हथकड़ी और बन्द कर दिया। सुबह होते ही राजदरबार में पेश किया गया। राजा ने कहा–पंडित जी और चोरी, एक साथ दो बातें बनती नहीं, सच बता दो। पंडित जी बोले – मेरे घर कल खाने को नहीं है, मेरी पत्नी ने कहा – राजदरबार में चले जाओ, सबसे पहले राजा को शुभ आशीष वचन सुनाओगे, राजा प्रसन्न हो जायेगा, 5 रु. मिल जायेंगे अपना काम बन जायगा। राजा ने कहा – धिक्कार है मेरे को, जिसके राज्य में ऐसे लोग हैं, जिनके पास कल खाने को नहीं। राजा वही, जो प्रजा को पुत्रवत् प्रेम करता हो।

राजा ने कहा – पंडित जी! आप इतनी लक्ष्मी माँग लो, इतना धन माँग लो, जिससे तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो। पंडित जी ने सोचा कि 5 रुपये अपने को वैसे ही मिलते थे। और राजा के

वचन, जब राजा प्रसन्न हो ही गया तो यह निश्चित है कि राजा ने जो कुछ मुँह से कह दिया, वह अमिट है, "प्राण जायें, पर वचन न जाई" सज्जन पुरुष वही हैं जो प्राण चले जायें पर वचन को नहीं तोड़ते। पंडित जी ने सोचा कि एक बच्चा तो इस वर्ष होने वाला है, और एक बच्चा अगले वर्ष भी तो होगा, इसलिये दस रुपये माँग लें। फिर सोचा एक इस वर्ष, एक अगले वर्ष और एक अगले वर्ष भी तो होगा। तो दस से काम नहीं चलेगा, 15 रुपये माँग लो। फिर सोचा, तीन बच्चे तीन वर्ष में हो गये तो उनकी पढ़ाई की भी चिन्ता होगी, इसलिये 50 रु. माँग लो। फिर विचार आया राजा प्रसन्न हो ही गया तो 5000 रु. माँग लिये जायें, सो छोटी–मोटी दुकान खोल कर बैठेंगे। कम–से–कम पंडित जी से सेठ जी तो कहलाने लगेंगे। फिर सोचा, दुकान खोल ली, बेचना तो जानते नहीं, थोड़ी पूंजी, पड़ गया घाटा, 5 नहीं 50 हजार माँग लें और थोक का व्यापार करेंगे। फिर पंडित जी ने सोचा, 50 हजार ले लिये, लम्बा–चौड़ा व्यापार कर लिया, विदेशों से आते समय कोई जहाज समुद्र में पलट गया तो फिर क्या होगा? उसने सोचा क्यों झंझट में पड़ना, राजा का आधा राज्य ही माँग लो, हम राजा, हमारी पत्नी रानी, हमारे बच्चे राजकुमार, किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं रहेगी। राजा अपना राज्य देने में हिचकिचा तो सकता नहीं, क्योंकि वचन दे चुका है। फिर मन में आया आज राजा प्रसन्न है, कहीं कदाचित राजा अप्रसन्न हो गया तथा राज्य छीन लिया तो क्या होगा? इसलिये आधा नहीं, पूरा राज्य ही माँग लो। सोचा पूरा राज्य माँगेंगे, तो लोग क्या कहेंगे? राजा ने पुनः पूछा– पंडित जी क्या विचार कर रहे हो। पंडित जी बोले – हम राजा बन गये, आपका राज्य तक हमने ले लिया, परन्तु सुख नहीं मिला, वहाँ सुख है ही नहीं। यदि सुख चाहिए है, तो जो कुछ

भी संचय कर रखा है, उसका त्याग कर दो। ऐसा चिंतन करता हुआ, वह कपड़ों का भी त्याग कर देता है, छोड़ देता है सर्व परिग्रह और वन की ओर चला जाता है, कहता है त्याग में ही सुख है, ग्रहण में नहीं।

सभी जानते हैं, जितना पैसा बढ़ता है, उतनी ही आकुलता सामने आकर खड़ी हो जाती है। 9 हैं तो 10 करने की सोचता है। जितना परिग्रह है, उतना हमारा राग है और परिग्रह के भार के कारण हम ऊपर नहीं उठ पा रहे हैं। आपने पूड़ी को सिकते हुए देखा है। देखा, पहले पूड़ी घी या तेल में नीचे जायेगी। क्यों? इसलिये कि उसके साथ पानी का संयोग है। जैसे ही पानी सूखा, आप उसे डुबाते रहिये घी या तेल में डूबने वाली नहीं है वह पूड़ी, ऊपर ही रहेगी। हम भी पूड़ी जैसे हल्के हैं, किन्तु आकिंचन्य धर्म के अभाव में उसका आनन्द लेने से वंचित हैं।

ऐलक श्री वरदत्त सागर जी महाराज ने आकिंचन्य धर्म के सम्बन्ध में "हाँ! मै अनाथ हूँ" नामक कृति में लिखा है–

एक घनघोर जंगल था, उस जंगल में एक राजा ने प्रवेश किया और जंगल में प्रवेश करते ही उसने एक शिला पर मुनिराज को विराजमान देखा। मुनिराज को देखकर के वह राजा मन में विचार करने लगा कि ऐसी अल्प–वय में यहाँ इनके खाने–पीने के दिन थे ये वन में कैसे पहुँच गये। क्या इनका संसार में किसी ने साथ नहीं दिया, क्या ये अनाथ थे? क्या इनका कोई स्वामी नहीं था?

राजा मुनिराज के पास पहुँचे और बोले–महाराज आपको क्या परेशानी थी, जो आप जंगल में आकर एकांत में बैठे हैं, क्या आपका कोई स्वामी नहीं था? देखो मैं नरनाथ हूँ, अगर तुम्हारा कोई नाथ

न हो तो मेरे साथ चलो, मैं तुम्हारे लिये एक राज्य दे दूँगा।

महाराज ने राजा की बात सुनी और कहा—हाँ, राजन्! तुम बिल्कुल ठीक कह रहे हो, इस संसार में हमारा कोई नाथ नहीं है, मैं अनाथ हूँ। इस पर राजा बोले—मेरे होते हुए तुम अनाथ नहीं हो सकते। मैं यहाँ का राजा हूँ, मैं चक्रवर्ती हूँ, चलो तुम्हारे लिये 6—7 गाँव दे दूँगा, इसके अलावा और बोलो तुम्हें क्या चाहिये, मेरे होते हुये तुम अनाथ नहीं हो सकते।

महाराज बोले—राजन्! तुम सत्य कह रहे हो, लेकिन मैं जिस बात को कह रहा हूँ, वह बात तुम नहीं समझ पा रहे हो। राजा ने कहा कि बताओ तुम किस कारण से जंगल में बैठे हुये हो?

महाराज ने कहा—राजन्! तुम्हारे राज्य में ही मैं एक सानंद सम्पन्न सेठ के यहाँ जन्मा था। धीरे—धीरे मैं बड़ा हुआ, युवा होने पर मेरी शादी हो गई और फिर मेरे बच्चे हुये। एक दिन राजन्! ऐसा हुआ कि मुझे अत्यंत भीषण रोग ने घेर लिया, मेरी आँखों में बहुत जोर से दर्द हुआ, बहुत वैद्य, हकीम बुलाये लेकिन फिर भी मेरा दर्द कम नहीं हुआ। जब मैं बहुत परेशान हो गया, असहनीय वेदना से ग्रसित हो गया तब मैंने विचार किया कि मेरे कारण से सारे—के—सारे लोग परेशान हो रहे हैं, पर मेरे लिये जो दुःख हो रहा है, इसको बांटने वाला कोई नहीं है, मैं अकेला ही इस दुःख को भोग रहा हूँ।

इसको भोगने के लिये मेरी पत्नी भी मेरे दुःख में सहयोगी नहीं बन पा रही है, परिवार के सभी लोगों ने बहुत कोशिश की लेकिन मेरा दुःख किंचित मात्र भी वो बाँट नहीं पाये। मैं ऐसी ही असहनीय वेदना में पड़ा हुआ था, रात्रि में मैंने विचार किया कि अगर सुबह मेरी आँखें ठीक हो गईं तो मैं इस संसार को त्याग करके वन में

प्रस्थान कर जाऊँगा, और ऐसे राज्य को प्राप्त करुंगा जो शाश्वत होगा, जहाँ पर ऐसे रोग न हों, जहाँ पर कभी किसी प्रकार का कोई दुःख न हो, शाश्वत राज्य को प्राप्त करने की हम कोशिश करेंगे। ऐसा सोचते–सोचते मेरी नींद लग गई और सुबह जब मेरी नींद खुली तो देखा कि मेरी आँखों में अब कोई दर्द नहीं था, पूर्व की भांति सब सामान्य लग रहा था। तब मैंने परिवार के सदस्यों को अपना निर्णय सुनाते हुये कहा कि अब मैं वन में जा रहा हूँ, "अप्पा शरणं गच्छामि"। इस संसार में मेरा अब कोई नहीं है, मैं आत्मा की शरण में जा रहा हूँ। मैंने संसार को देख लिया है, संसार में जीव अकेला ही आता है, किसी प्रकार का सुख–दुःख व्यक्ति के लिये होता है, तो वो अकेला ही भोगता है, तुम लोगों ने बहुत कोशिश की हमारे दुःख को दूर करने की, लेकिन तुम किंचित मात्र भी हमारे दुःख में सहयोगी नहीं बन पाये। इसलिये अब मैंने विचार किया है कि हमें संसार के दुःखों को न उठाना पड़े, इस कारण से हम अब वन के लिये प्रस्थान करेंगे और वहाँ पर जाकर आत्म कल्याण करेंगे।

आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।
यों कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय।।

इस संसार में जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मर जाता है। मरने के बाद वो अकेला ही जाता है, कोई भी सगे–संबंधी उसके साथ नहीं जाते हैं, ये तो मात्र संयोग है, इसलिये अब मुझे वन में जाना है–"अप्पा शरणं गच्छामि।" मेरी आत्मा ही मेरी शरण है, इसके अलावा मुझे और कोई शरण नहीं दे सकता है। इस प्रकार हे राजन्! मैं वन में पहुँच गया और यहाँ आकर दिगम्बर भेष को

धारण कर लिया।

मुनि महाराज ने अपनी बात को जारी रखते हुये राजा से कहा कि हे राजन्! ये तो मेरी कहानी रही, बताओ क्या तुम मुझे शरण दे सकते हो? मेरे नाथ बन सकते हो? यह सुनकर के राजा मुनि महाराज के सम्मुख नतमस्तक हो जाता है और विनम्र भाव से कहता है कि—हे महाराज! मेरा भी इस संसार में कोई नहीं है। मैं भले ही चक्रवर्ती हूँ, लेकिन इस संसार में मेरा कोई नहीं है।

"मम इवम् इति अभि सन्धिः निवृत्तिः आकिंचन्यम्"

जिसकी आत्मा में इस प्रकार के परिणाम आ जाते हैं कि मेरा कुछ भी नहीं है इस संसार में, तो समझ लेना उस ही की आत्मा में आकिंचन्य धर्म प्रकट हो जाता है, और ऐसा आकिंचन्य धर्म उस राजा में प्रकट हो गया, उसने जाकर के मुनि धर्म को अंगीकार कर लिया।

राजा ने कहा— महाराज! मेरा भी इस संसार में कोई नाथ नहीं है, मैं भी अनाथ हूँ। मैंने मान रखा है कि मेरी प्रजा मेरे लिये सुख देगी, मेरी रानियाँ मेरे लिये सुख देंगीं, मेरे पुत्र मेरे लिये सुख देंगे, लेकिन फिर भी इतना सब कुछ होते हुये भी हम अनाथ हैं, हमारे दुःख को कोई बाँटने वाला नहीं है, हमारे साथ कोई जाने वाला नहीं है।

"एगो मे सासदो आदा" मात्र मेरी अकेली आत्मा ही एक शाश्वत है। "दंशण णाण मइयो" मैं मात्र दर्शन और ज्ञान वाला ही हूँ। जो मुनि होते हैं, जो दिगम्बर होते हैं, वे वन में जाकर के, ऐसे ही आकिंचन्य धर्म को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे ही विचार किया करते हैं कि संसार में परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

'परिग्रह चौबीस भेद, त्याग करें मुनिराज जी।' चौबीस प्रकार का परिग्रह होता है, दस प्रकार का बाह्य परिग्रह और चौदह प्रकार का अंतरंग परिग्रह। इन 24 प्रकार के परिग्रहों में अगर एक छोटा–सा भी, परमाणु के मात्र भी, परिग्रह हमारे अन्दर रहता है, तो यह आत्मा शाश्वत सुख को प्राप्त नहीं हो पाती है। और परमाणु मात्र भी परिग्रह हमारे पास न रहे, इसलिये आकिंचन्य धर्म कहता है कि कुछ भी आपका नहीं है, जो कुछ भी है, "सब्बे संयोग लक्खणा" सारा का सारा संयोग है, वो नष्ट होने वाला है, साथ तुम्हारे कुछ भी जाने वाला नहीं है। अगर कुछ जायेगा तो वह तुम्हारा दर्शन, ज्ञान, चारित्र। इसके अलावा और कुछ भी जाने वाला नहीं है।

आप अकेले हो इस संसार में, आपका कोई नहीं है। आप कितने भी हाथ–पैर चला लें, कोई आपका साथ देने वाला नहीं हैं। संसार में ऐसे जहाँ परिणाम आते हैं, वहाँ पर आकिंचन्य धर्म प्रकट हो जाता है।

दल बल देवी देवता, मात पिता परिवार।
मरतीं बिरियाँ जीव को, कोई न राखन हार।।

"मंत्र तंत्र बहू होई, मरते न बचावे कोई", कोई भी आपको बचाने वाला नहीं है। संसार मे कोई भी आपके साथ जाने वाला नहीं है। कुछ भी हमारा नहीं है, इत्यादि प्रकार की भावना जब हमारे अन्दर आ जाती है, तब ही यह आकिंचन्य नाम का धर्म हमारे अन्दर आता है। ऐसा अकेलापन जो भी व्यक्ति महसूस करता है, वो ही व्यक्ति आकिंचन्य धर्म को प्राप्त कर पाता है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश ग्रंथ में ससांरी जीव की दशाओं को बतलाते हैं कि–"दिग्देशेभ्या खगा यत्र, समं वसन्ति नगे नगे, स्व–स्व कार्य वसाद्यन्ति, देश दिक्षु प्रगे प्रगे", अर्थात् दिशाओं–

दिशाओं से पक्षी आकर वृक्ष की डालों–डालों पर बैठ जाते हैं और अपना–अपना कार्य करके, अपनी–अपनी दिशाओं में उड़ जाते हैं। यही तो संसारी जीव का हाल है कि जीव अकेला आता है, इस संसार रूपी वृक्ष पर बैठ जाता है, और यहाँ पर आकर के अनेक प्रकार के कार्य करता है, कुकर्म करता है और अपने–अपने कर्म के अनुसार गति–गति में चला जाता है, कभी स्वर्ग गति में, कभी मनुष्य गति में, कभी तिर्यंच गति मं, कभी नरक गति में। लकिन वह अकेले ही जाता है, परमाणु मात्र भी उसक साथ नहीं जा सकता है। ऐसी भावनायें जहाँ पर आ जाती हैं, वहाँ आकिंचन्य धर्म प्रकट होता है।

आप घर में रहकर के कई बार अकेलेपन का चिंतवन करते हैं, लेकिन वह अकेलपन का चिंतवन कई प्रकार से होता है। एक तो राग के कारण आप अकेलेपन का चिंतवन कर लेते हो। राग और द्वेष से हटकर के जो वीतरागता में जाकर के अकलेपन का चिंतवन किया जाता है, वही आकिंचन्य धर्म को प्रकट कर सकता है।

जिस समय आपका पुत्र विदश चला जाये, उस समय माँ अपने आप में सोचने लगती है कि अब मेरा कोई नहीं इस संसार में। पति के मर जाने पर, पत्नी सोचती है कि अब मेरा इस संसार में कुछ नहीं है, सब कुछ लुट गया, सब कुछ मिट गया। ये सब, राग के कारण तुम ऐसा साचते हो। यही अकेलेपन का जो तुम मंत्र जप रहे हो, यही वीतरागता की भावना से जपना प्रारम्भ कर दो कि संसार में तुम्हारा कोई नहीं है। राग और द्वेष के कारण से ता तुमने बहुत बार ऐसा सोचा, लेकिन वीतरागता से एक भी बार तुमने आकिंचन्य का चिन्तन नहीं किया।

एक बहन का, जब दूसरी बहन से वियोग होता है, तो वह

विचार करती है कि अब हमारा इस संसार में, कोई नहीं है, जो कुछ था चला गया, अब कोई नहीं संसार में, सब कुछ होते हुये भी उसे कुछ नजर नहीं आ रहा। दिगम्बर संत ऐसे ही होते हैं, वो भीड़ में रहकर भी अकेलेपन का चिंतवन करते हैं। जब आपके घर में कोई गमी हो जाती है, तब बहुत सारे लोग आपके पास आते हैं, बहुत भीड़ होती है, जितनी भीड़ आपके घर पहले कभी नहीं हुई, लेकिन फिर भी आप यही विचार करते हो कि मेरा इस संसार में कोई नहीं है। ऐसा विचार तो आपने कई बार किया, लेकिन राग के कारण से किया। यही भावना अगर वीतरागता के कारण से करना प्रारम्भ कर दो तो तुम्हारा कल्याण हो जायगा।

एक नगर में एक मुनि महाराज जी पधारे, जैसे ही जिन मंदिर में उनका प्रवेश हुआ, प्रवचन हुये, उसके बाद कुछ लोग मुनि महाराज जी के पास पहुँचे और बोले कि हमारे नगर में एक अत्यंत दुःखित महिला रहती है, वह बहुत समय से आर्त, रौद्र ध्यान परिणाम कर रही है, बहुत समय हो गया है, उसका पति मर गया है। महीनों से उसने अन्न का एक दाना भी नहीं खाया है, केवल शय्या पर पड़ी रहती है, शोक करती रहती है, आप अगर जाकर के उसको संबोध दें तो शायद उसका जीवन अन्तिम समय में सफल हो जाये। यह सुनकर के महाराज ने कहा कि ठीक है, अगर हमारे उपदेश से उसकी गति सुधरती है तो चलो हम उपदेश देने चलते हैं। मुनि महाराज जी जैसे ही उस दुःखयारी महिला के घर पहुँचे, वो महिला वहाँ पर कराह रही थी और कह रही थी कि मेरा इस संसार में कोई नहीं है, मैं किसके सहारे रहूँगी, मेरा इस संसार में कोई नहीं है।

मुनि महाराज एकदम आश्चर्य चकित होकर के उस महिला से कहते हैं कि माता तूने यह मंत्र कहाँ से सीखा, यह तो महामंत्र है।

महिला भी यह सुनकर के अवाक रह जाती है कि मैं तो शोक कर रही हूँ, कौन–सा मंत्र जप रही हूँ, उसने महाराज से कहा–आप मुझसे मजाक तो नहीं कर रहे हैं, मरी हँसी तो नहीं उड़ा रहे हैं। मुनि महाराज ने उससे कहा कि नहीं, बिल्कुल नहीं–तुम एक ऐसे महामंत्र का जाप कर रही हो जिसका संसार की कोई भव्य आत्मा ही जाप कर पाती है। लेकिन मंत्र थोड़ा–सा अधूरा रह गया है, इसे पूरा कर लो, तो तुम्हारा कल्याण हो जायेगा।

महिला न आश्चर्य से पूछा कि अधूरा मंत्र?

मुनि महाराज न कहा कि हाँ! तुम अधूरा मंत्र जप रही हो। अभी तुम जप रही थीं कि मेरा इस संसार में कोई नहीं है, इसके आगे बस इतना और लगा दे कि तू भी इस संसार की नहीं है, तू भी किसी की नहीं है, न तेरा कोई है, न तू किसी की है। हरेक प्राणी अपने–अपने कर्मों का फल भोगते हैं, तुम किसी का कुछ नहीं कर सकते। इस प्रकार की भावना भाते हुये, इस प्रकार का मंत्र जपना प्रारम्भ कर दो, तो तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। बात महिला की समझ में आ गई, इससे उसका सारा शोक शांत हो गया कि मैं किसके लिये रो रही हूँ, जिसके लिय मैं रो रही हूँ, हो सकता है कि वह स्वर्ग में चला गया हो और वहाँ के सुख में आसक्त हो, और मैं यहाँ पर रो–रो कर अपना समय एवं शरीर नष्ट कर रही हूँ। महिला के मन में विचार आया कि मैं किसके लिये रोऊं। क्या वह मेरे लिये रो रहा होगा कि मैं अपनी पत्नी को छोड़कर के आया हूँ? वो तो जहाँ होगा, वहीं आसक्त हो गया होगा। क्योंकि जो जीव जहाँ पर जाता है, उसी पर्याय में वहीं पर आसक्त हो जाता है। वो मन में किंचित भी विचार नहीं करता है कि मेरी पत्नी मेरे लिये रो रही होगी। यह पत्नी का झूठा भ्रम है कि मेरा कोई नहीं इस संसार में।

वो चले गये, वो जहाँ पर भी गये अब तुम्हारी याद नहीं कर रहे, तुम ही उनकी याद कर रहे हो। तुम्हारा यह राग है, और उस राग के कारण से तुम बार—बार अकेलेपन का चिंतवन करते हो। अकेलेपन का चिंतवन करते हैं। जिस समय आपस में एक दूसरे की लड़ाई हो जाती है, तब हम जब पति—पत्नी की आपस में लड़ाई हो जाती है, तो पत्नी एक कोने में बैठ जायेगी कि मेरा कोई नहीं है, हमारा कोई साथ देने वाला नहीं है। जबकि उसके चार बच्चे हैं, पति है, ससुर है, सास है। इस प्रकार सब कुछ होने के बाद भी, जब लड़ाई हो जाती है, तो द्वेष में आकर के हम कई बार अकेलेपन का अनुभव करते हैं।

जिस समाज में रहकर के तुमने बहुत दान दिया, समाज में रहकर के बहुत—मान और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, इस समाज में रहकर के तुमने दीन और दुखियों की सेवा की, पर जिस समय आपकी उसी समाज से लड़ाई हो जाती है, उस समय तुम सोचते हो कि अब मेरा इस समाज में कोई नहीं है। ये जो अकेलेपन का अहसास हो रहा है कि ये समाज मेरा नहीं है, ये तुम्हारे द्वेष के कारण है। यह परभाव है, ये तुम्हारे नही हैं, ये कषायें अगर किंचित मात्र भी आत्मा में रहती हैं, तो उस आत्मा को मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है।

भरतेश्वर पहुँच गये, आदिश्वर के पास! आदिश्वर आप तो परम पिता हैं, परमेश्वर हैं, केवलज्ञानी हैं, पतितों के उद्धारक हैं, बताओ मेरा छोटा भाई एक वर्ष से तपस्या कर रहा है, उसे केवलज्ञान क्यों नहीं हो रहा है?

आदिश्वर कहते हैं—बाहुबली के मन में थोड़ा—सा विकल्प रह गया है। हे भरतेश्वर! उसके लिये विकल्प रह गया है कि मेरा तो इस संसार में कुछ नहीं है, यह बसुधा मेरी नहीं है, लेकिन मैं भरत

की जमीन पर तपस्या कर रहा हूँ, यह छोटी–सी कषाय, छोटा–सा विकल्प रह गया है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, यदि ये कषायें भी मन में रहती हैं, तो वो आत्मा सिद्धत्व को प्राप्त नहीं होती है। बाहुबली के पूरे शरीर पर अनेकों कीड़ों–मकोड़ों ने बिल बना लिये, लेकिन वो बिल और वे कीड़े–मकोड़े उनके लिये बाधक नहीं हो रहे हैं, लेकिन वह छोटी–सी कषाय बाधक हो रही है। जाओ–भरतेश्वर–जाओ, बाहुबली को सम्बोधित करो और तुम्हारे सम्बोधित होने से ही वह केवलज्ञान को प्राप्त हो जायेंगे।

भरत पहुँचे बाहुबली के पास। हे भ्राता, हे मुनीश्वर, हे प्राणियों के स्वामी, आप तो परमपिता बनने वाले हैं, आप को कौन–सा विकल्प है। हे मुनीश्वर, क्या आपको मेरे प्रति कोई कषाय रह गई है, यह वसुधा किसी की नहीं रही, आप यह मत सोचना कि मैं यहाँ का चक्रवर्ती हूँ। हजारों चक्रवर्ती यहाँ पर हो गये, परन्तु कोई भी चक्रवर्ती शाश्वत नहीं रह पाया। बाहुबली ने सुना और मन में विचार किया कि अरे मैं ये क्या सोच रहा था, इतना सोचना ही हुआ कि उसी समय वहाँ पर केवलज्ञान की ज्योति जल जाती है। गंध कुटी की रचना हो जाती है, घंटानाद बजना प्रारम्भ हो जाते हैं, देवांगनायें आ जाती हैं, देव आते हैं, नाच–गाने प्रारम्भ हो जाते हैं।

फाँस तनक सी तन में सालै, चाह लंगोटी की दुःख भालै।

थोड़ी–सी भी फाँस, थोड़ी–सी भी कषाय आप के मन में यदि बनी रहती है, परमाणु मात्र भी परिग्रह यदि आपके मन में रहता है, आपके विचारों में रहता है, थोड़ा–सा भी आप यदि सोचते हो कि यह संसार तुम्हारा कुछ है, यही कुछ तुम्हारे लिये बाधक है, परमाणु के बराबर भी यदि तुम यह मानते हो कि तुम्हारा है, अगर ऐसा

मानना तुम्हारा है, तो तुम सिद्धत्वता को प्राप्त कभी नहीं कर सकते हो। इसलिये "न किंचन इति आकिंचन्य", कुछ भी तुम्हारा नहीं है, परमाणु मात्र भी तुम्हारा नहीं है, ऐसा विचार जहाँ पर आता है, वहीं पर आकिंचन्य धर्म प्रारम्भ होता है।

तीन प्रकार के गड्ढे होते हैं, एक तो पेट का गड्ढा होता है, दूसरा तृष्णा का गड्ढा होता है और तीसरा एक खाई होती है, जो लौकिक गड्ढा होता है। इस लौकिक गड्ढे को आप भर सकते हो, पेट के गड्ढे को आप भर सकते हो, लेकिन तृष्णा रूपी जो गड्ढा है, वो कभी भरा नहीं जा सकता। तृष्णा रूपी गड्ढे में सारे संसार की जायदाद आ जाय, फिर भी आपकी तृष्णा समाप्त नहीं होती है। आज आपके पास एक हजार रुपये हैं, तो कल आपको एक लाख रुपये की आकांक्षा बढ़ जाती है। जो संसार में बहुत पैसे वाले हैं, लेकिन कभी उन्होंने ऐसा विचार नहीं किया कि आज हमको पैसा कमाना बंद करना है। टाटा, बिड़ला जैसे धनवान व्यक्ति, जिनको खुद अपनी जायदाद के बारे में नहीं पता कि उनके पास कितनी जायदाद है, फिर भी उन्होंने अपना व्यापार बंद नहीं किया और लगातार पैसे कमाने के प्रयास में व्यस्त रहते हैं। यह तृष्णा का गड्ढ़ा कभी भर ही नहीं सकता।

इस विश्व में एक 35–40 वर्ष का एक ऐसा युवक है, जिसके बराबर कोई पैसे वाला नहीं है, उसका नाम है बिलगिस्ट, वो भी पैसे कमाने में लीन है, वो भी पैसे कमा रहा है, वो भी इस प्रकार कभी नहीं सोच पाता कि इस संसार में यह पैसा कब तक कमाना है, कितना कमाना है। ये तृष्णा आपके लिये आकिंचन्य धर्म को प्रकट नहीं करने देती। ये तृष्णा बार–बार आपके लिये संसार की तरफ बढ़ाती है। इसलिये यह आकिंचन्य धर्म आपको बोध देता है कि तुम

जान लो, अपने ज्ञान को प्राप्त कर लो, संसार में परमाणु के बराबर भी तुम्हारा कुछ नहीं है, कुछ भी तुम्हारे साथ जाने वाला नहीं है।

भर्तृहरि और शुभचन्द्र दोनों साधु हो गये। एक तो जटा–जूट लगा करके साधु बन जाते हैं और एक दिगम्बर साधु हो जाते हैं। भर्तृहरि ने 12 वर्ष तक घोर तपस्या की और घोर तपस्या करने के बाद 12 वर्ष में एक ऐसा रसायन तैयार किया, जिस रसायन को अगर लोहे पर डाल दिया जाये तो सारा–का–सारा लोहा सोना हो जाता था। चार घड़े उन्होंने रसायन के तैयार कर लिये, एक बूंद अगर जिस लोहे पर डाल दी जाये तो सारा–का–सारा लोहा सोना हो जाता था। भर्तृहरि सोच रहे थे, मैंने बहुत अच्छा काम कर लिया।

एक दिन मालूम पड़ा, सेवकों ने आकर के भर्तृहरि से कहा कि हे महाराज, फलाने–फलाने वन में एक नग्न कोई महाराज बैठे हुये हैं, उनकी काया क्षीण हो रही है पर मुख अत्यंत प्रकाशमान हो रहा है। भर्तृहरि को ज्ञात हुआ, कहीं वो मेरा भाई न हो, क्योंकि वो ऐसे ही थे, और यह सोचकर उन्होंने सेवकों से कहा कि जाओ तुम एक बार फिर से उन्हें देखकर के आओ, क्या वो ऐसे–ऐसे हैं। सेवक गये और फिर से देखकर के आये और बोले महाराज वो ऐसे ही हैं, जंगल में बैठे हैं, उनकी न कोई कुटीर है, न कोई घर है, न कोई सेवक उनके पास है, न कुछ खाने के लिये उनके पास है, काया बिल्कुल क्षीण हो रही है, न उनके पास पहनने के लिये कपड़े हैं। इत्यादि वृतान्त सुनकर भर्तृहरि ने विचारा कि ओ–हो मेरा भाई इतना दरिद्री हो गया है। सेवक से कहा–जाओ वो मेरा भाई है, उसके लिये एक घड़ा रसायन भिजवा दिया जाये, ताकि वो अपनी दरिद्रता को दूर कर ले। सेवक उस घड़े को दिगम्बर मुनि के लिये भेंट करने हेतु ले गये, और मुनि महाराज को विनम्रता पूर्वक

नमस्कार करके बोले कि महाराज आपकी दरिद्रता को देखकर के आपके भाई को आपके ऊपर दया आ रही है, उन्होंने आपके लिये ये रसायन भेजा है, इस रसायन की एक बूंद, आप जिस लोहे पर डाल दोगे, तो वह सारा लोहा तत्काल सोने में परिवर्तित हो जायेगा, इससे आप अपनी दरिद्रता दूर कर लेना।

शुभचन्द्र मुनिराज ने कहा ठीक है, मेरा भाई, आखिर है तो मेरा भाई, यहाँ पर एक गड्ढा करो। इस पर सेवकों ने वहाँ पर एक गड्ढा कर दिया। फिर मुनिराज बोले—इस घड़े को इस गड्ढे में डाल दो सेवकों ने उस रसायन से भरे घड़े को गड्ढे में डाल दिया।

सेवकों ने गड्ढा भी कर दिया, घड़े को गड्ढे में डाल भी दिया, लेकिन सेवक घबड़ा गये और भर्तृहरि के पास पहुँच, बोले—गुरुदेव ऐसा—ऐसा हो गया। भर्तृहरि बोले कोई बात नहीं, जाओ एक घड़ा और ले जाओ, इस दूसरे घड़े को दे आओ। दूसरे घड़े को सेवक मुनिराज के पास ले गये, और पुनः वही बात दोहराई कि आपके भाई ने आपकी दरिद्रता को दूर करने के लिये यह दूसरा घड़ा भिजवाया है। शुभचन्द्र मुनिराज ने कहा कि ठीक है, इसे भी गड्ढे में डाल दो, इस पर सेवकों ने फिर से घड़े के रसायन को गड्ढे में डाल दिया और सेवक लौट करके पुनः चले गये।

भर्तृहरि ने सेवकों से पूछा—क्यों, अब तो ले लिया। सेवक बोले—नहीं, महाराज! दूसरे घड़े के रसायन को भी उन्होंने गड्ढे में डलवा दिया। भर्तृहरि ने सोचा कि भूख और प्यास के कारण से शुभचन्द्र का दिमाग खराब हो गया है, फिर भी कोई बात नहीं, एक और रसायन का घड़ा शुभचन्द्र के पास भिजवा दिया। पुनः शुभचन्द्र ने इस तीसरे घड़े के रसायन को भी गड्ढे में डलवा दिया। अबकी

बार जब सेवक लौटकर आये और भर्तृहरि को बताया कि इस घड़े के रसायन को भी उन्होंने गड्ढे में डलवा दिया, तो भर्तृहरि का दिमाग चकरा गया। बोले–अब तो मैं स्वयं साथ में चलता हूँ, अन्तिम रसायन के घड़े को लेकर वह अपने शिष्यों के साथ शुभचन्द्र मुनिराज के पास पहुँचते हैं और विनय पूर्वक नमोस्तु करते हुये बोले कि भाई तुम्हारी दरिद्रता को देखकर के मुझे दया आती है, देखो 12 वर्ष तक तपस्या करके मैंने ये रसायन तैयार किया है, लो इसको पकड़ो। परन्तु शुभचन्द्र मुनिराज ने उस घड़े को लेकर तत्काल ही नीचे गिरा दिया, जिससे उस घड़े में भरा पूरा रसायन मिट्टी में मिल गया। अब तो भर्तृहरि का पारा लाल हो गया, अत्यंत क्रोधित होकर बोले कि मैंने 12 वर्ष में इतनी तपस्या की और तुमने मेरी 12 वर्षों की तपस्या को एक दिन में ही मिट्टी मे मिला दिया।

तब शुभचन्द्र मुनिराज ने शांत भाव से उन्हें समझाते हुये कहा कि हे भर्तृहरि – अगर तेरे लिये सोना ही चाहिये था, तो तूने राज्य ही क्यों छोड़ा, वहाँ पर क्या कमी थी? तूने 12 वर्ष का समय बर्बाद कर दिया, यह तो परिग्रह है, ये तप नहीं है। ऋद्धि–सिद्धि के लिये तप करना, बाल तप है, अज्ञान तप है। बोले–देखो अगर तेरे लिये सोना ही चाहिये तो देख वो सामने पहाड़ है, वहाँ से जितना–चाहो–उतना सोना ले लो और वहीं पास से एक मुट्ठी मिट्टी को उठाकर पहाड़ पर डाल देते हैं, तत्काल ही सारा–का–सारा पहाड़ सोने का हो जाता है। भर्तृहरि आश्चर्य चकित रह जाते हैं। अरे! मैंने तो 12 वर्ष तपस्या करके मात्र लोहे का सोना बनाना सीखा है, लेकिन इन्होंने तो केवल मिट्टी से ही सोना बना दिया।

संसार में व्यक्ति पैसा कमाता है, लेकिन पैसा उसके साथ कभी भी जाने वाला नहीं है, थोड़ा–सा धर्म भी यदि आप करते हो तो वो

भी पैसे के लिये, सांसारिक सुख के लिय करते हो, लेकिन संसार में कोई भी आपको सम्पूर्ण सुखी नजर नहीं आयेगा।

न सुखं चेन्द्रियाणां, न किंचित सुखं चक्रवर्तीना।
सुखं अस्ति निवृत्तिः, मुनि एकान्त वासना।।

अगर संसार में आप सोचेंगे कि इन्द्रियों में सुख है, तो इन्द्रियों के विषयों में आपको किंचित मात्र भी सुख नहीं मिल सकता है। आप सोचो कि चक्रवर्ती सुखी हैं, तो चक्रवर्ती के लिये भी सुख नाम की कोई चीज नहीं है। अगर सुख है, तो निर्वृत्ति के परिणाम में है। मुनि एकान्त वासना, जो दिगम्बर मुनि होते हैं, एकान्त में रहा करते हैं, एकान्त में धर्म ध्यान करते हैं और वहाँ पर जाकर के –

ऐसा विचार करने वाले दिगम्बर मुनिराज धन्य हैं। वैसे तो आकिंचन्य धर्म मुनिराज को ही प्रकट होता है, लेकिन एकदश गृहस्थ भी इसका पालन किया करते हैं। आप विचार कर सकते हैं – "नगर नारी का प्यार यथा, कादे में हम अमल है।" गृहस्थ जो होता है, सगे संबंधियों से संबंध बनाता है, प्रेम करता है, राग करता है, मोह करता है। लेकिन जो वेश्या होती है, उस वेश्या का जो प्रेम होता है, वह दिखावटी होता है। इसी प्रकार से जो गृहस्थ सम्यग्दृष्टि होता है, जो आकिंचन्य धर्म को कुछ प्राप्त कर लेता है, वह भी सबसे प्रेम से बात करेगा, राग करेगा, लेकिन वेश्या के समान। वेश्या जैसे सारे गाँव के लोगों से प्रेम करती है, प्रेम की बातें करेगी, सब कुछ करेगी, लेकिन फिर भी वेश्या का प्रम किसी के प्रति, सच्चा प्रेम नहीं होता है।

एसे ही सम्यग्यदृष्टि की पहचान होती है, उसका भी ऐसा ही प्रेम होता है। घरपरिवार में रहते हुये भी, ऐसे ही एकत्व विभक्त नाम

की आत्मा का चिन्तन करते हैं। संसार में हमारा कोई नहीं है, मात्र हमारा संयोग है, साथ नहीं है। संसार में ममत्व के कारण से, पर–पदार्थों पर हमारी मूर्च्छा चली जाती है, मूर्च्छा ही परिग्रह कहलाती है। परमाणु के बराबर अगर यह पदार्थ मेरा है, ऐसा विचार आता है, तो वह आपका परिग्रह है, भले ही आप उसको भोगो अथवा नहीं भोगो। आप रहते तो एक कमरे में हैं, लेकिन मूर्च्छा आपकी सारे संसार में रहती है, और यही मूर्च्छा आपके लिये आकिंचन्यता को प्रकट नहीं करने देती है। इसलिये यह मेरा है, इस प्रकार का विचार आप मत करो, यह तो आप का संयोग है, और संयोग नियम से वियोग को प्राप्त होता है। यह एक अकाट्य सिद्धांत है कि जिस–जिस का संयोग होता है, उस–उस का वियोग जरूर होता है।

एक व्यक्ति मेले में पहुँच गया और मेले में पहुँच कर के बड़ा खुश हो रहा था, बहुत सारे लोग उसको मिले, दस दिन वहीं पर रहा। दस दिन बाद मेला समाप्त हो गया और सारे–के–सारे लोग अपने–अपने गाँव चले गये, वह व्यक्ति वहीं पर अकेले खड़ा रहा। मेले में दस दिन रहकर के उसने बहुत राग किया, बहुत द्वेष किया। किसी को अपना माना, किसी को अपना नहीं माना। जब मेला समाप्त हो गया, तो सभी लोग उस व्यक्ति को छोड़कर अपने–अपने घर चले गये, उनमें से किसी ने भी उस व्यक्ति से यह नहीं कहा कि भैया! मेरे साथ चलो, मेरे घर चलो। वह व्यक्ति वहीं पर खड़ा–खड़ा विचार कर रहा था, मैं तो अभी तक झूठी कल्पना कर रहा था कि ये मेरे हैं, लेकिन ये सारे मेरे को छोड़कर चले गये। यह सोचकर वह वैराग्य को प्राप्त हो जाता है। संसार भी एक मेला है। इस मेले में ये सारी–की–सारी दुकानें लगी हुई हैं, जब समय होगा तो छोड़–छोड़

कर चले जायेंगे। आप ये मत सोचना कि जिसके साथ तुम्हारी सात भांवर पड़ी हैं, वह तुम्हारे साथ जायेगी, तुम्हारे साथ जाने वाली नहीं है। एक-न-एक दिन तो उससे तुम्हें बिछुड़ना ही है। जब तक उसका आयुकर्म है, तब तक वो तुम्हारे साथ है, और आयु कर्म पूर्ण होने के बाद वो तुम्हारा साथ छोड़ जायगी, वो तुम्हारे साथ जाने वाली नहीं है। जहाँ संयोग है, वहाँ नियम से वियोग होता है, साथ किसी का नहीं है, इस संसार में।

आपके ममत्व के परिणाम जब तक नहीं छूटेंगे, तब तक आप संसार से नहीं छूट सकते हो। ममत्व ही दुःख को देने वाला होता है। जिन परपदार्थों से आपका ममत्व होता है, वो ही पदार्थ आपको दुःख देते हैं। पदार्थ दुःख नहीं देते हैं, आप सोचते हैं, पदार्थ आपको दुःख देते हैं। नहीं पदार्थ आपको दुःख नहीं देता है, दुःख देता है, पदार्थ के प्रति आपका ममत्व।

कड़कड़ाके की सर्दी में जहाँ एक ओर मुनिराज धर्म ध्यान करते हैं, उसी सर्दी में आप आर्त और रौद्र परिणाम करते हो। सर्दी आपको सुख-दुःख देने वाली नहीं है, गर्मी आपको सुख-दुःख देने वाली नहीं है, दुःख देने वाला है, आपका ममत्व परिणाम। आपके लिये नीरस भोजन मिला, आपकी आत्मा भड़क जाती है, क्रोध आपका जागृत हो जाता है और मुनि महाराज उसी नीरस भोजन को ग्रहण कर आत्मा का अनुभव करते हैं, और सातवें, छठवें गुणस्थान में झूलते रहते हैं, वहाँ पर आत्मा का अनुभव कर रहे हैं, वो नीरस भोजन दुःख का कारण नहीं है। जो तुम्हारे लिये रस लेने की आदत थी, जो ममत्व का परिणाम था, वो आपको दुःख दे रहा है, और वो रस नहीं मिलने के कारण से आपको दुःख का अनुभव हुआ है।

इसलिये कहा है "मम इदं इति" इस प्रकार जो आपका परिणाम है, जो ममत्व का परिणाम है, जो आपका ममत्व का परिणाम पर–पदार्थों के प्रति होता है, वही आपको दुःख देता है, वही आपको आकिंचन्यता में बाधक होता है।

अरहंत भगवान समवशरण में रहते हैं और समवशरण में इतनी विभूति रहती है कि संसार में चक्रवर्ती के पास भी इतनी विभूति नहीं रहती है। इतनी सारी विभूति होने के बाद भी भगवान आकिंचन्यता का बोध करते हैं। मात्र बाह्य परिग्रह से ही व्यक्ति परिग्रही नहीं होता है। उस पदार्थ के प्रति तुम्हारा जो ममत्व का परिणाम चल रहा है, वही आपको परिग्रही बतला रहा है। भले ही आप सब कुछ त्याग कर दें, मुनि महाराज भी बन जायें, और आप सोचें कि निष्परिग्रही हो जायें, आकिंचन्यता को प्राप्त कर लें, तो ये नहीं कर सकते, अगर ममत्व का आपका परिणाम बना हुआ हो तो।

एक मुनि महाराज एक शिला पर बैठे हुये हैं, बहुत सारे राजा–महाराजा, महाराज को नमस्कार करने के लिये आये और लौट करके चले गये। जाने के बाद किसी ने पान खा रखा होगा और पान की पीक वहाँ पर थूक दी, जैसे ही रात्रि हुई चन्द्रमा निकला, वह पान की पीक चाँदनी में बार–बार चमक रही थी। महाराज ने उस पर दृष्टि डाली और बार–बार विचार किया कि हम अपनी रानी को कीमती हीरा देकर के आये थे, ये यहाँ पर कैसे आ गया। महाराज को ऐसा विचार नहीं आना चाहिये, और यदि ऐसा विचार आ रहा है, तो वो महाराज नही हैं।

अरे! जब आपने घर–परिवार सब कुछ छोड़ दिया है, तब ये विचार क्यों आ रहे हैं? और महाराज धीरे–धीरे उसके नजदीक

पहुँचे, गौर से देखा, फिर भी जब संतुष्टि नहीं हुई, तो हाथ से स्पर्श कर दिया। मिला क्या? वहाँ पर तो पीक पड़ी हुई थी। तब महाराज के लिये बोध हुआ। अहो कहाँ तो मैं इस दिगम्बर भेष में और कहाँ यह छोटा–सा ममत्व आ गया। महाराज के मन में विचार आया कि–

राज पाट माया तजी, तजो पुरन का काज।
तनक मोह के कारण, पड़ी पीक पर हाथ।।

राज तज दिया, पाट को तज दिया, और भी जो हमारे दोस्त–मित्र थे उनके साथ को हमने तज दिया, लेकिन मोह का हमने त्याग नहीं किया, मोह को हमने अपना माना, इस कारण से थोड़े–से मोह से हमारा हाथ कहाँ पहुँच गया, पीक के ऊपर।

थोड़ा–सा भी राग, थोड़ा–सा भी मोह, अगर आपके ममत्व के परिणाम घर गृहस्थी से बने रहते हैं, तो समझ लेना आपके अन्दर आकिंचन्यता नहीं आ सकती है। इसलिये आकिंचन्यता का जो धर्म है, वो मुनि महाराजों के लिये बतलाया है कि वो सब कुछ घर बार छोड़कर के वन में पहुँच जाते हैं और वहाँ पर विचार करते हैं – मेरा कुछ नहीं है, एक मात्र मेरी एकत्व विभक्त नाम की आत्मा है, इसके अलावा और मेरा कुछ नहीं है।

राजा दशरथ मुनि बन कर के वन में बैठे हुये थे। किसी ने कहा कि आपके दोनों पुत्र बलभद्र और नारायण जंगल में वन–वन भटक रहे हैं और सीता के लिये रावण हरण करके ले गया है। ऐसा सुनकर दशरथ के लिये थोड़ा मोह जागृत हो गया। थोड़ा–सा मोह जागृत हुआ, और सोचा कि मेरे होते हुये मेरे पुत्र इस प्रकार से दुःखित हों, चलो घर पर चलना चाहिये, और चलने के लिये तैयार हुये। फिर विचार करते हैं कि आ हो! मैं कहाँ जा रहा था, किसके

लिये जा रहा था? कौन है मेरा? मैं कहाँ से आया हूँ? मुझे कहाँ जाना है? मैं किस पथ को छोड़ कर के जा रहा था, और फिर वे पुनः अपने पथ में स्थित हो जाते हैं। जब–जब व्यक्ति इस प्रकार से सोचता है, वह भावरूप से दिगम्बर दीक्षा से भ्रष्ट हो जाता है। चारित्र, नियम से भ्रष्ट हो जाता है। मोह के, ममत्व के जो परिणाम हैं, ममता के जो परिणाम हैं, ये ही आकिंचन्यता में बाधक होते हैं।

भगवान राम ने जब जैनेश्वरी दीक्षा को ग्रहण किया और दिगम्बर होकर आत्मध्यान में लीन थे, सीता का जीव प्रतीन्द्र 16 वें स्वर्ग से मुनि महाराज को विचलित करने के लिये आता है, बार–बार वो उसी प्रकार का रूप बनाता है, जैसा सीता का रूप था और बार–बार नाच–गान की बात करता है। बार–बार मोह व माया की बात करता है। लेकिन राम किंचित मात्र भी विचलित नहीं होते हैं। जिस सीता के कारण से राम वन–वन भटके, जंगल में कंदमूल और फल खाये, भूखे भी रहे, उपवास किये और वही सीता आज दिगम्बर मुनिराज के सामने खड़ी हुई है। ये दिगम्बर भेष कोई सामान्य भेष नहीं कहलाता है, वहाँ पर सीता, उनको नहीं लुभा पा रही थी, मोह जागृत नहीं हो रहा है। और उन्हीं राम का वह मोह देखो, जब वनवास के समय रावण सीता का हरण करके ले गया, तब राम वन–वन में पत्ते–पत्ते से पूछ रहे थे कि किसी ने मेरी सीता को देखा है?

सीता के बारे में भी सोचो, जिस समय सीता की अग्नि परीक्षा ली गई, उस समय सीता की आत्मा में यह आकिंचन्य नाम का धर्म प्रकट हो गया। जब तक आत्मा में आकिंचन्य नाम का धर्म प्रकट नहीं होता, तब तक उसके लिये वैराग्य नहीं आता, वह दीक्षा को ग्रहण नहीं कर सकता है। पर जैसे ही अग्नि परीक्षा ली, उनके मन

में विचार आया—"मेरा इस संसार में कुछ नहीं है, देख लिया सब स्वार्थ के कारण हैं और इसीलिये मुझे अग्नि परीक्षा में धकेल दिया, केवल अपने मान के कारण अग्नि में डाल दिया, मेरा कोई नहीं है संसार में, इस प्रकार का विचार सीता के मन में आया।" अग्नि परीक्षा के बाद, राम ने बहुत निवेदन किया कि देवी चलिये राजमहल में चलिये। सीता बोलीं – नहीं अब मैं राजमहल में नहीं, अब तो मोक्ष महल में जाऊंगी, उन्हें बहुत समझाया, नगरवासियों न माफी माँगी कि देवी हमें माफ कर दो, सीता ने कहा सब को क्षमा है।

वे विचार करतीं हैं कि पूर्व में मैंने ऐसा कुछ पाप किया होगा, जिसके कारण से मेरे लिये ऐसा—ऐसा भोगना पड़ा। अब मैं इस संसार में फँसना नहीं चाहती हूँ , अब तो मैं, अपना कल्याण करूंगी और आर्यिका माताजी के पास पहुँच गई और वहाँ पर जाकर आर्यिका दीक्षा को धारण कर, घोर तपश्चरण किया और तप के प्रभाव से 16 वें स्वर्ग में देव हो जाती हैं, प्रतीन्द्र हा जाती हैं। स्त्री लिंग का छेद कर के देव बन जाती हैं। इसलिये आकिंचन्य धर्म सामान्य धर्म नहीं है, थोड़ा—सा भी आकिंचन्य धर्म आपके अन्दर आता है तो यह स्वर्ग और मोक्ष को देने वाला है। थोड़ा—सा भी आप इसका अनुभव करते हो कि संसार में मेरा कुछ नहीं है, आप बार—बार इसका विचार करो, सुबह स उठके आपको चिंतवन करना चाहिये, आप कहाँ से आये हैं? आपको कहाँ जाना है? कौन आपका साथ देगा? जिस समय आप बीमार हो जाते हैं, क्या आपकी थोड़ी—सी बीमारी भी कोई ग्रहण कर पाता है? नहीं कर पाता है। फिर ये ममत्व के परिणाम कहाँ से आ रहे हैं? यह तुम्हारा मोह है।

मोह महामद पिया अनादि, भूल आपको भरमत वादि

शराब को पीने वाले व्यक्ति का नशा तो एक–दो घंटे मे उतर जायेगा या ज्यादा–से–ज्यादा एक–दो दिन में उतर जायेगा, लेकिन मोहरूपी मदिरा का नशा तो इस संसार में बहुत समय तक चढ़ा रहता है, और मोह की मदिरा के नशे के कारण से व्यक्ति बहुत समय तक इस संसार में भटकता है। इसलिये संसार में यदि कुछ खतरनाक चीज है, कोई भ्रमण कराने वाला है, तो वो तुम्हारा मोह है। मोह के कारण ही हम इस परिग्रह को अपना मानते हैं और इसी में राग–द्वेष करते रहते हैं।

परिग्रह को छोड़ देने वाले मुनिराज ही आकिंचन्य धर्म के धारी कहलाते हैं। एक लंगोटी का धारण करना भी मोक्ष मार्ग को रोक दिया करता है। एक मुनिराज थे, कुछ श्रावक उनके पास पहुँचे बोले–महाराज! आप ऐसे अच्छे नहीं लगते, एक लंगोटी पहन लो और श्रावकों ने महाराज को एक लंगोटी दे दी। हुआ यूं कि वो श्रावकगण तो मुनि महाराज को लंगोटी देकर चले गये और उनके जाने के बाद एक चूहा कहीं से आया और लंगोटी को कतर गया। अगले दिन श्रावक आये और दूसरी लंगोटी दे गये। इसे भी चूहे ने कतर दिया। उसके बाद तीसरी और चौथी लंगोटी भी श्रावकों ने दी, जिसे चूहे ने कतर दिया। दान की भी कोई हद होती है, रोजाना लंगोटी को चूहा खा जाये, श्रावकों ने कहा कि महाराज एक बिल्ली पाल लें ताकि चूहा पास में न आने पाये।

आप बिल्ली कभी मत पालना, बिल्ली बड़ी खतरनाक होती है, जो बिल्ली को पाल लेता है, उसके लिये दिल्ली जाना पड़ता है। दिल्ली का मतलब जानते हो आप– संसद में पहुँच जाओगे, वहाँ के मंत्रीमंडल में पहुँच जाओगे, मंत्री नहीं प्रधान मंत्री तक तुम्हारी आकांक्षा जागृत हो जायेगी। एक बिल्ली पालने से आप प्रधान मंत्री

भी बनोगे या तुम दिल्ली का सुप्रीम कोर्ट खटखटाना प्रारम्भ कर दोगे, एक बिल्ली के कारण से। महाराज ने बात तो मान ली कि चलो ठीक है, चूहे की हरकतों से बचने के लिये उन्होंने बिल्ली पाल ली। अब बिल्ली के लिये खाने को कहाँ से दिया जाये, क्योंकि महाराज के पास तो कुछ भी नहीं था, वो तो आत्म ध्यान करते थे। एक विकल्प जागृत हो गया कि बिल्ली कहीं भूखी न मर जाये, उन्होंने श्रावकों से कहा कि इस बिल्ली के लिये कुछ दूध दे जाया करो। श्रावकों ने कुछ दिन तो दूध दिया, पर वे कब तक देते, कुछ श्रावकों ने कहा महाराज इस बिल्ली को दूध की व्यवस्था के लिये एक गाय बाँध लो और उस गाय का दूध बिल्ली को पिलाते रहना। अब गाय के लिये चारा चाहिये, मुनि महाराज तो चारा काटने के लिये जायेंगे नहीं, श्रावकों से कहा–भईया थोड़ा बहुत चारा गाय के लिये दे जाया करो, कुछ समय तो वे चारा पहुँचाते रहे, लेकिन कब तक पहुँचाते? श्रावक बोले–महाराज एक सेवक यहाँ पर रख देते हैं और ये सेवक चारा आदि की सब कुछ व्यवस्था कर देगा। कुछ समय व्यतीत हुआ, उस सेवक के लिये पैसा कहाँ से दिया जाये? कुछ समय तक तो श्रावकों ने पैसे की व्यवस्था की परन्तु कब तक? अब तो श्रावकों की हिम्मत जबाव दे गई, बोले–महाराज अब तो हमारी बस की नहीं है, आप एक काम करो, शादी–विवाह कर लो, दुकानदारी डाल लो और पैसा कमाओ, और फिर अपनी व्यवस्था खुद ही करके साधना करो। महाराज ने श्रावकों की बात मान ली, शादी कर ली गृहस्थी जमा ली, एक छोटी–सी दुकान खोल ली। एक दिन महाराज की गाय दूसरे के खेत में चली गई, उस खेत के मालिक ने महाराज के खिलाफ पुलिस में रिपोर्ट करा दी और महाराज के लिये जेल में डलवा दिया। एक बिल्ली दिल्ली के सुप्रीम

कोर्ट का दरवाजा खटखटा देती है, बिल्ली का मतलब यही है कि जो थोड़ी–सी तृष्णा आपके लिये जागृत हो जाती है, वह तृष्णा बढ़ती ही चली जाती है।

आपने सोचा एक मकान से काम नहीं चल रहा है, दूसरा मकान ले लें। दूसरे से भी मन नहीं भरा तो तीसरे की आवश्यकता हो जाती है। उसकी रखवाली के लिये नौकरों की आवश्यकता पड़ती है। नौकरों को देने के लिये पैसों की आवश्यकता होती है, इत्यादि प्रकार से पैसों की आवश्यकता होगी, तो आप फेक्ट्रियाँ डालोगे, गाड़ी घोड़ा चलाओगे और धीरे–धीरे तुम्हारी आकांक्षा बढ़ते–बढ़ते एक दिन कर्म रूपी पुलिस आयेगी और तुम्हें पकड़ के संसार रूपी जेल में कैद कर देगी। तो तुम्हारी छोटा–सा भी परिग्रह रखने की भावना है, उसके संरक्षण के लिये जो परिणाम आते हैं, वही परिणाम आपके लिये इस संसार में भटकाते रहते हैं। यहाँ पर कथाकार लिखते हैं कि कभी भी बिल्ली मत पालना, आप कहोगे कि हम तो बिल्ली कभी नहीं पालते, हमारे पास तो बिल्ली है ही नहीं, तो बिल्ली का यहाँ मतलब परिग्रह से है। परिग्रह को कभी नहीं पालना, परिग्रह को अपने पास कभी नहीं रखना। परिग्रह को रखना तो ममत्व के परिणाम उससे नहीं रखना, और ममत्व के परिणाम बने हैं तो वही ममत्व के परिणाम एक–न–एक दिन बढ़ते ही चले जाते हैं। पर–पदार्थों से ममत्व ही हमें दुःख देता है। जो आपके पास एक घड़ी है, यदि वो घड़ी नौकर से टूट जाती है, तो वो आपसे माफी माँग लेता है और अपने घर जाकर आनन्द से सोता है, परन्तु आप रात भर जागते रहते हैं, आपको नींद नहीं आती है, क्योंकि उस घड़ी के टूट जाने से आप दुःखी हो रहे हैं। जिससे वह घड़ी टूटी है, उस नौकर को कुछ भी नहीं हो रहा है। क्यों नहीं हो रहा है? क्योंकि नौकर की वो घड़ी नहीं थी, घड़ी तो मालिक की थी

और इसलिये मालिक की नींद हराम हो गई। दूसरे दिन नौकर आया और उसकी लापरवाही से आपका टी.वी. टूट गया, नौकर ने इसके लिये भी माफी माँग ली। परन्तु ममत्व की महिमा देखिये कि आपने नौकर से कहा कि कोई बात नहीं हम विचार कर रहे थे तुमने हमारी बहुत सेवा की है और इनाम के बतौर यह टी.वी. आज ही हम तुम्हें देने वाले थे, लेकिन क्या करें, तुम्हारी किस्मत ही खराब है कि टी.वी. फूट गई। अब सेठ जी घर जाकर नुकसान होने के बाद भी आराम से सो रहे हैं, लेकिन नौकर का क्या हुआ? उसे नींद नहीं आ रही है, अपनी किस्मत पर रो रहा है कि आज यदि टी.वी. नहीं फूटती, तो वह अपने घर टी.वी. ले आता। इसलिये कहा है कि ममत्व के जो परिणाम होते हैं, वो दुःख देते हैं।

राजवर्तिक में आचार्य लिखते हैं कि जलचर प्राणी दो प्रकार के होते हैं—एक मेंढक के समान और दूसरे मछली के समान। दोनों में मूर्च्छा कितनी है, इस बात को बताया है, कि मेंढक को जल से बाहर निकलने के बाद भी कोई दुःख नहीं होता है परन्तु मछली को अगर एक मिनिट भी जल से बाहर निकाल दोगे तो वह तड़पने लगेगी। इसी प्रकार दो तरह के मनुष्य होते हैं। जिनको भेद विज्ञान होता है, वह परिग्रह की चार दीवारों में भी रह लेते हैं और परिग्रह उनको जकड़ नहीं पाता है, और परिग्रह छूट जाने पर भी दुःख नहीं होता कि हमारा कुछ छूट गया, क्योंकि संसार की कोई भी वस्तु हमारे साथ जाती ही नहीं है, जब तक हमारा पुण्य रहता है, तब तक ही हमारे साथ हमारे पत्नी, बच्चे, धन, दौलत आदि साथ रहते हैं, और पुण्य समाप्त होते ही ये सब हमको छोड़कर चले जाते हैं। इसलिये जो आकिंचनता को प्राप्त हो गया है, वह इनके वियोग होने पर दुःख का अनुभव नहीं करता है और जो मछली के समान होते हैं, वह एक

मिनिट के वियोग होने पर ही, अपने प्राण तक त्याग देते हैं।

हम बारह भावना में पढ़ते हैं –

मैं एकाकी एकत्व लिये, एकत्व लिये सब ही आते।
तन धन को साथी समझा था, पर ये भी छोड़ चले जाते।।

हम संसार में अकेले आते हैं और अकेले चले जाते हैं। हम सोचते हैं कि यह तन, धन हमारा साथ देगा, परन्तु ये भी हमें अकेले छोड़कर चले जाते हैं अर्थात् इस संसार में कुछ भी हमारा नहीं है। यह संसार मायाजाल है। यहाँ के सारे संबंध स्वार्थ से जुड़े होते हैं इसलिये सब झूठे हैं।

एक सन्त एकत्व भावना पर प्रवचन कर रहे थे, उन्होंने अपने प्रवचन में हजारों धर्म पिपासुओं को समझाते हुये कहा कि संसार के सारे सम्बन्ध स्वार्थ पर टिके हैं, यथार्थ में कोई किसी का साथी नहीं है, सब सपनों के समान हैं, जैसे सपना सच नहीं होता, उसी प्रकार ये सम्बन्ध भी सच नहीं होते हैं। इस प्रकार के प्रवचन सुनकर एक व्यक्ति बोला–आपकी बात सच नहीं है, आप लोगों को भ्रमित कर रहे हैं, आपके कोई नहीं होंगे इसलिये ऐसी बातें कर रहे हैं, मेरे तो परिवार वाले सभी हैं और मुझे बहुत चाहते हैं, मेरे बिना तो घर में कोई काम ही नहीं होता है।

संत ने कहा–हो सकता है तुम्हारे सब हों और बहुत चाहते भी हों परन्तु इसका प्रमाण क्या है? श्रावक बोला और आपकी बात का प्रमाण क्या है? संत बोले–मैं अपनी बात का प्रमाण तो दे दूँगा परन्तु तुम्हारा प्रमाण क्या है, पहले उसको कहो। श्रावक ने कहा–मुझे अपने पर पूर्ण विश्वास है। संत ने पूछा कि तुम्हारे घर में कौन–कौन है और क्या सभी तुम्हें चाहते हैं। श्रावक ने कहा–मेरे घर में मेरे

माता–पिता हैं, चार भाई हैं, दो बहने हैं, पत्नी है, दो भाभियाँ हैं। और ये सभी मुझे प्राणों से अधिक चाहते हैं। उनकी आत्मीयता में मुझे रंचमात्र भी संदेह नहीं है। संत ने कहा–तुम हमारे पास एक दिन के लिये रुक जाओ और जैसा हम कहते हैं वैसा तुम करो, तुम्हें फिर मालूम पड़ जायेगा कि तुम्हारे घर वाले तुम्हें कितना चाहते हैं। श्रावक एक दिन संत के पास रुक गया। और उसको संत ने एक दिन में श्वास रोकना सिखा दिया और कहा कि तुम घर पर जाकर बीमारी का बहाना बना कर लेट जाना, कुछ समय बाद श्वास रोक लेना। युवक घर गया और जैसा संत ने कहा था वैसा ही किया। बीमारी का प्रदर्शन करता हुआ वह श्रावक अचेत होकर गिर पड़ा। घर के सारे सदस्य घबड़ा गये, सबने अपनी–अपनी शक्ति अनुसार उपचार करने का प्रयास किया, डाक्टर, वैद्य के उपचार से भी कोई लाभ नहीं हुआ। और उसकी श्वास बंद हो गई। अब तो उस परिवार के सभी लोग रोने लगे, विलाप करने लगे, पत्नी रोती हुई कहती है–अब इस संसार में कोई नहीं है, हे स्वामी! मैं तुम्हारे बिना कैसे जिन्दा रह पाऊँगी, मैं भी तुम्हारे साथ ही मर जाऊँगी, तुम्हारे बिना तो हमारा जीने का कोई मतलब ही नहीं है। माता–पिता भी कहते हैं–बेटा तुझे क्या हो गया, अगर तुझे कुछ हो गया तो हम दोनों प्राण तज देंगे, भाई और भाभियाँ, बहनें भी यही कहते हुये विलाप करने लगीं।

उसी समय वे सन्त वहाँ से निकले और रोने की आवाज सुनकर उनके घर में चले गये, परिवार वालों से पूछा कि आप लोग क्यों रो रहे हैं, क्या बात हो गई है, क्या कोई मर गया है? लोगों ने कहा हमारा प्राणों से भी अधिक प्यारा बेटा अचेत पड़ा है, कई वैद्य और डाक्टरों ने देखा पर बीमारी पकड़ में ही नहीं आई है। सन्त ने

जाकर उस युवक की नाड़ी पकड़ी और कहा मुझे मालूम चल गया है उसे क्या रोग है, और मेरे पास इसकी दवा भी है। परन्तु यह दवा इसको नहीं, किसी दूसरे को पीना होगी, जिससे यह जिन्दा हो जायेगा, और दवा पीने वाला मर जायेगा।

संत ने एक पुड़िया अपनी झोली से निकाल कर एक कटोरी पानी में उसे घोला और सर्व प्रथम माता–पिता से कहा कि तुम में से कोई एक इसको पी लो, तुम वैसे भी वृद्ध हो ही गये हो, तुम्हारा बेटा अभी जवान है, उसकी पत्नी है, बहुत लम्बी उसकी जिन्दगी अभी बाकी है, तुम्हारी जिन्दगी में तो एक–दो वर्ष ही बचे हैं। तब माता–पिता कहते हैं कि बेटा तो मर ही गया, हम क्यों मरें, हम इन तीन और बेटों को देखकर जी लेंगे, एक बेटे के मर जाने से कोई फर्क नहीं पड़ता। फिर संत ने भाई और भाभी से कहा कि तुम में से ही कोई इसे पी लो ताकि तुम्हारा यह प्यारा भाई जिन्दा हो जाये। तब उन भाइयों एवं भाभियों ने कहा कि हम चार भाई न सही तीन भाई ही सही, ये तो मर ही गया है, इसके चक्कर में हम क्यों हमारी खुशहाल जिन्दगी बेमतलब में समाप्त करें। फिर संत ने पत्नी से कहा कि तुम ही उसे पी लो, क्योंकि अभी तुम ही कह रही थीं कि अगर आपको कुछ हो गया तो मैं प्राणों का त्याग कर दूंगी, तुम्हारे बिना जीवन बेकार है, बेटी! ये तुम्हारे प्राणों से भी प्रिय हैं, इसलिये तुम ही अपने पति का जीवन बचा सकती हो, लो बेटी तुम ही इसे पी लो ताकि तुम्हारे पति जीवित हो जायें। तब पत्नी कहती है कि नहीं गुरुदेव, मैं इसे नहीं पी सकती, अब वो तो मर ही गये हैं, मैं अभी जवान हूँ, कोई दूसरी शादी कर लूँगी, अभी मुझे बहुत जीना है, मेरी अभी उम्र ही क्या है, मैंने अभी दुनिया में देखा ही क्या है, मुझे बहुत जीना है।

सब की बातें सुन कर संत ने कहा कि ठीक है आप लोग यदि

इसे नहीं पीना चाहते हो और यदि इसे जीवित भी करना चाहते हो तो यदि कहो तो इस दवा को मैं ही पी लूं। तब सभी ने एक साथ कहा कि हाँ – हाँ महाराज, आप ही इसे पी लें, आपका तो आगे–पीछे कोई रोने वाला भी नहीं है, और संत का तो जीवन ही परोपकार के लिये होता है। तब संत ने उस दवा को पी लिया और घर से जंगल की ओर जाने लगा। तभी युवक भी उठ गया और वह संत के पीछे–पीछे जाने लगा और बोला – बाबा जी ! मुझे सत्य की प्रतीति हो गई है। यह संसार स्वार्थी है। सारे रिश्तेनाते सिर्फ सुख एवं प्रयोजन के साथी हैं और दुःख में व्यक्ति अकेला होता है। परिवार वालों ने उस पर बहुत आत्मीयता दिखाई, उसे रोकने लगे तब युवक ने कहा कि मुझे ज्ञान हो गया है कि इस संसार में मेरा कोई नहीं है, मैं अनाथ हूँ। मुझे कहाँ जाना है, कहाँ नहीं जाना है, ये आपसे पूछने की आवश्यकता नहीं है। अब मैं अपने घर जा रहा हूँ और वह संत के चरणों मे गया और फिर सन्त का ही हो गया तथा जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। उसे यथार्थ समझ में आ गया कि यह संसार कितने स्वार्थ के धागों से बुना गया है।

वास्तव में एकत्व की प्रतीति ही आकिंचन्यता की उपलब्धि है। वस्तुतः संसार में कोई किसी का नहीं है, संसार का हर व्यक्ति अकेला है। कोई चाहे तो भी किसी का साथ नहीं दे सकता है। कोई हमारा कितना भी आत्मीय क्यों न हो, अगर हमारे सिर में दर्द है तो सामने वाला हमारे लिये सहानुभूति तो प्रकट कर सकता है, पर दर्द नहीं बाँट सकता। अतः हम अकेले ही सुख–दुःख के भोगी हैं। हमारा कोई भी साथी नहीं है। इसलिये हमें स्वीकारना चाहिये कि इस संसार में कुछ भी हमारा नहीं है।

इस जीव से बाहर कोई पदार्थ इस जीव का शरण नहीं है। इस

आत्मा में ज्ञान आनन्द आदि भावों के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं पाया जाता। यह सबसे पृथक स्वतंत्र चैतन्य तत्त्व है। उसकी उपासना से सब कुछ मिलता है और बाहर की उपासना से सब कुछ गवाँ दिया जाता है। जिन वीतराग प्रभु के पास वस्त्र आदि कुछ भी परिग्रह नहीं है, ऐसे आकिंचन्य प्रभु की जा उपासना करता है उसको सर्व सिद्धि होती है और जो कोई यहाँ के मोही जनों की उपासना करता है, उसे कुछ नहीं मिलता, केवल क्लेश ही भागता है। जैसे समुद्र में पानी भरा होता है पर समुद्र से कभी नदी निकलते नहीं सुना और पर्वतों पर पानी एक बूंद भी नहीं दिखता, मगर उन पर्वतों से बड़ी–बड़ी नदियाँ निकलती हैं। इसी प्रकार जो आकिंचन्य हैं, उनकी उपासना से सर्व सिद्धि होती है और जो परिग्रही हैं, उनकी उपासना से कुछ भी सिद्धि नहीं है। इस परिग्रह से आत्मा का पूरा नहीं पड़ सकता, दु:ख दूर हो सकते हैं तो आकिंचन्य धर्म को धारण करने से। परिग्रह की लालसा में तो सदा विडम्बना ही होती है।

एक बार गुड़ भगवान के पास फरियाद करने गया। व मोहियों के भगवान होंगे, जिनके पास गया। गुड़ ने कहा भगवान! हमारी रक्षा करो। क्या हो गया गुड़ साहब? महाराज! लोगों ने हम पर बड़ा उपद्रव ढा रखा है। मैं जब खेत में खड़ा था ता लोग मुझे तोड़–तोड़कर खात थे, कोल्हू में हमें पेला, लोगों ने हमें पिया। वहाँ से बचे तो हमें जलाकर गुड़ बना लिया। मैं जब सड़ गया तो मुझ तम्बाकू में कूट–कूटकर खाया। मुझ पर बड़ा अन्याय हो रहा है। उन भगवान ने कहा–तुम्हारी कथा सुनकर हमारे मुँह में पानी आ गया है। तुम यहाँ य जल्दी भाग जाओ, नहीं तो तुम यहाँ बच नहीं सकते। इन बाह्य समागमों से सुख की आशा न करो, यह विराट व्यामोह है। परिग्रह की लालसा और परिग्रह का सम्बन्ध, केवल अपने क्लेशों के लिये ही होता

है। परिग्रह की मूर्च्छा त्यागो। लालच ऐसी ही चीज है, यह बाह्य परिग्रह क्या–क्या नहीं कराता। पचास हजार रुपया सेन्ट्रल बैंक में जमा करा दो तो यह फिक्र रहती है कि कहीं बैंक फैल न हो जाये। य बाह्य पदार्थ ऐसे ही हैं कि जहाँ जाते हैं वहाँ ही अविश्वास पैदा हा जाता है। और की बात, तो जाने दो, अपरिग्रही गुरुओं पर भी परिग्रही का अविश्वास जम जाता है।

एक पौराणिक कथा है कि वर्षा योग में एक साधु ने एक पेड़ के नीच चौमासा किया। एक सेठ उन साधु की वैयावृत्ति करने लगा। यह सेठ पास के ही गाँव का रहने वाला था। उसके पास काफी धन था, परन्तु उसका पुत्र कुपुत्र निकल गया था। यदि उसके हाथों में उसका धन चला जाये तो वह समाप्त कर दे। यह समझकर उसने सारा धन लाकर उन साधु जी के निकट ही कहीं भूमि में गाड़ दिया। और स्वयं सोचता है कि धन की रक्षा तो यहाँ हो ही रही है। यहाँ रहकर मैं चार महीने साधु जी की सेवा करूँगा। परन्तु कुपुत्र ने उसे धन गाड़ते देख लिया था। तो अवसर पाकर वह सारा धन चुपचाप ले गया। चार माह बीतने के उपरान्त साधु जी विहार कर गये। उसके बाद सेठ भी अपना धन निर्दिष्ट स्थान पर खोद कर ढूंढ़ने लगा तो उसे कुछ भी नहीं मिला। तब सेठ जी ने विचार किया कि मैंने ता साधु की बड़ी भक्ति के साथ सेवा की थी और वह ही मरा धन निकाल कर ले गये। तब वह सेठ साधु जी के पास पहुँचा और उन्हें तरह–तरह की बातें किस्सों के रूप में कहकर समझावे और सारी बात प्रत्यक्ष से न कहे। साधु यह सब समझ गया कि आखिर मामला क्या है। अतः उन्होंने भी शांति से उत्तर में कई कथायें कह दीं। जिनमें भावार्थ यह था कि हमने तेरा कुछ नहीं बिगाड़ा है, तरा तो एकमात्र भ्रम है। सेठ जी का वह कुपुत्र पीछे खड़ा होकर यह

सारी बात सुन रहा था। वह सारी बात समझ गया, अतः उसने सारा का सारा धन लाकर सेठ जी से कहा कि धन निकाल कर ले जाने वाला तो मैं हूँ। हे जग के खम्भ महाराज! आपका सारा धन हाजिर है। मुझे ऐसे धन की आवश्यकता नहीं है, जिसके कारण साधु संतो पर भी अविश्वास पैदा हो जाता है। ऐसे धन को आप ही संभालिये। यह कह कर वह कुपुत्र भी वैराग्य को धारण कर साधु बन गया।

अभी किसी को आपने कुछ उधार दिया तो आपको उसके आचरण पर सन्देह होने लगता है। तो भीतर से परिग्रह का जो सम्बन्ध है, यह धर्म ध्यान में अधिक बाधक होता है। जिन महापुरुषों ने इस परिग्रह की आसक्ति को छोड़ दिया है, वे ही वास्तव में सुखी हैं तथा उन्होंने ही दुःखों से भरे हुये क्लेश रूप संसार समुद्र को पार कर लिया है। मुक्ति की इच्छा करने वाले भव्य जीवों को समस्त परिग्रह का परित्याग कर देना चाहिये। मेरा तो केवल यह आत्मा है और जगत के कुछ भी पदार्थ मेरे नहीं हैं। ऐसा विचार करके सर्व परिग्रह का त्याग कर देना वह कहलाता है, आकिंचन्य व्रत। हम सम्पदा वैभव आदि पदार्थों को पाकर अपने आपको सुखी मान रहे हैं, परन्तु इनका वियोग होने पर महान दुःखी होना पड़ता है और यह भी निश्चित ही है कि जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग अवश्य होगा। जगत के बाह्य पदार्थों से हमारा वियोग होगा ही, इसलिये हम क्यों उनकी परिणति में अपना मन लगावें? हम क्यों उनमें ममत्व करें? जब वे हम से छूटेंगे ही और हमें वियोग जन्य दुःख सहना ही पड़ेगा तो हमारा कर्तव्य है कि इससे पहले वे हमें छोड़ें, हम ही उन्हें छोड़ दें। परपदार्थों के प्रति जो हमारा ममत्व भाव है, वही परिग्रह है। बाह्य परिग्रह से रहित होकर भी यदि मुनि अभ्यन्तर में ममत्व भाव से संयुक्त हैं, तो वे वस्तुतः परिग्रह से रहित

नहीं हैं। कारण यह है कि तत्त्वज्ञ पुरुषों ने ममत्व भाव को ही परिग्रह की उत्पत्ति का कारण बतलाया है। परपदार्थों में जो हमने अपनत्व बुद्धि कर रखी है, ममत्व कर रखा है, वह छोड़ दें तो वियोग के समय दुःख नहीं होगा।

जब कोई घटना हमारे पड़ोसी के यहाँ घटती है, तब हम कह देते हैं कि जो होना था सो हो गया। किन्तु जब हमारे ऊपर घटती है, तब नहीं कहते कि जो होना था सो हो गया। परिग्रह को पाप कहकर सुनाना कोई बड़ी बात नहीं, परन्तु अपने जीवन में पालना, अनुभूति करना बड़ी बात है।

एक व्यक्ति स्टेशन पर रुका हुआ था। एक लड़का उसके रुकने के कमरे में घुस गया। उसने उस लड़के से बाहर निकलने के लिये कहा। जब वह नहीं निकला तो लड़के को लात मारकर बाहर निकाल दिया। लड़का बेचारा क्या करता। सर्दी बहुत अधिक थी जिसके कारण वह लड़का खत्म हो गया। सुबह सारी भीड़ इकट्ठी हो गयी। वह भी वहाँ आया, उसने देखा वह लड़का मर गया है। मर जाने दो, अपन तो अपने घर चलें, बहुत समय बाद आया हूँ, मिलना है पत्नी से, बच्चे से, अब तो वह बड़ा हो गया होगा। जब चेकिंग हुई तब बच्चे की जेब से निकला उसका फोटो। फोटो देखकर वह सोचता है कि इस बच्चे की जेब में मेरा व मेरी पत्नी का फोटो कैसे? लड़का छोटा था, माँ ने सोचा पिता को पहचानता नहीं, इसलिये यह फोटो देखकर पिता को पहचान लेगा। फोटो को अच्छी तरह से देखता है। अरे! यह तो मेरा ही बेटा है। माथा पटक कर रोने लगता है। समझ गये होंगे आप रात्रि में लड़का था कि नहीं। जब फोटो हाथ में लेकर देख रहा है, तब लड़का है कि नहीं। उस समय जब लात मारकर कमरे से बाहर निकाल दिया था तब भी लड़का था, अब

भी लड़का है, इस समय जब माथा फोड़ रहा है।

जहाँ मेरापन आता है, वही है परिग्रह की बात, मूर्च्छा की बात, ममत्व की बात। जहाँ पर मेरापन आता है, वही आसक्ति है, वही है दुर्भावना। जहाँ मेरापन समाप्त हो जाता है, राग–द्वेष मिट जाता है। स्व–स्व और पर–पर रह जाता है, वही है आकिंचन्य धर्म। जिसने भी ऐसा कर लिया, जीवन में उतार लिया वह सुखी बन गया। और जो उतार लेंगे, वे निश्चित रूप से सुखी बन जायेंगे।

यह परिग्रह ही पिशाच है, पाप का बाप है, मन में इसे एक बार स्वीकार तो कर लो। मन से स्वीकार कर लेने के बाद छूटना शुरू हो जायेगा। लेकिन हम रुपये–पैसे, स्त्री–पुत्र आदि जो परिग्रह के कारण हैं, उन्हें सुख का कारण मानते हैं। जबकि यह स्पष्ट है कि ये सब दुःख के कारण हैं। यह संसार तो स्वार्थ का है, यहाँ तो सब मतलब के साथी हैं, मतलब निकल जाने पर कोई बात भी नहीं पूछता। इसीलिये कहते हैं – 'स्वारथ के सब मीत जगत में।'

एक गरीब व्यक्ति की पत्नी बोली–पति देव! जब तक मैं आपके दर्शन नहीं कर लेती, आपके पैर नहीं छू लेती, तब तक चैन नहीं पड़ती। यदि कहीं दुर्भाग्य से ऐसा दिन आ गया कि आपके दर्शन नहीं मिले, तो उस दिन मेरा जीवन मुश्किल है। आदमी भोला होता है, स्त्रियों की बातों में ठगाया जाता है। वह भी भोला था, सोचता है, मेरे ऊपर मेरी पत्नी को कितना प्यार है, बाहर से आते ही मेरे पैर धोने को गर्म पानी देती है, जब–तक मैं खाना नहीं खा लेता, तब–तक वह भी भोजन नहीं करती है, बच्चों को भी मुझ पर कितना प्रेम है, कोई जाँघ पर बैठता है, तो कोई कंधों पर झूलता है। बंध गया बंधन में, था गरीब पड़ गया चक्कर में एक दिन माया के। सोचा किसी दूसरे गाँव चलो, अधिक भीख मिल जायेगी। अपने गाँव में चुटकी–चुटकी आटा

मिलता है, दूसरे गाँव में जायेंगे, तो अधिक आटा मिल जायेगा। चलते समय जंगल में एक साधु मिल गया बोला – किधर जा रहे हो? भीख माँगने, कितने आदमी घर में हैं, पत्नी है, बच्चे हैं, वे सब मुझे इतने प्यार करने वाले हैं कि जिनकी प्रशंसा नहीं की जा सकती है। साधु बोला तीन दिन रहना पड़ेगा। वह वहीं रह गया। सुबह उठकर सोचता है, बच्चे भूखे–प्यासे शाम को ही खत्म हो गये होंगे, पत्नी भी शाम को ही खत्म हो गयी होगी मेरे अभाव में। माला हाथ में लिये फेर रहा है परन्तु अभी चिन्ता है, किसकी? स्त्री की, बच्चों की। तीन दिन पूरे हो गये, साधु बोला–जाओ अपने घर चले जाओ। बोला–दीक्षा दे दो महाराज, अपने जैसा बनालो, कुटुम्ब नाश हो गया, घर जाकर क्या करूँगा। इधर साधु ने गाँव में चिट्ठी डाल दी थी कि अमुक व्यक्ति को जंगल में शेर ने खा लिया है। और सारे पंच आये समाचार देने शोक का। स्त्री में करुणा होती है। रोई क्या होगा? कैसा होगा? कौन बच्चों को पालेगा? पंचों ने कहा अपन लोगों को इसकी व्यवस्था कर देना चाहिये। ऐसा सुना तो खुद और जोर–जोर से रोने लगी। 40–50 हजार रुपये जोड़ दिये। यह सब हो जाने के उपरान्त तीन दिन में सारा काम समाप्त हो गया। वह आया घर। घर में दीपक जलते हुये देखा, तो पसीना निकल आया सोचा काम समाप्त हो गया, किसी ने घर पर अधिकार कर लिया है। फिर भी सोचता है अन्दर जाने की। किवाड़ों की दराज में से झांक रहा है, घर में पत्नी चुनरिया ओढ़ आराम से पलंग पर लेटी हुई आराम कर रही है। सांकल बजायी, अन्दर से आवाज आती है – कौन है? मैं हूँ तेरा पति। वह कहती है कि यह नहीं समझना कि खसम मर गया है, मूसल रखा है, अपनी भलाई चाहता है तो लौट जा। बोला–अरी भाग्यवान लक्ष्मी! मैं हूँ तेरा पति। मैं मरा नहीं हूँ, जिसके दर्शन के बिना तुम रह नहीं सकती थीं,

जिसके भोजन किये बिना तुम भोजन भी नहीं करती थीं, दरवाजा खोल दो। लौटता है कि नहीं, तेरे रहते कभी प्रेम से भोजन भी नहीं मिला, तेरे आने के समाचार सुनकर सारी सम्पत्ति जब्त हो जायेगी, जा चला जा। अरे! पागल तो नहीं हो गयी, कोई भूत तो नहीं लगा है। वह कहती है यहाँ बकवास करने की जरूरत नहीं, जहाँ से आये हो वहीं लौट जाओ । वह तो लौट गया, समझ गया, यह राग आग है, सब मतलब के हैं, स्वार्थी हैं, सबको छोड़कर साधु के पास चला गया।

जरा विचार करो जिनको आप अपना कहते हो, वे सब मतलबी हैं। यह आकिंचन्य धर्म की बात है, इसलिये आप भी मतलबी बन जाओ। अतः जो कुछ अपना लिया है, सब छोड़ दो। सिद्धत्व की उपलब्धि यदि हो सकती है तो इसी आकिंचन्य धर्म के द्वारा हो सकती है, अन्यथा नहीं।

जीव का स्वभाव मात्र जानना देखना है। जैसे अरहन्त और सिद्ध भगवान प्रति समय सर्व विश्व को मात्र जानते हैं राग या द्वेष नहीं करते। यह उनका सही काम है। तो इसी प्रकार जानते रहना ही अपना काम है। इससे आगे बढ़े और किसी परिग्रह में थोड़ा–सा बोले तो वह विबूच जायगा। इसका बंधन बंधता चला जायेगा। सर्व परिग्रह से बाहर बने रहना, यही श्रेयस्कर है। जो बाह्य पदार्थों में फँसे हैं, उन्हें अनाकुलता तो कभी मिल ही नहीं सकती, क्योंकि श्रद्धा विपरीत है तो अनाकुलता भट कहाँ से निकले? जैसे अजायबघर में केवल देखने की इजाजत है, किसी चीज को छुयें, उठायें तो वह विबूच जायेगा, फँस जायगा, दण्ड पायेगा। इसी तरह इस आत्मा का काम तो केवल जानना–देखना है। इससे बढ़कर कोई इसमें बोले रमें तो वह विबूच जाता है। सुख और शांति उसकी गायब हो जाती है। परसम्पर्क की विवूचन का फल तो महाक्लेश है।

एक साधु था, सो वह आराम से अपने में मस्त रहता था। एक दिन राजा आया और साधु के पास बैठ गया। साधु बोले राजन्। क्या चाहते हो? राजा बोला–महाराज मेरे कोई लड़का नहीं है सो लड़का चाहता हूँ। साधु ने कहा – अच्छा जाओ, लड़का हो जायेगा। राजा चला गया। दो चार माह बाद में साधु को याद आई कि रानी के गर्भ में लड़का आ गया क्या? इस समय रानी के गर्भ हो सकने का समय भी है। देखूं संसार में कोई जीव मर रहा है क्या? इस समय तो कोई नहीं मर रहा है। तो खुद मरो और चलो रानी के पेट में, नहीं तो वचन झूठ हो जायेगा। सो वह साधु मरा और रानी के गर्भ में पहुँचा। सो जब कोई किसी बात में फँस जाता है तो यह संकल्प कर लेता है कि अब तो ऐसा नहीं करेंगे। उसने वहीं संकल्प कर लिया कि अब नहीं बोलेंगे। थोड़ा–सा बोल दिया तो इतना फँसे। निकला पेट से, सात आठ साल का हो गया और बोला नहीं वह। राजा को चिन्ता हुई कि बच्चा तो बोलता ही नहीं है। राजा ने घोषणा करवा दी कि जो मेरे बच्चे को बोलना सिखा देगा उसको बहुत–सा इनाम मिलेगा। एक दिन राजपुत्र बगीचे में जा रहा था। वहाँ देखा कि एक चिड़ीमार जाल बिछाये था, जब कोई चिड़िया नहीं मिली तो जाल लपेटकर जा ही रहा था। इतने में एक पक्षी एक पेड़ की डाली पर बोला, फिर चिड़ीमार ने जाल बिछाया और छिप गया। वह पक्षी आकर उस जाल में फँस गया। इतने में राजपुत्र बोला– जो बोले सो फँसे। अब चिड़ीमार ने सोचा कि इस चिड़िया की क्या कीमत है? चलें महाराज से कहें कि आपका बच्चा बोलता है। वह गया और बताया। इतनी बात सुनते ही राजा बोला–अच्छा जाओ 10 गाँव तुम्हारे नाम कर दिये। राजपुत्र कुछ देर में आया पर बोला नहीं तो राजा को चिड़ीमार पर क्रोध आ गया बोला, मेरा पुत्र गूंगा है और

यह चिड़ीमार भी मुझसे दिल्लगी करता है। उसे फाँसी का हुक्म दे दिया। चिड़ीमार को फाँसी के तख्ते पर खड़ा किया, राजा ने कहा कि अन्त में जो कुछ तुझे खाना हो खा ले, जिससे मिलना हो मिल ले। वह बोला–महाराज! मुझे कुछ खाना नहीं है, केवल 5 मिनट के लिये आप अपने पुत्र से मुझे मिला दीजिये। मिला दिया। राजकुमार से चिड़ीमार बोला – भैया मुझे मरने की परवाह नहीं, पर लोग मुझे कहेंगे कि चिड़ीमार झूठा है, झूठ बोलता है। सो आप अधिक न बोलें उतना ही बोल दीजिये जितना आपने बगीचे में बोला था। तो उससे न रहा गया, और सारा किस्सा सुनाया, जो बोले सो फँसे। मैंने पूर्व जन्म में राजा से बोला था सो फँस गया, और फिर चिड़िया ने बगीचे में बोल दिया तो वह फँस गई, यह चिड़ीमार राजा से बोल गया सो वह फँस गया।

आत्मा का कार्य तो मात्र जानने–देखने का है। इससे आगे बढ़े और इन पर–पदार्थों में थोड़ा–सा बोले तो हम फँस जायेंगे। हम अपने शान्त स्वभाव से च्युत हो जायेंगे। जगत के सर्व पर–पदार्थों से बाहर बने रहना ही श्रेयस्कर है। अतः जो कुछ अपना लिया है सब छोड़ दो। सिद्धत्व की उपलब्धि इस आकिंचन्य धर्म से ही हो सकती है।

देखो इन इन्द्रियों के दास बने रहने में चाहे इस भव में सुखी हो लें, परन्तु पर भव में दुर्गति से कौन बचायेगा? इससे उत्तम यही है, कि संयम कर लें, आत्म स्थिरता पालें और यदि विचार करके देखा तो ये इन्द्रिय के विषय यहाँ भी सुखदायी नहीं हैं। उनके प्राप्त होने से पहले आकुलता, उनके काल में आकुलता और उनके बाद में आकुलता। और जहाँ आकुलता है, वहाँ सुख–शान्ति कहाँ? एक बार एक राजा ने अपने दरबार में एक बहुत बड़े साधु को जंगल से बुलाया। उस साधु

ने सोचा कि नहीं जाऊंगा तो राजा उपद्रव करेगा। अतः चलना ही ठीक है, किन्तु कुछ सोचकर अपना मुहँ काला करके गया। राजा ने पूछा कि आप मुँह काला करके क्यों आये? साधु ने उत्तर दिया–महाराज! इस तरह दरबारों में आने से, अपनी सेवायें इस तरह से कराने से इस भव में काला मुँह नहीं करूंगा, तो हमें परभव में काला मुँह करना पड़ेगा। इसलिये पर भव के काले मुँह से डरकर मैं इसी भव में काला मुँह करके आया हूँ। राजा के मन में यह बात बैठ गई और उसने उस दिन के बाद कभी किसी भी साधु को अपने दरबार में नहीं बुलाया। जो सच्चे महात्मा होते हैं, वे तो इन आरम्भ–परिग्रहों से सदा दूर ही रहते हैं।

परिग्रह तो दुःख का ही कारण है। केवल मोहवश ऐसा मान रखा है कि परिग्रह से बड़ी इज्जत है। अरे! कुछ लोगों द्वारा प्रशंसा से शब्द गा दिये गये तो उससे क्या लाभ है? ये काम न देंगे, किन्तु एक आकिंचन्य आत्मतत्त्व की उपासना में वह इज्जत बनेगी कि तीन लोक के अधिपति हो जाओगे।

वास्तव में यह परिग्रह की चाह ही दुःख का कारण है। अन्तरंग में जितनी अधिक परिग्रह की चिन्ता होगी, रात्रि में ठीक से नींद भी नहीं आयेगी। यह परिग्रह की चाह ही दुःख का कारण है।

एक बार किसी श्रावक ने साधु जी को एक सोने की चेन वाली घड़ी दे दी। सोने की घड़ी क्या मिल गई, उन्हें एक चिन्ता लग गई कि सोने की घड़ी कोई ले न जाये। अपने शिष्य से बोले – कहीं जाना तो कमरे का ताला लगाकर जाना, जागते हुये सोना। शिष्य परेशान हो गया। उसने सोचा हमारे गुरु निष्परिग्रही हैं, दूसरों को उपदेश देते हैं किन्तु इन्हें कौन–सा परिग्रह मिल गया, कौन–सी बेचैनी ने घेर लिया। हमेशा कहने लगे, कमरे का ताला लगाकर जाना, जागते हुये सोना,

डर है चारों ओर। उसने खोजा उनकी गुदड़ी में एक फर्स्ट क्लास सोने की चैन वाली घड़ी मिल गई। वह सोचता है यही कारण है डरने का, भय का, जिसके कारण न स्वयं सोते हैं, न दूसरों को सोने देते हैं। जाकर घड़ी कुँए में फेक दी। गुरुजी बोले–जागता है कि सोता है? जागते हुये सोना, यहाँ डर है। बोला– गुरुजी डर को तो मैंने कुँए में फेक दिया, चिन्ता की बात नहीं, अब तो आराम से पैर पसार कर सोइये। गुरुजी बोले – अरे! क्या किया तूने घड़ी कुँए में फेक दी। हाँ, जिसका आपको डर था, जिसके कारण न आप स्वयं निद्रा लेते थे और न लेने देते थे। उसे कुँए में फेक दिया। जब अन्त में यह समागम छूटना ही है, तो इसी में भलाई है कि ये परिग्रह हमें छोड़ें, इससे पहले ही हम इन अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहों को छोड़कर आत्मा का कल्याण कर लें।

आकिंचन्य धर्म कहता है कि रिक्त हो जाओ। सहित से रहित हो जाओ, युक्त से मुक्त हो जाओ ताकि आत्मा की निर्मलता का विकास हो। जब तक संसार की किसी भी वस्तु से हमारा सम्बन्ध है, तब तक बन्धन है, राग का परिणाम है। जब हम पर से सम्बन्ध बनाते हैं, तब ही हमारे भीतर भिखारीपन आ जाता है। वास्तव में जिसे परिग्रह पाने की जितनी आकांक्षा है, वह उतना ही बड़ा भिखारी है।

एक बार एक सन्त के मन में 50 पैसे दान देने का भाव उत्पन्न हुआ, उसने सोचा 50 पैसे दान दूंगा, पर उसे दूंगा जो सबसे बड़ा भिखारी होगा। काफी भिखारी आये पर दान नहीं दिया। एक दिन सड़क के किनारे सन्त बैठे थे। सामने से सम्राट सेना सहित दूसरे देश पर आक्रमण करने जा रहा था। सन्त ने 50 पैसे का सिक्का उनकी तरफ फेक दिया। सम्राट सहम गया और तुरन्त बोल पड़ा बेवकूफ! इस प्रकार की गुस्ताखी कर रहा है। सम्राट ने देखा यह तो

सन्त है। सम्राट ने प्रश्न किया यह 50 पैसे क्यों फेंका? सन्त ने उत्तर दिया—मेरा सबसे बड़े भिखारी को दान देने का संकल्प था। मुझे आपसे बड़ा भिखारी कोई नहीं मिला। सम्राट ने कहा—मैं तुम्हें भिखारी दिख रहा हूँ, तुम्हें मेरे यह छत्र, सिंहासन, बग्गी, सेना आदि नहीं दिख रहे हैं। सन्त ने कहा—यदि आपके पास ये सब होते तो फिर आप दूसरे सम्राट पर आक्रमण करने क्यों जाते? क्यों किसी को लूटते, हत्या करते? भिखारी ही दूसरे के द्वार पर जाता है, माँगता है, लूटता है। सम्राट तो आनन्द से विश्राम करता है। आप बाहर से सम्राट हो, पर भीतर से भिखारी हो। बाह्य परिग्रह की प्राप्ति की इच्छा ही मनुष्य को दरिद्र बनाये हुये है।

संसार में परिग्रह को पाप की जड़ कहा गया है। वही समस्त पापों को कराने वाला है। इस संसार में 9 ग्रह हैं। ये ग्रह बलवान नही हैं, इनसे बचने की चेष्टा भले न करो। परन्तु सबसे बड़ा ग्रह है परिग्रह, इससे बचने का प्रयास करो और सन्त पुरुष बनो। संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं। 'जो मेरा है, तेरा भी मेरा है' इस विचारधारा के हैं—वे अधम पुरुष हैं, जैसे कौरव। 'जो मेरा मेरा है, तेरा तेरा है' इस विचारधारा के हैं — वे मध्यम पुरुष हैं, जैसे पांडव। 'जो मेरा तेरा है, तेरा भी तेरा है' इस प्रकार की विचारधारा के हैं—वे उत्कृष्ट पुरुष, जैसे— श्रीरामचन्द्र जी। पर जो 'न तेरा है न मेरा है, यह सब एक झमेला है'—वे सन्त पुरुष हैं, जैसे भगवान महावीर, आकिंचन्य धर्म के धारी। अतः जो अपना नहीं है, जिसे भ्रम से अपना मान रखा है, ऐसे परिग्रह का त्यागकर, आकिंचन्य धर्म को धारण करो।

उत्तम ब्रह्मचर्य

धर्म का दसवां लक्षण है—उत्तम ब्रह्मचर्य। अकिंचन्य धर्म में बताया था कुछ भी हमारा नहीं है, जितने भी विश्व के पदार्थ हैं वे मुझसे पृथक् हैं, इस परिग्रह से मेरा कोई वास्ता नहीं। जब परिग्रह से हमारा कोई वास्ता नहीं रहता, उसी समय यह आत्मा अपने स्वभाव में आ जाता है, इसी का नाम है ब्रह्मचर्य।

यह ब्रह्मचर्य धर्म समस्त धर्मों का राजा है, संसार से तरने के लिये नौका सदृश है, सुख—शान्ति का सागर है। जिस प्रकार मंदिर बनाने के बाद स्वर्ण—कलश चढ़ाते हैं, उसी प्रकार यह ब्रह्मचर्य धर्म पर चढ़ा हुआ कलश है। आचार्यों ने ब्रह्मचर्य का स्वरूप बताते हुए कहा है—"ब्रह्मणि आत्मनि चरतीति ब्रह्मचर्यम्।" ब्रह्म अर्थात् आत्मा में चर्या करना, रमण करना, उसमें लीन हो जाना ब्रह्मचर्य कहलाता है।

ब्रह्म कहते हैं सच्चिदानन्द भगवान—आत्मा को। आत्मा में रमण करने का नाम है, ब्रह्मचर्य और इसके विपरीत राग—द्वेषादि के कारण जो पाँचों इन्द्रियों सबन्धी विषय—वासना तथा भोग—सामग्री है, उसमें रमण करना व्यभिचार कहलाता है।

निश्चय से देखा जाये तो ब्रह्मचर्य का अर्थ आत्मा में रमण करना है, परन्तु व्यवहार में हम इसके अर्थ को बहुत ही संकुचित रूप में लेते हैं। आज हमने मात्र स्त्री के त्याग को ही ब्रह्मचर्य मान लिया है।

यदि मात्र ब्राह्य से ही हम ब्रह्मचर्य को समझें, तो पाँचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। अकेले स्त्री मात्र का त्याग ब्रह्मचर्य नहीं है। वास्तव में इन्द्रिय–संयम ही ब्रह्मचर्य है। स्पर्शन इन्द्रिय की पूर्ति के लिये पंखा, कूलर, हीटर चाहिये, मुलायम–मुलायम गद्दे चाहिये। रसना इन्द्रिय की पूर्ति के लिये अच्छा–अच्छा स्वादिष्ट भोजन चाहिये। घ्राण इन्द्रिय की पूर्ति के लिये सुगन्धित पदार्थ चाहिये। चक्षु इन्द्रिय की पूर्ति के लिये सुन्दर–सुन्दर दृश्य देखने को चाहिये। कर्ण इन्द्रिय की पूर्ति के लिये अच्छे–अच्छे गाने सुनना, इस प्रकार की जिसकी भावना है, उसने भले ही द्रव्य स्त्री का त्याग कर दिया हो, ब्रह्मचारी बन गया हो, पर वह वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है। जहाँ इन्द्रिय–विषयों की वासना व कषायों की शान्ति नहीं हुई, वहाँ ब्रह्मचर्य जन्म नहीं ले सकता।

जिसकी वासना और इच्छाओं का अभाव हो जाता है, उसके जीवन में ब्रह्मचर्य धर्म प्रगट होता है और वह जन्म–मृत्यु के चक्कर से दूर हो जाता है। उसे निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

एक बार की बात है। एक व्यक्ति समुद्र के किनारे घूम रहा था। वहाँ उसे पत्थरों का एक ढेर दिखाई दिया। वह वहीं पर बैठ गया। वहाँ से एक जौहरी निकला, बोला–ये तो पारस पत्थर हैं, जो कि लोहे को सोना बना देते हैं। वह व्यक्ति परीक्षा के लिये घर से एक लोहे का टुकड़ा लाया और प्रत्येक पत्थर से स्पर्श कराया, परन्तु वह सोना नहीं बना। वह प्रत्येक पत्थर को लोहे से स्पर्श कर समुद्र में फेंकता गया। अन्त में मात्र एक टुकड़ा रह गया। तब वही जौहरी वहाँ से फिर निकला। वह व्यक्ति जौहरी से बोला–आपने कहा था यह पारस–पत्थर है, इसके स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है, परन्तु इनमें से एक भी पत्थर पारस नहीं निकला, हमारा लोहा ज्यों–का–

त्यों लोहा ही बना रहा। जौहरी बोला–आप अपना लोहा दिखाना, कैसा है। लोहा देखा तो उस पर जंग लगी थी। उसने कहा–इस पर तो जंग लगी है। इसको साफ करके लाओ। जंग लगे हुये लोहे को पारस पत्थर से स्पर्श करने से वह सोना नहीं बन सकता। लोहे की जंग साफ करके जब उसे पत्थर से स्पर्श किया, तो वह सोना बन गया। अब वह व्यक्ति बहुत पछताया। वह सारे–के–सारे पत्थर समुद्र में फेक चुका था।

उसी प्रकार जब तक आत्मा पर विषय–कषायरूपी जंग लगी हुई है, तब तक ब्रह्मचर्य धर्म प्रकट नहीं हो सकता, आत्मा में रमण नहीं हो सकता, आत्मा में लीन नहीं हो सकते।

अतः यदि हम इस दुर्लभ मनुष्य–जन्म की सार्थकता चाहते हैं, तो इस विषय–कषाय रूपी जंग का निकालना होगा, तभी हम ब्रह्मचर्य व्रत के धारी बन सकते हैं।

विचार करो, जो उपयोग पापों में लगे, दुर्भाव में रहे, क्या ऐसा मलिन उपयोग अपने ब्रह्मस्वरूप का अनुभव कर सकता है? कभी नहीं। अतः हमें समस्त पापों, विषय–भोगों एवं कषायों को आत्म कल्याण के मार्ग में बाधक जानकर छोड़ देना चाहिये।

हम किसी भी परपदार्थ में रागद्वेष न करें। मुनिराजों की यह विशेषता है कि वे संसार के समस्त पदार्थों को जानते–देखते हैं, पर उनसे राग–द्वेष नहीं करते। लेकिन हम उनसे एक काम अधिक करते हैं, आचार्य कहते हैं–"देखो जानो, बिगड़ो मत" जानना देखना हमारा स्वभाव है, पर हम जानते हैं, देखते हैं और बिगड़ जाते हैं। परन्तु मुनिराज बिगड़ते नही हैं अर्थात् राग–द्वेष नहीं करते। जो ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव में लीन हो गये हैं, वे मुनिराज ही ब्रह्मचर्य धर्म के धारक होते

हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत एक दुर्धर व्रत है। इस सामान्य मनुष्य धारण नहीं कर सकता। वास्तव में ब्रह्मचर्य व्रत के धारी ही सच्चे वीर हैं। भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक में कहा है –

मत्तेय– कुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः।
केचित्प्रचण्ड मृगराज वधोपि दक्षाः।।
किन्तु ब्रवीमि वलिनां पुरतः प्रसह्यः।
कंदर्प दर्प द लने विरला मनुष्याः।।

अर्थात् इस संसार में ऐसे शूर हैं, जो मत्त हाथियों के कुँभस्थल के दलन करने में समर्थ हैं, कितने ही शूरवीर एसे हैं जो मृगराज अर्थात् सिंह के वध करने में दक्ष हैं, किन्तु भर्तृहरि उन बली व्यक्तियों से कहते हैं कि कामदेव का दलन करने वाले मनुष्य विरले ही होते हैं। जिसने कंदर्प के दर्प को दलन कर दिया, उसने अपना संसार मिटा दिया।

भगवान पार्श्वनाथ जब सर्व प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके, दिगम्बर दीक्षा को धारण कर, एकवट वृक्ष के नीचे पत्थर की शिला पर ध्यानरूढ़ हो गये, उसके कुछ समय पश्चात की घटना है –

रति और कामदेव प्रकृति की सुन्दरता देखने के लिये अपने महल से जगत् की ओर जा रहे थे। रास्ते में कामदेव कहते हैं कि विश्व में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसे मैंने नहीं जीता हो। रति ने कहा – यह सत्य नहीं है। कामदेव बोला–तुम किसी को बता दो जो मेरे वश में नहीं हो। थोड़ी देर बाद जिस वन में श्री 1008 भगवान पार्श्वनाथ ध्यानस्थ थे, वहाँ घूमते हुये रति और कामदेव आ पहुँचे।

भगवान को देखकर रति प्रश्न करती है और कामदेव उत्तर देते हैं।

'हे नाथ! ये कौन हैं?' ये जिनेन्द्र दव हैं। 'ये तुम्हारे वश में हैं?' हे प्रिये! ये प्रतापी मेरे वश में नहीं हैं।' तो अब से अपने शौर्य बल की डींग मारना छोड़ दीजिये।' कामदेव बोला–जब इन दिगम्बर प्रभु ने मोह राजा को जीत लिया है, फिर हम किंकर कौन होते हैं? हमने इन्हें नहीं जीता, परन्तु इन्होंने मुझे ही जीत लिया। जिसने शुद्ध स्वभाव का रस चख लिया उसे अन्य विषय–भोग आकर्षित नहीं कर सकते।

'जैन गीता' में आचार्य श्री ने लिखा है कामाग्नि ऐसी विचित्र प्रकार की अग्नि है, जिसमें तीन लोक के प्राणी जल रहे हैं–

कामाग्नि मे जल रहा त्रैलोक्य सारा।
दीखे जहाँ विषय की लपटें अपारा।।
वे धन्य हैं, यद्यपि पूर्ण युवा बने हैं।
सत्शील में लस रह, निज में रमे हैं।।

जगत् के जितने भी प्राणी हैं, वे इस काम की अग्नि में जल रहे हैं, जहाँ चारों ओर विषय और कषाय की लपटें उठ रही हैं। पर वह जीव धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने युवावस्था में ब्रह्मचर्य धारण कर शीलव्रत का पालन किया।

जिस प्रकार जल से नवनीत की प्राप्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार विषय–भोगों के सवन से कभी भी सुख–शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। एक कवि ने लिखा है –

शास्त्र पढ़े, मालायें फरीं, निशदिन रहा पुजारी।
किन्तु रहा जैसा–का–तैसा, मन न हुआ अविकारी।।

साठ वर्ष की उम्र हो गई, फिर भी ज्ञान न जागा।
सच तो ये कह देना होगा, जीवन रहा अभागा।।

यदि शास्त्र पढ़ने के बाद भी, माला जपने के बाद भी, पूजा करने के बाद भी मन के विकार नहीं गये, विषयों की आसक्ति नहीं छूटी, तो शास्त्र पढ़ने, माला जपने और पूजा करने का क्या मतलब हुआ?

ब्रह्मचर्य की महिमा, वचनातीत है। जो भी एक बार आत्मस्वरूप में रमण कर लेता है, वह कृतकृत्य हो जाता है। मोक्षलक्ष्मी आकर उसके गले में परमानन्द रूपी वरमाला पहना देती है।

सुकुमाल मुनिराज जब ध्यान में लीन हो गये, आत्मा में रमण करने लगे, तब स्यालनी बच्चे सहित उनके शरीर का भक्षण करती रही और उधर वे आत्मा में लीन होते गये। इस प्रकार आत्मा में लीन होना ही वास्तव में ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य में स्थिरता के लिये विषय–भोगों को भाव सहित अन्तरंग से छोड़ देना चाहिये। सीता जी का जीव सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था। जब रामचन्द्र जी मुनि बनकर ध्यान में लीन थे, उस समय सीता जी के मन में विकल्प आया कि राम को केवलज्ञान होने वाला है, राम मोक्ष चले जायेंगे। यदि किसी प्रकार राम थोड़े समय और संसार में रह जायें, तो बाद में हम दोनों एक साथ मोक्ष जायेंगे। वह सीता का जीव प्रतीन्द्र नीचे आया और अनेकों प्रकार से राम को ध्यान से विचलित करने के प्रयत्न किये, नृत्य किये, राग को उत्पन्न करने के लिये अनेकों उपाय किये, पर मुनि रामचन्द्र अपने ध्यान से विचलित नहीं हुये। उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। वे वास्तव में ब्रह्मचारी थे। उन्होंने भाव से समस्त विषय–भोगों का त्याग कर

दिया था, जिसके फल स्वरूप उन्हें अरहन्त पद की प्राप्ति हो गई।

ब्रह्मचर्य के आनन्द की साधारण संसारी जीव कल्पना ही नहीं कर सकते। यह सुख विषयातीत है। विषय–भोगी व्यक्ति अपने विषय–सुख से तुलना करने जायें और सत्य शुद्ध आनन्द की भाँप कर सकें, यह हो ही नहीं सकता। एक बार भील लोगों में चर्चा हुई कि चक्रवर्ती को कितना सुख होगा? तो एक भील बोला–उनके सुख का क्या कहना? उनका सुख तो इतना होगा कि वे तो हमेशा गुड़–ही–गुड़ खाते होंगे। जिसने कभी गुड़ से अच्छा पदार्थ देखा ही नहीं हो, वह इससे अधिक सुख की क्या कल्पना कर सकता है? सच्चे सुख और आनन्द को प्राप्त कराने में ब्रह्मचर्य ही समर्थ है। समस्त देवेन्द्र, नागेन्द्र, भवनेन्द्र, नरेन्द्र आदि सभी को जो सुख होता है, उस सबको मिला लिया जाय, उससे भी कई गुणा सुख अपने ब्रह्मस्वरूप में रमण करने वाले शुद्धोपयोगियों को होता है। वैसे यह हिसाब भी उस परमार्थ सुख को छू भी नहीं सकता। उनका सुख तो उनकी ही तरह है, अन्य कोई उपमा नहीं है। महाराजों के सुखों का वर्णन करते–करते जब थक जाते हैं तो अन्त में यही कहना पड़ता है कि महाराजों का सुख तो महाराजों के समान ही होता है।

ब्रह्मचर्य व्रत के धारी तो वास्तव में दिगम्बर मुनिराज ही होते हैं। हम इस प्रकार उत्तम ब्रह्मचर्य के धारी नहीं बन सकते तो कोई बात नहीं। श्रावक ब्रह्मचर्य को आंशिक रूप में तो धारण कर ही सकते हैं। आचार्यों ने गृहस्थों को स्वदार–संतोष व्रत को पालन करने का उपदेश दिया है। यदि हम पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं ले सकते, तो ब्रह्मचर्य अणुव्रत (स्वदार–संतोष व्रत) को भी ब्रह्मचर्य की कोटि में रखा गया है। अपनी स्त्री को छोड़कर अन्य स्त्रियों को माँ, बहिन अथवा बेटी के समान समझना। गृहस्थी में रहकर भी हम संयम के

माध्यम से थोड़ा बहुत तो कर ही सकते हैं। जो एक देश ब्रह्मचर्य पाल सकता है, वह एक दिन पूर्ण ब्रह्मचर्य का धारी भी बन जायेगा। जिसके जीवन में माँ, बहिन व पुत्री का सम्बन्ध रह गया, वह आसानी से ब्रह्मचर्य पाल सकता है। बहिन के नाम वाली लड़की से भी कोई शादी नहीं करता।

वर्णी जी ने लिखा है कि एक बार एक जोड़ा उनके पास आया और बोला–महाराज! ब्रह्मचर्य व्रत दे दीजिये। उन्होंने पूछा–कितनी उम्र है आपकी? पत्नी बोली–26 वर्ष, पति की 28 वर्ष। शादी को कितने वर्ष हो गये? वह कहते हैं, महाराज 8 वर्ष के समय में हम लोगों ने पौने आठ वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन किया। अब हमारे भाव हमेशा के लिये ब्रह्मचर्य व्रत लेने के हैं। यह है ब्रह्मचर्य व्रत धारण की पवित्र भावना।

हम लोग मोह के कारण इन पर–पदार्थों में सुख ढूंढ रहे हैं और अपने आत्मीय आनन्द से वंचित हैं।

संखिया नामक विष को खाने से मृत्यु हो जाती है। कोई खाना चाहता है क्या? नहीं, क्यों? मर जायेंगे। दूसरी शराब होती है, जिसे पीने से आदमी अपना होश खो देता है। कोई उसे पियेगा क्या? नहीं। वह पीने वाले को स्वभाव से विचलित कर देती है। समाज में पीने वालों की इज्जत नहीं रहती है। कदाचित् कोई पीकर यहाँ आ जाये, तो भगा देंगे और यदि कोई सज्जन आ जाय, तो उठकर आदर सहित, सम्मान के साथ बैठायेंगे। 'छहढाला' में हम पढ़ते हैं –

मोह महामद पियो अनादि, भूल अपको भरमत वादि।

दो प्रकार के मद होते हैं। एक तो ऐसा मद जो घंटे–दो–घंटे को ही पागल बनायेगा, किन्तु यह मोह, यह विषय–वासना तो एक

ऐसा मद है जो सभी को अनादिकाल से पागल बनाये हुए है। उससे किसी ने कभी घृणा नहीं की होगी। हम उसे प्रेम पूर्वक अपना रहे हैं। संसारी प्राणी नकल का अनुसरण करते हैं –

एक बार की बात है। एक व्यक्ति की नाक कट गयी। वह जहाँ से निकले सभी लोग उसे नकटा कहें। उसने विचार किया कि क्या करना चाहिये? एक तरकीब सोची। उसने ऊपर को देखना शुरू किया और प्रसन्न होकर नाचने लगा। लोगों ने पूछा–भाई! क्या बात है? उसने कहा – अरे क्या बतायें? भगवान के साक्षात् दर्शन हो रहे हैं। दूसरे व्यक्ति ने भी ऊपर देखना शुरू कर दिया, बोला–मुझे तो नहीं हो रहे हैं भगवान के दर्शन। बोला–अरे! तुम्हें दर्शन कैसे हो सकते हैं? यह तुम्हारी नाक बीच में आड़ी आ रही है। इसे कटवा लो, तभी दर्शन हो सकते हैं भगवान के। उसने अपनी नाक कटवा ली, फिर भी भगवान के दर्शन नहीं हुए। उसने कहा–मुझे तो नहीं हुए दर्शन। वह बोला–चुप रहो। इसी प्रकार कहो कि अहा! भगवान के दर्शन हो रहे हैं। नहीं तो सभी लोग तुमसे नकटा कहेंगे। वह भी उसी प्रकार कहने लगा। इस प्रकार सारे–के–सारे गाँव के लोगों ने नाक कटवा ली। अब कौन किसे नकटा कहे? कोई किसी से नहीं कह सकता, क्योंकि सभी की नाक कटी है।

उसी प्रकार यह विषय–वासना पाप है। यदि यहाँ दो–चार व्यक्ति ऐसे होते, तो उन्हें हम बाहर निकाल देते। परन्तु हम सभी विषय–कषायों में लीन हैं। अब हममें से कौन किसको क्या कहे?

ब्रह्मचर्य की उत्कृष्ट साधना का सुअवसर मात्र मनुष्य के पास है, क्योंकि उसके पास बुद्धि है, विवेक है, सोचने की क्षमता है, वह जानता है कि वासना दुःख का कारण है। सुकरात से किसी ने पूछा कि–गृहस्थ

जीवन में रहकर जीवन में स्त्री सहवास कितनी बार करना चाहिये? सुकरात ने कहा–मात्र सन्तान प्राप्ति की भावना से एक बार करना चाहिये। यदि मन न माने तो? सुकरात ने कहा–वर्ष में एक बार। व्यक्ति ने कहा – फिर भी मन न माने तो? सुकरात ने कहा – छः मास में एक बार, फिर भी मन न माने तो? सुकरात ने कहा –तीन माह में एक बार। व्यक्ति ने कहा – फिर भी मन न माने तो? सुकरात ने कहा – 15 दिन में एक बार। व्यक्ति ने कहा – मन फिर भी न माने तो – सुकरात ने कहा – सिर में कफन बांध कर जो करना हो सो करो। आचार्य समन्तभद्र महाराज ने लिखा है शरीर के स्वरूप का चिंतन कर उससे विरक्त होने की चेष्टा करना चाहिये।

मलबीजं मल योनिं, गलन मलन गन्ध विभत्स।
यः यन्नंगमनंगाद – विरमतिया ब्रह्मचारी सः।।

स्त्री का शरीर मल का बीज है, मल का स्थान है, गलने–सड़ने वाला है, वीभत्स है। उसके शरीर की वास्तविकता को जानकर विरक्त होना ही ब्रह्मचर्य है।

वास्तव में ब्रह्मचर्य के धारी तो मुनिराज ही होते हैं, पर आचार्यों ने श्रावक को स्वदार सन्तोष व्रत के पालन करने का उपदेश दिया है। यदि हम पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं ले सकते, तो स्वदार संतोष व्रत को ब्रह्मचर्य की कोटि में रखा है। अपनी पत्नी को छोड़कर अन्य स्त्रियों को माँ, बहिन, बेटी के समान समझना।

विचार करो, व्यर्थ के विषय प्रसंग में जीव को क्या मिलता है? कुछ भी तो नहीं। बल्कि सब कुछ गँवा दिया जाता है। ब्रह्मचर्य में बाधक वैसे तो सभी इन्द्रियों के विषय हैं, परन्तु कुशील पाप की इसमें मुख्यता है। उसकी विवेक शक्ति नष्ट हो जाती है। कहते हैं

उल्लू को दिन में दिखाई नहीं देता, किन्तु कामान्ध पुरुष को न दिन में कुछ दिखता है, न रात में। कुशील पाप से बचने के लिये अपने मन को वश करना चाहिये। मन के वशीकरण का सीधा उपाय है वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जाने और निज स्वभाव की सतत भावना भावें।

शील की महिमा तो जगत–प्रसिद्ध है, शील से ही स्त्री पुरुषों का जीवन–स्तर ऊपर उठ जाता है। यह शील का ही तो प्रभाव था, जैसा पढ़ते हैं कि "सीता–प्रति कमल रचाओ, द्रोपदी को चीर बढ़ाओ" और 'सूली से सिंहासन कीना' आदि। शील के प्रभाव से सीता का अग्नि कुण्ड कमल–युक्त जलकुँड बन गया और द्रोपदी का चीर बढ़ता गया, सेठ सुदर्शन की सूली सिंहासन बन गई, आदि।

यह ब्रह्मचर्य का ही प्रताप था कि नेमिनाथ भोजवंशी राजा के घर बड़ी भारी बारात के साथ पधारे, किन्तु अहिंसा व्रत के कारण अपने साथ आये हुये मांस–भक्षी लोगों के भोजन के लिये एकत्रित किये गये पशु–पक्षियों पर करुणा करके उनको छुड़वा दिया और अत्यन्त रूपवान राजकुमारी राजुल के साथ विवाह का त्याग कर साधु बन गये। सभी ने नेमिनाथ से विवाह करने की अनेकों प्रार्थनायें कीं, किन्तु अटल ब्रह्मचारी नेमिनाथ पर कामदेव का रंचमात्र भी प्रभाव न पड़ा।

ब्रह्मचर्य व्रत महान दुर्धर व्रत है। यदि कठिन चीज पर अपना वश हो जाये तो वह प्राणी सदा के लिये सुख का मार्ग पा लेगा। इन विषयों की आशा को दूर करके इस दुर्धर धर्म का अच्छी तरह से पालन करना चाहिये। जिन्होंने भी अपने ब्रह्मचर्य व्रत का दृढ़ता से पालन किया, वे अमर हो गये।

एक बार एक लड़की ने मुनिराज के समीप कृष्णपक्ष में ब्रह्मचर्य व्रत लिया और एक लड़के ने शुक्लपक्ष में ब्रह्मचर्य व्रत लिया। संयोगवश दोनों की शादी हो गयी। शादी के बाद लड़की ने कहा कि मेरा कृष्णपक्ष में ब्रह्मचर्य व्रत है और लड़के ने कहा मेरा शुक्लपक्ष में ब्रह्मचर्य व्रत है। दोनां प्रसन्न हुय। तब दोनों ने निर्णय किया कि हम दोनो अखंड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करेंगे, पर यह बात बाहर नहीं फैलना चाहिये। इस प्रकार दृढ संकल्प करके असिधारा के सदृश कठोर ब्रह्मचर्य व्रत का पलान करने लगे। कुछ दिन बाद माता–पिता को यह चिन्ता हुई कि लड़के–बहू के संतान क्यों नहीं होती है। दोनों ने सोचा कि तीर्थ क्षेत्रों की वन्दना करनी चाहिये। वे दोनो यात्रा के लिये निकल गये।

एक दिन एक बुढ़िया ने पानी छानकर जीवानी जमीन पर गिरा दी और प्रायश्चित्त लेने मुनिराज के समीप पहुँची। मुनिराज ने कहा कि अखंड ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करने वाले व्यक्ति को भाजन कराना। जिस दिन तुम्हारा काला चँदोवा सफेद हो जायेगा, उस दिन समझना तेरा प्रायश्चित्त पूरा हा गया। उस दिन से उस बुढ़िया ने सभी त्यागी व्रती ब्रह्मचारियों को भोजन कराना प्रारम्भ कर दिया। उसने सभी को भोजन करा दिया किन्तु चंदोवा ज्यों–का–त्यों काला–का–काला रहा, वह सफेद नहीं हुआ। गाँव के सभी व्यक्तियों को भोजन करा दिया, फिर भी चंदोना ज्यों–का–त्यों।

यह दोनों भी यात्रा करते हुये मंदिर में पहुँचे। बुढ़िया राह देख रही थी कि कोई रह तो नहीं गया। उसने उन दोनों को भी निमंत्रण दे दिया। बुढ़िया भोजन कराती और चंदोवा देखती जाती। इन दानों ने आधा भोजन भी नहीं किया कि चंदावा काले से सफद हो गया। बुढ़िया का मन आनन्द से भर उठा और उनका भी भेद खुल

गया कि यह दोनों अखंड ब्रह्मचर्य व्रत के धारी हैं। यह है अखंड ब्रह्मचर्य व्रत की महिमा।

एक जमाना था जब व्यक्ति बचपन में ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर अपना कल्याण कर लेते थे। पर आज व्यक्ति वृद्ध हो गये हैं, शरीर सूख गया है, उनसे यदि ब्रह्मचर्य व्रत लेने को कहा जाय तो कहते हैं अभी नहीं, हमसे नहीं बनेगा।

एक बार एक मुनिराज ने 70 वर्ष के एक वृद्ध व्यक्ति से कहा कि आपका सारा जीवन भोगों में निकल चुका है, अब अंतिम समय आ गया है, ब्रह्मचर्य व्रत ले लो। उसने मना कर दिया, बोला—महाराज! अभी नहीं, कुछ दिन बाद देखा जायेगा। दूसरे दिन सुबह ही नहीं हो पायी कि उसकी मृत्यु हो गयी।

ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिये वासना को दूर करना चाहिये। यदि हमने व्रत ले लिया, किन्तु अन्दर में वासना विद्यमान है, तो स्त्री—सम्बन्धी विकल्पों से पाप लगेगा। दो नाते जिसके जीवन में रह गये हैं, माँ के और बहिन के, उसके मन में कभी विकार नहीं आता।

एक बार एक पति—पत्नी विधान में सम्मिलित हुए। पंडित जी ने पूछा—धर्म पत्नी है यह आपकी? दोनों ब्रह्मचारी थे, अतः बोले—धर्म पत्नी नहीं, बहिन है। जिसे पत्नी के रूप में स्वीकार किया था, गृहस्थ अवस्था में, उसे ही साधना पथ पर आरूढ़ होता देखकर बहिन के रूप में मान लिया। अब मात्र बहिन के रूप में सम्बन्ध रह गया। जिसने स्त्री मात्र को बहिन के रूप में देखा, वही वास्तव में ब्रह्मचारी है।

तीनों लोकों में सुख की अनुभूति कराने वाला एक मात्र ब्रह्मचर्य व्रत है। जो इस व्रत का पालन करता है, वह सुगति में ही जाता है। अतः

सभी को ब्रह्मचर्य व्रत अवश्य धारण करना चाहिये। यदि हम पूरी तरह इस व्रत का पालन नहीं कर पाते हों तो स्वदार–संतोष व्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत) ही यथेष्ट है। संयमित जीवन व्यतीत करना होगा। तभी सद् गृहस्थ बन सकेंगे। जो सद्गृहस्थ बनेगा, वही ज्ञानवान् तथा चारित्रवान् बन सकेगा। अपनी पत्नी के अलावा सभी को माता, बहिन के समान देखना। इसे भी ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अंतर्गत रखा गया है।

सेठ सुदर्शन, जिनका रूप कामदेव के सदृश सुन्दर था, वे स्वदार–संतोष व्रत के धारक थे। उनके रूप पर आसक्त होकर रानी ने छल से धूर्त दासी के द्वारा उन्हें अपने महल में बुलवा लिया और उनको डिगाने के अनेकों प्रयास किये, परन्तु वे अपने व्रत में अडिग रहे। जब समस्त प्रयास करने पर भी रानी सफल न हो सकी, तो उसने क्रोध में आकर अपने कपड़े फाड़ लिये और अपने ही हाथों से अपने अंगों को नोंच डाला तथा सेठ सुदर्शन पर असत्य आरोप लगाकर राजा को भड़काया कि देखो, आपको धिक्कार है, जो आपके रहते सेठ ने मेरी यह दशा की। राजा ने रानी की बातों मे आकर सेठ सुदर्शन को सूली पर चढ़ाने की सजा सुना दी। सेठ सुदर्शन को सूली पर चढ़ाया गया, तो उसके दृढ़ ब्रह्मचर्य अणुव्रत के प्रभाव से शूली भी सिंहासन बन गई। तब रहस्य खुलता है कि दोष इसका नहीं, दोष तो रानी का है। ये गृहस्थ होते हुए भी अपने आचरण में दृढ़ हैं। यही तो ब्रह्मचर्य धर्म के पालन में सच्ची निष्ठा है कि–'मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत्।' यही वास्तव में वैराग्य है कि गृहस्थ परस्त्री को माता के समान मानता है और दूसरे के धन को कंकर–पत्थर की तरह अपने लिये हेय समझता है।

प्रत्येक गृहस्थ को ब्रह्मचर्य अणुव्रत तो अवश्य ही लेना चाहिये। व्रत कोई भी छोटा नहीं होता। आज सुदर्शन सेठ का परस्त्री के

त्याग का व्रत भी महाव्रत के समान हो गया। सभी ओर जय–जय कार होने लगी।

देखो, एक अणुव्रती गृहस्थ श्रावक में कितनी दृढता है? उसकी आस्था कितनी मजबूत है? उसका आचरण कैसा निर्मल है? पापों का एक देश त्याग करने वाला भी संसार से पार होने की क्षमता और साहस रखता है। जिसने एक बार अपने स्वभाव की ओर दृष्टि डाल दी, उसकी दृष्टि फिर विकार की ओर आकृष्ट नहीं होती।

एक युवक विरक्त हो गया और घर से जंगल की ओर चल पड़ा। पिता उसके पीछे–पीछे चले जा रहे हैं कि अगर यह मान गया, तो वापिस घर ले आयेंगे। रास्ते में एक सरोवर के किनारे स्त्रियाँ स्नान कर रही थीं। पहले वह युवक निकला तो वे स्त्रियाँ ज्यों–की–त्यों स्नान करती रहीं और जब पीछे से उसके पिता जी निकले, तो सभी अपने वस्त्र संभालने लगीं। पिता चकित होकर रुक गया और उनसे पूछा कि बात क्या है? अभी–अभी मेरा जवान बेटा यहाँ से निकला था, तब तुम सब पूर्ववत् स्नान करती रहीं और मैं 80 साल का वृद्ध हूँ, फिर मुझे देखकर आप लोग लज्जावश अपने वस्त्र संभालने लगीं। वे स्त्रियाँ बोलीं–'आपका बेटा तो अपने मे खोया था, उसे तो पता ही नहीं चला कि यहाँ कोई नहा रहा या नहीं। यदि आप अपनी आँख संभाल लेते तो मुझे अपने कपड़े संभालने की आवश्यकता नहीं पड़ती।' जिनकी दृष्टि पवित्र होती है, उनसे यह व्रत सहज रूप से पल जाता है।

ऐसे अनेक व्यक्ति हो गये हैं, जिन्होंने अनेकों प्रलोभनों एंव संकटों के बीच भी दृढ़तापूर्वक अपने व्रत का पालन कर अपनी आत्मा का कल्याण किया।

सती सीता को देखिये। कितने दिनों तक रावण के चंगुल में रहीं, रावण ने सभी तरह के प्रलोभन सीता के सामने रखे, अपनी तीनखंड की महान विभूति और विद्याधरों के प्रभाव से उसे प्रभावित करना चाहा, उसे अपना बनाना चाहा तथा बहूरूपणी विद्या सिद्ध करके अनेक भयानक रूप दिखलाये। मन्दोदरी स्वयं सीता को समझाने आयी और रावण की महान शक्ति का वर्णन कर उसे अपनाने के लिये कहा। तब सीता ने उत्तर दिया कि तुम स्वयं पतिव्रता नारी होते हुये भी मुझसे इस प्रकार के वचन कह रही हो? तुम्हें ये वचन शोभा नहीं देते।

राजसुखों में पली हुई राजुल को उसके माता–पिता ने नेमिनाथ के विरागी हो जाने पर अन्य राजकुमारों के साथ विवाह करने के लिये झुकाना चाहा, किन्तु राजुल अपने व्रत से चलायमान नहीं हुई, और उसने अपना सारा यौवन तपश्चर्या में व्यतीत किया।

ब्राह्मी और सुन्दरी आदिनाथ की दो पुत्रियाँ थीं, जिन्होंने पिता का गौरव रखने के लिये आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लेकर अपना कल्याण किया।

अनंतमती ने आठ वर्ष की अवस्था में माता–पिता के साथ मुनिराज के पास ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया, उस समय वह यह भी नहीं जानती थी कि ब्रह्मचर्य व्रत क्या है? माता–पिता ने अष्टान्हिका पर्व में आठ दिन का व्रत लिया, तब माता–पिता को व्रत लेते देखकर अनन्तमती बोली–महाराज! मुझे भी व्रत दे दो। कोई सीमा नहीं बताई व्रत की। जब वह यौवनावस्था को प्राप्त हुई और माता–पिता ने शादी करने के लिये कहा, तब वह कहती है कि आपको याद नहीं, मैंने मुनिराज के सानिध्य में ब्रह्मचर्य व्रत लिया था। अब मैं शादी

नहीं कराऊँगी। इतना ही नहीं, अनेकों संकट उसके जीवन में आये, परन्तु वह उसे सांसारिक माया मोह ने न फँसा सके।

एक बंगाली ब्राह्मण की 16 वर्ष की कन्या विधवा हो गई। वह ब्राह्मण अच्छा अनुभवी विद्वान् था। वह उस लड़की को अपने घर ले आया और उसने स्वयं उस दिन से ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया। वह, उसकी पत्नी और पुत्री तीनों ही ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। जमीन पर सोने लगे। इससे उस लड़की का समय भी पवित्रता के साथ व्यतीत हो गया।

गृहस्थ व्यक्तियों को अनेक बातों का ध्यान रखना चाहिये। व्यर्थ मजाक न करें, बच्चों के साथ बैठकर पिक्चर न देखें, बच्चों के सामने मजाक नहीं करना। यदि हम चाहते हैं हमारे बच्चे सच्चारित्रवान् बनें तो हम भी अपने व्रत का दृढ़ता से पालन करें।

गुजरात का एक राजा था। एक बार मुगलों ने उस पर चढ़ाई कर दी। मुगलों की सेना से लड़ने के लिये उसका पुत्र गया। वह वीरता से युद्ध करता रहा दुर्भाग्य से राजकुमार का सिर युद्ध में कट गया, फिर भी उसके हाथ की तलवार ने 10–12 मुगलों के सिर काट दिये। मुगलों के राजमंत्री ने सोचा कि यह इतना बहादुर है, फिर इसका पिता तो और भी बहादुर होगा। जाकर के मंत्री ने यह बात मुगल बादशाह से कही, बादशाह ने कहा–उस राजा को हमारे राज्य में लाओ, ताकि हम उसका विवाह किसी अच्छी लड़की से कर देगें। इससे ऐसी बहादुर संतान हमारे राज्य में भी पैदा हो सके। वह मंत्री उस राजा के पास गया, और बोला–महाराज! हमारे बादशाह ने आपको बुलाया है। राजा ने पूछा कि बताओ मुझे आपके बादशाह ने क्यों बुलाया? उसने कारण नहीं बताया। राजा उसके साथ चल

दिया, रास्त में राजा ने बहुत पूछा कि बताओ मुझे आपके बादशाह ने क्यों बुलाया है? तब मंत्री बोला–महाराज आपके पुत्र के बल, गौरव और पराक्रम की प्रशंसा सुनकर हमारे राजा ने आपको बुलाया है, जिससे आपकी शादी राज घरान की किसी अच्छी लड़की से कर देंगे, और आप उनके राज्य में रहकर वैसी ही संतान पैदा करें। तब राजा बोला कि अच्छा भाई वहाँ हमारे लायक कोई लड़की भी मिलेगी? तब वह मुगल मंत्री बोलता है कि हमारे राज्य में एक से एक सुन्दर लड़कियाँ हैं। तब राजा कहता है कि मुझे सुन्दर लड़की नहीं चाहिय। मुझे तो ऐसी ही लड़की चाहिये जैसी मेरी रानी थी। तब मंत्री बोला – कैसी थी आपकी रानी? राजा न अपनी रानी का चरित्र सुनाना शुरू कर दिया कि जो राजपुत्र लड़ाई मे मारा गया जब वह 6 माह का था, पालने में सो रहा था, ता मैं रानी के कमरे में गया और कुछ राग भरी बात रानी से कहन लगा। तब रानी ने बीच में ही टाककर कहा कि इस बच्चे के सामने राग मिश्रित वचन मत बोलिये, यह पर पुरुष है। तब मैंने कहा कि इतने छोटे से बच्चे के रहने से क्या हाता है। हम एसा बोल ही रहे थे कि उस बच्चे ने अपना मुँह चादर से ढक लिया। यह बात रानी ने देख ली, और वह बाली कि देखो आप इसके सामने राग भरी बात कर रहे थे, अतः इस भी शरम आ रही है, इसने अपना मुँह छिपा लिया। यह कहकर रानी अपनी जीभ दाँतां की बीच चबाकर मर गई। यह तो उसके शील की थोड़ी–सी कहानी है। सारी चर्या का तो कहना ही क्या? अतः आपके राज्य में यदि काई ऐसी शीलवती लड़की हो, ता मैं उससे विवाह कर सकता हूँ और फिर ऐसी ही बलवान् संतान पैदा हो सकती है। मंत्री अपना सा मुँह लेकर वापिस चला गया। संतान में सुबुद्धि का आना, बल का आना, ज्ञान का बढ़ना, योग्यता का

आना, माता–पिता के शील स्वभाव पर निर्भर है।

एक बार दंडकवन में जब राम लक्ष्मण सीता जी को ढूंढ रहे थे, तो रास्ते में उन्हें सीता जी के कुण्डल, हार, कंगन, मिले। रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा–लक्ष्मण! पहचानो क्या ये आभूषण सीता के हैं? तब लक्ष्मण जी ने एक ही उत्तर दिया कि मैं सीता माता के कंगन, हार कैसे पहचान सकता हूँ? मैं तो सीता माता के सिर्फ नूपुर ही जानता हूँ, क्योंकि मैंने आज तक सीता माता के पैर ही छुये हैं। किन्तु शेष आभूषणों पर कभी ध्यान ही नहीं गया। इसी को वाल्मीकि रामायण में लिखा है –

नाऽहं जानामि केमूरे, नाऽहं जानामि कुण्डले।
नूपराण्यैव जानामि, नित्यं पादामि बन्दनात्।।

पहले भाभी को माँ–जैसा और भाई को पिता जैसा दर्जा दिया जाता था। और देखा सीता जी ने अपने स्वदार संतोष व्रत का दृढ़ता के साथ पालन किया, जिसकी महिमा सभी ने देखी। सीता जी ने अग्नि कुण्ड में प्रवेश करते समय कहा था–हे अग्नि! यदि मैंने स्वप्न में भी पर–पुरुष का स्मरण किया हो, तो तू मुझे क्या जलायेगी, मैं तो पहले ही जल गई और यदि मैं पवित्र हूँ तो भी तू मुझे क्या जलायेगी, तुझमें मुझे जलाने की शक्ति ही नहीं है। और सीता जी के प्रवेश करते ही अग्नि कुण्ड, जलकुण्ड में बदल गया, सिंहासन की रचना हो गई। यह सब सीता जी के स्वदार–संतोष व्रत का प्रभाव था।

यदि हम वास्तव में ब्रह्मचर्य की साधना करना चाहते हैं, तो हमारी दृष्टि में मात्र तीन ही नाते रहना चाहिये। माता का, बहिन का और पुत्री का।

पाण्डवों को जब वनवास मिला, तो एक बार पाँचों पाण्डव और कुन्ती एक भयानक जंगल में रुके। वहाँ रात में सभी को एक–एक करके पहरा देने की ड्यूटी लगाई गई। जब भीम पहरा दे रहे थे, तो वहाँ एक बहुत सुन्दर अप्सरा के समान महिला आई और भीम को देखकर मोहित हो गई। वह भीम के पास गई और उनसे रागभरी बातें करने लगी और बातचीत में ही उसने भीम के सामने शादी का प्रस्ताव रख दिया।

भीम बोले—वास्तव में आप बहुत सुन्दर हैं। पर मेरे से एक बहुत बड़ी गलती हो गई, यदि मुझे पहले पता होता कि आप उनसे भी अधिक सुन्दर हैं, तो मैं आपके ही गर्भ में जन्म लेता। देखा, भीम ने उसे भी माँ की दृष्टि से देखा। जो व्यक्ति इन्द्रिय–विषयों में आसक्त नहीं होता, वही इस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर सकता है। इस व्रत को धारण करने से आत्म शक्ति बढ़ती है, परिग्रह की तृष्णा घटती है, इन्द्रियाँ वश में होती हैं। ध्यान में अडिग चित्त लगता है और अतिशय पुण्य बन्ध के साथ–साथ कर्मों की निर्जरा होती है।

ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिये मन, वचन, काय से स्त्रियों में राग का त्याग करें। कुशील के मार्ग पर न तो स्वयं चलें, न दूसरों को चलने का उपदेश दें और न कुशील के मार्ग में चलने वालों की अनुमोदन करें।

हम यह जानते हैं कि गृहस्थी में सुख नहीं, शांति नहीं। स्वयं ऐसा अनुभव भी कर रहे हैं। लेकिन मोह की विचित्र महिमा है कि हम अपने पुत्र–पुत्रियों को त्याग के मार्ग पर बढ़ने से रोकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अभी ब्रह्मचर्य से हमारा प्रेम नहीं है।

यदि मातायें कुन्दकुन्द की माँ–जैसी बन जायें, जिन्होंने 5 वर्ष में

पुत्र को वन में भेज दिया था पढ़ने के लिये और कहा था कि यह बच्चा पढ़ लिखकर लौटकर घर न आये, तो हम अपनी कोख को सार्थक समझेंगे। जब बच्चे को झूले में झुलातीं थीं, तब कुन्दकुन्द आचार्य की माँ कहती थीं—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि।
संसार माया परिवर्जतोऽसि।।

अर्थात्, हे पुत्र! तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरंजन है, संसार की ओर से तू सो जा। यह है उत्कृष्ट माँ की भावना।

यदि हम वास्तविक सुख—शान्ति चाहते हैं, तो इतना संकल्प कर लें कि जहाँ तक हो सकेगा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करेंगे। एक दिन का ब्रह्मचर्य व्रत भी महाव्रत का कार्य कर सकता है। व्रत धारण करना नर—पर्याय का सार है। और समस्त व्रतों का सार ब्रह्मचर्य में है। संस्कृत में एक श्लोक आता है —

अङ्कस्थाने भवेच्छीलं, शून्याकारं व्रतादिकम्।
अङ्कस्थाने पुनर्नष्टे, सर्वशून्यं व्रतादिकम्।।

शून्य किसी भी अंक को दशगुणा कर देता है, परन्तु अंक के बिना शून्य का कोई महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार शीलव्रत के बिना अन्यव्रत अंक रहित शून्य के समान ही हैं। किन्तु शील संयुक्त होते ही कई गुणे महत्त्व को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे ही शील की प्रशंसा करते हुये लिखा है —

शीलेन हि त्रयो लोकाः, शक्या जेतुं न संशयः।
नहि किंचिदसाध्यं त्रैलोके, शीलवतां भवेत्।।

शील से तीनों लोकों पर विजय प्राप्त की जा सकती है, इसमें

कोई संदेह नहीं। शील वानों के लिये संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है। जिसने अपने ब्रह्म स्वरूप को पहचान लिया, उसका मनोबल जागृत हो जाता है। वह अपने मन व इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

राजा का एक हाथी था, जिसे राजा बहुत प्रेम किया करता था। सारी प्रजा का भी वह प्रियपात्र था। उसकी प्रिय पात्रता का कारण उसमें अनेक गुण थे। वह बुद्धिमान एवं स्वामीभक्त था। अपने जीवन में उसने बड़ी यशोगाथा प्राप्त की थी। अनेक युद्धों में अपनी वीरता दिखाकर उसने राजा को विजयी बनाया था। अब वह हाथी धीरे-धीरे बूढ़ा हो गया था। उसका सारा शरीर शिथिल हो गया, जिससे वह युद्ध में जाने लायक नहीं रहा।

वह एक दिन तालाब पर पानी पीने गया। तालाब में पानी कम होने से हाथी तालाब के मध्य में पहुँच गया। पानी के साथ तालाब के बीच कीचड़ भी खूब था। हाथी उस कीचड़ के दल-दल में फँस गया। वह अपने शिथिल शरीर को कीचड़ से निकाल पाने में असमर्थ था। वह बहुत घबराया और जोर-जोर से चिंघाड़ने लगा। उसकी चिंघाड़ सुनकर सारे महावत दौड़े। उसकी दयनीय स्थिति देखकर सोच में पड़े कि इतने विशालकाय हाथी को कैसे निकाला जाय। आखिर उन्होंने बड़े-बड़े भाले भौंके, जिसकी चुभन से वह अपनी शक्ति को इकट्ठी करके बाहर निकल जाय? परन्तु उन भालों ने उसके शरीर को और भी पीड़ा पहुँचाई, जिससे उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

जब यह समाचार राजमहल में राजा के कानों में पड़े तो वे भी शीघ्र गति से वहाँ पहुँचे। अपने प्रिय हाथी को ऐसी हाल में देखकर

राजा की आँखों से आँसू बह निकले। बूढ़े महावत ने राजा को सलाह दी कि हाथी को बाहर निकालने का एक ही तरीका है कि बैंड लाओ, युद्ध का नगाड़ा बजाओ और सैनिकों की कतार इसके सामने खड़ी कर दो। राजा ने तुरन्त आदेश दिया कि युद्ध का नगाड़ा बजाया जाए और सैनिकों को अस्त्र–शस्त्र के साथ सुसज्जित किया जाए। कुछ ही घंटो में सारी तैयारियाँ हो गईं। जैसे ही नगाड़ा बजा, और सैनिकों की लम्बी कतार देखी, तो हाथी को एक दम से स्फुरणा हुई और वह एक ही छलांग में बाहर आ गया। नगाड़े की आवाज ने उसे भुला दिया कि मैं बूढ़ा हूँ, कमजोर हूँ और कीचड़ में फँसा हूँ। नगाड़े की आवाज ने उसके सुप्त मनोबल को जगा दिया। युद्ध के बाजे बज जायें और वह रुका रह जाये, ऐसा कभी नहीं हुआ था।

जीवन में मनोबल ही श्रेष्ठ है। जिसका मनोबल जागृत हो गया उसको दुनिया की कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती। जो मन से ही कमजोर है, वह किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता।

श्रीमद् रायचन्द्र जी गुजरात में हुये हैं। वे कहा करते थे हमें सदैव ध्यान रखना चाहिये कि काल सिर पर सवार है। यदि हमें यह ध्यान बना रहे तो फिर हम कभी गाफिल नहीं हो सकते, हमारे मन में विकार नहीं आ सकते।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने लिखा है कि जन्म के समय सभी कोरे कागज की भांति पैदा होते हैं, किन्तु मृत्यु के क्षण में सारी कथा उस पर लिखी जाती है। महापुरुषों ने मृत्यु को एक शिक्षण कहा है। जैसे कोई बच्चा स्कूल में जाता हो और एक ही कक्षा में फेल होता रहे, तो बार–बार उसी कक्षा में पढ़ना पड़ता है। मृत्यु भी एक महाशिक्षण है। जब तक हम अमरत्व को प्राप्त नहीं कर

लेंगे, तब तक बार–बार इस संसार में जन्म लेते रहेंगे।

जीवन के रहते हुए यदि मृत्यु का बोध स्पष्ट हो जाए, तो अमरत्व को पाना संभव है। हर क्षण मृत्यु का स्मरण करने से मृत्यु–बोध हमारे जीवन में अंकुरित हो सकता है। जैसे चौगाने में लकड़ियों के सहारे बंधी रस्सी पर नट नाचता है, ढोल की आवाज के साथ अपने पाँव बढ़ाता है और अलग–अलग करतब भी दिखाता है। उस समय चारों ओर से लोग उसकी प्रशंसा करते हैं और तालियाँ बजाते हैं और पैसे फेकते हैं। इतना कुछ होते हुए भी उसका मन सिर्फ रस्सी पर ही लगा हुआ है, क्योंकि वह जानता है तनिक सी असावधानी मृत्यु को निमंत्रित करेगी। इस बात का सतत् ध्यान रहे कि मृत्यु प्रतिपल हमारे सामने खड़ी है, तो जीवन का रूप बदलते देर नहीं लगेगी। किसी शायर की पंक्तियों में इस सत्य को उजागर किया गया है–

जब तक मौत नजर नहीं आती।
तब तक जिन्दगी राह पर नहीं आती।।

महाराष्ट्र के एक महान संत हुए हैं – रामदास। वे हर घड़ी शुभध्यान और प्रभु–चर्चा में लीन रहते थे। मानव मात्र को उत्कर्ष का मार्ग समझाते थे और उस पर चलने की प्रेरणा देते थे। एक दिन एक जिज्ञासु उनके चरणों में आया और बोला–महाराज! आप बड़े महान हैं, कितनी अच्छी और सच्ची धर्म की बातें सुनाते हैं। अतः मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि क्या आपके मन में कभी कोई विकार नहीं आता?

संत रामदास ने उसकी जिज्ञासा को जानकर गंभीरता पूर्वक कहा–सुनो, भाई! तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर तो मैं बाद में दूँगा,

परन्तु एक बात बता देना चाहता हूँ कि आज से ठीक एक महीने बाद तुम्हारी मृत्यु होने वाली हैं।

संत के इन वचनों को सुनकर उस आदमी के पैरों के नीचे से धरती खिसक गई। उसका शरीर थर–थर काँपने लगा। जैसे–तैसे वह घर पहुँचा। तत्काल उसने घर के सभी सदस्यों को बुलाया और आँखों से आँसू बहाते हुए संत की भविष्यवाणी बता दी। सुनकर घर के लोग स्तब्ध रह गए और यह सोचकर रोने लगे कि इतने महान संत की बात झूठी तो नहीं हो सकती।

उस जिज्ञासु को मृत्यु के आगमन का इतना गहरा आघात लगा कि वह बीमार हो गया। एक–एक दिन गिनने लगा। उसके सम्बन्धी, मित्र और मिलने वाले आकर उसे सांत्वना देने लगे, किन्तु उसे चैन कहाँ! ज्यों–ज्यों दिन बीत रहे थे, उसकी वेदना बढ़ती जा रही थी।

आखिर वह दिन आ ही गया। लोगों की भीड़ जमा हो गई। सब हैरान और दुःखी थे। इतने में स्वामी रामदास आ गए। भीड़ को देखकर उन्होंने पूछा–वत्स! यह सब क्या हो रहा है?

जिज्ञासु ने हताश होकर कहा– महात्मन्! क्या आप भूल गए? आपने कहा था, एक महीने बाद मेरी मौत होने वाली है। आज उसका आखिरी दिन है और वह घड़ी अब आने ही वाली है।

यह सुनकर संत रामदास मुस्कराये और मधुर स्वर में उन्होंने पूछा– पहले यह बताओ कि इस महीने में तुम्हारे मन में कोई विकार पैदा हुआ? आश्चर्यचकित होकर जिज्ञासु ने कहा–स्वामी जी ! मेरे सामने तो हर घड़ी मौत खड़ी थी, फिर विकार कहाँ से आता?

संत रामदास ने हँसकर कहा – अरे पगले! तेरी मौत नहीं आने वाली। मैंने तो तुम्हारे सवाल का जवाब दिया था। जैसे तुम्हारे

सामने एक महीने तक मौत खड़ी रही, वैसे ही मेरी हर धड़कन के साथ ईश्वर का स्मरण रहता है। ऐसा बोध–पाठ मिलने के बाद जिज्ञासु का जीवन ही बदल गया।

मृत्यु का सतत् बोध हमें जीवन की गहराइयों में ले जाता है। दूसरे की मृत्यु से अपनी मृत्यु का बोध ले सकते हैं, क्योंकि हर पीले पत्ते का टूटना हमारी मौत है, हर पानी के बुलबुले का फूटना हमारी मौत है, हर अर्थी का उठना हमारी मौत है, अगर हम चिन्तन कर सकें तो ....। लेकिन आदमी बड़ा बेईमान है। यदि पड़ोस में किसी की मृत्यु हो जाए तो लोग कहते हैं, बेचारा चला गया। इस लहजे में यह बात कही जाती है, जैसे हम तो अमर रहने–वाले हैं। इसलिए किसी की सड़क से गुजरती अर्थी को देखकर यह मत कहना कि बेचारा चल बसा, अपितु उस अर्थी को देखकर सोचना कि किसी दिन मेरी अर्थी भी इस तरह से गुजरेगी।

वस्तुतः चेतन आत्मा में विहार करना, समस्त राग–द्वेषों से निवृत होना, उपयोग की धारा को सीमित कर, पर–भावों से हटाकर, अपने ब्रह्मस्वरूप में रमण करना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है।

आचार्य श्री ने लिखा है – स्व की ओर आने का कोई रास्ता मिल सकता है, तो देव–शास्त्र–गुरु से ही मिल सकता है, अन्य किसी से नहीं मिल सकता। इसलिये इनको तो बड़ा मानना ही है, तब तक मानना है, जब तक कि हम अपने आप में लीन न हो जायें। भगवान का दर्शन करना तो परमावश्यक है, पर यह ही हमारे लिये पर्याप्त है, यह मन में मत रखना। भगवान बनने के लिये यदि आप भगवान की पूजा कर रहे हैं, तो कम–से–कम मन में भाव तो उठता है कि अभी तक पूजा कर रहा हूँ, पर भगवान क्यों नहीं बन रहा हूँ?

दुकान खोलने के उपरांत आप एक, दो, तीन दिन अवश्य रुक जायें, पर फिर सोचते हैं कि–ग्राहक क्यों नहीं आ रहे, क्या मामला है? धीरे–धीरे विज्ञापन बढ़ाना प्रारम्भ कर देते हैं, बोर्ड पर लिखवाते हैं, अखबारों मे निकलवाते हैं कि घूमते–घूमते कोई आवे तो सही। अर्थ यह है कि इतना परिश्रम करके जिस उद्देश्य से दुकान खोली है, उसका तो कम–से–कम ध्यान रखना चाहिये। तो भगवान की पूजा हम क्यों कर रहे हैं–यह भी तो ध्यान रखना चाहिये। यदि आप लोगों का भगवान बनने का संकल्प नहीं है तो फिर भगवान की पूजा क्यों कर रहे हैं? हमें भगवान थोड़े बनाना है, हम तो श्रीमान् बनने के लिये पूजा कर रहे हैं। श्रीमान् बनने के लिये पूजा कर रहे हैं, तभी आप टटोलते रहते हैं कि पूजा तो कर रहा हूँ, पर बन नहीं रहा हूँ। लगता है कि वहाँ से ध्वनि निकल रही है – बन जायगा। ध्वनि, अपने मन के अनुरूप ही निकलती है, ध्यान रखना। ध्वनि नहीं निकलती है। पर मन में है कि कब साहूकार बन जाऊँगा? तो ध्वनि निकलेगी कि बन जायगा। धार्मिक क्रियाओं के माध्यम से आप अभी तक साहूकार बनने में ही लगे हैं। परिश्रम इसी में समाप्त हो रहा है। यह परिश्रम कितने भी दिन करते रहो, जड़ की उपलब्धि हो सकती है, सम्पत्ति की उपलब्धि हो सकती है, पर भगवान बनने की उपलब्धि इस दृष्टिकोण से नहीं हो सकती है। हम जैसे–जैसे क्रियाओं के माध्यम से राग–द्वेषों को संकीर्ण करते चले जायेंगे, संकीर्ण बनाते चले जायेंगे, वैसे–वैसे अपनी आत्मा के पास पहुँचते जायेंगे। यह प्रक्रिया ही ऐसी है, इसके बिना कोई भगवान हो ही नहीं सकता। अपनी आत्मा में लीन हो जाना ही ब्रह्मचर्य है और यही एक मात्र भगवान बनने का उपाय है।

देव–शास्त्र–गुरु के माध्यम से जिस व्यक्ति ने अपने आपके

जीवन को वीतरागता की ओर मोड़ लिया, वह अवश्य एक दिन जन्म–मरण से विराम पायेगा। किन्तु यदि देव–शास्त्र–गुरु के माध्यम से जो जीवन में बाहरी उपलब्धि की वाँछा रखता हो, तो वही चीज उसे उपलब्ध हो सकती है, आत्मोपलब्धि नहीं।

समय के रहते 'समय' अर्थात् आत्मा को पहचानने का प्रयास करो। समयसार की व्युत्पत्ति आचार्यों ने बहुत अच्छी की है–'समीचीन रूपेण अयतिगच्छिति व्याप्नोति जानाति परिणमति स्वकीयान शुद्ध गुण पर्यायान् यः सः समयः।' – अर्थात् जो समीचीन रूप से अपने शद्ध गुण–पर्यायों की अनुभूति करता है, उनको जानता है, उनको पहचानता है, उनमें व्याप्त होकर रहता है, उसी मय जीवन बना लेता है, वह है–'समय' और उस समय का जो कोई भी सार है, वह है–'समयसार'। जिस समयासार के साथ व्याख्यान का कोई सम्बन्ध नहीं रहता और कषाय का कोई निमित्त नहीं रहता। उसमें मात्र 'एक' रह जाता है, बस 'एक' में ही एक विराजमान हो जाता है। उस 'एक' का ही महत्त्व है। ताश खेलते हैं आप लोग, उसमें एक (इक्क) का बहुत महत्त्व होता है। उसी प्रकार 'एकः अहं खलु शुद्धात्मः' ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है। ताश में बादशाह से भी अधिक महत्त्व रहता है उस इक्के का। 'एक' अपने आप में महत्त्वपूर्ण है, वह है – शुद्धात्मा।

आचार्य श्री ने लिखा है कि मनुष्य जीवन एक प्रकार का प्लेटफार्म है, स्टेशन है। अनादिकाल से जो जीवन राग–द्वेष की ओर मुड़ गया है, उस मुख को हम वीतरागता की ओर मोड़ सकते हैं। और उस ओर गाड़ी को मोड़ सकते हैं तो इस (मनुष्य जीवन) स्टेशन से ही।

पर स्टेशन आ जाने पर आपको नींद आ जाती है। आपकी निद्रा

भी बहुत स्यानी है। आलस्य आता है आपको। क्या करें महाराज! कर्म का उदय ही है। कई लोग कहते हैं ऐसा। हाँ, भैया! कर्म का उदय है। किन्तु समझो तो सही, क्या होता है? निद्रा वहीं पर क्यों आती है? आलस्य वहीं पर क्यों आता है? एक व्यक्ति ने कहा – जैसे ही मैं सामायिक करने बैठता हूँ, जाप करने बैठता हूँ, स्वाध्याय करने के लिये सभा में आ जाता हूँ, तो निद्रा आ धमकती है। मुझे सोना ही पड़ता है। अच्छा, बहुत स्यानी है आपकी निद्रा। आपके कर्म भी बहुत सयाने हैं कि ऐसे स्थान पर आने पर ही निद्रा आती है। इसमें कुछ–न–कुछ रहस्य अवश्य है। उन्होंने उनसे पूछा कि – जिस समय आप दुकान में बैठते हैं और नोट के बंडल गिनते हैं, उस समय कभी निद्रा आई है? महाराज! उस समय (वहाँ पर) तो भूलकर भी नहीं आती। अच्छा, यह अर्थ है। वहाँ पर नहीं आती? और यहाँ पर आती है, तो निद्रा को भी इस प्रकार अभ्यास कराया है आपने, यहाँ पर आते ही नींद लेना है, सुनना नहीं है।

एक शास्त्र सभा जुड़ी थी। एक दिन एक व्यक्ति को पंडित जी ने पूछा–क्यों, भैया! सो तो नहीं रहे हो? वह कहता है – नहीं। पर वह ऊंघ रहा था। जब एक बार, दो बार, तीन बार ऐसे ही पूछा तो उसने भी वही जवाब दिया। फिर पंडित जी बोले – सुन तो नहीं रहे हो, भैया? उसने तुरन्त उत्तर दिया – नहीं तो। ठीक है, भैया। ऐसे पकड़ में आये। सीधे–सीधे पूछने पर थोड़े पकड़ में आयेंगे आप लोग। यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्द महाराज कह रहे हैं – 'समयसार' पढ़ रहे हो? हाँ पढ़ रहे हैं। पढ़ रहे हो – तो परिवर्तन क्यों नहीं आ रहा? 'समयसार' पूरी पढ़ने की भी कोई आवश्यकता नहीं है, एक गाथा ही पर्याप्त है। पूरी तो इसलिये कि उसमें उन्होंने अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति किया है, मूर्तरूप दिया है, शब्द रूप दे

दिया है। किन्तु एक ही शब्द में उन्होंने कह दिया समय और उसका सार। इसके शीर्षक के माध्यम से ही सारा काम हो जाता है। शुद्ध आत्मा का सार–आत्मा के सार को ही 'समयसार' कहा है। उस ब्रह्मस्वरूप आत्मा में लीन होने पर जो सुख होता है, वह इन्द्र, अहमिन्द्र को भी नहीं होता।

यो चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यो।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो।।

स्वात्मानुभूति का संवेदन, आत्मा का जो स्वाद है, वह स्वाद स्वर्ग के देवों के लिये भी दुर्लभ है और वहाँ के इन्द्र के लिये भी दुर्लभ है। कहीं भी चले जाओ, सबके लिये दुर्लभ है। उसी के लिये (मनुष्य के लिये) वह साध्यभूत है, संभव है, जिन्होंने अपने आपके संस्कारों को मार्जित कर लिया है, अर्थात् राग–द्वेष के संस्कार जिनके बिल्कुल नही हैं, जिनकी अनुभूति में वीतरागता उतर गई है, उसका नाम है स्वसंवेदन उसका नाम है आत्मानुभूति, उसका नाम है ब्रह्मचर्य।

आत्मा ही ब्रह्म है। उस ब्रह्मस्वरूप आत्मा में चर्या करना, सो ब्रह्मचर्य है। इस ब्रह्मचर्य के लिये इन्द्रिय–विषयों का त्याग करना अनिवार्य है। जहाँ इन्द्रिय–विषयों की वासना व कषायों की शान्ति नहीं हुई, वहाँ ब्रह्मचर्य जन्म नहीं ले सकता। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये विषय–कषायों से दूर रहना चाहिये। ब्रह्मचर्य धर्म तो मन की पवित्रता का धर्म है। जिनका मन पवित्र हो जाता है, उनसे ब्रह्मचर्य व्रत सहज रूप से पल जाता हैं।

एक बार एक युवा और वृद्ध भिक्षु नदी के किनारे से जा रहे थे। उसी समय अचानक एक लड़की नदी में गिर गई, तो उस युवा भिक्षु

ने तुरन्त कूदकर उसे बाहर निकाल दिया। वृद्ध भिक्षु बाला–तूने यह क्या किया? युवा लड़की का अपने हाथ में उठा लिया, तुझे प्रायश्चित्त लेना पड़ेगा। वह उसे रास्ते भर तंग करता रहा और आश्रम में आकर अपने गुरु से उसकी शिकायत कर दी। तब गुरु बोले–प्रायश्चित्त उसे नहीं तुम्हें मिलेगा, क्योंकि उसने तो उसे निकाल कर वहीं छोड़ दिया पर तुम ता उसे यहाँ तक ले आये हा। अभी भी वह तुम्हारे मन में है। जिसका मन पवित्र होता है, वही इस शील व्रत का पालन कर सकता है।

सव्वंगं पेच्छं तो इत्थी णं तासु मुयदि द्रव्यावम्।
सा बम्ह चेर यावं सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि।।

जो पवित्रात्मा स्त्रियों के सर्वांगों को देखकर अपन परिणामों को विकृत नहीं होने देता, वास्तव में उसक दुद्धर ब्रह्मचर्य धर्म है।

यह ब्रह्मचर्य नाम का व्रत बड़ा दुर्द्धर है। जो विषयों क वश होने से आत्मज्ञान स रहित हैं, वे इसे धारण करने में समर्थ नही हैं। जो मनुष्यों में देव के समान हैं, वे भी इसे धारण करने में समर्थ नहीं हैं। जिसके ब्रह्मचर्य हाता है, उसे समस्त इन्द्रियों तथा कषायों को जीतना सुलभ है।

शील की महिमा का वर्णन करते हुये कवि ने लिखा है –

शील बड़ा जग में हथियार, जुशील की उपमा काहे को दीजे।
ज्ञान कहे नहिं शील बराबर, तातें सदा दृढ़ शील धरीजे।।

शील से बड़ा हथियार संसार में दूसरा नहीं है फिर शील की उपमा किससे दी जा सकती है? अर्थात् नहीं दी जा सकती है। शील के बाराबर कुछ भी नहीं है। इसलिये शीलव्रत का सदा दृढ़ता से पालन करना चाहिये।

मन को मदोन्मत्त हाथी के समान कहा गया है। स्वर्ग और मोक्ष को देने वाले ब्रह्मचर्यरूपी वृक्ष को विध्वन्स करने वाले इस मन रूपी मदोन्मत्त हाथी को रोकना चाहिये। जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी चलायमान होकर अपने स्थान से निकल भागता है, उसी प्रकार काम, विषय–वासना से उन्मत्त हुआ मनरूपी हाथी अपने समभाव रूप स्थान से निकल भागता है। इस काम ने ऋषि, मुनि, देवता, हरिहर ब्रह्मा आदि को भ्रष्ट करके अपने अधीन किया है। ब्रह्मचर्य का विरोधी अब्रह्म (काम) है। सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र जी द्वारा जीवकान्ड में अब्रह्म के चार कारण बताये गये हैं– इनसे सदा बचकर रहना चाहिये –

1. कामोद्दीपक आहार करने से।
2. विषय–भोग सम्बन्धी चिन्तन करने से।
3. कुशील व्यक्तियों की संगति करने से।
4. वेद नामक कर्म की उदीरणा होने से।

1. कामोद्दीपक आहार करने से – इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाला गरिष्ठ आहार कामोद्दीपक आहार कहलाता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये गरिष्ठ आहार नहीं करना चाहिये। ब्रह्मचर्य से अस्वादव्रत बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाला है, दवा या पानी के समान। जिस प्रकार इन दोनों का भक्षण करते समय स्वाद नहीं लिया जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए (ब्रह्मचारी को) भोजन बिना स्वाद का होना चाहिये। यदि कोई अपनी जिव्हा इन्द्रिय को जीत ले, तो ब्रह्मचर्य सहज से पल जाता है। गरिष्ठ भोजन करना और अधिक श्रृंगार करना ब्रह्मचर्य में बाधक है।

नगरसेठ का एक पुत्र बहुत ही सुशील एवं विवेक वान था। सेठ

ने उसे विवाह के योग्य देख एक धर्मनिष्ठ लड़की के साथ उसका विवाह करा दिया, लेकिन दुर्भाग्य से विवाह के कुछ दिनों बाद सेठ के लड़के का देहावसान हो गया और सेठ जी उसके वियोग का दुःख भूले नहीं थे कि उसके पहले ही सेठानी भी स्वर्ग लोक को चली गई। अब घर में सेठ जी और बहूरानी दो ही सदस्य रह गये। सेठ जी ने सोचा, बहू को अपने पति का वियोग बार-बार याद न आवे इसलिये भोजन-शृंगारादि की भरपूर सामग्री घर में लाकर रख दी। बहू भी हमेशा अच्छे-अच्छे मिष्ठ और तले हुये गरिष्ठ भोजन बनाकर खाने लगी। जिससे उसका मन वासना से ग्रसित होने लगा और वह वासना इतनी प्रबल हो गयी कि उसने एक दिन निर्लज्ज होकर सेठजी (ससुर) से कह दिया, पिताजी! अब मुझे अकेलापन अच्छा नहीं लगता (अर्थात् मेरी दूसरी शादी करवा दो, मैं अकेली नहीं रह सकती) सेठ जी यह सुनते ही अवाक् रह गये। वे गहन चिन्ता में डूब गये। अब उन्हें खाना-पीना कुछ नहीं रुचने लगा। वे मात्र एक ही बात सोचते कि बहू के मन में ऐसा विचार क्यों आया और इसका निवारण कैसे हो? बहुत विचार करने के पश्चात उन्हें समझ में आया कि बहू के मन में विकार आने का कारण गरिष्ठ भोजन और शृंगार की अधिकता है। इसका निवारण करने के लिए सेठ ने भोजन के समय बहू से कहा – बेटी! मेरा आज उपवास है। बहू का एक नियम था कि घर में बड़ों को भोजन कराये बिना भोजन नहीं करना, इसलिये सेठ जी के उपवास करने से बहू का भी उपवास निश्चित हो गया। पूरे दिन खाने-पीने वाली बहू ने बड़ी मुश्किल से अपना दिन-रात व्यतीत किया। दूसरे दिन सुबह सेठ जी से भोजन के लिये कहा तो सेठ जी ने कहा – बेटी! मेरा तो आज भी उपवास है, तुम भोजन कर लो। बहू अपने नियम में दृढ़ थी।

उसने भी दूसरा उपवास कर लिया, जिससे वह बहुत बेचैन हुई, श्रृंगार आदि करना भूल गयी। तीसरे दिन सेठजी ने पुनः उपवास किया, तो बहू का भी तीसरा उपवास हो गया। अब बहू की इन्द्रियाँ (शरीर) शिथिल हो गयीं, उसको कुछ भी स्नान करना, श्रृंगार करना, बार–बार दर्पण देखना, वस्त्र बदलना आदि अच्छा नहीं लगने लगा। क्योंकि, यदि पेट में भोजन न हो तो कोई भी कार्य नहीं रुचता है। चौथे दिन बहू ने सेठ जी से कहा "पिताजी! यदि आप मुझे जीवित देखना चाहते हों तो पारणा कर लीजिये।" सेठजी ने कहा – बेटी! सुनो, तीन दिन पहले तुमने जो कहा था कि मुझे अकेलापन अच्छा नहीं लगता, उसकी पूर्ति के लिये मैं कुछ कर लूँ, उसके बाद ही पारणा करूँगा। यह सुनते ही बहू को अपनी गलती महसूस हुई, वह अपनी गलती की निन्दा करती हुई क्षमा माँगने लगी। उसने प्रतिज्ञा की कि आइन्दा कभी भी एसी गलती मेरे से नहीं होगी और आज से ही जीवन पर्यन्त के लिये ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती हूँ। अब मैं कभी गरिष्ठ भोजन नहीं करूँगी, सादा भोजन ही करूँगी, श्रृंगार आदि नहीं करुंगी। उसने उस दिन से शीलवती महिलाओं और आर्यिकाओं के समागम में रहकर अपनी साधना शुरू कर दी और कुछ ही वर्षों में आर्यिका बनकर अपने जीवन को कृतार्थ कर लिया।

गरिष्ठ भोजन करने से बड़े–से–बड़े धर्मात्मा, त्यागी–व्रती, दृढ़ संकल्पी भी अपने शील को दूषित कर लेते हैं। अतः गरिष्ठ भोजन अर्थात् घी, शक्कर, दूध का अति मात्रा में सेवन अब्रह्म का कारण है। शरीर का श्रृंगार करना भी अब्रह्म का कारण है। श्रृंगार वास्तव में किया ही इसलिये जाता है कि मैं दूसरों को सुन्दर दिखूँ। श्रृंगार करने वाला स्वयं डूबता है और दूसरों को भी डूबोने में भी निमित्त बनता है।

2. विषयोपयोग सम्बन्धी चिन्तन करने से – जिन पुरुषों ने शास्त्र अध्ययन, प्रशम भाव और संयम से अपने मन को स्वस्थ कर लिया है, वे भी स्त्रियों के रूपादि का चिंतन करने मात्र से भ्रष्ट हो गये। भावदेव अपनी स्त्री के स्मरण करने से अपने मन को ध्यान में स्थिर नहीं कर पाये। उनकी कथा शास्त्र में इस प्रकार आती है।

सेठानी रेवती के भवदेव एवं भावदेव नामक दो पुत्र थे। भवदेव ने बालपन में ही अपने पिता के साथ दीक्षा धारण कर ली। कुछ वर्षों के पश्चात् पिता की समाधि हो जाने पर भवदेव मुनिराज विहार करते हुए उपनी देह की जन्मभूमि की तरफ आये। उन्हीं दिनों वहाँ भावदेव के विवाह का कार्यक्रम चल रहा था। भावदेव नागला नामक धर्मनिष्ठ कन्या के साथ विवाह करके लौट रहा था। रास्ते में उन्हें अपने भाई मुनि भवदेव के दर्शन हुए और उनके उद्बोधन से भावदेव को संसार से विरक्ति आ गई, परन्तु वह अपने मन में सोचने लगा–इसने मेरे साथ विवाह किया और अपने माता–पिता को छोड़कर मेरे साथ यहाँ आई, अगर मैं दीक्षा लूँगा तो इसका निर्वाह कैसे होगा? यह अपने मन में क्या सोचेगी? ऐसा विचार कर वह अपनी नवविवाहित पत्नी के मोह में मोहित हो, रागवश दीक्षा लेने से पीछे हट रहा था। तब नवविवाहिता नागला ने अपने पति के मन की बात भाँप ली और दीक्षा लेने की भावना देखकर बोली– "आप यदि अपने कल्याण–पथ पर अग्रसर होना चाहते हैं तो मैं आपके पथ में कंटक नहीं बनूँगी। मेरी ओर से दीक्षा लेने की सहर्ष स्वीकृति है।" यह सुनकर भावदेव ने मुनिदीक्षा ले ली। मुनि बनने के पश्चात् भी उसका मन बार–बार नागला की चिन्ता में व्यग्र रहने लगा। उन्होंने मुनि–अवस्था के बारह वर्ष इसी प्रकार पत्नी की चिन्ता में विता दिये।

एक दिन मुनि भावदेव अपने गुरु भवदेव से अपनी जन्मभूमि की ओर विहार की आज्ञा लेकर विहार करते हुये और अपने मन में नागला के साथ गृहस्थी बसाने का विचार करते हुए अपनी जन्मभूमि के बाहर स्थित बगीचे में आये। वहाँ जिन चैत्यालय में गये, जहाँ धर्म–गोष्ठी करने वाली अनेक महिलाओं को देखा, जो परस्पर धर्मचर्चा कर रही थीं। उन्होंने एक स्त्री (नागला) से नागला नामक स्त्री के बारे में पूछा तो नागला समझ गयी कि ये पूर्व में (मुनि बनने के पहले) मेरे पति थे, और इनको दीक्षा लेने के बाद भी मेरी चिन्ता अभी तक सता रही है। इसलिये मै इनका निश्चित रूप से धर्म में स्थितिकरण करूँगी। इसी विचार से अनेक युक्तियों से स्वयं नागला ने मुनि भावदेव को समझाया और उनका स्थितिकरण किया। जिससे वे पुनः वन में गुरु के निकट जाकर प्रायश्चित्त लेकर आत्मकल्याण में संलग्न हो गये। अतः अपने मन को पवित्र बनाने व वासना से बचाये रखने के लिये स्त्री आदि का चिन्तन नहीं करना चाहिये।

3. कुशील व्यक्तियों की संगति करने से– ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये दुराचारी व्यसनी पुरुषों की संगति कभी नहीं करनी चाहिये। बहुत काल का दृढ़ब्रती पुरुष भी परस्त्रीगामी अथवा वेश्यागामी, व्यभिचारी पुरुषों का संयोग पाकर अपने व्रत को दूषित या नष्ट कर लेता है।

चम्पापुरी के प्रसिद्ध सेठ भानुदत्त की सेठानी सुभद्रा के चारुदत्त नामक इकलौता पुत्र था। चारुदत्त बचपन से ही मन लगाकर अध्ययन करता था। शास्त्रों के अध्ययन, मनन, चिन्तन से वह अल्पायु मे ही संसार, शरीर और भोगों से इतना विरक्त हो गया कि विवाह करने मात्र को जीवन की बरबादी और बंधन ही मानने लगा।

परन्तु माता–पिता के बहुत आग्रह करने पर उसने अपने मामा की लड़की गुणवती के साथ विवाह कर लिया, लेकिन विवाह के बाद भी वह पत्नी से इतना विरक्त रहा कि यौवनवती, रूप–लावण्य और प्रेम की मूर्ति अनेक गुणों से सम्पन्न गुणवती उसको अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पायी। वह इतना उदासीन था कि वह (गुणवती) उसके पास घण्टों बैठी रहती तो भी वह उससे बात करना तो दूर रहा, आँख उठाकर भी नहीं देखता था। पुत्र की इतनी विरक्तता देख माँ हर क्षण चिन्तित रहती थी। एक दिन सुभद्रा ने अपने देवर (चारुदत्त के चाचा) रुद्रदत्त को बुलाकर चारुदत्त की पूरी स्थिती बता दी। रुद्रदत्त और सेठानी सुभद्रा दोनों ने मिलकर एक युक्ति सोची कि यदि इसे भोगियों की संगति में डाल दिया जाये तो अवश्य ही अपने कार्य की सिद्धि हो सकती है। षडयन्त्र के अनुसार एक दिन रुद्रदत्त चारुदत्त को लेकर बाजार में गया और वहाँ (षडयन्त्र के अनुसार) हाथी को सामने आता देख डर कर चारुदत्त रुद्रदत्त के साथ एक वेश्या के घर में प्रवेश कर गया।

वहाँ चारुदत्त ने अपना समय व्यतीत करने के लिये वेश्या पुत्री वसन्ततिलका के साथ जुआ खेलना प्रारम्भ किया एवं जुआ खेलते–खेलते वह वसन्ततिलका के साथ वहीं रहने लगा और घर से धन मँगवाकर वेश्या के साथ नाना प्रकार की क्रियायें करने लगा। उसने अपने घर से सोलह करोड़ दीनार की सम्पत्ति मँगवा ली। एक दिन पिता ने उसे घर बुलाने के लिए स्वयं के बीमार होने के समाचार भिजवाये, पर बीमारी का समाचार सुनकर भी वह घर नही आया। पिता के द्वारा किये गये और भी अनेक प्रयासों के बाद भी जब वह घर नहीं आया तो अन्त में अपने कार्य की सिद्धि के लिये सेठ भानुदत्त (चारुदत्त के पिता) ने अपने मरने के समाचार भिजवा

दिय, लेकिन वेश्या में आसक्त चारुदत्त घर नहीं आया। अन्त में घर का पैसा समाप्त हो जाने के कारण वसन्ततिलका वेश्या की माँ ने चारुदत्त से प्रेम तोड़ने के लिये वसन्ततिलका से कहा। लकिन वसन्ततिलका ने चारुदत्त से प्रेम ताड़ने के लिये साफ–साफ मना कर दिया। जिसस क्रोधित हो वसन्ततिलका की माँ ने चारुदत्त को भोजन में मूर्छित होने का द्रव्य खिलाकर मूर्छित कर दिया और रात्रि में उसे एक कपड़े म बाँधकर एक गठरी बनाकर शौचालय मे डाल दिया। कहने का भाव यही है कि चारुदत्त एक सर्वगुणसम्पन्न व्यक्ति होकर भी कुछ क्षण वश्या के संसर्ग से मोहित हो अपने माता–पिता तक का भूल गया और वसन्ततिलका एक वश्या की पुत्री होकर भी चारुदत्त जैस धर्मात्मा का संयोग (संगति) पाकर एक पतिव्रता बनकर स्वदार संतोष व्रत का पालन करने वाली बन गयी। अतः हर व्यक्ति को अपने जीवन का उत्थान तथा अपने स्वदार संतोष व्रत या ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करने के लिय निरन्तर कुशील, दुराचारी व्यक्तियों की संगति छोड़नी चाहिये और शीलवान, सदाचारी धर्मात्माओं की संगति करनी चाहिए।

4. वेदकर्म की उदीरणा से– कामात्पादक गरिष्ठ व स्वादिष्ट भोजन करने से, पूर्व में भोगे हुये विषयों को याद करने से, कुशील पुरुषों की संगति से, कुशील काव्य व कथादि सुनने से, पिक्चर या टी.वी. पर ऐसे चित्र, कुशील नाटक आदि देखने से भी वेदकर्म की उदीरणा होती है। वद नामक कर्म की उदीरणा के कारणों में कुछ कारण निम्न लिखित हैं–

1. स्त्री के चित्रादि को देखने से।
2. स्त्री के अंगो का स्पर्श करने से।

3. मधुर गान सुनने से।

4. एकान्त में स्त्री का सम्पर्क करने से।

5. स्त्री के अंगोपांग देखने से।

पहला कारण है–

1. स्त्री के चित्रादि को देखने से– पुस्त (मिट्टी, दारू, चर्म, लौह और रत्न से निर्मित) पाषाण, काष्ठ, चित्र आदि से भी रची हुई स्त्रियों की आकृति को देखकर प्राणी मोह को प्राप्त होता है। देखो, जो त्रिखण्ड के अधिपति थे, सम्पूर्ण सेना को पराजित करने में समर्थ थे, ऐसे पराक्रमी कृष्ण भी रुक्मणी के चित्र मात्र को देखकर कामासक्त हो गये और उसकी प्राप्ति के लिये हरण जैसा तुच्छ कार्य किया, अर्थात् रुक्मणी को हरण करके ले आये तथा उसकी प्राप्ति में विघ्न डालने वाले राजा शिशुपाल के साथ युद्ध करके सैकड़ों जीवों (प्राणियों) का संहार किया।

इसी प्रकार राजा श्रेणिक जो भावी तीर्थंकर होने वाले हैं, वे भी चेलना के चित्र को देखकर सम्पूर्ण राज्य का काम काज भूल गये। उसकी प्राप्ति के लिये उनके पुत्र अभय कुमार ने जैन–धर्म पालन करने का ढोंग किया और मायाचारी से छलकर चेलना का हरण कर लाये। अतः टी.वी. आदि पर ऐसे चित्र नहीं देखना चाहिये।

सेठ जीवदेव के पुत्र जिनदत्त थे, जो जिन भक्त, धर्मात्मा, पुण्यवान तथा तेजस्वी थे। माता–पिता, मित्र, बंधु आदि के अनेक प्रकार से समझाने के बाद भी वे किसी प्रकार भी विवाह करने के लिये तैयार नहीं हुये। वे ही जिनदत्त एक दिन कोटिकूट चैत्यालय में दर्शन–पूजन–भक्ति के लिये गये थे। वहाँ मन्दिर के बाहर दरवाजे की सीढ़ियों पर बनी एक पुत्तलिका (पाषाण में उकेरी गई

कन्या) को देखकर मोहित हो गये। उनके दर्शन–पूजन आदि के पवित्र भाव तत्काल उसी प्रकार विलीन हो गये, जिस प्रकार वायु के निमित्त से बादल विलीन हो जाते हैं। वे बार–बार उसी के बारे में चिन्तन करने लगे और अपने जिनेन्द्र देव की भक्ति के शुभ उद्देश्य को भूल गये।

तात्पर्य यह है कि जिनदत्त मात्र अचेतन पाषाण में बनी कन्या में आसक्त होकर जिनेन्द्र भक्ति को भूल गये, तो जो निरन्तर टी.वी. पर पिक्चर एवं चित्रहार के चित्रों, हीरो–हीराइनों की फोटो आदि देखते हैं उनका क्या होगा? अतः स्त्रियाँ, पुरुषों के चित्रादि को तथा पुरुष, स्त्रियों के चित्रादि को नहीं देखें।

दूसरा कारण है :–

2. स्त्री के अंगों के स्पर्श से भी वेदकर्म की उदीरणा होती है– श्रीमान् दयाचरण ने बहुत समझाने के बाद भी शादी के बंधन को स्वीकार नहीं किया। फिर भी माता–पिता ने जबरन करुणा नाम की एक भोली–भाली युवती के साथ उसका विवाह करवा दिया। लेकिन दयाचरण ने एक दिन भी करुणा को पत्नी की दृष्टि से नहीं देखा। एक बार पिता के बहुत मना करने के बाद भी उसने विलायत में पढ़ने की स्वीकृति ले ही ली, पर विलायत पहुँचने पर भी वह कभी किसी स्त्री से बात करना तो दूर, किसी स्त्री के सामने तक भी नहीं देखता था। हमेशा नीची दृष्टि ही रखता था। उसकी इस चर्या से उसकी मालकिन बहुत प्रसन्न रहती थी। एक दिन एक युवती ने आकर कहा– "आज आपके मित्र नदी के उस पार बर्फ देखने जा रहे हैं, आपको भी निमंत्रित किया है। आप अवश्य आइयेगा।" दयाचरण व्यवहार के नाते बर्फ देखने चला गया। नदी के घाट पर बहुत भीड़

थी। उन्होंने (सब मित्रों ने) वहाँ एक नौका की और उसमें एक–एक करके सब बैठ गये। अन्त में युवती ने कहा– "दयाचरणजी! जरा मेरा हाथ पकड़ कर मुझे नौका पर चढ़ा दीजिये। दयाचरण ने हाथ पकड़कर उसे नौका पर चढ़ा दिया। नदी के उस पार घूम करके लौटते समय भी वह युवती दयाचरण से अपना हाथ पकड़ाकर ही नौका पर से उतरी। इस बार जैसे ही दयाचरण ने युवती का हाथ पकड़ा, वैसे ही उसके शरीर में कम्पन्न सा दौड़ गया, (घर आकर वह युवती के लिये तड़फने लगा)। उसने युवती के साथ बिना कुछ विचारें भावुकता में आकर विवाह कर लिया। अब पिता के यहाँ से आने वाला पैसा कम पड़ने लगा। क्योंकि पैसा एक के खर्च के हिसाब से आता था और अब खर्चा दो व्यक्तियों का हो गया था। एक दिन दयाचरण ने भारतीय संस्कृति के अनुसार युवती को भोजन बनाने को कहा, तब युवती ने उसे निर्धन जान पूरे नगर, आफिस, पड़ोस आदि में यह हल्ला कर दिया कि दयाचरण नपुंसक है। अतः मैं इसे तलाक देती हूँ।

युवती के गर्भ में बच्चा था। उसको भी गर्भ में ही काल के गाल में सुला दिया। रात्रि में सोते हुये दयाचरण को यह आवाज आई कि मैं तुम्हारा पुत्र हूँ, मैं सैकड़ों खण्ड–खण्ड करके फेका गया हूँ। यह सुनकर वह डर गया और अपने घर लौट आया। घर आने के पश्चात् भी वह अपनी पत्नी करुणा को सामने नहीं देखता था। एक दिन करुणा ने उससे कहा कि आप विलायत की बातें सभी को सुनाते हैं, थोड़ी हमें भी सुना दिया करो। इस प्रकार के मधुर वचन सुनकर, उसके रूप को देखकर वह करुणा पर आसक्त हो गया।

तीसरा कारण है, मधुर गान सुनने से – स्त्री के मधुर गानको सुन, पुरुष उसमें आसक्त हो जाता है और पुरुष के मधुर वचन

सुनकर, स्त्रियाँ उसमें आसक्त हो जाती हैं। महारानी अमृतमती ने इसी प्रकार का कार्य किया था। उसने पर पुरुष में आसक्त हो अपने पति को मार्ग का काँटा समझकर उसे गला घोंट कर मार दिया था।

यशाधर महाराज की महरानी अमृतमती अपने पति की प्राण प्यारी थी। विशाल साम्राज्य की स्वामिनी थी। यशोधर महाराज उसके प्रम में पागल थे। वह सदेव सैकड़ों दासियां स घिरी (सुरक्षित) रहती थी। फिर भी वह एक दिन महावत द्वारा गाये गय गीत के मधुर स्वर को सुनकर उस पर आसक्त हो गई। जिस महावतके आठों अंग विकृत थे, जो हाथियों के खाने से बची घास के बिछौने पर सोता था, अन्य महावतों की जूठन का भोजन करता था, रस्सी से बना जिसका तकिया था और अधजले वृक्ष के समान जिसका शरीर था। उस 'अष्टावक्र' नाम के महावत के पास वह अमृतमती उसके मधुर स्वर से आसक्त हुई रात्रि में जाती थी, और जिस दिन पहुँचने में कुछ देर हा जाती तब अष्टावक्र एक हाथ से उसक केशों को पकड़कर खींचता हुआ दूसर हाथ से हाथी के अंकुश की निष्ठुरता पूर्वक मार लगाता था। उससे बचने के लिये वह दीन शब्दों में प्रार्थना करती थी। "हे प्राणनाथ! प्रभो!" मैं क्या करूँ। मेरा भाग्य ही एसा खराब था, जिससे मेरा विवाह आपके साथ न हाकर, उस निकम्मे राजा के साथ हो गया। हे नाथ! मुझ क्षमा कर दो। इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है, क्योंकि जब तक राजा सो नहीं जाता, तब तक मैं वहीं आपके पास आने के लिये आपके गुणों का स्मरण करती रहती हूँ। मूर्ख अमृतमती, अत्यन्त सुन्दर, एश्वर्यशाली, कर्तव्य पालन में तत्पर, पापाचार स दूर रहन वाले सम्राट के समान यशोधर महाराज को छोड़कर एक नीच कुलोत्पन्न पापी कुरूप महावत पर आसक्त हुई थी।

अमृतमती रानी ने अपने कार्य में राजा यशोधर को कंटक के समान बाधक जान, उसे मारने के लिये यशोधर और यशोधर की माँ को भोजन के लिये निमंत्रित करके विषाक्त भोजन कराया। जिससे माँ और पुत्र दोनों को विष चढ़ गया। तत्काल वैद्यों को बुलाया गया लेकिन उनके (वैद्यों के) आने के पहले ही अमृतमती छल से "स्वामी को दृष्टिविष उत्पन्न हुआ है" इस प्रकार कहती हुई सभी लोगों को वहाँ से दूर कर बाल बिखेरकर हाय नाथ! हाय नाथ! ऐसा करुण क्रन्दन करती हुई यशोधर महाराज के वक्षस्थल पर गिर पड़ी और गला दबाकर उन्हें मार डाला तथा अष्टावक्र महावत के साथ स्वच्छन्दतापूर्वक भोग करने लगी। अन्त में गलित कुष्ठ से ग्रसित हो मरकर नरक में गई। इस प्रकार अमृतमती रानी ने अपने शीलरूपी अमृत को उगलकर, नीच महावत के मधुर स्वरों से मोहित हो, विषय रूपी विष का सेवन करके, नारी जगत को कलंकित किया।

इसी प्रकार रानी वक्ता ने भी अपने पति के साथ छल किया था। अयोध्या नगरी में देवरति नामक राजा राज्य करता था। उसे रक्ता नामकी रानी अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी थी। उसके अत्यधिक प्रेम के कारण वह राज्य कार्य को छोड़कर अन्तःपुर में रहने लगा। मंत्रियों ने राजा से कहा—या तो आप राज्य का कार्य देखिये या फिर अपनी रानी को लेकर कहीं अन्यत्र चले जाइये। राजा, रानी की तीव्र आसक्ति के कारण राज्य छोड़कर रानी को लेकर अन्यत्र चला गया। वहाँ पंगु कुबड़े काली के मधुर गान को सुनकर रानी वक्ता उस पर आसक्त हो गयी और अपने पति देवरति राजा को उसका जन्मदिन मनाने के बहाने पर्वत की ऊँची चोटी पर ले गई और वहाँ से धक्का देकर एक नदी में गिरा दिया तथा स्वयं उस पंगु काली के साथ रहने लगी। वह पंगु को एक टोकरी में

रखकर अपने मस्तक पर लेकर जगह–जगह भ्रमण करती थी। पंगु मधुर गाना सुनाता। जिससे दोनो की आजीविका चलती थी। इधर राजा नदी के प्रवाह में बहता हुआ मंगलपुरी के किनारे किसी चीज से रुक गया। वहाँ के राजा की मृत्यु हो गई थी। अतः मंत्रियों ने एक हाथी को छोड़ा था कि यह हाथी जिसे अपनी सूंड से उठाकर अपने ऊपर बिठा लेगा, उसे मंगलपुरी का राजा बना दिया जायेगा। हाथी घूमता हुआ नदी के किनारे आया और देवरति (राजा) को सूंड से उठाकर अपने ऊपर बिठा लिया। अतः वहाँ के लोगों ने देवरति को मंगलपुरी का राजा बना दिया।

इधर–उधर घूमती हुई रानी रक्ता भी उस पंगु को लेकर मंगलपुरी राज्य पहुँच गई। राजा ने उसे पहिचान लिया और स्त्री चरित्र से विरक्त होकर उसने दीक्षा ग्रहण कर ली।

अमृतमती की कथा सुनकर उन्हें सावधान हो जाना चाहिये, जो नित्य वेषभूषा से सुसज्जित कलाकारों के हाव–भाव सहित गाये गये गानों, मधुर स्वरों से युक्त गीतों को सुनते हैं। टी.वी. पर भी ऐसे गाने सुनकर मन के भाव बिगड़ने से नियम से शीलव्रत में दोष लगता है। अतः कभी भी स्त्री, पुरुष के एवं पुरुष, स्त्री के मधुर गाने आदि को न सुनें एवं अपने शील रत्न की रक्षा करें।

चौथा कारण है, एकान्त में स्त्री से संपर्क – शंकर नाम के एक मुनिराज आहार के लिये वन से शाम्बी नगरी के निकट आ रहे थे। मार्ग कुछ लम्बा था। नगर के बाहर एक कुटी में शून्य स्थान समझकर वे वहाँ विश्राम हेतु बैठ गये। उस कुटिया में दास कर्म करने वाली एक स्त्री रहती थी। मुनिराज ने उसे पहचान लिया कि पहले बाल्य अवस्था में यह और मैं एक साथ पढ़ते थे। मुनिराज

अपने आहार के प्रयोजन को भूल गये और उस स्त्री से वार्तालाप करने लगे। इससे दोनों का मन परस्पर आकृष्ट हो गया और शंकर मुनि ने अपना निर्मल चारित्र छोड़ दिया और भ्रष्ट होकर वहीं रहने लगे। अतः अपने शील रत्न की रक्षा के लिये एकान्त में स्त्री सम्पर्क से दूर रहना चाहिये। एकान्त में स्त्रियों के साथ वार्तालाप करने, उनके यहाँ बार–बार आने–जाने तथा व्यापारादि सम्बन्ध रखने से ब्रह्मचर्य व्रत में दूषण उत्पन्न होता है। साधारण मनुष्यों की तो बात दूर रहे, मुनिराज तक को आचार्यों ने आर्यिकाओं के साथ उठने–बैठने, एकान्त में वार्तालाप करने, आर्यिकाओं की वसतिका में प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, आहार आदि को करने का निषेध किया है।

आर्यिका मातायें और मुनिराज जो विषय–भोगों से पूर्ण विरक्त हैं, निरन्तर आत्म कल्याण के कार्यों में लगे रहते हैं। उनके लिये भी कहा है कि – आर्यिका मातायें मुनिराज को सात हाथ दूर से, उपाध्याय को छह हाथ दूर से तथा आचार्य को (प्रायश्चित्त आदि लेना होता है इसलिये) पाँच हाथ दूर से नमस्कार कर, प्रश्न, शंका समाधान आदि करे। फिर गृहस्थ तो भोगी है, हर समय भोग–सामग्री के बीच रहता है, उसी की बातें करता है, उसे कितने विवेक से रहना चाहिये, इसका विचार वह स्वयं करे। शास्त्रों में ऐसी कई घटनायें मिलती हैं, अचल भी चलित हुए।

राजा सात्यकी ने संसार से विरक्त हो राज्य का परित्याग कर समाधिगुप्त मुनिराज के समीप दीक्षा ले ली। एक बार वे घोर तपश्चरण करते हुये राजगृह नगर के समीप उच्चग्रीवा पर्वत पर स्थित हुये। कुछ आर्यिकाएँ उनकी वन्दना के लिये आयीं। वन्दना करके ज्योंहि वे पर्वत से उतरने लगीं, त्यों हि बहुत तेज वर्षा होने लगी। सभी आर्यिकायें बिछुड़ गईं। उनमें से एक ज्येष्ठा नाम की

आर्यिका अपनी सुरक्षा हेतु एक गुफा में प्रवेश कर गई, गुफा में अंधकार होने के कारण वहाँ वह गुफा को शून्य देख अपनी साड़ी निचोड़ने का कार्य करने लगी, उसी समय बिजली चमकी। बिजली के प्रकाश में गुफा में स्थित सात्यकी मुनिराज की दृष्टि उस पर पड़ी। आर्यिका को देखते ही मुनिराज पूरी तरह विचलित और भ्रष्ट हो गये।

बाद में मुनिराज तो आलोचना, निन्दा–गर्हा–प्रायश्चित्त करके धर्म में स्थिर हो गये, परन्तु आर्यिका गर्भवती हो गई। जब शान्ता नाम की प्रधान आर्यिका को पता चला तो उसने उसे उसकी बहिन चेलना को सौंप दिया। वहाँ नौ माह बाद उनके पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम स्वयंभू रखा गया जो अन्तिम रुद्र (शंकर जी) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ज्येष्ठा अपने प्रसव का काल पूरा होने पर निःशल्य होकर अपनी गणनी आर्यिका के पास जाकर आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण कर पुनः संयम का परिपालन करने लगी।

देखो! तीन गुप्ति का परिपालन करने वाले मुनिराज जो पर्वत के समान निश्चल, समुद्र के समान गम्भीर तथा स्थिर चित्त थे, ऐसे महाव्रतधारी सात्यकी मुनिराज भी बिजली के क्षणिक प्रकाश में आर्यिका को देखकर तथा क्षणभर के लिये एकान्त में सम्पर्क प्राप्त कर अपने संयम रूपी रत्न शिखर से च्युत हो गये तो साधारण व्यक्ति की क्या बात है। अतः किसी भी महिला–पुरुष को किसी अन्य पुरुष–महिला के साथ एकान्त में वार्तालाप, उठना, बैठना आदि नहीं करना चाहिये।

पाँचवा कारण–स्त्रियों के अंगापांग देखने से–आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र जी के सातवें अध्याय के सातवें सूत्र में

ब्रह्मचर्य की रक्षा और निर्मलता के लिये स्त्री के अंगोपांग देखने का निषेध किया है – (तन्मनोहरांगनिरीक्षण), क्योंकि स्त्री के अंगोपांग को क्षणमात्र भी देखने से मन में विकार उत्पन्न हो जाता है।

अन्य शास्त्रों में एक कथा प्रचलित है –

ब्रह्मा जी बड़े तपस्वी थे। उन्होंने हजारों वर्षों तक कठिन तपस्या की थी। उससे इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ। इन्द्र ने ब्रह्मा जी को तपस्या से डिगाने के लिये तिलोत्तमा नाम की एक सुन्दर अप्सरा को भेजा। अप्सरा आकर ब्रह्मा जी के सामने नाचने लगी तथा बड़े ही मधुर स्वर में गाते हुये कौतुक करने लगी। लेकिन ब्रह्मा जी अपनी तपस्या से नहीं डिगे। बहुत समय तक घुंघरू की झंकार तथा मधुरगान को सुनकर ब्रह्मा जी ने अपनी आँखें थोड़ी–सीं खोलकर देख लिया। जैसे ही ब्रह्मा जी की दृष्टि अप्सरा पर पड़ी, वे उस पर मोहित हो गये। वे बार–बार उसे देखने के लिए आतुर हो गये। उनको आतुर देख अप्सरा ब्रह्माजी के दाहिनी ओर जाकर नृत्य करने लगी। अप्सरा को देखने की लालसा से ब्रह्माजी ने अपनी 1000 वर्ष की तपस्या के बल से दक्षिण में अपना मुँह बनाया और अप्सरा को देखने लगे। इस घटना को देखकर अप्सरा ब्रह्मा जी के पीछे एवं बायीं ओर जाकर नाचने लगी। ब्रह्मा जी ने अप्सरा को देखने के लिये अपनी 1000 वर्ष की तपस्या से पश्चिम एवं उत्तर में भी में अपना मुँह बना लिया और अप्सरा का अवलोकन करते हुये अपने नेत्रों को तृप्त करने लगे। ब्रह्माजी का अपने ऊपर आसक्त देखकर अप्सरा आकाश में नृत्य करने लगी। ब्रह्मा जी ने अप्सरा को देखने के लिये ऊपर भी मुँह बनाने की कोशिश की। लेकिन, तपस्या अल्प रह जाने के कारण, उनके मनुष्य का मुँह न बनकर गधे का मुँह बन गया। इस प्रकार ब्रह्माजी ने अप्सरा को देखने के लिये अपनी

हजारों वर्षों की तपस्या नष्ट कर दी। तो जो निरन्तर स्त्रियों के रूप को निहारते हैं, उनकी दशा का वर्णन कौन कर सकता हैं? कोई नहीं कर सकता। अपने शील ब्रत की रक्षा के लिये किसी भी स्त्री पर राग पूर्वक दृष्टि नहीं डालनी चाहिये।

जो बुद्धिमान शीलवान होते हैं, वे पर स्त्री या स्त्री मात्र पर कभी दृष्टि नहीं डालते हैं। मुनिराजों को भी गोचरी वृत्ति से आहार लेने को कहा गया है। गोचरी का अर्थ होता है तुम आहार के लिये जाते समय गाय के समान आचरण करना। जिस प्रकार गाय घास आदि लाने वाली महिला के वस्त्र, आभूषण, रंग, रूप आदि को नहीं देखती, मात्र घास से ही प्रयोजन रखती है, उसी प्रकार तुम भी आहार देने वाली स्त्री को मत देखना, मात्र आहार से ही प्रयोजन रखना।

श्रेणिक चरित्र में एक कथा आती है। उसका सार यह है कि आहार करते समय आहार देने वाली स्त्री के हाथ से एक ग्रास नीचे गिर गया। ग्रास के नीचे गिरते ही मुनिराज की दृष्टि नीचे गई और स्त्री के पैर का अँगूठा दिख गया, अँगूठे के दिखते ही मुनिराज को गृहस्थ अवस्था की स्त्री का स्मरण हो आया, जिससे उनकी मनोगुप्ति समाप्त हो गई।

श्रावस्ती नगरी के राजा द्वीपायन का दूसरा नाम गौरसंदीप था। एक दिन वह राजा वनक्रीड़ा के लिये जा रहा था। रास्ते में एक आम्रवृक्ष को मंजरी से भरा देख उसने एक मंजरी को कौतुकवश तोड़ लिया और आगे निकल गया। पीछे से आने वाले जनसमुदाय ने राजा का अनुसरण करते हुये आम्रवृक्ष की एक एक मंजरी तोड़ी, पुनः पत्ते तथा डालियाँ नष्ट कर दीं। राजा वन क्रीड़ा कर लौटा तो उस

आम्र वृक्ष को ठूँठ सा खड़ा देख वैराग्य को प्राप्त हो गया और उसने जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार कर ली।

एक दिन वे मुनिराज विहार करते हुय उज्जयनी में आहारार्थ पहुँच। किसी एक घर के आँगन में वे प्रविष्ट हुए। वह घर कामसुन्दरी वेश्या का था। वेश्या को देख मुनिराज मोहित हो गये और वहीं रहने लगे। बारह वर्ष व्यतीत होने के बाद किसी दिन वेश्या के पैर के अंगूठे पर कुष्ठ को देख वैराग्य भाव जागृत हो गया और उन्होंने पुनः दीक्षा ले ली। इस प्रकार से गौरसंदीप मुनिराज वेश्या को देखने मात्र से भ्रष्ट हा गय थे।

जो व्यक्ति अपने शील व्रत की रक्षा नहीं करते, वे दुर्गतियां में भ्रमण करते हुये दुःखों का भोगते हैं। अतः अपने शील की रक्षा के लिये किसी भी स्त्री पर रागपूर्वक दृष्टि नहीं डालनी चाहिये।

एक बार शुक्राचार्य अपने आश्रम में अपनी शिष्य मण्डली को अध्ययन करा रहे थ, आज नया पाठ शुरू किया। "माता स्वस्त्रादुहित्रा वा" इस श्लोक का उच्चारण करते–करते आचार्य एक दम चुप हो गये और अकस्मात् उनका हृदय सन्देहानुकूल हो गया। व ज्यों–ज्यों सोचने लगे त्यों–त्यों उनका सन्देह बढ़ता गया, कभी वे समझते थे कि यह श्लोक ठीक नहीं है, यह सब उनकी बुद्धि को ठीक समझते हुय श्लोक को अशुद्ध ठहराते थे। श्रद्धालु शिष्यगण श्लोक की व्याख्या सुनने की प्रतीक्षा में चुपचाप बैठे थ। इस प्रकार संध्या का समय निकट आ गया। आचार्य ने शिष्यों से कहा – लगता है वेद व्यास के विचार शिथिल हो गये हैं, अतएव अशुद्ध रचना बन गई है। जब तक मेरा सन्देह दूर न हो, तब तक तुम्हारा धर्म शास्त्र का पाठ भी बन्द है। इतना कहकर शुक्राचार्य वेद–व्यास जी के आश्रम में

पहुँच गये। वेदव्यास जी ने आतिथ्य सत्कार करके शुक्राचार्य जी को अपने पास आसन दिया और आगमन का कारण पूछा। शुक्राचार्य ने कहा – "अपने यह स्मृति वाक्य जो मन की चंचलता के विषय में लिखा है –

"माता स्वरत्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो यवेत्।
बलवा निन्द्रियग्रामः विद्वांसमपि कर्षति।।"

कहिये, इसका क्या तात्पर्य है। व्यासजी ने कहा – तात्पर्य स्पष्ट है, "माता, भगिनी वा पुत्री के साथ एकान्त में नहीं बैठना चाहिये। क्योंकि इन्द्रिय समूह (मन) बड़ा प्रबल है, यह विद्वानों को भी अपनी ओर खींच लेता है।"

शुक्राचार्य – हा कष्ट!! आप जैसे योगीश्वरों का भी इतना दुर्बल विचार, मन पर इतना अविश्वास। मन कितना भी चंचल क्यो न हो, क्या वह माता–पुत्री–भगिनी की ओर चलायमान होगा? कदापि नहीं।

व्यास – क्या आपके विचार में यह स्मृति वाक्य असत्य है?

शुक्राचार्य – असत्य नहीं तो अशुद्ध और व्यर्थ तो अवश्य है।

व्यास – आप इस विषय को एक बार और विचार कीजिये, देखिये उर्वशी, रम्भा आदि के कारण बड़े–बड़े योगियों का मन चलायमान हो गया था। इस प्रकार की चर्चा कर तथा 'यह सूत्र अशुद्ध हैं ऐसा निश्चय कर शुक्राचार्य अपने आश्रम की ओर लौट गये।'

एक दिन अमावस्या की अंधरी रात थी (जिस समय) शुक्राचार्य प्रकृति के भीषण स्वरूप को देख रहे थे। अचानक एक ऐसी दुःख भरी आवाज आयी, जिसने आचार्य का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। उन्हें लगा यह आर्तनाद किसी पति–परित्यक्ता, वियोगिनी कुल–वधु

का है। हा! प्राणनाथ! मुझ अबला को इस भयंकर वन में छोड़कर कहाँ चले गये?" जिस ओर से आवाज आई थी, आचार्य उधर की ओर बढ़ और बाले – "पुत्री! तुम कौन हा! डरो मत! मेरे आश्रम चलो। तुम्हे वहाँ कोई आँख उठाकर भी नहीं दख सकेगा।"

अबला ने उत्तर दिया– "खबरदार। मेरे पास मत आना। मैं तरे वाग्जाल मं फँसने वाली नहीं हूँ। एकान्त में परपुरुष मात्र से मुझे भय लगता है, क्योंकि संसार के पापी पुरुष जिस मुख से पुत्री कहते हैं उसी मुख से दूसरी बार पत्नी कहने में नहीं हिचकते। " हाय प्राणेश्वर! अब क्या करूँ। इस भयंकर वन में मुझे हिंसक जन्तुओं से भी इतना डर नहीं लग रहा जितना मनुष्य से। हे प्राणनाथ! आओ और मुझे इस विपत्ति स बचाओ।"

आचार्य ने साचा – यह स्त्री डरी हुई है, इस अपने पतिव्रत धर्म का बड़ा ख्याल है। इसे धैर्य बंधाना चाहिये। ऐसा विचार कर आचार्य ने अबला को बहुत प्रकार से आश्वासन दिये, तब वह यह वादा करके कि वहाँ कोई छेड़छाड़ नहीं करेगा, आश्रम में जाने को तैयार हुई। एक खाली कुटिया में उसने प्रवेश कर दरवाजा बन्द कर दिया। अबला के कुटिया में प्रवेश करते समय एक विचित्र घटना घटी। यद्यपि अंधकार होने से आचार्य यह नहीं जान सके थ कि अबला बाला है या युवती, कुरूप है या सुन्दरी, क्या पहन हुये है, परन्तु प्रवेश के समय अचानक बिजली चमकी और उस प्रकाश मं देखा कि वह अबला सालह वर्षीय सुन्दरी है, पवन के वेग से उड़े हुय आँचल को इसने इतनी जल्दी संवारा कि शरीर का कोई अंग नहीं दिखा, फिर भी चलते–चलते मृगनयनी के जादूभरी चकित दृष्टि से लज्जा के साथ दखा, जिससे आचार्य एक बार विस्मृत हो गये। उनका मन चंचल हो गया, वे कर्तव्य भूल गये। वे उससे परिचय

करने के लिये (कुटीर) कुटिया के पास आये और साँकल खटखटा कर बोले–क्या इतनी जल्दी सो गई? अनेक बार प्रश्न करने पर भी उत्तर नहीं मिलने पर आचार्य चिल्लाकर बोले, क्या उत्तर देना भी पाप है? अबला ने कहा–नहीं, आपने कहा था कि यहाँ कोई छेड़छाड़ नहीं करेगा पर आप स्वयं अपनी प्रतिज्ञा से च्युत हो गये हैं।

आचार्य बोले – कौन छेड़ता है, हम कोई पाप की बातें थोड़े ही कर रहे हैं। एक बार द्वार खोलो और हम जो धर्मोपदेश दें उसे प्रेम से सुनो।

अबला बोली – भाड़ मे जाये तुम्हारा धर्मोपदेश। हम प्राणनाथ की बातें छोड़कर किसी अन्य की बातें नहीं सुनना चाहते।

शुक्राचार्य – प्राणधन! डरो मत। हम ऐसा वैसा प्रेम नहीं, विशुद्ध प्रेम करना चाहते हैं। अबला–छिःछिः डूबि मरहूँ धर्मव्रतधारी, कैसा धर्मोपदेश, पर स्त्री से प्रेम करते हो और फिर विशुद्ध भी कहते हो। सुन्दरी की बातों से आचार्य लज्जित तो हुए परन्तु उनका मन शान्त होने की बजाय और अधिक चंचल हो गया। उन्होंने बहुत चाहा कि किसी प्रकार कुटीर में प्रवेश किया जाय परन्तु कुटीर का द्वार सुदृढ और बन्द था। उन्होंने छत तोड़कर अन्दर जाने का विचार किया और छत की चार–पाँच लकड़ियाँ हटाकर अन्दर प्रवेश करने का मार्ग कर लिया।

मोहमुग्ध शुक्राचार्य जैसे ही नीचे उतरे, उसी समय बिजली चमकी, उसका प्रकाश छत से अन्दर गया, उन्होंने देखा सुन्दरी के स्थान पर जटाजूट धारी महर्षि वेदव्यास बैठे हँस रहे हैं। उनके हाथ में उसी श्लोक का पत्र था जिसे उन्होंने अशुद्ध और व्यर्थ बताया था। "माता स्वस्त्रा दुहित्रा वा" माता, बहिन व पुत्री के साथ भी

एकान्त में नहीं बैठना चाहिये।

एक बार किसी राजा ने दरबार में अपने मंत्री से प्रश्न पूछा कि पाप का मूल कारण क्या है? मंत्री ने पाप के अनेक कारण उत्तर रूप में बताये लकिन उन उत्तरों से राजा को संतुष्टि नहीं हुई। राजा ने कहा – "मंत्री! तुम्हें तीन दिन का समय दिया जाता है। तुम्हे प्रश्न का उत्तर सन्तोषजनक देना है, नहीं तो तुम्हें मृत्युदण्ड दिया जायेगा।" मंत्री बहुत चिंतित हुआ। वह प्रश्न के उत्तर की खोज में खाना पीना, सोना सब भूल गया। उसको चिंतित देख उसकी पुत्री ने चिन्ता का कारण पूछा। मंत्री ने राजा के द्वारा पूछा गया प्रश्न अपनी पुत्री को बता दिया। पुत्री ने कहा – पिताजी! आप चिन्ता न करें। मैं इस प्रश्न का उत्तर तीन दिन के भीतर–भीतर बता दूँगी। आप शान्ति से भोजन करिये। पुत्री राजा के प्रश्न का समाधान करने हेतु अनेक प्रकार के श्रृंगार करके पिताजी के साथ हास्य–विनोद करने लगी तथा नाना प्रकार के मिष्टान्नादि भोजन बनाकर बड़े प्रेमपूर्वक पिताजी को खिलाने लगी। एकान्त में हाव–भावपूर्वक वार्तालाप करती हुई नाना प्रकार की चेष्टायें करने लगी। तीसरे दिन जब मंत्री भोजन कर रहा था और पुत्री पंखा कर रही थी तब मंत्री (पिताजी) का मन चंचल हो गया और उन्होंने पुत्री का हाथ पकड़ लिया। तभी लड़की ने कहा – पिताजी! पिताजी! आप यह क्या कर रहे हैं? अरे! यही तो राजा के पूछे गये प्रश्न का उत्तर है। यह वासना ही पाप का कारण है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र के सातवें अध्याय में ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाओं का वर्णन करते हुये लिखा है–स्त्री रागकथाश्रवण–तन्मनो–हरांगनिरीक्षण–पूर्वरतानुस्मरण वृष्येष्टरस–स्वशरीर संस्कारत्यागाः पञ्च।

1. स्त्री रागकथा श्रवण—स्त्रियों का राग भरी कथाओं का सुनने का त्याग।
2. उनके मनोहर अंगो का बार—बार देखने का त्याग।
3. पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण करने का त्याग।
4. गरिष्ठ भोजन का त्याग तथा
5. अपने शरीर को संस्कारित करने का त्याग।

ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनायें हैं। उन भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करते रहने से ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा होती है।

यह मनुष्य जन्म करोड़ों भवों के बाद बड़ी दुर्लभता से प्राप्त होता है। उसको पाकर स्वर्ग मोक्ष की सिद्धि कराने वाले ब्रह्मचर्य का पालन सभी को अवश्य करना चाहिये। इस संसार में जो ब्रह्मज्ञानी हुए हैं, और ब्रह्मस्वरूप हुए हैं, वे सब ब्रह्मचर्य के पालन से ही हुए हैं। अनेक जीवों ने जो अनन्त सुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति की है, वह एक ब्राह्मचर्य के प्रताप से ही की है। भगवान जिनेन्द्र देव ने ब्रह्मचर्य को मोक्ष सुख की सीढ़ी बतलाया है। अनेक गुणों से भरपूर और महापवित्र ऐसे इस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन सभी को करना चाहिये, क्योंकि इसी के बल पर मुनिराज संसार रूपी समुद्र से पार होते हैं, ऐसे ब्रह्मचर्य की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये।

जो सती, शीलवती नारियाँ होती हैं, वे अपना पूरा जीवन कष्ट के साथ बिता सकती हैं, लेकिन अपने पति को छोड़कर अन्य पुरुष को बुरी निगाह से कभी नहीं देखतीं और न ही कभी अपने पति की निन्दा सुन सकती हैं।

सती अंजना ने बाईस वर्ष तक अपने पति के सामने रहते हुये

भी, सहवास को प्राप्त नहीं किया और साथ ही सास आदि के तानों को भी सहन करती रही, लेकिन उसने कभी भी पवनंजय को छोड़कर हृदय में किसी अन्य को नहीं चाहा था और न ही कभी पवनंजय को हीन दृष्टि से देखा। वह शीलवती, सास और पति के द्वारा तिरस्कृत किये जाने पर भी, यहाँ तक कि युद्ध में जाते समय जब अंजना पवनंजय की आरती करने गयी तब वह (पवनंजय) उसे लात मारकर चला गया, फिर भी अंजना ने बुरा नहीं माना। उसने सोचा कि आज तो मेरा बड़ा भाग्य है कि पति के चरणों का स्पर्श मुझे मिला। इस घटना को देखकर वसन्त माला बोली – देखो अंजना! पवनंजय कितने निष्ठुर हैं। वे नारी के कोमल हृदय को नहीं पहचान पाये। अंजना उसी समय वसन्त माला को फटकारती और कहती है, सखी! तुमने आज तक मुझसे प्रेमभरी बात ही कही, लेकिन आज तुमने मुझे इतने कठोर, मर्मभेदी वचन क्यों कहे? आज के बाद यदि ऐसे वचन भूल से भी कह दिये तो फिर तेरे लिये मेरे समान कोई बुरा नही होगा। यह था उसका पतिव्रत धर्म, यह था उसका शीलव्रत।

इसी शील के प्रभाव से युद्ध में जाते समय जब उन्हे पता चला अंजना निर्दोष है, तो वे रातो–रात ही लौट आये और अंजना से मिलकर वापिस युद्ध करने चले गये। अंजना के गर्भ में हनुमान जी आ गये, पर सास को विश्वास नही हुआ और उसे कुल कलंकनी मानकर घर से निकाल दिया। युद्ध में पवनंजय शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लौटे, पर घर में अंजना को न पाकर वे उसके लिये वन–वन भटकते रहे, वृक्ष–वृक्ष से पूंछते रहे तथा पागलों की भांति खाना, पीना, सोना सब भूल गये। यह सब ब्रह्मचर्य व्रत की महिमा है।

इसलिये कहा है – "मातृवत् परदारेषु" परद्रव्य लोष्टवत्। सद्गृहस्थ परस्त्री को माता के समान मानता है और दूसरे के धन को कंकर पत्थर की तरह अपने लिये हेय समझता है।

एक बार की घटना है – शिवाजी ने कल्याण प्रान्त को अपने अधिकार में करने के लिये सेना को युद्ध करने भेजा। शिवाजी की सेना विजय श्री प्राप्त कर लौटी तब शिवाजी ने मंत्री से पूछा – "मंत्री! कल्याण प्रान्त पर अधिकार करके आप क्या–क्या उपहार लाये हैं?" मंत्री ने कहा "महाराज! भारत की सबसे सुन्दर, अनुपम उपहार वस्तु आपके लिये लाया हूँ। वह है कल्याण प्रान्त के सरदार की बहू, जो रूप–सौन्दर्य में विख्यात है।" यह सुनकर शिवाजी उदास होकर बोले – मंत्री! तुमसे मुझे इस घोर अनर्थ होने की आशा नहीं थी। उस सरदार की बहू क्या तुम्हारी और हमारी बहू नहीं हैं? वह अपनी बेटी के तुल्य है। जाओ, उसे आदरपूर्वक उसके घर छोड़कर आओ। जो अपने शीलव्रत में दृढ़ होते है वे परस्त्री को "परदारेषु मातृवत्" माता और पुत्री के समान देखते हैं।

सतियों की जीवन गाथा पढ़ने पर पता चलता है कि उन्होंने अपने उपर आये पहाड़ के समान बड़ी–बड़ी विपत्तियों को भी हँसते–हँसते झेल लिया, पर अपने शील को सुरक्षित रखा।

मुगलों के शासन काल में दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की और वहाँ के शासक को कैद कर लिया। वह रानी पद्मावती के महल में जा पहुँचा। उस समय रानी पद्मावती व अनेक शीलवती नारियों ने संकट कालीन अवस्था में अपने शील की रक्षा के लिये आग में कूदकर जौहर किया। कहा जाता है कि उस समय राख में साढ़े इकतालीस मन सोने की नथें मिली थीं। इससे

पता चलता है कि साढ़े इकतालीस मन सोने की जितनी नथें बनती हैं, उतनी नारियों ने अपनी शील रक्षा के लिये अग्नि में अपने प्राणों की आहुति दी थी।

औरंगजेब के शासन–काल का इतिहास कहता है कि नगर के बड़े–बड़े कुओं में मात्र स्त्रियों की लाशें ही दिखाई देती थीं, पानी की एक बूंद भी नहीं। उन से हम अनुमान लगा सकते है कि कितनी नारियां ने अपने शील की रक्षा के लिये कुँए में डूबकर अपने प्राणों का विसर्जन कर दिया, कि कुआं में पानी तक शेष नहीं रहा था।

यह शील रत्न यश और पुण्य को बढ़ाने वाला है, इसकी कोई उपमा नहीं है, शील को उपमा काह की दीजे। अर्थात् शील के लिये कोई उपमा दने योग्य पदार्थ नहीं है। यह सद्धर्मरूपी निर्मल रत्नों का पिटारा है। पापों का नाश करके उत्तम सुख देने वाला है, अत्यन्त पवित्र है। जो शीलव्रत का पालन करते है, वे इस लोक में राजा, प्रजा आदि सभी के द्वारा पूजे जाते हैं और परलोक में भी देवों के द्वारा पूज्य होते हैं।

मृगकच्छ नगर में सेठ जिनदत्त और सेठानी जिनदत्ता रहते थे। उनके नीली नाम की एक पुत्री थी। उस नगर में एक समुद्रदत्त नाम का सेठ भी रहता था। उसके सागर नाम का पुत्र था। एक दिन जिनालय में जिनेन्द्र भगवान की अर्चना करती नीली को अपने मित्र के साथ मन्दिर में आये हुये सागर दत्त ने देखा और वह उस पर मोहित हो गया तथा विचार करने लगा, इस रूपवती कन्या को कैसे प्राप्त किया जाये। इसी चिन्ता में कृश होता हुआ वह नीली को प्राप्त करने के लिये अपने पिता के साथ ढोंगी श्रावक बन गया। पिता–पुत्र को जैन समझ, श्रेष्ठी जिनदत्त ने अपनी पुत्री नीली का सागरदत्त के साथ

विवाह कर दिया। नीली को प्राप्त करने के बाद दोनों पिता पुत्र पुनः बुद्ध के भक्त बन गये। जिनदत्त यह देख बहुत दुःखी हुआ। वह पश्चात्ताप करने लगा– "हाय! मैं अपनी पुत्री को मिथ्यात्वी को देने की अपेक्षा कुँए में धकेल देता तो ज्यादा अच्छा होता। ओहो! मैंने इस मूर्ख मिथ्यात्वी को अपनी कन्या क्यों दे दी?"

एक दिन नीली को बौद्ध बनाने की इच्छा से सेठ समुद्रदत्त बोला – "बेटी नीली! हमारे गुरु बहुत ज्ञानी है, उन्हें तुम निमन्त्रित करके भोजन कराओ।" नीली ने बात स्वीकार कर ली और बौद्ध भिक्षुओं को निमन्त्रण देकर के भोजन करवाया। जब वे भोजन कर रहे थे, तभी नीली ने उनके ज्ञान की परीक्षा के लिये गुप्त रूप से उनकी एक–एक जूती मँगवाई और उसके छोटे–छोटे टुकड़े कर घी–बूरे में पकाकर उनको खिला दी।

जब भिक्षु जाने लगे तो अपनी एक–एक जूती को न देख क्रोधित हुये और बोले हमारी एक–एक जूती कहाँ है? इसके उत्तर में ही नीली ने कहा – "आप बड़े ज्ञानी विद्वान् हैं, आप ही बताइये कि जूती कहाँ है और यदि नहीं जानते हैं, तो सुनिये आपकी जूती आपके पेट में ही हैं। यह सुन क्रोधित हो सब भिक्षुओं ने किसी उपाय से जबरदस्ती वमन किया तथा वमन में चमड़े के छोटे–छोटे टुकड़े देख लज्जित तथा व्याकुल हो, अपने स्थान पर चले गये।

नीली के कारण भिक्षुओं का अपमान देख सारे घर वालों ने रुष्ट होकर "नीली परपुरुषगामी है" इस प्रकार का झूठा दोष लगा दिया। कुछ ही दिनों में यह बात पूरे नगर में फैल गई। अपने लांछन को दूर करने के लिये नीली ने भगवान के सामने प्रतिज्ञा की। हे भगवन्! जब तक मेरा यह लांछन (अपवाद) समाप्त नहीं होगा, तब

तक मैं भोजन नहीं करुंगी! अनशन धारण करती हूँ। उसकी इस कठोर प्रतिज्ञा एवं शील के महात्म्य से नगर–रक्षक देव को क्षोभ उत्पन्न हुआ। उसने आकर कहा– "हे सती! तू व्यर्थ ही अपने प्राणों का विसर्जन मत कर। मैं रात को ही नगर के दरवाजे कीलित करके राजा, मंत्री तथा नगर के मुख्य लोगों को स्वप्न देता हूँ कि जो नगर के दरवाजे कीलित हो गये हैं, वे किसी महासती के बाँयें पैर के स्पर्श होने से खुलेंगे। इस प्रकार कहकर देव चला गया। उसने दरवाजे कीलित करके राजा आदि को स्वप्न दिया। प्रातः काल दरवाजों को कीलित देख राजा ने अपने स्पप्न के अनुसार नगर की सभी स्त्रियों को बुलाकर दरवाजों को स्पर्श कराया लेकिन दरवाजे नहीं खुले। तब राजा ने बड़े सम्मान के साथ नीली को बुलवाया। नीली भी जिनेन्द्र अर्चना करके दरवाजे के पास गई और उसने अपने बांये पैर से दरवाजे को स्पर्श किया। नीली के स्पर्श करते ही दरवाजे खुल गये एवं नीली का सतीत्व प्रगट हो गया। इसी प्रकार सती मनोरमा ने अपने शील की परीक्षा दी और परीक्षा में सफल हो जगत् में शील के महात्म्य को प्रकट किया, अपने शील में लगे अपवाद को दूर किया। इसी प्रकार की घटना "पद्मपुराण" में रानी सिंहिका की आती है।

राजा सुकौशल के पौत्र नघोष अयोध्या का राज्य नीतिपूर्वक कर रहे थे। एक बार राजा नघोष अपनी सिंहिका नामक रानी को अयोध्या में छोड़कर उत्तर दिशा के राजा को जीतने के लिये निकले। इधर राजा को युद्ध में जाते देख, दक्षिण दिशा के राजा ने बहुत बड़ी सेना लेकर अयोध्या पर चढ़ाई कर दी। शस्त्र विद्या और शास्त्र विद्या दोनों में निपुण महाप्रतापिनी रानी ने बड़ी फौज लेकर दक्षिण दिशा के राजा से युद्ध किया तथा विजय पताका लहराते नगर में प्रवेश

किया। इधर राजा नघोष भी विजयश्री लेकर पुनः अयोध्या लौट और जब रानी का पराक्रम सुना तो अत्यन्त कुपित हुये तथा मन में विचार करने लगे कि कुलीन स्त्रियाँ अखण्डशील का पालन करने वाली होती हैं। उन्हें इस प्रकार की धृष्टता नहीं करनी चाहिये। ऐसा निश्चय कर वे रानी सिंहिका से उदास हुये और उसे पटरानी पद से हटा दिया।

एक बार राजा के शरीर में महादाह ज्वर हुआ। अनेक कुशल वैद्यों ने नाना औषधियों से उपचार किया परन्तु किन्चित भी स्वास्थ्य लाभ नहीं हुआ। जब राजा के दाह रोग की जानकारी रानी सिंहिका को मिली तो वह बहुत चिंतित हुई। अपनी शुद्धता और राजा के आरोग्य के लिये रानी ने पुरोहित, मंत्री आदि सामन्तों को बुलाकर, जल देते हुये कहा – "यदि मैं मन, वचन और काय से पतिव्रता हूँ, पवित्र हूँ तो इस जल के सिंचन से राजा दाह ज्वर रहित होवे।" जल का सिंचन करते ही राजा का शरीर दाह ज्वर से रहित, हिम के समान शीतल हो गया और आकाश में शब्द गूंजने लगे "शीलवती पतिव्रता रानी सिंहिका धन्य हो! धन्य हो!!" आकाश से पुष्पवृष्टि हुई। राजा ने रानी को शीलवती जानकर पुनः पटरानी पद पर आसीन किया। देखो! जिस दाह ज्वर को रस युक्त अनेक महान औषधियाँ भी दूर नहीं कर सकीं, वह दाह शील के प्रभाव से सामान्य जल से भी नष्ट हो गया और देवों द्वारा पुष्पवृष्टि आदि आश्चर्य हुये। अतः सभी को इस शील को उत्तम रत्न समझकर सावधानी से इसकी रक्षा करना चाहिये। यह ब्रह्मचर्य व्रत संसार समुद्र से तारने वाला है, सुखकर है, देवों के द्वारा पूजित है, मुक्ति का द्वार है, अपार पुण्य को उत्पन्न करने वाला है, अत्यन्त पवित्र है एवं लोक और परलोक सम्बन्धी सुखों का घर है तथा इससे श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं

है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल में ऐसे–ऐसे महापुरुष हो चुके हैं, जिनकी प्रशंसा किसी प्रकार शब्दों से नहीं की जा सकती है। उनकी मनोजयता साधुओं से भी अधिक थी। उन्होंने देवांगनाओं के समान अपनी सुन्दर पत्नियों के साथ रहते हुये भी असिधारा व्रत का अखण्ड रूप से पालन किया। उन्होंने अपने मन से भी ब्रह्मचर्य का खंडन नहीं किया था। क्या कभी ऐसा हो सकता है कि विवाह एक के साथ नहीं अनेकों के साथ कर फिर भी अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे?

पद्मपुराण में राम के भाई भरत के कई पूर्व भवों का वर्णन आया है। उनमें से एक भव का वर्णन करते हुये बताया है कि पूर्व भव में भरत अचल नामक चक्रवर्ती के "अभिराम" नामक पुत्र थे। उसने बाल्यावस्था में ही एक दिन मुनिराज के उपदेश को सुन वैराग्य से ओत–प्रोत हो पिताजी से दीक्षा लेने की आज्ञा माँगी। पिता चक्रवर्ती बोले– "मैं चक्रवर्ती पद के योग्य नाना ऐश्वर्य और भोगो को भोगूँ और तू चक्रवर्ती का पुत्र होकर नग्न रहे, सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास आदि कष्टों को सहे, ऐसा कभी नहीं हो सकता। तुम घर में ही रहो और गृहस्थ धर्म का पालन करो। अभिराम ने बार–बार दीक्षा लेने का आग्रह किया लेकिन पिता ने मोहवश उसे दीक्षा लेने की आज्ञा नहीं दी और यह सोचकर कि यह दीक्षा न ले ले, इसलिये शीघ्र ही सुन्दर देव कन्याओं के समान रूपवान तीन हजार कन्याओं के साथ राजकुमार अभिराम का विवाह कर दिया। उन कन्याओं ने नाना प्रकार की चेष्टाओं से कुमार को मोहित करना चाहा, परन्तु महाशीलवान कुमार को ये सब चेष्टायें और विषय–सुख विष के समान लगते थे। वह मन में विचार करता था, पिताजी ने मुझे तीन हजार बेड़ियों के बन्धन में

बांधा है। परन्तु मैं दृढ़ता पूर्वक अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करुगाँ। कुमार को संसार की माया किन्चित भी नहीं रुचती थी। वह स्त्रियों को सदैव जिन धर्म का उपदेश देता था। संसार की असारता, मनुष्य भव की दुर्लभता, जीवन की चंचलता आदि के बारे में समझाता था। कुमार के उपदेश से स्त्रियों का मन भी शान्त हुआ और उन्होंने भी ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया। निश्चल चित, धीर–वीर उस कुमार ने घर में रहकर चौंसठ हजार वर्ष तक तप (उपवास आदि) करते हुये व्यतीत किये और अन्त में णमोकार मंत्र का स्मरण करते हुये समाधिमरण पूर्वक देह को त्याग कर छठवें स्वर्ग में देव हुआ। हमें गृहस्थ वैरागी राजकुमार के आदर्श जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिये, और जिन्होंने तीन हजार कन्याओं के बीच, चौंसठ हजार वर्ष तक रहकर भी अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया। ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता हैं। अपने मनुष्य जीवन को सफल बनाने के लिये सभी को यथाशक्ति ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करना चाहिये।

शील का पालन करने वाले में ऐसी शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं जो भव–भवान्तरों में भी साथ देती हैं। देखो! विशल्या में ऐसी शक्ति कहाँ से आयी जिसके प्रभाव से उसके शरीरका स्पर्श हुआ जल बड़े–बड़े असाध्य रोगों को नष्ट करने में समर्थ था। यह उसके पूर्व भव में पाले गये शील का ही प्रभाव था। वह पूर्व भव में त्रिभुवानन्द चक्रवर्ती की अनंगसरा नाम की पुत्री थी। उसके रूप से मोहित होकर एक विद्याधर राजा उसका हरण कर ले गया। चक्रवर्ती के सेवकों से युद्ध करते समय उसका विमान चूर–चूर हो गया। तब उसने व्याकुल होकर उस कन्या को आकाश से गिरा दिया, जिससे वह पर्ण लघ्वी नामक विद्या के सहारे अटवी मे जा गिरी, जहाँ सामान्य मनुष्य का तो प्रवेश ही असंभव था, तथा जहाँ निरन्तर

जंगली जानवरों की गर्जना सुनाई देती थी। ऐसे भयानक जंगल में अनंगसरा ने तीन हजार वर्ष तक अपना जीवन पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ बिताया था। वहाँ उसके शील के प्रभाव से जंगली जानवरों ने उसको अपना भोजन नहीं बनाया। वे उसके साथ भाई, बहिन, मित्र के समान क्रीड़ा करते थे। वहाँ से मरण कर वह भगवान मुनिसुव्रत भगवान के शासन काल में विशल्या नाम की राजकुमारी हुई। उसके स्पर्श किये जल को लगाने से रोग दूर हो जाते थे। उसके स्पर्श किये जल से रावण के बाणों से मूर्छित लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर हो गई थी। आचार्य महाराज कहते हैं कि विशल्या का विवाह जब तक नहीं हुआ था तब तक उसमे जा रोगनाशक शक्ति थी, वह लक्ष्मण के साथ विवाह होने के बाद नहीं रही थी। इसी प्रकार शीलवती अंजना के शील के प्रभाव से मारने के लिये द्वार पर पहुँचा हुआ अष्टापद भी अंजना के तजस्वी चेहरे को दखकर बिना मारे ही लौट गया।

गृहस्थी मं रहकर स्वदार सन्तोष व्रत पालन करने वालों के शील का भी इतना प्रभाव देखा जाता है, तब अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन करन का ता कहना ही क्या है।

राजपुत्र शिवकुमार ने पाँच सौ स्त्रियों के बीच रहते हुये भी असिधाराव्रत (पूर्ण ब्रह्मचर्य) का पालन किया था और अंत में दिगम्बर मुनि होकर समाधिमरण करके छटवें स्वर्ग में विद्युन्माली नाम का महान देव हुआ और वहाँ से आकर अर्हदास सेठ के यहाँ जम्बूकुमार नामक पुत्र हुआ। श्री सुधर्माचार्य स उपदेश सुनकर उन्हें वैराग्य हो गया किन्तु फिर भी उनके माता पिता ने पद्मश्री, कनक श्री, विनय श्री, और रूप श्री नामक सुन्दर कन्याओं के साथ उनका विवाह करवा दिया। सभी ने तथा चोरी करने आये विद्युतचर चोर ने भी उन्हें घर

में रहने के लिये बहुत समझाया पर उन पर किसी का भी रंचमात्र प्रभाव नहीं पड़ा और उन्होंने प्रातःकाल ही श्री सुधर्माचार्य के पास जाकर मुनि दीक्षा ले ली। चारों बहूओं ने तथा 500 साथियों सहित विद्युतचर चोर ने भी जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। जिस दिन सुधर्माचार्य गुरु मुक्ति को पधारे उसी दिन जम्बूस्वामी को केवलज्ञान प्रगट हो गया, इसलिये जम्बूस्वामी अनुबद्ध केवली कहलाये। जम्बूस्वामी के मोक्ष जाने पर उस दिन से कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुये।

धन्य हैं ये जम्बूस्वामी। जिन्होंने पूर्वभव में घर में पत्नियों के बीच रहते हुये भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करके, इस भव में तत्काल विवाही हुई नवीन सुन्दर पत्नियों में सर्वथा अनासक्त होते हुये, अखंड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके मुक्ति को प्राप्त किया।

विशल्या के प्रभाव से लक्ष्मण को लगी हुई 'अमोघ शक्ति' नाम की विद्या का प्रभाव खत्म हो गया था, किन्तु विवाहित होने के बाद उसमें वह विशेषता नहीं रही थी। इस प्रकार जो पूर्ण ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करते है, वे भी देवों द्वारा पूजा को प्राप्त होते हैं।

सभी को ब्रह्मचर्य व्रत लेकर उसकी नौ बाढ़ों से सुरक्षा करना चाहिये। ब्रह्मचारी को –

1. न तो स्त्रियों के आसन पर बैठना चाहिये।
2. न उसकी शैय्या पर सोना चाहिये।
3. न स्त्रियों के साथ एकान्त में मिलना चाहिये।
4. न उनके साथ मीठा रागजनक वार्तालाप करना चाहिए।
5. न उनके अंग उपांगों को देखना चाहिये।
6. गरिष्ठ भोजन नहीं करना चाहिये।
7. अपना रहन सहन, खानपान सात्विक, सादा रखना चाहिये।

8. जहाँ स्त्रियों के चित्र लगे हों, वहाँ नहीं रहना चाहिये।

"ब्रह्मचारी सदा शुचिः" आत्मा में पवित्रता ब्रह्मचर्य गुण से आती हैं। ब्रह्मचारी की आत्मा में महान् बल का विकास होता है, उसके मुख पर तेज चमकता है, उसकी वाणी में प्रभाव होता है, उसका शरीर बलिष्ठ और निरोग होता है, उसकी बुद्धि विकसित हो जाती है। उसमें अनेक अध्यात्मिक गुण प्रकट होने लगते हैं।

ब्रह्मचर्य की साधना के लिये मन की शुद्धि, मन की पवित्रता अनिवार्य है। एक स्वच्छ वस्त्र पर ही भली प्रकार रंग चढ़ सकता है। इसी प्रकार निर्मल मन में ही ब्रह्मचर्य धर्म का रंग चढ़ सकता है। जिसका मन पवित्र हो गया, उसका जीवन भी पवित्र हो जायेगा और जिसका मन अपवित्र हो जायेगा, उसका जीवन भी अपवित्र हो जायेगा। इसीलिये कहा है – मनः मनुष्यानां कारणं बन्ध मोक्षो। बन्ध व मुक्ति का मूल कारण मन है। यह आत्मा केवल भाव स्वरूप है। किसी ने अब तक गंदे भाव किये हों, यदि भाव पलट जायें और आत्म स्वरूप की दृष्टि जग जाये तो उसके जीवन में ब्रह्मचर्य प्रगट हो जायेगा। जिसका हृदय पवित्र होता है, जो अपने व्रत मे दृढ़ रहता है, उसके प्रभाव से दूसरो का मन भी पवित्र हो जाता है।

एक बार एक राजा अपने नगर में घूम रहा था। उसने एक सेठ की बहू को देखा, तो उसकी सुन्दरता देखकर वह उस पर मोहित हो गया। महल में जाकर उसने अपने मंत्री से अपने मन की बात बताई। मंत्री बोला राजन् आप उसका ख्याल छोड़ दीजिये, वह पतिव्रता स्त्री है। इस समय उसके पति विदेश गये हुये हैं। वह अपने पति या साधु महात्मा के अलावा अन्य पर पुरुष से नहीं मिलती। राजा ने निर्णय किया कि वह साधु वेष में उसके घर

जायेगा। राजा जंगल में चला गया और 3–4 माह में दाढ़ी बढ़ाकर साधु वेष में भिक्षा माँगने उस सेठ के घर पहुँचा। सेठ की बहू साधु की आवाज सुनकर बाहर आई। साधु ने बहू से वचन ले लिया, वह भिक्षा में जो माँगेगा वह देना पड़ेगा। बहू ने सोचा एक साधु क्या माँगेगा, उसने वचन दे दिया। साधु बोला मुझे भिक्षा में आम चाहिये। उस समय आम का मौसम नहीं था, अतः बहू सोचने लगी इसने यह क्या माँगा इसे आम कहाँ से दें, आम का तो अभी मौसम ही नहीं है। वह भगवान की भक्त थी उसने पंच परमेष्ठी भगवान का स्मरण किया और बोली–हे भगवन्! यदि विदेश में मेरे पति का ब्रह्मचर्य सच्चा हो तो आम का पेड़ उग जाये। उसके बोलते ही वहाँ आम का पेड़ उग गया। साधु वेष में राजा भी आश्चर्य में पड़ गया। वह बोला–पेड़ से क्या होता है मुझे तो आम चाहिये। बहू ने फिर से भगवान का स्मरण किया और बोली–हे भगवन्! यदि मेरा ब्रह्मचर्य सच्चा हो तो इस वृक्ष में आम के फल लग जायें, वह बहू पूरा बोल भी नहीं पाई कि वृक्ष में आम के फल लग गये। यह सब देखकर नगर के बहुत से व्यक्ति इकट्ठे हो गये, मंत्री जी भी वहाँ आ गये और समझ गये कि राजा साधु वेष में आया है। साधु जी बोले कच्चे आम थोड़े ही खाये जाते हैं, मुझे तो पके हुये आम चाहिये। बहू सोचने लगी अब क्या करें, उसने पुनः भगवान का स्मरण किया और बोली–यदि यहाँ के राजा का ब्रह्मचर्य सच्चा हो तो ये आम के फल पक जायें। पर एक भी आम नहीं पका, बहू ने पुनः बोला यदि यहाँ के राजा का ब्रह्मचर्य सच्चा हो तो आम के फल पक जायें, जब एक भी आम नहीं पका तो राजा का सिर झुक गया। मंत्री जी ने राजा से कहा–राजन् यह आपकी इज्जत का सवाल है। राजा के भाव पलट गये, और अब तीसरी बार बहू ने पुनः बोला–यदि यहाँ के राजा का

ब्रह्मचर्य सच्चा हो तो ये आम पक जायें, और उस वृक्ष के सारे आम पक गये। उस बहू की धर्म और ब्रह्मचर्य की दृढ़ श्रद्धा देखकर राजा का हृदय परिवर्तन हो गया और उसने बहू से माँफी माँगी। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिये अपने मन को सदा पवित्र रखना चाहिये। जिस प्रकार खेत की रक्षा बाड़ लगाकर करते है, उसी प्रकार हमें अपने शील की रक्षा नव वाड़ पूर्वक करनी चाहिये।

ब्रह्मचर्य, धर्मों का सार है, अगर ब्रह्मचर्य नहीं है, तो सारी–की–सारी क्रियायें निष्फल हो जाती हैं। हमारा ब्रह्मचर्य, मन, वचन, काय तीनों से होना चाहिये। आज हम भले ही काय और वचन से पालन कर लें, लेकिन मन से पालन करना कठिन है। ब्रह्मचर्य पालन नहीं कर सकता। व्यक्ति सबसे अधिक पाप मन से करता है। आज मन को वश में करना बहुत कठिन है। आज हम देखते हैं, जगह–जगह अब्रह्म के कारण मिल जाते हैं। रास्ते में न जाने कितने अब्रह्म के परिणाम आने के निमित्त मिल जाते हैं। ऐलक श्री वरदत्त सागर जी महाराज ने लिखा है – कामासक्त व्यक्ति समस्त धर्म–कर्म भूल जाता है, इसलिये कहा भी है –

प्यास न देखे धोबी घाट, भूख न देखे झूठो भात।
नींद न देखे टूटी खाट, काम न देखे जात कुजात।।

कामी व्यक्ति को अंधे के समान कहा है, कि जिस प्रकार अंधे को नहीं दिखता, उसी प्रकार कामी व्यक्ति को भी यह कार्य मुझे करने योग्य है कि नहीं, उसके पास आँखें होने के बाद भी वह अंधे के समान हो जाता है, उसे कुछ भी नजर नहीं आता, वह सब कुछ भूल जाता है, यहाँ तक की काम के वशीभूत होकर दूसरों के प्राण भी ले लेता है तथा तलवारें और पिस्तौलें चल जाती हैं, और माता–पिता

को भी मारने का तैयार हो जाता है।

एक कॉलेज में एक लड़का और लड़की पढ़ते थे, जिनका कुछ प्रम संबंध हा गया। एक दिन लड़की ने लड़के से कहा–क्या तुम मुझे सच्चा प्रम करते हो? लड़के ने कहा–तुम्हें मैं सच्चा प्रेम करता हूँ, तुम झूठ बोल रहे हो, नहीं, वह बोला। लड़की कहने लगी अगर तुम हमसे सच्चा प्रेम करते हो तो तुम अपनी माँ का दिल हमें लाकर दे दो। लड़का घबरा गया बोला–तुम और कुछ कार्य करने के लिए कह दो, मैं तुम्हें आसमान के तारे उतारने के लिए तैयार हूँ। नहीं, मुझे तो तुम्हारी माँ का दिल (कलेजा) ही चाहिए। मैं जानती थी कि तुम्हारा प्रेम झूठा है, चले जाओ यहाँ से, आज के बाद मेरे पास मत आना। लड़का घर को गया और रास्ते में बाजार से एक रामपुरी चाकू खरीद लिया। रात में सोते समय माँ के सीने पर चढ़ गया और चाकू घोंप दिया। माँ चिल्ला भी न पाई की माँ का कलेजा निकाल लिया और उसको लेकर प्रेम प्यारी के पास चला जा रहा था। अंधेरी रात थी, ठोकर लगी और वह गिर पड़ा, कलेजा हाथों से छूट गया और पत्थर पर जा गिरा, तब उसमें से आवाज आई, बेटा तुझे चोट तो नहीं आई। माँ तो माँ होती है, उसकी अंतरआत्मा उस समय भी पुकार उठी कि हमारे लाल को कहीं चोट तो नहीं आई। पुत्र कुपुत्र तो हो सकता है लेकिन कभी माता कुमाता नहीं हो सकती।

लड़का उस कलेजे को उठाकर अपनी प्रेम प्यारी के पास पहुँचता है। देख मेरा प्रेम सच्चा है, देख मैं कलेजे को ले आया हूँ। लड़की उस कलेजे को देखकर घबरा जाती है – कहती है दुष्ट तूने माँ को मार दिया। अरे! जब तू माँ का सगा न हुआ तो मेरा क्या होगा। उसने तुझे नौ माह गर्भ में रखा और पाल पोस कर बड़ा किया है, तो मेरा क्या होगा, हट जा मेरी नजरों के सामने से, मैं एसे

व्यक्ति से प्रेम संबंध नहीं बना सकती हूँ।

काम में जब व्यक्ति अंधा हो जाता है, तो उसे कुछ भी नहीं दिखता है और जन्म देने वाले माता–पिता की जान भी ले लेता है। अंधा व्यक्ति तो मात्र आँखों से अंधा है, वह अंतर मन से प्रभु का भजन करता रहता है, लेकिन कामी व्यक्ति के पास आँखें होने के बाद भी प्रभु के दर्शन नहीं कर सकता है। उसे गुरुओं की बात अच्छी नहीं लगती, जिस व्यक्ति के मन में विषय वासना ग्रसित होती है उसको कितना ही उपदेश क्यों न दिया जाए, उसे अच्छा नहीं लगता, साक्षात् भगवान के सामने भी पहुँच जाए तो भी अच्छा नहीं लगता है।

मन्दिर जाते समय हमें अपनी बाह्य वेशभूषा सादा रखना चाहिये। आज देखते हैं, महिलायें नई दुल्हन बनकर मन्दिर जाती हैं, जो दूसरों के भाव बिगाड़ने में निमित्त बनती हैं।

"अन्य स्थानेकृतं पापं, धर्म स्थाने विनश्यति।
धर्म स्थाने कृतं पापं, वज्र लेपो भविष्यति।।"

आचार्य कहते हैं कि अन्य स्थान पर अर्थात् घर, दुकान में जो पाप कमाते हैं, उस पाप को हम धर्मस्थान में, मंदिर आदि जो पूज्य स्थान हैं, उन स्थानों पर जाकर, उन पापों को नष्ट कर देते हैं, परंतु अगर हम धर्म स्थान में ही पाप करने लग जाएँ, तो आचार्य कहते हैं कि फिर वह आपका पापकर्म वज्र के समान अर्थात् वज्र को कोई तोड़ नहीं सकता, इसी प्रकार वह कर्म अब किसी भी स्थान पर क्षय को प्राप्त नहीं होगा। उस पाप कर्म का फल तो हमें भोगना ही पड़ेगा, ऐसा पाप का बंध कर लेते हैं, इसलिए हमें ध्यान रखना चाहिए कि आप मंदिर जा रहे है तो आपकी वेशभूषा, चाल–चलन से

किसी की दृष्टि तो नहीं बिगड़ती, अगर बिगड़ती है तो आप उस पाप कर्म में निमित्त बन रहे हैं। अगर कोई स्त्री पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित है, और उस समय वह मंदिर में आलोचना पाठ–पूजन, प्रतिक्रमण जैसी क्रियाओं को करती है, तो उसकी क्रियायें तोता रटंत जैसी हैं। तोता राम का नाम तो लेता है लेकिन वास्तविक राम से वह परिचित नहीं हो पाता। तोता रट लेता है कि शिकारी आता है, जाल फैलाता है, दाने का लोभ दिखाता है, जाल में फँसना नहीं चाहिए। ऐसी ही वह स्त्री जो पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित और पूजन, व्रत आदि कार्यों को सम्पन्न कर रही है, मन में सोच रही की पाप नहीं करना चाहिए और पाप कर रही है, क्योंकि प्रदर्शन का लोभ जो मन में आ जाता है। हमारे श्रृंगार करने से दूसरों का मन भी चलायमान हो जाता है।

एक बार एक लड़की सजधज कर स्कूटी पर बैठकर जा रही थी, उसे देखकर चार लड़कों ने उसको छेड़ा, तो उसने पुलिस में रिपोर्ट कर दी। दूसरे दिन सभी को अदालत में जज के सामने पेश किया गया और लड़कों से जज साहब ने पूछा, क्यों भाई तुमने इस लड़की को छेड़ा है? चारों लड़के बोले – जज साहब हम गीता की सौगंध खाकर कहते हैं, राम की सौगंध खाकर कहते हैं कि हमने इस लड़की को छेड़ने की बात तो अलग है हमने इसे देखा भी नहीं है। जज साहब इस प्रकार की बात सुनकर असमंजस में पड़ जाते हैं कि यहाँ यह लड़की स्वयं कह रही है कि हमको इन लड़कों ने छेड़ा है और ये लड़के भी कह रहे हैं कि छेड़ने की बात तो अलग है, हमने इसे देखा भी नहीं। जज साहब ने लड़की से पूछा–क्यों बेटी तुम्हें सही याद है, कहीं तुम भूल तो नहीं रही हो, ये दूसरे लड़के हों। तब लड़की ने अपने सिर पर गीता को रखते हुए कहा कि जज साहब ये

वही लड़के हैं, जिन्होंने कल हमको बाजार में छेड़ा था। जज साहब तो दुविधा में पड़ गए, दोनों ही पक्ष आत्मविश्वास के साथ अपनी बात को कह रहे थे कि हम सच बोल रहे हैं और दोनो के हाव–भाव से भी प्रकट हो रहा था कि ये दोनों सच बोल रहे हैं। जज साहब ने कहा कि आज आपका समय हो गया है कल आपको पुनः दुबारा यहाँ पर आना है, परन्तु लड़की से इशारा करते हुए कहते हैं कि आपको जिस दिन इन लड़कों ने छेड़ा था, उस दिन तुमने जो अपनी वेशभूषा बनाई थी, वही बनाकर के तुमको यहाँ कल आना है। दूसरे दिन जब लड़की उसी वेशभूषा में पहुँची तो अदालत के सारे लोग उसको टकटकी लगाकर देखने लगे। जज साहब भी जो उसको कल बेटी कह रहे थे, वह भी कामना की दृष्टि से देखने लगे। जज साहब ने लड़कों से पूछा कि क्यों भाई आज तुम सच बोलना क्या तुमने इस लड़की को छेड़ा था तो चारों लड़के एक साथ कहते हैं कि हाँ हमने इस लड़की को छेड़ा है, तब जज साहब कहते हैं कि तुमने कल झूठ क्यों बोला था। कि हमने इस लड़की को छेड़ने की बात तो अलग है, इसे हमने देखा भी नहीं। तो वह लड़के कहते हैं कि जज साहब, हमने जो कल कहा था वह भी सच था, आज जो कह रहे हैं वह भी सच है। जज साहब, आप इस लड़की को देख रहे होंगे क्या जिस प्रकार यह कल थी वैसी आज है, नहीं है। हमने इस लड़की को नहीं छेड़ा था, हमने तो इसके वस्त्रों को छेड़ा था। इसने अपनी वेशभूषा ही इस प्रकार बना रखी है कि हमारी जगह कोई दूसरा होता तो वह भी अपने मन में ऐसे ही भाव उत्पन्न कर लेता।

तो यह बात बिल्कुल सच है कि लड़के, लड़कियों को नहीं छेड़ते, वह तो उनकी वेशभूषा को छेड़ते हैं। आज पाप अत्याचार बढ़ रहा है, उसका मुख्य कारण हमारा रहन–सहन, पाश्चात्य संस्कृति

के अनुसार होना है। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये हमें अपनी वेशभूषा, चालचलन भारतीय संस्कृति के अनुसार सादा रखना चाहिये।

शीलव्रत (ब्रह्मचर्य) का पालन करने के लिये हमें पाँच बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। पहली है, अपने कानों को बचा के रखना। अर्थात् कानों को ऐसा विषय न दें जो भीतर विकार पैदा करे। दूसरा है, अपनी आँखों को बचा के रखना। अर्थात् आँखों को ऐसे दृश्य न दिखाये जिनको देखकर विकार उत्पन्न हो जाये और तीसरी चीज है, मन को बचाकर रखना। अर्थात् मन में कोई ऐसी बात न आने दें, जिससे अपने भाव बिगड़ जायें। चौथी चीज है अपनी (जिव्हा इन्द्रिय) जीभ को काबू में रखना। अर्थात् ऐसा गरिष्ठ भोजन नहीं करना जो शरीर में नशा पैदा करे और पाँचवी बात है अपनी वेशभूषा, अपने शरीर की सजावट, ऐसी न करें जिससे किसी दूसरे के मन में पाप का भाव उत्पन्न हो। ऐसी सजावट करना, रूप प्रदर्शन करना भी तो पाप है। क्यों कर रहे हो ऐसी सजावट? हनुमान पोतदार ने लिखा है भारतीय सती नारी रूप प्रदर्शन को शील का अपमान समझती है। रूप प्रदर्शन करने से अपने शील में दोष लगता है, पूजा में पढ़ते हैं –

शील सदा दृढ़ जो नर पाले, सो औरन की आपद टाले। जो अपने शील का दृढ़ता से पालन नहीं करते, वे दूसरों को आपदा में डालते है, अर्थात् उनके भाव बिगड़ने में कारण बनते है। हमें अपनी वेश भूषा सादा रखना चाहिये। यदि इन पाँच बातों का ध्यान रखा तो हम अपने जीवन को उत्थान की ओर ले जा सकते हैं।

वर्णी जी के ब्राह्मण गुरुजी थे पं. ठाकुर प्रसाद जी। पंडित जी बहुत बड़े विद्वान थे। एक बार वे अपनी पत्नी को बनारसी साड़ी

लेकर घर पहुँचे। उनकी पत्नी विरक्त थी। ऐसी स्थिति होती है, किसी घर में पत्नी विरक्त होती है तो किसी घर में पुरुष विरक्त होता है। जब पं. जी ने पत्नी को साड़ी दी तो वे बोलीं आप यह साड़ी क्यों लाये? पं. जी बोले तुम्हारे लिये लाये हैं। आप इतनी भड़कीली साड़ी क्यों लाये? अरे तुम्हें खुशी होगी इसलिये लाये हैं। पत्नी बोली मैं तो पहले ही खुश हूँ। यदि मैं यह साड़ी पहनकर निकलूँगी तो कैसा लगेगा? पं. जी बोलते हैं तुम अच्छी दिखोगी। तब वह पण्डिताइन गम्भीर होकर बोली कि अच्छी दिखूंगी तो उसका परिणाम क्या निकलेगा? मुझे दुनिया को नहीं रिझाना, और आप तो मुझ पर पहले से ही रीझे हुये हो, तभी तो ये साड़ी लाये हो। मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। उसने नौकरानी को बुलाकर कहा—यह साड़ी वापिस कर आओ और जितने भी पैसे वापिस मिलें उन्हें तू रख लेना। नौकरानी साड़ी वापिस करने चली जाती है। पंडितजी का मन थोड़ा फीका हो गया। वे कुर्सी पर बैठ गये तब वह पण्डिताइन उनके पास आकर कहती है, अब तो अपने दो बच्चे हो चुके हैं और इससे अधिक की अपन को आवश्यकता भी नहीं है, अगर अपन ब्रह्मचर्य व्रत ले लें तो कैसा रहेगा। जब 5 मिनट तक भी पंडित जी कोई जवाब नहीं देते हैं तो वह पण्डिताइन पंडित जी की गोद में जाकर बैठ गई और बोली—पिताजी अब तो मैं अपना शेष जीवन ब्रह्मचर्य पूर्वक व्यतीत करना चाहती हूँ। पंडित जी चकित हो जाते हैं और कहते हैं बेटी आज तूने वो काम कर दिया जो मैं सैकड़ों शास्त्र पढ़कर भी नहीं कर पाया। आज तूने मेरी आँखें खोल दीं, अब मैं संकल्प लेता हूँ कि जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा।

सन 1961 की एक घटना है। वर्णी जी की जब चिता जल रही

थी, वहाँ एक व्यक्ति आये, उन्होंने चिता की थोड़ी–सी राख उठाई और ये संकल्प किया कि आज मैं इस राख को अपने हाथ में उठाकर वर्णी जी की चिता की साक्षीपूर्वक आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का संकल्प लेता हूँ। ऐसा उन्होंनें इसलिये किया क्योंकि उनका वर्णी जी से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। उनके पिता जी ने वर्णी जी को ब्रह्मचारी बनाया था। जब वर्णी जी ने सातवीं प्रतिमा का संकल्प लिया था, उस समय किसी साधु का सानिध्य नहीं था। उस समय इन्हीं के पिताजी ब्रह्मचारी गोकुल प्रसाद जी वहाँ बैठे हुये थे। उन्हीं के पास वर्णी जी ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लिया था और वर्णी जी बार–बार इनसे भी कहते थे कि देखो तुम्हारे पिताजी से मेरा यह जीवन सात प्रतिमा से सम्पन्न हुआ है, अब आप भी ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लो। पर वे कभी भी साहस नहीं जुटा पाये।

लेकिन जब वे वर्णी जी के अन्तिम संस्कार में नहीं पहुँच पाये और जब पहुँचे तो वहाँ केवल राख बची थी, जहाँ वर्णी जी का अन्तिम संस्कार किया गया था। वहाँ जाकर उन्हें इतना पश्चात्ताप हुआ कि काश वर्णी जी जीवित होते और मैं उनसे आशीर्वाद पूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत ले लेता तो कितना अच्छा होता, लेकिन मैं अपनी कमजोरी के कारण ब्रह्मचारी नहीं बन पाया और उन्होंने वर्णी जी की चिता की राख को हाथ में लेकर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने का संकल्प ले लिया।

इन विषय–भोगों में कहीं भी सुख नहीं है, इसलिये जीवन में संयम और ब्रह्मचर्य ही श्रेयष्कर है। यदि मनुष्य होकर भी हम असंयम के गुलाम, इन्द्रियों के दास बने रहे तो अपना कल्याण कब करेंगे। हमें आज से ही अपने जीवन में इस ब्रह्मचर्य की साधना शुरू कर देनी चाहिये। यदि हम कुछ दिनों के लिये ब्रह्मचर्य व्रत का पालन

करना शुरू कर दें, और उसे धीमे–धीमे बढ़ाते जायें, तो निश्चित ही एक दिन पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर अपनी इस पर्याय को सफल बना सकते हैं।

सम्यग्ज्ञान

सम्यग्ज्ञान मोक्षमार्ग का द्वितीय रत्न है। स्व–पर–पदार्थों को उनके अनेक धर्मों सहित पहचान कराने वाला सम्यग्ज्ञान होता है। जिस प्रकार आँखों के बिना मनुष्य अपने समीप में रखी हुई वस्तु भी नहीं देख सकता, उसी प्रकार बिना सम्यग्ज्ञान के निज आत्मा भी नहीं जान पड़ता। सम्यग्दर्शन भी तभी होता है जबकि जीव को तत्त्वों का कुछ ज्ञान हो, आत्मा–पुद्गल का विवेक हो, संसार–मोक्ष का परिज्ञान हो, आस्रव–बंध की जानकारी हो। ध्यान भी बिना ज्ञान के नहीं हो सकता। इस कारण यद्यपि ज्ञान में सम्यक्पना, सम्यग्दर्शन हो जाने के बाद होता है, परन्तु मूल में देखा जाये तो आवश्यक ज्ञान हुए बिना सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सम्यग्ज्ञान के अभाव में इस जीव ने संसार में परिभ्रमण करते हुये अनन्त भव धारण किये और अनन्त दुःख भोगे। राजा हुआ, भिखारी भी हुआ, स्वर्ग में गया और नरक में भी गया। सुख पैसा, मकान, मोटर, स्वर्ग के वैभव आदि में नहीं है। सच्चा सुख तो सम्यग्ज्ञान में है। सच्चे ज्ञान बिना, अज्ञान के कारण अपने आत्म स्वरूप को न पहचान पाने के कारण ही जीव संसार की चार गतियों में रुलता हुआ अनन्त दुःख भोग रहा है। संसार की चारों गतियों के दुःखों से छूटकर, मोक्षसुख को प्राप्त करने के लिये सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करो।

अनेक कुयोनियों में भ्रमण करते हुये हम लोगों ने यह दुर्लभ

मनुष्य जन्म पाया है। अब अपनी आत्मा की कुछ सुध करें, दूसरे जीवों के आधीन होकर, दूसरों के प्रेम में बँधकर अपनी बरबादी न करें। गृहस्थ धर्म पाया है तो गृहस्थी की व्यवस्था बनायें, पर अन्तरंग से ममता का परिणाम न लावें। अरे पक्षी की तरह पंख पसारकर किसी दिन उड़ जायेंगे, फिर यहाँ हमारा क्या रहेगा? किस चीज के लिये इतना श्रम कर रहे हैं, इतना निदान बना रहे, इतने मंसूबे बना रहे हैं? सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना ही एक प्रधान कर्त्तव्य है। क्यों शेखचिल्लीपन किया जा रहा कि दुनिया मुझे जान जाय, मान जाये। अरे कुछ लोगों के जान जाने से कहीं मेरा उत्थान न हो जायेगा। ये दुनिया के मायामयी जन, अर्थात् इस देह के बन्धन में बँधे हुए लोग, जन्म–मरण के संकट सहने वाले लोग, यदि मुझे जान गये कि यह अच्छा है, यह बहुत पढ़ा–लिखा है, सम्पन्न है, कुछ भी कह डालें, तो ये शब्द मेरा कौन–सा भला करने वाले हैं?

यह समस्त जगत मिथ्यात्वरूपी रोग से पीड़ित है। यहाँ के जो कुछ भी समागम हैं, वे सब मायारूप हैं। आज मिलें हैं, कल न मिलेंगे, नष्ट हो जायेंगे। कभी तो वियोग होगा ही। जिसका समागम हुआ है, उसका नियम से वियोग होगा, चाहे वह सचेतन समागम हो अथवा अचेतन समागम हो। देखो, कहाँ सुख ढूँढ़ते हो, किस जगह सुख है? यह मोह की नींद का एक स्वप्न है। सब कुछ बिखर जायेगा। कोई भी यहाँ न रहेगा। सो कोई ऐसा बुद्धिमानी का काम करलो, जिससे सदा के लिये सुख मिल जाय। यह जीव स्वभाव से आनन्दमय है, इसको रंच भी क्लेश नहीं है। जो वस्तु जैसी है, उसका उसी प्रकार ज्ञान कर लें, स्वरूप भी जैसा है, उसका यथार्थ ज्ञान कर लें, फिर कष्ट का कोई नाम नहीं रहेगा। यथार्थ ज्ञान ही समस्त क्लेशों से छुटकारा देने का उपाय है। सम्यग्ज्ञान के बिना हम

आपको कभी सन्तोष नहीं हो सकता।

भैया! राग तो इस जीव पर बहुत बिकट है, अपने आपका आत्मा अपनी सुध में न रहे और बहिर्मुखी दृष्टि बनाकर अत्यन्त भिन्न असार परद्रव्यों को अपना माना करे, ऐसी जो अन्तरंग कलुषता बस गयी है, यह क्या कम विपत्ति है? इस जगत में मोही–मोहियों का यह मेला है, इस कारण एक दूसरे के मोह की करतूत की प्रशंसा की जा रही है और इसी कारण अपनी गलती विदित नहीं हो पाती है। धन, वैभव की वृद्धि में, यश प्रष्ठिठा के बढ़ावे में, और भी नाना व्यामोह में सभी जीव उलझे हुए हैं। इस कारण दूसरों की वृद्धि, सांसारिक समृद्धि निरखकर लोग प्रशंसा करते हैं और ये मोही जीव उस प्रशंसा में आकर अपने आपको भूल जाते हैं। आचार्य समझाते हैं–यदि अपना हित चाहते हो, तो इस भ्रम को तज दो कि संसार मे इतने लोगों में हमें सर्व श्रेष्ठ कहलाना है, और इसके लिये हमें अपनी संपदा का संचय करना है, इस बुद्धि को त्यागकर रत्नत्रय निधि का संचय करो।

वही धन्य है जो भवि, रत्नत्रय निधि की रक्षा करता।
नर से नारायण बनकर, झट शिव मंजिल में पग धरता।।

एक मुनिराज आत्मध्यान में मग्न होकर एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। इतने में एक राजा आया और कहने लगा–अरे आलसी बैठे–बैठे क्या करता है? कुछ काम कर, आराम करना हराम है। कुछ खेती–बाड़ी क्यों नहीं करता? मुनिराज ने अधोमुख करके मन्द मुस्कान के साथ उत्तर दिया–राजन्! मैं दिन–रात खेती करता हूँ, आलसी नहीं हूँ। उनका उत्तर सुनकर, राजा को आश्चर्य हुआ और कहा कि कहाँ करते हो खेती? तुम्हारा बैल कहाँ है और कौन से बीज हैं? अनाज कहाँ रखा है और सारा सामान कहाँ रखा है?

राजा की बात सुनकर मुनिराज ने कहा— राजन्! मेरा अन्तःकरण खेती है, विवेक मेरा हल है, संयम और वैराग्य दो बैल हैं, मैं सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र के बीज बोता हूँ, ध्यान के नीर से सींचता हूँ। समता के खुरपे से ममता, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि घास को उखाड़ कर फेक देता हूँ (जो मेरी रत्नत्रय रूपी खेती के लिये घातक हैं)। पाँच महाव्रत के गोफन में, पाँच समिति रूपी पत्थर से, पाँच इन्द्रिय रूपी मृगों के समूह को भगाता हूँ, जो मेरी खेती को नष्ट करते हैं। मेरी इस खेती में अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य—रूपी अनाज उत्पन्न होता है, जिससे मैं चिरकाल के दुःख दारिद्रय का नाश कर, अविनाशी सुख का भोक्ता बनूँगा। हे राजन्! संसारी प्राणी विषय वासनाओं की पूर्ति के लिये अनेक प्रकार के पुरुषार्थ करता है, दिन—रात आकुल व्याकुल रहता है, परंतु इसको सुख—शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। सुखी होने का उपाय धन संचय करना नहीं, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना है। अतः आत्मकल्याण चाहने वालों को ज्ञानार्जन करने का पुरुषार्थ करना चहिये।

आचार्य समझाते हैं, हे जीव! तू बाहर में दस पाँच लाख रुपया प्राप्त करने के लिए कितना परिश्रम करता है। घर—बार छोड़कर, खाने—पीने की कठिनाई सहन करके भी परदेश में पैसा कमाने जाता है और दिन—रात मजदूरी करता है। तुझे ज्ञान की कीमत का पता नहीं है। सम्यग्ज्ञान अचिन्त्य शक्ति वाला है, परम शान्ति वाला है।

तेरी सच्ची लक्ष्मी तो यह सम्यग्ज्ञान है, जो परम सुख देने वाला है, अन्य पैसा आदि तो धूल—रजकण हैं, वह कहीं तेरी लक्ष्मी नहीं और उनमें से कभी तुझे सुख मिलने वाला भी नहीं है। अतः सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने का ही प्रयास करो। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने लिखा है —

वहु पुण्य–पुंज प्रसंग से, शुभदेह मानव का मिला।
तो भी अरे भव चक्र का, फेरा न एक कभी टला।।
सुख प्राप्त हेतु प्रयत्न करते, सुख जाता दूर है।
तू क्यों भयंकर भावमरण, प्रवाह में चकचूर है।।

हे भव्यजीव! यह मनुष्यपना, श्रावक का उत्तम कुल और वीतरागी जिनवाणी का श्रवण तुझे महाभाग्य से मिला है, ऐसा सुयोग तो चिन्तामणि रत्न के मिलने जैसा है, उसे तू व्यर्थ मत गँवा। वर्तमान में अनन्त काल के दुःख से छूटकर सुख की प्राप्ति करने का यह अवसर है, अतः अब तू संसार की झंझटों में, लोगों को प्रसन्न करने में, मत रुक, किन्तु सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके अपना हित कर ले।

अरे! प्रति समय आयु रूपी तेल क्रमशः कम होता जा रहा है और धीरे–धीरे जीवन दीप बुझ रहा है। आदमी समझता है, मैं बड़ा हो रहा हूँ, पर गौर से देखो तो नरभव व्यर्थ ही चला जा रहा है। बीता हुआ समय कभी वापिस नहीं आता। जो समय हाथ में है, वह भी अगले क्षण रहने वाला नहीं। जिन पदार्थों के जानने से कोई लाभ नहीं, उनको जानने का प्रयत्न बहूमूल्य समय की बर्बादी है। अतः विषय–कषाय से विरक्त होकर, सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो।

'सम्यग्ज्ञान' काम रूपी सर्प को कीलने के लिये मंत्र के समान है, मन रूपी हाथी को वश में करने के लिये सिंह के समान है, कष्ट रूपी मेघों को उड़ाने के लिये पवन के समान है, विषय रूपी मछलियों को पकड़ने के लिये जाल के समान है, और सर्व तत्त्वों को प्रकाशमान करने के लिये दीपक के समान है।

ज्ञानोपयोग बिना आत्मा का कल्याण नहीं। अतः हमें क्रम से स्वाध्याय में प्रगति अवश्य करना चाहिये। स्व का जहाँ अध्ययन हो,

वही स्वाध्याय है। संसार में अज्ञान दुःख का कारण है और एक मात्र सम्यग्ज्ञान सुख की खान है। सभी को जिनवाणी का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। जिनवाणी मोक्षमार्ग में साक्षात माता के समान है। जिस प्रकार माँ पाल पोसकर पुत्र को सक्षम और सामर्थ्यवान बनाती है, उसी प्रकार जिनवाणी माँ हमें अनादिकाल के अज्ञानरूपी अंधकार से निकालकर, मोक्षरूपी प्रकाश भवन में बैठा देती है। ज्ञान आत्मा का सबसे अधिक मूल्यवान गुण है, ज्ञान के कारण आत्मा चेतन कहलाता है, ज्ञान के कारण ही इसको अपनी उन्नति का मार्ग सूझता है। इस ज्ञान का आत्मा में अक्षय भंडार भरा हुआ है, ज्ञान को कहीं बाहर से नहीं लाना पड़ता। वह ज्ञान भंडार ज्ञानावरण कर्म के परदे से छिपा हुआ है, सतत् ज्ञानाभ्यास करते रहने से ज्ञानावरण कर्म दूर हो सकता है, अतः सभी को जिनवाणी का स्वाध्याय कर, ज्ञानप्राप्ति का प्रयत्न अवश्य करते रहना चाहिये।

जीव ने बाह्य में अपना चित्त चंचल किया, अपना उपयोग रमाया, उसकी चर्चायें कीं, और उनकी उन्नति और भलाई के बारे में सोचा–विचारा, पर कभी अपने आपका स्वाध्याय न किया, अपने आप पर दृष्टि न डाली। दूसरे को तो हम शिक्षा देने चले, पर स्वयं को ही भूल गये। हमने स्वयं अपनी कभी चिन्ता न की। न ये पदार्थ, जिनकी तुम चिन्ता कर रहे हो, साथ में आये हैं, न ये वर्तमान में तुम्हारे हैं और न अन्त में साथ जायेंगे। उनका संयोग मिथ्यात्वजनित कल्पना होने से दुःख का कारण है। इनमें हितबुद्धि छोड़ो। आत्मा स्वयं में सुखी/निर्विकार है, उसका चिंतन–मनन करो। यदि ऐसा नरभव पाकर आत्मा का कल्याण न किया, तो फिर कब कल्याण करोगे? तिर्यंच गति में ज्ञान कहाँ? वहाँ आत्मा की पहचान होना कठिन है। नरक में तो मारकाट से ही समय नहीं मिलता। वहाँ पर

आत्मा के कल्याण की बात सोचना, सिंह के दाढ़ों तले आकर प्राण बचाने जैसी बात होगी। अतः वहाँ स्वाध्याय होना कठिन तो है ही, असंभव भी है। स्वर्ग के देवों का तो प्रायः विषय–भोगों में ही चित्त जमता है। केवल यह नरभव ही ऐसा है, जहाँ जन्म लेकर मनुष्य अपने भूले रास्ते को छोड़कर, सत्यपथ पर आ सकता है, और स्वाध्याय के माध्यम से, भेदविज्ञान करके, आत्मा का कल्याण कर सकता है।

हमें स्वाध्याय का समय नियत कर लेना चाहिये और प्रतिदिन 1–2 घंटे स्वाध्याय तथा ज्ञानियों का सत्समागम करना ही चाहिये। यदि हमें सच्चा ज्ञान हो जाये, मोह छूट जाये, तो दुःख भी छूट जाये। दुःख होता है, पर के संयोग के लक्ष्यपूर्वक संयोगी भाव अर्थात् मोह, राग–द्वेष भावों से। मरण में भय किसी के संयोग के कारण है, जैसे पुत्र–पुत्री, स्त्री–पुरुष आदि से ममत्व होता है। खेद तो इस बात का है कि जब मर ही रहे हैं, तो फिर क्या धन, क्या चेतन पदार्थ और क्या अचेतन? कोई साथ तो जाना ही नहीं है, फिर चिन्ता ही क्या? शास्त्रज्ञान अथवा गुरूपदेश के निमित्त से उपार्जित ज्ञान ही ऐसा समर्थ है, जो दुःखों से बचा सकता है।

तीन व्यक्ति शास्त्र सुनते थे। शास्त्र स्वाध्याय से, प्रवचन से उन पर प्रभाव पड़ा। उनमें एक था लड़का, एक जवान और एक वृद्ध। तीनों ने सलाह की कि अगर तुम घर छोड़ दोगे तो हम भी घर छोड़ देंगे और सब पूर्ववत् अपने–अपने काम में लग गये। एक दिन वृद्ध ने घर का त्याग करना विचारा। उसने तब गृहस्थी, धन–संपत्ति अपने पुत्र, स्त्री, भाई को यथायोग्य बाँट दी, फिर जवान की दुकान पर आया और कहने लगा कि वन को चलो। मैं तो सब घर–बार छोड़ आया हूँ। युवक बोला कि शीघ्र ही चलो। वृद्ध बोला–उठो और

पहले लड़के को सब हिसाब समझा दो। युवक ने कहा—जब छोड़ ही दिया, तो अब क्या समझायें? खेलता हुआ लड़का भी रास्ते में मिला और दोनों ने कहा कि भैया! चलो वन को, हम दोनों तो सब छोड़कर चल दिये। लड़का शीघ्र तैयार हो गया। वृद्ध ने कहा—अरे! माँ से तो कह आ। तब लड़का बोला—अरे! जब जाना ही है, तो क्या कहना? और चल दिया वन को, उनके ही साथ में। भैया! जिसने संसार की माया को देखा ही नहीं, वह जल्दी विरक्त हो सकता है। वे बालक बड़े सौभाग्यशाली हैं, जो फँसने के पहिले ही विरक्त हो जाते हैं।

'स्व' का जहाँ अध्ययन हो, वही स्वाध्याय है। सबकी तो हमने व्यवस्था की, पर अपनी आत्मा की हमने कोई व्यवस्था न की। ''पर घर गये बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराय।'' हम पर के (पदार्थों के) घर तो गये लेकिन अपने (आत्मा के) घर नहीं गये। अनेक गतियों में हमने अनेक नामों को धारण किया। इस आत्मा ने नारकी, पुरुष, देव, पशु आदि अनेक नामों को पाया है।

एक आदमी विदेश से घर आया। उसे जैसे जवाहरगंज, जबलपुर में आना है। जब वह जहाँ से चला, लोगों ने पूछा कि बाबूजी! कहाँ जाओगे? ''भारत'' बाबूजी ने उत्तर दिया। जब वह युवक भारत में आया और उससे गन्तव्य स्थान पूछा गया, तो उसने मध्यप्रदेश अपना गंतव्य स्थान बताया। जब मध्यप्रांत में आया, तब उसका स्थान और भी सीमित हो गया, जबलपुर हो गया। जब जबलपुर आ गया, तब रिक्शेवाले के पूछने पर उसने गन्तव्य स्थान जवाहरगंज बताया और फिर अपने घर का नम्बर बताते हुये युवक ने रिक्शेवाले को रुकने के लिए कहा। अपने घर पर आकर, युवक एक कमरे में आराम से बैठ गया। कहने का अर्थ यह कि ज्यों—ज्यों हम पर को

छोड़ते हैं, त्यों–त्यों हम अपने घर के पास आते हैं। जब हम सब छोड़ देते हैं, तब अपने घर आकर सुख/आनन्द से आराम करते हैं। भैया! उसी प्रकार जब हम पर–पदार्थों से अपना संबंध बिल्कुल छोड़ देते हैं, तब हम अपने आत्मा को प्राप्त करते हैं और उसमें रमण कर आनन्द प्राप्त होता है। स्वाध्याय से ही आत्मा में आनन्द आता है।

हमें बाह्य विदेश से चलकर, आभ्यान्तर में आना चाहिये। सबसे पहिले, हमें बाह्य वस्तुओं की मूर्च्छा का त्याग करना चाहिये। दूसरे, चेतन परिग्रह का परित्याग। तीसरे, जहाँ हमारा संबंध है ऐसे शरीर से मूर्च्छा का त्याग। चौथे, रागद्वेषादि से विभक्त निज का विचार। पाँचवें, प्राप्त बुद्धि से भिन्न स्वभाव के विचार। सातवें, विशुद्ध ज्ञान की दृष्टि। आठवें, ज्ञानशक्ति की दृष्टि की दृढ़ता। नवें, अपने ही सहज ज्ञानानन्द स्वभाव में लीन होना। इस प्रकार बाह्य से अन्तरंग में आना चाहिये। आत्मा का अध्ययन करना निश्चय स्वाध्याय है और ग्रंथों का पढ़ना है व्यवहार स्वाध्याय। क्योंकि ग्रंथों के निमित्त से आत्मा का ज्ञान होता है।

सम्यग्ज्ञान ही जीव का परम–बान्धव है, उत्कृष्ट धन है, परममित्र है। सम्यग्ज्ञान स्वाधीन व अविनाशी धन है। ज्ञान ही परम देवता है। ज्ञान के अभ्यास किये बिना व्यवहार और परमार्थ दोनों ही नहीं सधते। अतः हम सभी को जिनवाणी का पठन–पाठन कर अपना कल्याण करना चाहिये।

जिस तरह साबुन लगाने से वस्त्र का मैल बाहर आ जाता है और वस्त्र की स्वच्छता प्रगट हो जाती है, इसी तरह शास्त्रों के स्वाध्याय से ज्ञान के परदे हटते चले जाते हैं और ज्ञान की किरणें फैलती चली जाती हैं। आत्मा क्या है, कब से है, कहाँ से आया है, कहाँ जायेगा, संसार में परिभ्रमण क्यों कर रहा है, संसार चक्र कैसे

बनता है, कर्मजाल कैसे कटता है, मुक्ति किस तरह होती है? इत्यादि आत्म उपयोगी ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। संसार की लौकिक विद्यायें जान लेने पर भी जब तक आध्यात्मिक ज्ञान नहीं होता, तब तक आत्मा का कुछ भी हित नहीं होता, इस कारण आत्मकल्याण करने के लिये सभी को जिनवाणी का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। जिनवाणी का स्वाध्याय करने से हम मोक्षमार्ग का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। छहढाला ग्रंथ में पंडित श्री दौलतराम जी ने लिखा है–

"पर द्रव्यनितैं भिन्न आपमें, रुचि सम्यक्त्व भला है।
आपरूप को जान पनो सो, सम्यग्ज्ञान कला है।।"

परद्रव्यों से भिन्न अपनी चैतन्य स्वरूपी आत्मा का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन तथा जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सुखी होने का उपाय केवल सम्यग्ज्ञान है। क्योंकि, अपने चैतन्य स्वरूप को पहचाने बिना शरीर में अपनापन नहीं मिट सकता, शरीर में अपनापन मिटे बिना राग–द्वेष नहीं मिट सकता, और राग–द्वेष मिटे बिना यह जीव कभी सुखी नहीं हो सकता। राग–द्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण जीव की अनादिकालीन मिथ्या मान्यता है कि "मैं शरीर हूँ।" यह जीव निज में चैतन्य होते हुये, आप ही जानने वाला होते हुये, भी स्वयं को चैतन्य रूप न जानकर, शरीर रूप जान रहा है। शरीर और स्वयं में एकपना देखता है, तो शरीर से सम्बंधित सभी चीजों में इसके अपनापन आ जाता है। शरीर के लिये अनुकूल सामग्री में राग होता है और प्रतिकूल सामग्री में द्वेष। इस प्रकार राग–द्वेष का मूल कारण शरीर को अपना मानना है, कर्म जनित अवस्था में अपनापन मानना है। यह मिथ्या मान्यता तभी मिट सकती है, जब यह जीव अपने को पहचाने और जाने कि मैं शरीर एवं राग–द्वेष से भिन्न चैतन्य स्वरूपी

आत्मा हूँ।

प्रव्येक संसारी जीव में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अर्थात् राग–द्वेष पाये जाते हैं। ये राग–द्वेष ही दुःख के कारण हैं। राग–द्वेष की मात्रा और दुःख, इन दोनों में सीधा सम्बन्ध है। जिनके राग–द्वेष ज्यादा हैं, वे अपने आप मे सदा दुःखी हैं, बाहरी सामग्री अनुकूल होने पर भी व महादुःखी हैं। और जिनके इनकी कमी होने लगती है, वे बाहरी अनुकूलताओं के बिना भी सुखी रहते हैं। साधु के पास कुछ भी बाह्य सामग्री न रहते हुये भी वे महासुखी हैं। क्योंकि उनमें राग–द्वेष की कमी हुई। इससे पता चलता है कि जीव अपने राग–द्वेष की वजह से दुःखी है, न कि बाहरी स्थितियों की बजह से। हमने आज तक सुख प्राप्ति के उपाय तो निरंतर किये, परन्तु राग–द्वेष के त्याग का, नाश का उपाय कभी नहीं किया। यदि हम राग–द्वेष के अभाव का पुरुषार्थ करें, तो जितने–जितने अंश में इनका अभाव हो जायेगा, उतने–उतने अंशो में यह आत्मा सुखी होने लगेगा। वास्तव में राग–द्वेष ही दुःख है, इनका अभाव ही सुख है और इनका सर्वथा अभाव परम सुख है।

राग–द्वेष के अभाव का उपाय धर्ममार्ग है, राग–द्वेष का अभाव जितने अंशों में हो, उतना धर्म है और इसका पूर्णतया अभाव हो जाना ही धर्म की पूर्णता है। जिस किसी व्यक्ति में राग–द्वेष की कुछ कमी हो जाती है, उसे हम भला आदमी कहते हैं, वह गलत कार्य नहीं करता। और जिस व्यक्ति में राग–द्वेष की कमी और ज्यादा हो जाती है, वह साधु कहलाता है। वह स्वयं शान्त रहता है और दूसरों को भी शान्ति प्रदान करता है। उसका जीवन फूल की तरह होता है – जो न केवल स्वयं में सुगन्धित होता है, अपितु दूसरों को भी सुगन्धित कर देता है। और जिस आत्मा में राग–द्वेष का सर्वथा

अभाव हो जाता है, उसकी शान्ति, उसका आनन्द समस्त सीमायें तोड़कर अनन्त हो जाता है, वह आत्मा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, परमात्मा हो जाता है।

परमात्मा उस ज्ञानपुंज का नाम है, जिसमें समस्त लोकालोक झलक रहा है और जो अपने सहज शाश्वत आनन्द में मग्न हो रहे हैं। ऐसे वीतराग निर्दोष परमात्मा की भक्ति करने से पापों का क्षय व पुण्य का संचय होता है। जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने से आत्मा की रुची उत्पन्न हो जाती है। षट्–खण्डागम सूत्र में मनुष्य के प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के तीन कारण कहे हैं–जाति स्मरण, धर्म श्रवण तथा जिनप्रतिमा का दर्शन। इनके द्वारा प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

मणुस्सा मिच्छाइट्ठी कदिहि कारणहिं पढमसम्मत्त मुप्पादेंति?
तीहि कारणेहि पढम सम्मत्त मुप्पादेंति,
केई जाईस्संरा, केई सोउण,
केईं जिणबिंव दठ्ट्ण।। 29–30।।

समस्त दुःख मिटाने का उपाय सम्यग्ज्ञान है, भेदविज्ञान है। सम्यग्ज्ञानी पुरुष अन्तरंग में यह विश्वास रखता है कि जैसा भगवान का स्वरूप है, वैसा ही मेरा स्वरूप है। मैं अमुक नहीं हूँ, यह मेरी पोजीशन नहीं है, मैं देह से भिन्न चैतन्य स्वरूपी आत्मा हूँ। इतनी अन्तरंग में श्रद्धा होने से दुःखों में बहुत कमी आ जाती है।

जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के दर्शन करते समय विचार करना चाहिये कि जिस प्रकार से प्रभु अपने आपमें लीन हैं, वैसे ही यदि मैं भी शरीरादि से भिन्न अपने स्वाभाव में लीन हो जाऊँ, तो इसी प्रकार के अनन्तसुख को प्राप्त कर सकता हूँ एवं संसार के दुःखों से और जन्म–मरण से रहित हो सकता हूँ। जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा

के दर्शन करने से अपना भूला हुआ स्वभाव याद आ जाता है। भगवान की मूर्ति दर्पण की तरह है, जिसको देखने से हमारे मन की, आत्मा की कालिमा दिखाई देने लगती है, जिसे देखते ही हम उसे साफ करने का पुरुषार्थ करने लगते हैं। भगवान की स्तुति/गुणानुवाद करने से उनके जैसे गुण प्राप्त करने की रुचि पैदा हो जाती है। उनका गुण वीतरागता है। उसकी प्राप्ति की भावना और रुचि जीव की संसार–रुचि को घटाने वाली है। भगवान की मूर्ति तो शब्दों का उच्चारण किये बिना, साक्षात् मोक्षमार्ग का उपदेश दे रही है कि अगर आनन्द प्राप्त करना है, तो मेरी तरह शरीरादि से भिन्न निजस्वभाव को जानो, उसमें रुचि जागृत करो और उसी में लीन हो जाओ, तो तुम राग–द्वेष से रहित होकर परमानन्दमय हो जाओगे।

भगवान की भक्ति करने से भक्त के परिणाम निर्मल हो जाते हैं। साधक जब भगवान का गुणानुवाद करते हैं अथवा दर्शन करते हैं, तब उनके परिणामों में विशुद्धता आती है। उससे पाप प्रकृतियाँ बदल कर पुण्यरूप हो जाती हैं। अतः पाप का फल न मिलकर, पुण्य का फल मिलता है अथवा यदि पाप तीव्र हो तो कम होकर उदय में आता है। फिर भी, साधक का दृष्टि–कोण तो वीतरागता की प्राप्ति का, रागद्वेष के नाश का अथवा भेद–विज्ञान का ही रहना चाहिये, पुण्य बन्ध तो स्वतः ही हो जाता है। जैसे किसान अनाज के लिए खेती करता है, घास–फूस तो साथ ही अपने आप हो जाते हैं। लेकिन यदि वह घास–फूस के लिये खेती करे, तब उसके अनाज तो होगा ही नहीं, घास–फूस होना भी कठिन है। वैसे ही वीतरागता और भेद विज्ञान के लिये जो भगवान के दर्शनादि करेगा, उसके मोक्षमार्ग के साथ पुण्य बन्ध हो ही जायेगा। भगवान का दर्शन, पूजन तो वीतरागता का ही साधन है। अतः दर्शन–स्तुति, पूजा–भक्ति

करनेवाले व्यक्ति की दृष्टि आत्मतत्त्व की विशुद्धता की तरफ ही रहना चाहिये। अगर भगवान के दर्शन, पूजन आदि भेदविज्ञान की प्राति के लिये किय जाते हैं, तो वे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के कारण माने जाते हैं। आत्मदर्शन के लिये, जिनदर्शन जरूरी है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'प्रवचनसार' ग्रंथ में लिखा है–

जो जाणादि अरहंतं, दव्वत गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणादि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्य लयं।।

जो अरहंत भगवान को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से यथार्थ जानता है, वह अपनी शुद्ध आत्मा को जानता है और उसका दर्शनमोह नियम से क्षय को प्राप्त होता है। दर्शन मोह का क्षय होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है और धारण किया हुआ चारित्र भी सम्यक्पने को प्राप्त होता है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान के अभाव में यदि कोई चारित्र धारण करता है, तो वह सम्यक् नहीं कहलाता। राजवार्तिक ग्रंथ में आचार्य महाराज ने लिखा है–

हतंज्ञानं क्रियाहीनं, हतं चाज्ञनिनाँ क्रिया।
धावन किलान्धको दग्धः, पश्यन्नपि च पङ्गुलः।।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, जो क्रिया से हीन ज्ञान है, हतं यानी नष्ट होता है। हतं च अज्ञानिनो क्रिया और अज्ञानी की क्रिया अर्थात् ज्ञान रहित चारित्र, हतं यानी नष्ट होता है। जंगल में आग लग गई। जो अंधा पुरुष है, वो दौड़ते–दौड़ते झुलस रहा है, क्योंकि उसे मालूम नहीं है कि किस ओर मार्ग है? अन्ध पुरुष के पैर हैं, पर आँखें नहीं हैं। चारित्र है, पर कैसे पालन करना चाहिये? चारित्र का उद्देश्य क्या है? उद्देश्य विहीन चारित्र मोक्ष प्राप्त कराने वाला नहीं होता।

अंधा दौड़ते–दौड़ते झुलस रहा है और लंगड़ा देखते–देखते झुलस रहा है। जो ज्ञान चरित्र विहीन है, वो लंगड़ा है। अंधा तो

बेचारा दौड़ते–दौड़ते झुलस रहा है। और लंगड़ा देखते–देखते झुलस रहा है, क्योंकि वह चल नहीं पा रहा है। चारित्र विहीन ज्ञान, विषय–कषाय की अग्नि में झुलसने से नहीं बचा सकता। यदि ज्ञान और चारित्र दोनों हो जायें, तो जीव विषय–कषाय की अग्नि में झुलसने से बच सकता है।

सम्यग्ज्ञान के अभाव में यह संसारी प्राणी अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करता हुआ, दुःख उठा रहा है। बहिरात्मा जीव, शरीरादि परद्रव्यों में आत्मबुद्धि होने के कारण, परपदार्थों को अपना मानता है और इनमें ही सुख ढूंढता रहता है। जैसे, मरे हुये जीव में मुर्दे को श्मशान में जलाने के बाद, उस राख में कोई जीव को ढूंढ रहा है। ऐसे महामूर्खों को सुख मिलेगा क्या? कभी नहीं मिलेगा। सुख प्राप्त करने का उपाय बताते हुये पंडित दौलतराम जी ने लिखा है–

बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजे।
परमातम को ध्याय निरन्तर, जो नित आनन्द पूजे।।

बहिरातमता को हेय जानकर छोड़ देना चाहिये, क्योकिं बहिरात्मा जीव, परपदार्थों में ममत्व बुद्धि रखता है, इसलिये उसे बेहोशी का नशा–जाल छाया रहता है। पर जैसे ही परपदार्थों से अपनत्व बुद्धि दूर होती है, उसको आनन्द की लहर आने लगती है।

अन्तरात्मा जीव को आत्मा और आत्मा से भिन्न परद्रव्यों का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् मैं शरीरादि से भिन्न अखण्ड अविनाशी चैतन्य स्वरूपी आत्मा हूँ, ये शरीरादि मेरे नहीं हैं, न ही मैं इनका हूँ, तब उसे पदद्रव्यों से भिन्न, निज आत्मा की रुचि पैदा हो जाती है और संसार शरीर व भोगों से अरुचि पैदा हो जाती है। वह हमेशा आत्मसन्मुख रहने का पुरुषार्थ किया करता है। जब तक इस जीव को अपने आत्मस्वरूप का बोध नहीं होता, तब तक ही वह संसार में

सुख ढूंढता हुआ, बहिरात्मा बनकर, भ्रमण करता रहता है। अतः बहिरात्मपना को हेय जानकर छोड़ देना चाहिये और अन्तरात्मा बनकर, सदा परमात्मा का ध्यान करना चाहिये, जिससे जीवन में आनन्द प्राप्त हो।

सच्चे देव, शास्त्र गुरु की श्रद्धा– भक्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का प्रधान कारण है। राग–द्वेष के चक्र में फँसे हुये जीवों की निवृत्ति का उपाय प्रारम्भ में राग–द्वेष से रहित भगवान की पूजा–भक्ति करना है। भगवान का आलम्बन लिये बिना आज तक तीनलोक में किसी का कल्याण न हुआ और न होगा। तभी तो आचार्यों ने कहा है–हे भव्य जीवो! भगवान की भक्ति से अपने को जोड़ लो, फिर भगवान की अलौकिक शक्ति स्वतः ही प्रकट हो जायेगी। जिनदर्शन से ही निजदर्शन होना संभव है। जो व्यक्ति भगवान की पूजा–भक्ति नहीं करता, उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्राप्त होना असंभव है। भगवान के दर्शन कर अपने शुद्ध स्वरूप का परिचय प्राप्त करने से बढ़कर दुनिया में अन्य कोई सम्पदा नहीं है। बाकी जिसे सम्पदा मानते हैं, तो जब तक जीवित हैं, तब तक बहुत कलंक में लगे हैं और जब मरण हो जायेगा तो सब यहीं पड़ा रह जायेगा और आत्मा को अकेले ही जाना पड़ेगा।

हम यहाँ–वहाँ के लोगों का अनुरंजन छोड़कर, मोह–ममता को त्यागकर, देव–शास्त्र–गुरु में अपनी भक्ति को बढ़ायें और अपना जीवन सफल करें। जैसे एक बालक पिता की अंगुली पकड़कर चलना सीखता है, उसी प्रकार एक गृहस्थ देव–शास्त्र–गुरु रूपी पिता की अंगुली पकड़कर चलेगा, तभी उसे मोक्षमार्ग मिल सकता है। पंडित दौलतराम जी ने ''छहढाला'' में लिखा है–

देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयाजुत सारो।

येहु मान समकित को कारण, अष्ट–अंग–जुत धारो।।

जिनेन्द्र भगवान, परिग्रह रहित गुरु और दयामय धर्म सम्यग्दर्शन के कारण हैं। भगवान की ऐसी भक्ति करो कि स्वयं भगवान बन जाओ। जिस प्रकार सुगंधित पुष्प के योग से तेल भी सुगंधित हो जाता है, उसी प्रकार भगवान के गुण–स्मरण से भक्त भी शुद्ध हो जाता है। इस आत्मा में सिद्ध बनने तक की शक्ति है, जिसे हम देव–शास्त्र–गुरु का आलम्बन लेकर प्रकट कर सकते हैं।

जब तक अपने आपका आत्मतत्त्व अपने उपयोग में दृढ़ता से स्थित न हो जाय, तब तक जन्म–मरण का संसार नहीं छूटता। यदि संसार से मुक्त होना चाहते हो, तो भगवान के स्वरूप को अनुभव में लो। हम भगवान की भक्ति क्यों करते हैं? क्योंकि हमें जो करना चाहिए, वह मार्ग उनसे मिलता है। जब–जब ज्ञान में प्रभु का स्वरूप अनुभव आता रहेगा, तब–तब इस जीव के कर्मकलंक ध्वस्त होंगे और मुक्ति के मार्ग का अनुभव होगा। मोक्ष का जो आनन्द है, वह आत्मा के शुद्ध स्वभाव का ही आनन्द है। भगवान अपने स्वभाव में लीन हैं, उनको देखकर हम भी अपने स्वभाव को याद करके, उनके बताये हुये मार्ग पर चल कर, निज परमात्मा बनने का उपाय कर सकते हैं।

देखो, जगत् में रुलते–रुलते चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते–करते आज आपने यह मनुष्यभव व जिनेन्द्र भगवान के द्वारा बताया गया जिन–धर्म प्राप्त किया है। अतः अब तो मिथ्यात्व/मोह को छोड़ो। यह मोहजाल बड़ा विकट बंधन है। विषय–कषाय आत्मा का अहित करने वाले हैं, पर मोह में अपने आपकी गलती, अपने आपको मालूम नहीं होती। यदि कोई मनुष्य अपने मित्र के शत्रु से भी प्रेम करता है तो क्या मित्र के द्वारा आदर पा सकता है? नहीं।

भगवान का शत्रु कौन है? विषय–कषाय, या विषय–कषायों का शत्रु कौन है? भगवान। तो भगवान के दुश्मन विषय–कषाय हैं। यदि भगवान के शत्रु विषय–कषायों से हमारी रुचि हो, तो क्या भगवान की भक्ति बन सकती है? नहीं बन सकती है। अतः हम भगवान की भक्ति करते समय अपने चित्त से समस्त बाह्य पदार्थों को हटा दें, केवल भगवान का ही अनुभव बनायें, तो हमारी भगवान की भक्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने में कारण बनेगी। जो जिनेन्द्र भगवान की भक्ति नहीं करता, वह जघन्य कोटि का मनुष्य है। कहा भी है–

केचिद्वदन्ति धनहीनजनो जघन्यः,
केचिद्वदन्ति गुणहीनजनो जघन्यः।
ब्रूमानयं निखिलशास्त्र विशेषविज्ञाः,
परमात्मनः स्मरणहीनजनो जघन्यः।।

कुछ लोगों का यह सिद्धान्त है कि जिसके पास धन नहीं है अर्थात् जो दरिद्र है, वह जघन्य कोटि का मनुष्य है। कुछ लोगों का सिद्धान्त है कि जिसने मानवीय जीवन सदृश उच्च पद प्राप्त करके सद्विद्या, सदाचार आदि मानवोचित गुण प्राप्त नहीं किये, वह जघन्य कोटि का मनुष्य है। सभी शास्त्रों के विद्वान यह कहते हैं कि जिसका हृदय भगवान की भक्ति से शून्य है, वह जघन्य कोटि का मनुष्य है। ''नीतिवाक्यामृत'' में लिखा है–

''देवान् गुरुन् धर्मं चोपाचरन् न व्याकुलमतिः स्यात्।''

वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी तीर्थंकर भगवान की सेवा–पूजा करने वाला तथा निर्ग्रन्थ, सम्यग्ज्ञान और आत्मध्यान में लीन, ऐसे साधुओं की उपासना करने वाला तथा भगवान तीर्थंकर के कहे हुये दयामयी धर्म की भक्ति करने वाला प्राणी कभी दुःखी नहीं हो

सकता।

इस बात को ''चक्की के कीले के पास के दाने'' इस लौकिक दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है। गेहूँ आदि अन्न पीसने वाली चक्की में जितने गेहूँ के दाने डालते जाते हैं, उनमें चक्की के कीले के पास के दाने नहीं पिसते, और–सब पिस जाते हैं। उसी प्रकार हे भव्य प्राणियो! यह संसार रूपी महा भयानक चक्की है। इसके जन्म–मरण रूपी दो पाट हैं। प्रायः इसमें पड़कर सभी जीव पिस जाते हैं, दुःखी हैं, किन्तु जो धर्मात्मा पुरुष सच्चे देव, शास्त्र और गुरु रूपी कीले का आश्रय ले लेता है, वह कभी इस भयानक संसार रूपी चक्की में नहीं पिसता। क्योंकि उसे स्वर्गादिक की प्राप्ति होकर परंपरा से मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार पारस पत्थर के संयोग से लोहा स्वर्ण हो जाता है, उसी प्रकार भगवान रूपी पारसमणि के संयोग से यह प्राणी भी विशद् ज्ञानी और तेजस्वी हो जाता है। श्री मानतुंगाचार्य ने भक्तामर स्तोत्र में लिखा है–

नात्यद्भुतं भुवन भूषण भूतनाथ,
भतैर्गुणैर्भुवि मवन्तमभिष्टु वन्तः।
तुल्याः भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा,
भूत्याश्रितं य इह नात्म समं करोति।।

हे संसार के भूषण! आपके पवित्र गुणों से आपकी स्तुति और पूजन करने वाले मनुष्य आपके समान हो जाते हैं– इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि दुनिया में वे स्वामी मान्य नहीं हैं, जो अपने अधीन सेवकों को धन द्वारा अपने समान नहीं बनाते।

भगवान वीतरागी होने से कुछ देते नहीं हैं, लेकिन उनके आलम्बन के बिना कुछ मिलता भी नहीं है। जब तक हम भगवान के सच्चे स्वरूप को नहीं जानेंगे, तब तक अपने आत्मस्वरूप को भी

नहीं जान सकते। भगवान की भक्ति के बिना मोक्षमार्ग संभव नहीं है। मोक्ष की तरफ यदि जाना है, तो पहले भगवान की भक्ति अनिवार्य है। अपना यह जीवात्मा कर्मों की मार अनादिकाल से सहन करता आ रहा है। अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त इस मनुष्य पर्याय में अपने–आपको पहचान लो कि मैं कौन हूँ? धर्म का मार्ग ही सारी दुनिया में एक सत्य का मार्ग है। अतः इस पर चलने का पुरुषार्थ करो। आत्मोन्नति में अग्रसर होने के लिये अरहंत भगवान ही हमारे आदर्श हैं। ''योगसार'' ग्रंथ में आचार्य योगीन्दु देव ने लिखा है–

जिण सुमिरहु जिण चिंतहु, जिण झायहु सुमणेण।
सो झायंतहँ परम पउ, लब्भई एक्क–खणेण।।

शुद्ध मन से भगवान का स्मरण करो और जिनेन्द्र भगवान का ध्यान करो। उनका ध्यान करने से, एक क्षण भर में परमपद प्राप्त हो जाता है।

धर्म तो अन्तरात्मा की अनुभूति का विषय है। यह अनुभूति कब होगी? जब राग–द्वेष छोड़ेंगे, तब ही 'आत्मधर्म' यानी वास्तविक धर्म प्रकट होगा। राग–द्वेष का त्याग किये बिना परमात्मपद नहीं मिल सकता।

यह आत्मा अनन्तशक्ति का धारक होकर भी अपनी शक्ति को भूल रहा है। अपनी शक्ति को भूलने के कारण ही यह संसार में भटक रहा है। अपनी शक्ति को न पहचानकर कर्मजनित दुःखों को सह रहा है। अगर यह अपनी शक्ति को पहचान कर रत्नत्रय धर्म का पालन करे, तो सर्व कर्मों के बंधन तोड़कर स्वतंत्र एवं सुखी हो जावे।

जो भगवान के स्वरूप को समझ जायेगा, वह अपनी आत्मा के स्वरूप को समझ जायेगा। और जो आत्मा के स्वरूप को समझ

जायेगा, वह संसार के संकटों से पार हो जायेगा। जैसा भगवान का स्वरूप प्रकट हुआ है, वैसा मेरा भी स्वरूप प्रकट हो, इस भावना से भगवान के स्वरूप को निरखकर बड़ी श्रद्धा–भक्ति के साथ भगवान की पूजा आदि करना चाहिये।

आचार्यों ने सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र को मोक्ष का मार्ग बताया है। अपने को अपने रूप, ज्ञाता–दृष्टा रूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, अपने – रूप जानना सम्यग्ज्ञान है, और ज्ञाता–दृष्टा रूप रह जाना ही सम्यक्चारित्र है। इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है, और वीतराग देव–शास्त्र–गुरु उस मोक्षमार्ग की प्राप्ति में निमित्त या माध्यम होते हैं।

हमें देव–शास्त्र–गुरु के माध्यम से आत्मदर्शन करना है। श्री सुधासागर जी मुनिराज ने लिखा है–भगवान ने कभी नहीं कहा कि मेरी तरफ देखो। भगवान ने तो यह कहा कि मेरे पास आकर अपने आप को देखो। दर्पण के पास जाने का अर्थ यह नहीं है कि दर्पण को देखो। उसका अर्थ तो यह है कि दर्पण में अपना चेहरा देखो। वह तो अज्ञानी है, जो दर्पण के पास जाकर दर्पण को देखता है। कहने में आता है कि आप दर्पण देख रहे हैं, पर यथार्थ में आप दर्पण में अपना चेहरा देख रहे हैं। इसी प्रकार कहने में आता है कि मैं भगवान के दर्शन करने जा रहा हूँ, पर यथार्थ में हम भगवान की प्रतिमा में अपनी आत्मा के दर्शन करने जा रहे हैं। यदि हम भगवान की प्रतिमा को माध्यम बनाकर आत्मदर्शन का पुरुषार्थ करेंगे, तो मोक्षमार्ग बनेगा। शास्त्रों में विवक्षा–भेद से अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार के कथन मिलते हैं। उन्हें ठीक प्रकार से समझकर बुद्धि में अच्छी तरह बैठा लेना चाहिए कि कहाँ कौन–सी विवक्षा से क्या कहा गया है। जो सम्यग्ज्ञानी हैं, जिन्होंने आत्मतत्त्व को समझ लिया है,

उन्हें अपनी शान्ति के अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं रुचती। ज्ञानी शुभ क्रियाओं को करते हुये वीतरागता का लक्ष्य रखता है। जो व्यक्ति धार्मिक क्रियाओं को करते हुये आत्मा में चित्त नहीं लगाता और लौकिक वस्तुओं की आकांक्षा करता है, वह ऐसे जानना कि जैसे किसी ने कणरहित भूसे का ढेर इक्ट्ठा कर लिया हो। उसकी वे क्रियायें वीतरागता की कारण भी नही हैं।

जिन प्रभु की हम पूजा करते हैं वे वीतराग सर्वज्ञ हैं। उन्हें किसी के प्रति राग–द्वेष, मोह नहीं है। उसी स्वरूप को प्राप्त करने की हम आपमें सामर्थ्य है, क्योंकि स्वरूप वही का वही है, जो प्रभु का है। आचार्य समझाते हैं अपने स्वरूप को समझने के लिये ही तो हम आप मन्दिर में आते हैं, पूजन, बंदन से उनकी महिमा गाते हैं, लेकिन तुझे उस स्वरूप से प्यार नहीं है। यदि धन, वैभव से ही प्रीति है तो काहे की भक्ति है, सब केवल दिखावा है। किसको रिझाने के लिये तू ऐसा दिखावा करता है? क्या अन्य दर्शक पुरुषों को रिझाने के लिये तू पूजन का दिखावा करता है? या प्रभु के गुणों का स्मरण करने के लिये, अपने आत्म–स्वरूप को जानने के लिये पूजन करता है, क्या कर रहा है? सोच। यह संकल्प बनाले कि मुझे किसी अन्य पुरुष को कुछ दिखाने से लाभ नहीं है। मैं अपने बारे में किसी मनुष्य को कुछ अपना बड़प्पन दिखा दूं, महत्त्व जता दूं, इससे कोई लाभ नहीं है। यही कारण है कि वर्षों भक्ति करते हुये हो जायें, अनेक झांझ मंजीरे भी फूट जायें, कितने भी बड़े–बड़े विधान, उत्सव, समारोह भी धर्म के नामपर कर डाले हो, परंतु बहुत समय गुजरने के बाद भी क्रोध में कमी नहीं आयी, घमंड में कमी नहीं आयी, मायाचारी में कमी नहीं आयी और लोभ का रंग तो कहो पहले से भी अधिक बढ़ा हुआ हो।

अपने आप को देख लीजिये यदि कषायों में, विषयों में फर्क आया हो तब तो समझो कि हमने भगवान की भक्ति की है। यदि फर्क नहीं आता है, तो खोज करना चाहिये कि इसमें कौन–सी त्रुटि रह गयी है? जिस एक त्रुटि के बिना सारा यंत्र चला देने पर भी गाड़ी नहीं चलती है, वह कौन–सी त्रुटि है? वह त्रुटि है, मोह नहीं मिटा है। अपने आपको सबसे न्यारा, ज्ञानमात्र नहीं जान पाया। यह मूर्त कल्पनायें, ये रागादि विभाव, इन्हीं रूप अपने को माना और लौकिक पदार्थो की प्राप्ति की इच्छा से भगवान की भक्ति आदि धार्मिक क्रियाओं को किया है।

मोही जीव अपनी पर्याय बुद्धि से रंच भी हटना नहीं चाहता। जब तक शरीर को ही मैं (आत्मा) समझ रखा है, तब तक धर्म के नाम पर कितनी भी क्रियायें कर लो पर उनसे रागादि विभाव दूर होने वाले नही हैं। जैसे कोई पुरुष रात्रि में किसी समुद्र या नदी में सैर करने के लिये गया, सो रात्रि भर नाव को खूब खेया, बड़ा खुश भी हुआ, मगर जब प्रातःकाल हुआ तो क्या देखा कि नाव तो ज्यों की त्यों खड़ी है। वहाँ बात क्या हुई कि वह नाव खूँटे से बँधी ही रह गई। नाव को रस्सी के द्वारा खूंटे से बाँध दिया करते हैं। तो उस नाव को खूँटे से खोलना भूल गये और काम बहुत किया, पर उससे लाभ कुछ नहीं हुआ। सुनते हैं कि कोई एक ऐसी घटना कभी हुई थी कि बहेलना ग्राम में जो एक किला है, उसमें कोई ऐसी खास बात कुछ लोगों को दिखी कि उन्होंने उस किले को वहाँ से उठाकर अपने गाँव ले जाने का विचार किया। सो उन लोगों ने क्या किया कि उस किले के चारों ओर रस्से डाल दिये और उसे खींचना शुरू किया, जब रात्रि को चंद्रमा थोड़ा खिसककर इधर से उधर हुआ तब उनकी समझ में आया कि यह किला अब काफी खिसक आया है, सो

सारी रात उसको बहुत–बहुत खींचते रहे। परन्तु जब प्रातः काल हुआ तो क्या देखा कि वह तो ज्यों का त्यों खड़ा है। इसी प्रकार जब तक उपयोग की डोर मोह के खूंटे से बंधी है, तब तक धार्मिक क्रियाओं को करने से वीतरागता की प्राप्ति नहीं हो सकती।

भैया! बेतुकी मनमानी पद्धति से तो बहुत सी महिलायें एक साथ चार, पाँच धर्मसाधना के काम कर लेती हैं। बच्चे को भी खिला रही हैं, पाठ भी करती जा रही हैं, पूजा भी कर लेती हैं, माला भी जपती जाती हैं, स्वाध्याय भी सुनती जाती हैं। यों अनेक काम कर लेती हैं, पर आप बताओ क्या वहाँ कुछ भी धर्म किया गया? गृहस्थ भी चलते हैं मन्दिर दर्शन को, तो रास्ते में विचारते हैं कि फला रास्ते से चलें, बाजार में सब्जी खरीद लें, फिर मंदिर में दर्शन कर लेंगे अथवा अमुक वकील साहब मिल जायेंगे तो अपना काम कर लेंगे। यों अनेक बातें मन में रक्खे हुये मंदिर में ध्यान कर रहे हों तो वह कैसा ध्यान रहा? एक पंडित जी ने बताया था कि ऐसे लोगों की यों स्तुति होती है। एक श्लोक है–त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव। सामने भगवान की मूर्ति है, पीछे बाजार से खरीदकर लाया हुआ सामान रखा है। अब वह सामान की ओर देखकर कहता है–त्वमेव माता, फिर भगवान की ओर देखकर कहता है–च पिता त्वमेव, फिर सामान की ओर देखकर कहता है–त्वमेव बंधुश्च, फिर भगवान की मूर्ति की ओर देखकर कहता है– सखा त्वमेव। यह हालत होती है। जो लोग लौकिक वस्तुओं की आकांक्षा से भगवान की पूजा आदि करते हैं, उनकी पूजा ऐसी ही होती है। पूजा में, भक्ति में निर्लोभ वृत्ति और मन की एकाग्रता होनी चाहिये। जो इतना साहस बनाकर बैठ सकता है कि पूजा के समय मुझे धनंजय कवि के समान कोई दूसरा विकल्प मन में नहीं लाना है, वही प्रभु

दर्शन कर सकता है।

सच्ची प्रभु भक्ति धनंजय कवि ने की थी। जब वे पूजा कर रहे थे, उसी समय घर पर उनके लड़के को साँप ने डस लिया। तो उनकी पत्नी घबड़ाई हुई मंदिर आयी और समाचार दिया कि अपने लड़के का साँप ने काट लिया, जल्दी चलिये। उस समय धनंजय सेठ पूजा कर रहे थे, सो अनसुनी बात कर दी। अब देखिये पूजन को उन्होंने कितना अधिक महत्त्व दिया। अनसुनी कर देने पर उनकी पत्नी बहुत उदास होकर घर आयी, उसे कुछ गुस्सा भी आया कि एसी कैसी पूजा कि घर में तो बच्चे को साँप ने डस लिया और वह पूजा नहीं छोड़ते।

देखिये उस समय अनेक लोगों के मन में भी यह बात आयी होगी कि शायद सेठ जी के दिमाग में कोई फितूर आ गया है, अरे पूजा छोड़कर बच्चे की सम्हाल करते, पूजा तो दूसरे दिन भी हो सकती थी, मगर उन धनंजय सेठ की धुन देखिये, उनका अटल विश्वास देखिये। आखिर सेठानी को गुस्सा आया तो उस अधमरे, लड़के को उठाकर मंदिर में ले आयी और वहीं रख दिया तथा बोली—लो सेठ जी अब तुम जानो। अब भी वह प्रभु भक्ति में लीन रहे। वह जानते थे कि मणि, मंत्र, औषधि, सब कुछ प्रभु भक्ति है, उस समय उन्होंने विषापहार स्त्रोत की रचना की। वह बहुत बड़े विद्वान थे। उनका रचा हुआ एक काव्य है, दुसंधान काव्य। उसमें श्लोक तो एक है, पर उसी श्लोक में पांडवों की कथा भी निकलती है और श्रीराम की भी, इस ढंग से उसमें शब्द रचना की है, वह वहाँ विषापहार स्त्रोत रचते गये और उसी बीच में जहाँ भक्ति में बोलते हैं—

विषापहारं मणिमौषधानि मंत्र समुदिद्श्य रसायनं च।

भ्राम्यन्त्य हो न त्वमिति स्मरन्ति पर्यायनामानि तवैव तानि।

मणि कहो मंत्र कहो, औषधि कहो, रसायन कहो, ये सब हे प्रभु तुम्हारे पर्यायवाची शब्द हैं, लोग व्यर्थ ही इनके लिये यत्र–तत्र भटकते हैं। प्रभु भक्ति ही यह सब कुछ है। वहाँ प्रभु की अटल भक्ति के प्रभाव से उस बच्चे का विष दूर हो जाता है और वह उठकर खड़ा हो जाता है।

इस स्तवन में अन्त में धनंजय सेठ ने कहा–इतिस्तुर्ति देव विधाय दैन्याद वर न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि। छाया तरूं संश्रयतः स्वतः स्यात्कध्छा यदा याचितयात्मलाभः। हे प्रभो! मैं आपकी स्तुति करके आपसे कुछ माँगता नहीं हूँ। आप तो वीतराग सर्वज्ञ हो, अपने ही आनन्दरस में लीन रहा करते हो। हम आपसे क्या माँगें? एक बात और भी है कि छाया वाले पेड़ के नीचे बैठकर, उस पेड़ से छाया क्या माँगना? हे प्रभो! मैं आपकी भक्तिरूपी छाया में बैठा हूँ, तो मैं क्यों अपनी नियत खराब करूँ, क्यों व्यर्थ के विकल्प करके संताप उत्पन्न करूँ? मैं तो आपकी इस शान्त भक्ति की ही छाया में बैठकर भक्ति में लीन हो रहा हूँ, जिससे मुझे शान्ति की शीतल छाया स्वयं ही प्राप्त हो रही है। जो भक्ति करते–करते प्रभु के स्वरूप में डूब जाता है, उसके समस्त संकट अपने आप दूर हो जाते हैं।

हम आप प्रभु मूर्ति के दर्शन करते हैं तो जिनकी यह मूर्ति है, जिनकी इस मूर्ति में स्थापना की है, उन प्रभु के स्वरूप में दृष्टि दें। प्रभु वीतराग हैं, इनको किसी भी वस्तु के प्रति मोह, राग–द्वेष नहीं है। पूर्ण शुद्ध निष्कलंक ज्ञानपुंज हो गये हैं। प्रभु आकिंचन्य हैं। हमें भगवान के दर्शन करते हुये में प्रेरणा लेना चाहिए कि हे नाथ! मैं भी जब आपकी तरह शरीरादि से न्यारा अपने स्वरूप में पूर्ण विकास वाला होऊँ, तब कृतार्थ होऊँगा। इससे पहले तो मैं दुःखी ही हूँ। हे

नाथ! ऐसा समय कब आयेगा जब मैं इस क्लेशकारी शरीर से सदा के लिये मुक्त हो जाऊँगा।

यदि शरीर और आत्मा का भेदज्ञान हो जाय, अपने स्वरूप की दृष्टि जग जाये, तो समझो कि धार्मिक क्रियाओं की जितनी बिन्दियाँ हम धरेंगे उतना ही उनका महत्त्व बढ़ जायगा और एक ज्ञान स्वभाव की दृष्टि न बने, तो बाहरी क्रियाओं की या अन्य–अन्य तपश्चरण आदि की कितनी ही बिन्दियाँ धरते जायें, पर उन सारी बिन्दुओं के जोड़ में एक भी संख्या नहीं आ पायेगी। और यदि एक (1) का अंक है, उसमें एक बिन्दी (0) धर दी गई तो दस गुनी कीमत हो गई, बिन्दी और धर दी गई तो 100 गुनी कीमत हो गई। यों जितनी भी बिन्दियाँ उसके आगे रखते जायेंगे, उतनी ही अधिक कीमत उसकी बढ़ती जायेगी। तो ऐसे ही यहाँ समझो, यदि अपना आत्मस्वरूप दृष्टि में है, तो आप जो कुछ भी क्रियायें करेंगे वे सब मोक्षमार्ग में वृद्धि करायेंगीं, और एक यही बात नहीं है तो फिर चाहे कितनी ही क्रियायें कर ली जायें, मोक्ष मार्ग में बढ़ने के लिये, पर प्रगति नहीं की जा सकती। इष्टोपदेश ग्रंथ में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है–

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।।

जीव अलग है, पुद्गल अलग है। जीव जुदा, पुदगल जुदा, यही तत्त्व का सार है और शेष सब इसी का विस्तार है। शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, मात्र इतनी सी बात सीख ली तो सब सीख लिया।

सम्यग्ज्ञान का बड़ा चमत्कार है। अज्ञानी जीव दुर्धर तप करके करोड़ों जन्मों में जितने कर्मों को झड़ाता है, उतने कर्म यह ज्ञानी अपने ज्ञान के बल से, ज्ञानमग्नता के बल से, क्षण मात्र में नष्ट कर सकता है। सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान के बिना नहीं होता। और इस

सत् आचरण में ही यह सामर्थ्य है कि भव–भव के संचित कर्म नष्ट हो जायें। कर्मों का विनाश उन्हें देख–देखकर, खोज–खोजकर नहीं किया जा सकता है। वे परवस्तु हैं, उन पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है। जीवने राग–द्वेष का भाव किया था, उसका निमित्त पाकर ये कार्माणवर्गणायें स्वयं कर्मरूप बन गयी थीं। न उस समय भी मैंने इन्हें कर्मरूप बनाया था और न इस समय भी मैं इन कर्मों का नाश कर सकता हूँ। पहिले भी मैंने राग–द्वेष के भाव किये थे, जिनका निमित्त पाकर कार्माण वर्गणायें अपने ही स्वतंत्र रूप से कर्मरूप हो गयी थीं और अब भी यह मैं आत्मा, सम्यग्ज्ञान के बल से अपने आप में रमण करूँ, आचरण करुं, तो ये कर्म स्वतंत्र रूप से इन शुद्ध भावों का निमित्त पाकर, अथवा इन कर्मों के पोषक रागादिक निमित्त थे, उनके अभाव का निमित्त पाकर, ये कर्म स्वंय यहाँ से हट जाते हैं। मानों वे कहते हैं कि अब हमारा यहाँ क्या काम है? यहाँ मेरा पोषक तत्त्व ही नहीं रहा। मेरी कौन पूछ करे? ये रागद्वेषादिक भाव ही मेरे रक्षक थे, मेरी पूछ करते थे, मुझे पालते–पोसते थे। अब मेरा पालनहार यहाँ नहीं है, वे स्वयं खिर जाते हैं। तो सम्यक् आचरण के निमित्त से समस्त कर्मों का क्षय होता है। जब सर्वकर्मों का क्षय हुआ तो जीव को अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

देखा! केवल भावों भर की बात है। चीजें सब जहाँ की तहाँ हैं, कहीं पर वस्तु को अपनी सोच लेने से अपनी नहीं हो जाती हैं। स्वरूप सबका जुदा–जुदा है, हाँ जैसा है तैसा समझ लेवे तो उससे शान्ति मिलेगी। हम अपना ही ज्ञान और आनन्द भोगते हैं, पर भ्रम कर लिया जाय कि दूसरे का आनन्द भोगता हूँ तो उसे जीवनभर पिसना पड़ता है। क्योंकि दूसरे–दूसरे ही हैं, वे हमारे आधीन नहीं हो सकते।

एक कथानक है कि चार भाई थे। वे बहुत गरीब हो गये, तो उन्होंने सोचा कि बुवा के घर चलें तो 10–12 दिन खूब अच्छा भोजन मिलेगा। वे बुवा के घर पहुँच गये। बुवा बड़ी कंजूस थी। शकल देखते ही बुवा के हृदय में चूहे लोटने लगे। बुवाजी ने उन्हें बिठाया और पूछा कि तुम लोगों को खाने को क्या बनाएँ? तो वे बोले–पूड़ी, हलुआ वगैरह जो बनाना हो बनावो, जो बनावोगी वह हम खा लेंगे। तो बुवाने कहा, अच्छा तुम लोग जावो तालाब में स्नान कर आवो और मन्दिर में पूजा कर आवो, फिर आकर भोजन करो। वे चारों कपड़े उतार कर वहीं खाट पर सब कुछ रखकर तालाब में स्नान करने चले गये। एक घण्टा स्नान करने में लगा। एक डेढ़ घण्टा मन्दिर में पूजा करने में लगा। इधर बुवाने क्या किया कि उन चारों के कपड़े आदि जो कुछ रक्खे थे उन सबको उठाकर एक बनिया के यहाँ गिरवी रख दिया और आटा, घी, शक्कर आदि सामग्री लाकर हलुवा, पूड़ी बनायी। जब वे चारों वापिस आए तो सीधे खाना खाने बैठ गये। वे खाते जायें और आपस में बात करते जायें कि आज तो बुवाने बहुत बढ़िया भोजन खिलाया। बुआ बोली–खाते जाओ, बेटा तुम्हारा ही तो माल है। वे समझ न सके। वे तो जान रहे थे कि खिलाने वाला ऐसा ही कहता है। जब खा पीकर कपड़े पहिनने गये, तो वहाँ देखा कि कपड़े ही नहीं हैं। पूछा–बुवाजी हमारे कपड़े कहाँ हैं? तो बुवा बोली कि मैं कहती न थी कि खूब खावो तुम्हारा ही तो माल है। इसका मतलब? मतलब यह कि मैंने तुम्हारे सामान को एक बनिया के यहाँ गिरवी रख दिया और वहाँ से आटा, घी, शक्कर आदि सामान लेकर बनाकर तुम्हें खिलाया। तो जैसे वे चारों भाई अपना ही तो खा रहे थे, पर भ्रम यह हो गया कि यह बुवाका खा रहे हैं, ऐसे ही हम आप जितना भी आनन्द पाते हैं वह अपने आपसे ही पाते हैं, पर से नहीं। पर भ्रम ऐसा हो गया कि

में अमुक पदार्थ से आनन्द पाता हूँ और इस भ्रम के कारण इसे बहुत अधीन होना पड़ता है। जैसे कि बालू की रेत में से तेल निकालने की बात सोचने वाला विवेकी नहीं है, ऐसे ही पर–पदार्थों में रमकर आनन्द की आशा रखने वाला भी विवेकी नहीं है। शुद्ध आनन्द प्राप्त करने के लिये यह प्रथम ही आवश्यक है कि बाह्य पदार्थों को बाह्य जानकर, अहित, भिन्न, असार जानकर उन सबका विकल्प तोड़ दें।

भैया! अपनी आत्मा की दया करें। आशा से, कषायों से, मोह जालों से आत्मा को परेशान करने में बरबादी है और पापकर्मों का बन्ध होता है। यहाँ के मरे न जाने कहाँ गये? फिर यहाँ के लोग क्या बात पूछेंगे? कुछ वर्षों के जीवन में मोह ममता करके अपना भविष्य बिगाड़ लेना यह बुद्धिमानी नहीं है। आज कितना सुयोग हम आपने पाया है। स्थावरों की योनि से निकलकर कीट–पतंगों की योनि से निकलकर आज मनुष्य भव में आये हैं। कल्याण का अवसर तो इस मनुष्य पर्याय से ही मिलेगा। जब तक वृद्ध नहीं हुये, कोई रोग नहीं है, तब तक ज्ञानार्जन कर समय का सदुपयोग करें। यह ही एक लाभदायक बात होगी, किन्तु इस दुर्लभ, मनुष्य भवको यदि विषय–भोगों में, व्यर्थ के मोह में ही गँवा दिया तो कुछ भी लाभ नहीं मिलेगा।

जैसे गन्ना होता है, उसके बीच में पोरों में कीड़ा लग गया हो तो वह भीतर लाल–लाल हो जाता है, जो कि खाया नहीं जा सकता। उसही गन्ने को कोई मूर्ख चूसकर खराब कर दे तो उसने अपना मुँह भी खराब किया और गन्ना भी खराब किया। कोई विवेकी गन्ने के पोर काटकर खेत में बो दे तो उससे अनेकों गन्ने पैदा होंगे। गन्ने की जड़ तो खायी नहीं जाती, बड़ी कठोर होती है और गन्ने का ऊपरी भाग नीरस होता है, वह भी चूसने में नहीं आता। केवल गन्ने का बीच का हिस्सा चूस सकते हैं और उसमें भी लग

जाय कीड़ा, तो कर्तव्य क्या है कि उसे चूसकर अपना मुँह न बिगाड़ें, गन्ना बरबाद न करें, उसके पौर काटकर बो दें, तो उससे अनेकों मीठे गन्ने उत्पन्न होंगे। ऐसे ही यह मनुष्य जीवन है। इसमें तीन पोर हैं–बालपन, जवानी और बुढ़ापा। बालपन में अज्ञान रहता है। बुढ़ापे में कुछ किया नहीं जा सकता। केवल एक जवानी का समय ही ऐसा है कि जिसमें पुरुषार्थ करने की शक्ति है और ज्ञान प्रतिभा भी मिली हुई है, लेकिन उस जवानी के पोरों में (समय में) लग गया विषय–भोगों का कीड़ा और उसे विषयसुख में ही गँवा दें तो यह विवेक की बात नहीं हैं। विवेक तो यह है कि इस जवानी के समय में जिनवाणी का स्वाध्याय कर ज्ञानार्जन करें, इसे धर्म में, तपस्या में लगावें, जिससे अपने आपके ज्ञानस्वरूप की दृष्टि जगेगी।

मोह, माया, ममता, क्रोध, मान, माया, लोभ, परिग्रह, तृष्णा आदि में समय बर्बाद न करें, बल्कि जीवन में एक दृढ़ संकल्प बना लें कि मुझे तो इस अंतस्तत्त्व का ज्ञान करना है और इस ही अंतस्तत्त्व में रमण करना है। इस कार्य के लिये यदि मुझे सर्वस्व त्याग करना पड़े तो वह भी कुछ कठिन नहीं है। सब कुछ किया जा सकता है। एक अपने आपके अविकार सहज ज्ञानस्वरूप की दृष्टि जगनी चाहिए। रह सहे समय का क्या मूल्य है, यह बात बिगड़ा हुआ समय बताता है कि व्यर्थ गया वह सब समय। सम्यग्ज्ञान बिना, सत्पथ पर चले बिना जैसे अब तक अनन्त भव खोये वैसे ही यह भव भी खोने में ही चला जायेगा।

एक समय की घटना है कि जब कौरव पांडवों के युद्ध में अभिमन्यु मारा गया तो सुभद्रा माता उसके लिये बड़ा विलाप कर रही थी। तो वहाँ श्रीकृष्ण जी बहुत–बहुत समझाते हैं सुभद्रा माता को कि हे सुभद्रा माँ, अब तुम अधिक शोक न करो, शोक करने से

अब तुम्हारा बेटा अभिमन्यु वापस नहीं आने का.....। तो वहाँ सुभद्रा ने कहा—''करुणा निधान करुणा, करुणा भरे से पूछो। ज्वाला वियोग का दुःख, छाती जरे से पूछो। बनते समय की बातें, बिगड़े समय पूछो। बच्चे का प्यार, उसकी माँ के हृदय से पूछो।।'' तो समय की कीमत कौन कर पायेगा? जो अपने बिगड़े हुये समय पर दृष्टि देगा कि मैंने अपने स्वरूप को न जानने के कारण अभी तक मोह ममता में व्यर्थ समय खोया। कैसा विचित्र एक गजब आश्चर्य हो गया कि यह जीव स्वयं ही शान्ति का धाम है और दूसरी जगह शान्ति ढूढ़ता फिर रहा है। जैसे किसी माँ की गोद में खुद का बालक बैठा हुआ है ओर उसे यह ख्याल आ जाये कि मेरा बालक कहीं गुम गया और उसे यों ही आस—पड़ोस में ढूढ़ती फिरे तो ऐसा पागलपन हमने तो कभी नहीं देखा। मगर एक कहावत चल रही है कि—''काँख में बालक, बगल में टेर''। बालक अपनी गोद में है और पुरा पड़ोस में टेर रही। तो ऐसी बात देखकर जैसे लोग पागलपन कहते हैं, ऐसे ही स्वयं शान्ति का धाम है, पर अपने में न आकर, बाह्य पदार्थों से शान्ति प्राप्ति की आशा करना भी पागलपन है। अतः इस मायामय समागम में मुग्ध मत होओ और तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करो।

यह पंचम काल चल रहा है, इसमें हम—आपको जो संहनन मिला है, वह सबसे जघन्य है। इस समय, कठिन उपसर्ग, परीषह आदि सहना बड़ा कठिन है। अतः अशुभ कर्मों से बचने और तत्त्व ज्ञान प्राप्त करने के लिये सभी को जिनवाणी का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। मन में जब कोई शोक की लहर हो, जब कोई व्याकुल हो, जब मन विषयभोगों में भटककर अशुभ कर्मों का बन्ध कर रहा हो, तब उसको शास्त्रों के स्वाध्याय में लगा दीजिये, अशुभ कर्मों का

आस्रव तत्काल रुक जायेगा। शास्त्रों का स्वाध्याय करना बड़ा पवित्र एवं श्रेयस्कर कार्य है। ज्ञानाभ्यास के समय मन न तो किसी भोग में फँसता है, न किसी द्वेष, क्षोभ, लोभ में अटकता है, 2–3 घंटे कब निकल गये। पता ही नहीं चलता।

सम्यग्ज्ञान ही शरण है। मैं, मैं हूँ, मैं, देह रूप नहीं, मैं, मेरा हूँ, मेरे बाहर में अन्यत्र मेरा कहीं कुछ नहीं। ऐसा भेदज्ञान ही हम आपको शरण है। जिस समय यह जीव शरीरादि से भिन्न अपनी शुद्ध चैतन्यमय आत्मा को जान लेगा, उसी समय में उसका जीवन परिवर्तित होना शुरू हो जायेगा। सभी को पूरे प्रयत्न से शरीर से भिन्न एक अनादि–अनिधन जीव आत्मा को जानने का प्रयास अवश्य करना चाहिये। आचार्यों का कहना है–पर को साथ खोजने के व्यर्थ विकल्पों को छोड़कर, निज परमात्मतत्त्व को पहिचानकर उसी में लीन रहो, संतुष्ट रहो, तृप्त रहो। सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है। 'समयसार' ग्रंथ में आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने लिखा है–

एदम्हि रदो णिच्चं संतुष्ट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होदि तित्ता होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।।

हे आत्मन्! तू इस ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा में ही नित्य प्रीतिवन्त हो, इसमें ही नित्य संतोष को प्राप्त हो और इससे ही तृप्त हो, तो तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा।

सुख प्राप्त करने का उपाय धर्म है, अज्ञानी प्राणी परिग्रह से अपना बड़प्पन मानते हैं और उसे जोड़ने में ही इस दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ खो रहे हैं। मोही जीव जिस चिन्तन में लग रहे हैं, वह स्वप्नवत् असार है। बाहरी बातें, लोगों का समुदाय, लोगों में बड़प्पन की चाह आदिक जो कुछ भी ख्याल बन रहे हैं, वे सब एकदम असार व दुःख के कारण हैं। यह आत्मा एक ज्ञानानन्दस्वरूप

मात्र निर्लेप भावमात्र है। यह अपने जिस स्वरूप में है, उस ही मे ठहरे, तो इसे किसी तरह का दुःख नहीं है, किन्तु स्वरूप की तो सुध भी नहीं रखता, बाहरी पदार्थों में ही निरन्तर मग्न रहा करता है। यह संसारी जीव विवेकरहित होकर आशारूपी अग्नि से जलता हुआ, इस जलन को मिटाने के लिये चेतन अचेतन परिग्रहों से सुख चाहता है, किन्तु ये सब साधन तो भव–भवों में दुःख ही उत्पन्न करते हैं। इस असार संसार में सुख काहे का है। बाँस देखने में बड़े लम्बे होते हैं किन्तु उनके नीचे छाया नहीं होती और छुटपुट थोड़ी छाया भी मिले तो नीचे का वह स्थान कंटीला होता है और बाँस ही आपस में रगड़कर अग्नि उत्पन्न करते हैं और भस्म कर देते हैं। यह संसार की माया कहने मात्र को है। इसमें सार कुछ भी नहीं है, बाँस की छाया की तरह असार है। यह ग्रहण करने योग्य नहीं है, किन्तु छोड़ने योग्य है।

जो मोही है, शरीर को ही मैं समझता है, वह चाहता है मेरा दुनिया में यश फैले, मेरा नाम चले, मेरी परम्परा रहे, मैं कुछ यहाँ अपना खम्भा गाड़ जाऊँ आदि। अरे मरकर न जाने कहाँ–से–कहाँ जन्में, उसके लिये फिर यहाँ का क्या? यहाँ बड़ा परिश्रम करके बहुत–बहुत धन संचय कर लिया, बड़ा मकान बनवा दिया, सब कुछ बढ़वारी कर दी, पर मरने के बाद उसका यहाँ है क्या कुछ? उसका यहाँ कुछ भी नहीं है। फिर भी शरीर में आत्मबुद्धि होने से मनुष्य इन दो बातों पर ही तुला है– एक धन बढ़ जाये और एक विषय–भोगों के साधन बने रहें। परंतु इस जोड़े हुये समस्त समागम का फल तो अन्त में विघटन ही है। व्यक्ति सुख तो चाहता है परंतु पाप छोड़कर धर्म नहीं करना चाहता। यह तो ''पुण्य की चाह, पाप की राह वाली'' बात है।

पुण्यस्य फल मिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवः।
फलं पापस्य नेच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः।।

मनुष्य पुण्य के फल को तो चाहता है, पर पुण्य करना नहीं चाहता। पाप का फल नहीं चाहता, लेकिन दिन–रात पाप में लगा रहता है। परंतु पाप की बीज बोकर, कोई भी पुण्य की फसल नहीं काट सकता।

तीनों लोकों के सभी जीव सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। परंतु सुख के कारणभूत धार्मिक कार्यों से विमुख रहते हुये, दुःख के कारणभूत पाप कार्यों में ही लगे रहते हैं। पर ध्यान रखना, आचार्यों का कहना है–''नायुक्तं क्षीयते कर्म'' आपने अगर कोई पाप किया है तो कई कर्म ऐसे होते है कि वह बिना भोग नष्ट नहीं होते। कहावत है–''पाप और पारा कभी पचता नहीं।'' आदिनाथ भगवान के जीव ने कभी पूर्व पर्याय में किसी बैल के मुँह पर कुछ देर के लिये मुसिका बांधी थी, जिससे ऐसा अन्तराय बंध गया कि छः महीने से भी अधिक समय तक उन्हें आहार उपलब्ध नहीं हो सका।

सीता जी ने कभी पूर्व पर्याय में किसी निर्दोष निर्ग्रंथ मुनिराज पर लांछन लगाया था, उसका परिणाम यह निकला कि सीता जी को स्वयं निर्दोष होने पर भी लांछित होना पड़ा। पिछले भव में किये हुये कर्मों के फलस्वरूप अंजना सती को 22 वर्ष तक पति का वियोग सहना पड़ा और घोर विपत्ति में जा अनेक कष्ट सहन करना पड़े। व्यक्ति पाप कार्यों को करके परिग्रह संचय करना चाहता है। पंरतु शान्ति की प्राप्ति परिग्रह संचय से नहीं, अपने अविकार सहज ज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्व की आराधना से प्राप्त होती है। मोह से उत्पन्न दुःख कभी भी मोहभरी बातों से दूर नहीं हो सकेगा।

कौरव और पांडवों का जब भारत में शासन था, उस समय

उनका कितना प्रताप था, कितना धन, वैभव था। महायुद्ध हुआ, जो इतिहास में महाभारत के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। उसमें कितना संहार हुआ, अन्त में रहा क्या? कौरवों के वंश में कोई नहीं बचा और होगा भी कोई तो पता नहीं। यहाँ पांडवों को वैराग्य हो गया। वह सारा धन जहाँ का तहाँ ही पड़ा रहा। इतनी लड़ाई लड़ने के बाद न कौरवों को उसका मजा आया और न पांडवों को। हाँ, आनन्द उन पांडवों को अपनी शुद्धता और आत्मसेवा के कारण आया। वे निर्वाण पधारे। यह परिग्रह, इसकी तृष्णा जीव को शल्य की तरह दुःख देती है। जैसे पैर में काँटा चुभ जाये तो वह वेदना पहुँचाता है। इसी प्रकार तृष्णा का परिणाम भी आ जाये तो वह इस शल्य की तरह चुभो–चुभोकर दुःख देता है। भैया! कहाँ सुख ढूंढते हो, किस जगह सुख है, यह मोह की नींद का एक स्वप्न है। सब कुछ बिखर जायेगा। कोई भी यहाँ न रहेगा। सच बात तो यह है कि जिसने इस जगत के समस्त समागमों को असार समझ लिया है, कहीं सार नहीं है, कहीं सुख नहीं है–यों निश्चय कर लिया है, ऐसा पुरुष ही पाप को छोड़कर, सच्चे धर्म के मार्ग पर आगे बढ़ता है। ''आत्मानुशासन ग्रंथ'' में आचार्य गुणभद्र महाराज ने लिखा है–

पापद्दुःखं धर्मात्सुखमिति, सर्वजन सुप्रसिद्धमिदम्।
तस्माद्विहाय पापं चरतु, सुखार्थी सदा धर्मम्।।

हे सुखार्थीजनो! समस्तजन इस बात को समझते हैं और सबके यहाँ यह बात सुप्रसिद्ध है कि पाप से दुःख होता है और धर्म से सुख होता है। इस कारण पाप का त्याग करके, सदा धर्म का आचरण करो।

परिग्रह में आसक्त रहना, संसार मार्ग है और परिग्रह से उपेक्षा करना तथा शुद्ध ज्ञान स्वरूप को निहारना, मोक्षमार्ग है। दो ही रास्ते

हैं—संसार में रुले या मोक्ष में पहुँच जाये। कभी—कभी यह जीव परेशान होकर भले ही कह देता है कि संसार असार है, संसार में कुछ नहीं है, विडम्बना है। मगर यह कुछ शोक में आकर कह रहा है, धर्म बुद्धि से नहीं। अन्दर में तो उसे वही सब अच्छा लग रहा है।

एक बूढ़ा बाबा अपने घर के सामने चबूतर पर अधिकतर बैठा करता था उसके घर 4—6 नाती पोते भी थे, सो प्रतिदिन व नाती पोते उसे बहुत परेशान किया करते थे। कोई सिर पर चढ़ता, कोई मूंछ पकड़ता, कोई हाथ—पैर झकझोरता तो वह बूढ़ा बाबा अपने उन नाती पोतों से बहुत तंग आ गया था, क्योंकि रोज रोज उसकी यही हालत हुआ करती थी। एक दिन वह बूढ़ा अपने उसी चबूतरे पर बैठा हुआ रो रहा था। वहाँ से एक सन्यासी निकला, उस सन्यासी ने उस बूढ़ बाबा से रोने का कारण पूछा तो उसने रोने का कारण यह बताया कि महाराज हमारे नाती—पोते हमें बहुत हैरान करते हैं। तो सन्यासी बोला—क्या हम तुम्हारा यह दुःख मेंट दें? हाँ—हाँ मेंट दीजिये, आपकी बहुत बड़ी कृपा होगी। देखिये उस बूढ़े बाबा ने समझा कि शायद सन्यासी जी कोई ऐसा मंत्र पढ़ देंगे कि फिर वे नाती—पोते हमे तंग न करेंगे, बल्कि हमारे चरणों लोटते फिरेंगे। पर सन्यासी ने कहा—बाबा जी आप घर छोड़ दीजिये और हमारे साथ चलिये, बस तुम्हारा यह दुःख दूर हो जायेगा। तो सन्यासी की इस प्रकार की बात सुनकर वह बूढ़ा बाबा बहुत झुंझलाया, बोला कि अरे हमारे नाती पोते, हमारे ही रहेंगे, हम उनके बाबा ही रहेंगे, तुम तीसरे कौन आ गये बीच मे फूट डालने वाले? इतनी बात सुनकर सन्यासी आगे बढ़ गया। कहने का तात्पर्य है कि जिस चेतन व अचेतन परिग्रह से ये जीव दुःखी होते जाते हैं, उसे ही अपनाते जाते हैं। पर इसमें सार कुछ भी नहीं है। जिन परजीवों में, परपदार्थों में

हम अपने उपयोग को लगाते हैं, स्नेह करते हैं, तो वे मोही जीव भी मोहवश हमारी ओर आकृष्ट हो जाते हैं, तो यह मोह के आकर्षण की दुनिया है, यह तो है दुनिया की दुनिया। और अपने ज्ञान स्वभाव को निरखकर तृप्त होने वाली दुनिया है खुद की दुनिया, एक में असंतोष है और दूसरी में संतोष है। इतना होने पर भी संसारी प्राणियों को ऐसा मोह छाया है कि क्लेश पाते रहते है और क्लेश के कारणों में ही जुटे रहते हैं।

विचार करो, हम निगोदादि कितने ही दंदफंदों को पार करके आज मनुष्य हुये हैं। मनुष्य भव का पाना ऐसा दुर्लभ है कि जैसे चौराहे पर गिरी हुई रत्नमणि का मिलना दुर्लभ है। चौराहे पर चारों ओर से लोगों का आना जाना बना रहता है, वहाँ पर किसी का गिरा हुआ रत्न कैसे पड़ा रहेगा? तो जैसे चौराहे पर रत्नमणि का मिलना दुर्लभ है, ऐसे ही नरभव मिलना दुर्लभ है। इस समय कितना अच्छा अवसर है कि हम अपने उपयोग को संभालें, विवेकपूर्वक रहें, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करें। तो कितना सुन्दर अवसर है कि हम अपनी आत्मा का कल्याण कर सकते हैं।

मन में जब कोई शोक की लहर हो, जब कोई व्याकुल हो, जब मन विषयभोगों में भटक कर अशुभ कर्मों का बन्ध कर रहा हो, तब उसको शास्त्रों के स्वाध्याय में लगा दीजिये, अशुभ आस्रव तत्काल रुक जायेगा। शास्त्रों का स्वाध्याय करना बड़ा पवित्र कार्य है। ज्ञानाभ्यास के समय मन न तो किसी राग में फँसता है, न किसी द्वेष, क्षोभ, लोभ में अटकता है।

प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। स्वाध्याय कौन से शास्त्र का करना चाहिये, आचार्य समन्तभद्र महाराज कहते हैं –

आप्तोपज्ञमनुकलङ्घ्य, मदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम्।।

जो सच्चे देव का कहा हुआ हो, इन्द्रादिक से भी खण्डन रहित हो, प्रत्यक्ष व परोक्ष आदि प्रमाणों से निर्बाध, तत्त्वों का यथार्थ उपदेशक हो, सब का हितकारी और मिथ्यात्व आदि कुमार्ग का नाशक हो, उसे सच्चा शास्त्र कहते हैं।

ऐसे शास्त्र चार अनुपयोगों में विभाजित किये गये हैं –

(1) प्रथमानुयोग (2) करणानुयोग (3) चरणानुयोग और (4)द्रव्यानुयोग। जो भी इन ग्रन्थों का स्वाध्याय, मनन, चिंतन करता है, उसका कल्याण होता है। अपना ज्ञान बढ़ाने के लिये चारों अनुयोगों के शास्त्रों को पढ़ना, दूसरों को पढ़ाना, शंका निवारण के लिये विद्वानों से किसी विषय का पूछना, पाठ करना, शास्त्रों में जो कुछ पढ़ा है, उसका विचार करना, यह सब स्वाध्याय है।

स्वाध्याय करने से ही हमें धर्म का स्वरूप व उसकी महिमा समझ में आती है।

श्री गणेश प्रसाद वर्णी जी ने लिखा है कि मेरे एक विद्यागुरु श्रीमान् पण्डित मूलचन्दजी ब्राह्मण थे। उनके साथ मैं गाँव के बाहर श्री रामचन्द्र जी के मन्दिर में जाया करता था। वहाँ रामायण का पाठ होता था। मेरे घर के सामने जिनालय था। वहाँ भी जाया करता था।

जब मैं 10 वर्ष का था तब की बात है। सामने मन्दिर जी के चबूतरे पर प्रतिदिन पद्मपुराण (जैन रामायण) का प्रवचन होता था। एक दिन त्याग का प्रकरण आया। उसमें रावण के पर स्त्री त्याग करने का उल्लेख किया गया था। बहुत से भाइयों ने प्रतिज्ञा ली, मैंने भी उस दिन आजीवन रात्रि–भोजन त्याग करने का नियम ले

लिया। इसी त्याग ने मुझे जैन बना दिया।

मैंने एक दिन गुरुजी से भी कह दिया कि पद्मपुराण में पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी का जो चरित्र चित्रण किया गया है , वही मुझे सत्य भासता है। आपकी रामायण में रावण को राक्षस और हनुमान को बन्दर बताया है, इसमं मेरी श्रद्धा नहीं है। अब मैं उस मन्दिर नहीं जाऊँगा। और इसी प्रकार एक दिन माता जी से भी कह दिया कि आज से मैं जिनेन्द्र दव का छोड़कर अन्य को नहीं मानूंगा। मरा पहले से ही यह भाव था कि जैन धर्म ही मेरा कल्याण करेगा।

वैष्णव होते हुये भी मरे पिताजी की जैनधर्म में श्रद्धा थी। इसका कारण णमोकार मंत्र था, क्योंकि एक बार बाहर गाँव से बैलगाड़ी पर दुकान का माल लाते समय मार्ग वाले भयंकर वन में णमोकार मंत्र का स्मरण करने से शेर–शेरनी उनका मार्ग काटकर चल गय थे।

स्वर्गवास के समय पिताजी ने मुझे यह उपदेश दिया था कि – "बेटा! संसार में कोई किसी का नहीं है, यह श्रद्धान दृढ़ रखना। मैंने णमोकार मंत्र के स्मरण से अपने को बड़ी–बड़ी आपत्तियों से बचाया है। तुम निरन्तर इसका स्मरण रखना। तुमको यदि संसार बन्धन से मुक्त होना इष्ट हो तो इस जैन धर्म में दृढ श्रद्धान रखना। इसकी महिमा का वर्णन हमारे जैसे तुच्छ ज्ञानियों द्वारा होना असम्भव है। तुम इसे जानने का प्रयास करना।"

एक बार मेर चचेरे भाई लक्ष्मण असाटी के विवाह में मैंने अपने काकाजी से भी कह दिया कि यहाँ तो अशुद्ध भोजन बना है। मैं पंक्ति में सम्मिलित नहीं हो सकता। इससे मेरी जाति वाले बहुत बिगड़े और मेरा जाति–बहिष्कार कर दिया, जिसे मैंने हाथ जोड़कर स्वीकार कर लिया। मेरी पत्नी, माँ के बहकावे में आ गई और कहने लगी कि तुमने अपना धर्म परिवर्तन कर बड़ी भूल की है। अब फिर

से अपने सनातन धर्म में आ जाओ। यह विचार सुन मेरा उससे प्रेम हट गया और मैं घर छोड़कर चला गया। जब मैं बम्बई की परीक्षा में बैठा, प्रश्न पत्र लिख रहा था, मुझे एक पत्र मिला जिसमें लिखा था मेरी पत्नी का देहावसान हो गया है। मैंने मन ही मन कहा – हे प्रभो! आज मैं बन्धन से मुक्त हुआ। बाद में वर्णी जी ने जिनवाणी के प्रचार–प्रसार में बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। यह सब जिनवाणी के स्वाध्याय की महिमा है। आत्मा के स्वरूप को समझने एवं ज्ञान, वैराग्य की वृद्धि के लिये प्रतिदिन जिनवाणी का स्वाध्याय करना चाहिये। समणसुत्तं ग्रन्थ के सम्यग्ज्ञान सूत्र में लिखा है–

जिससे तत्त्व का ज्ञान होता है, चित्त का निरोध होता है तथा आत्मा विशुद्ध होती है, उसी को जिनशासन में ज्ञान कहा गया है।

जिससे जीव राग–विमुख होता है, श्रेय में अनुरक्त होता है और जिससे मैत्री भाव बढ़ता है, उसी को जिनशासन में ज्ञान कहा गया है।

सुनकर ही कल्याण या आत्महित का मार्ग जाना जा सकता है। सुनकर ही पाप या अहित का मार्ग जाना जा सकता है। अतः सुनकर ही हित और अहित दोनों का मार्ग जानकर, जो श्रेयस्कर हो उसका आचरण करना चाहिये।

जैसे धागा पिरोयी हुई सुई कचरे में गिर जाने पर भी खोती नहीं है, वैसे ही ससूत्र अर्थात् शास्त्र ज्ञान युक्त जीव संसार में भटकता नहीं है।

जो जीव आत्मा को शुद्ध जानता है, वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है और जो आत्मा को अशुद्ध अर्थात् देहादियुक्त जानता है, वह अशुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।

हे भव्य! तू इस ज्ञान में सदा लीन रह। इसी में सदा संतुष्ट रह।

इसी में तृप्त हो। इसी से तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा।

बिना ज्ञान के हम अपने जीवन का विकास नहीं कर सकते। यदि हम अपने मन में पवित्रता लाना चाहते हैं, अपना आत्मकल्याण करना चाहते हैं तो सदा जिनवाणी का स्वाध्याय करें और वीतरागी मुनिराजों की संगति में रहें।

आचार्य पायसागर बड़े तपस्वी व प्रभावी महाराज हुये हैं। वे कहा करते थे—मै तो पापसागर था, शान्ति सागर महाराज ने मुझे पापसागर से पायसागर बना दिया। उनके बारे में कहा गया है, वे सारे व्यसनों में पारंगत थे, एक दिन वे अचानक शांतिसागर जी महाराज के पास पहुँच गये और उन पर अपना ज्ञान थोपने का प्रयास करने लगे। बातचीत के दौरान उन्होंने कहा, महाराज! आप मुनि किस लिये बने हो। महाराज ने कहा—मुनि बनने से मोक्ष मिलता है, आज तो मोक्ष नहीं मिलता, चौथे काल में मिलता है। वे बोले—महाराज, जब मोक्ष चौथे काल में मिलता है, तो अभी मुनि बनने से क्या फायदा? महाराज ने सोचा इसे ज्ञान की अपेक्षा अनुभव के ज्ञान से समझायें तो ठीक होगा। उन्होनें उससे कहा—यह बताओ कि सामने जो पेड़ खड़ा है, वह कौन—सा पेड़ है? उसने कहा—आम का। महाराज बोले—जाओ उसमें से दो—चार आम तोड़ के ले आओ। उसने कहा, महाराज! भादों के महीने में आम कहाँ से मिलेंगे? आम अभी नहीं मिल सकते। तो आम का पेड़ क्यों कह रहे हो? महाराज! इसलिये कि इसमें आम अभी नहीं लगे, लेकिन आगे लगेंगे। महाराज ने कहा—"वही तो हम कह रहे हैं, मोक्ष अभी नहीं मिलता, आगे मिलेगा। इसमें क्या बुराई है? बस इतना सुनना था कि उनका हृदय परिवर्तन हो गया। उनका अभिमान चूर—चूर हो गया। पूरा—का—पूरा जीवन बदल गया। वे आगे चलकर आचार्य पायसागर बने। सम्यग्ज्ञान

का वर्णण करते हुये पंडित दौलतराम जी ने छहढाला ग्रंथ में ज्ञान की महिमा बताते हुए लिखा है–

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान।
स्व–पर अर्थ बहु धर्म जुत, जो प्रगटावन भान।।

अत्यन्त महिमापूर्वक सम्यग्दर्शन को शीघ्र धारण करके सम्यग्ज्ञान का भी हे भव्य जीव! सेवन करो, उसकी आराधना करो। कैसा है सम्यग्ज्ञान? जो अनन्त धर्म वाले स्व–पर–पदार्थों का प्रकाशन करने के लिए सूर्य के समान है। सम्यग्ज्ञान स्व–पर सर्व पदार्थों का सच्चा स्वरूप जान जाता है। अतः हे भव्य जीव! तुम सम्यक्त्व के साथ सम्यग्ज्ञान की भी आराधना करो।

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ।
लक्षण श्रद्धा जानि दुहू में भेद अबाधौ।।
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई।
युगपत् होते हू, प्रकाश दीपकतैं होई।।

सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है, एक साथ ही दोनों प्रकट होते हैं। उनमें समय भेद नहीं है, तथापि उन दोनों की भिन्न–भिन्न आराधना कही गई है, क्योंकि लक्षण भेद से दोनों में भेद है – इसमे कोई बाधा नहीं है। सम्यग्दर्शन का लक्षण तो शुद्धात्मा की श्रद्धा है और सम्यग्ज्ञान का लक्षण स्व–पर को प्रकाशित करने वाला ज्ञान है। वहाँ सम्यक् श्रद्धा तो कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। दोनों साथ होने पर भी दीपक और प्रकाश की भांति उनमें कारण कार्यपना कहा गया है। सम्यक् श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान की आराधना एक साथ ही प्रारम्भ होती है, किन्तु पूर्णता एक साथ नहीं होती। क्षायिक सम्यक्त्व होने पर श्रद्धा की आराधना तो पूर्ण हो गई, किन्तु ज्ञान की आराधना तो केवलज्ञान होने पर ही पूर्ण होती

है, अतः ज्ञान की आराधना भिन्न बतलाई है।

तास भेद दो हैं परोक्ष परतछि तिन माहीं,
मति श्रुत दोय परोक्ष अक्ष मनतें उपजाहीं।
अवधिज्ञान मनपर्जय दो हैं देश प्रतच्छा,
द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिये जानै जिय स्वच्छा।।
सकल द्रव्य के गुन अनन्त परजाय अनन्ता,
जानै एकै काल प्रकट केवलि भगवन्ता।।

सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान होता है, उसके दो भेद हैं, एक परोक्ष, दूसरा प्रत्यक्ष।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों इन्द्रियों तथा मन की सहायता से जानते हैं इसलिये परोक्ष ज्ञान हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये दोनों एकदेश प्रत्यक्ष हैं। उनके द्वारा जीव मर्यादित द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव का इन्द्रिय और मन के अवलम्बन बिना प्रत्यक्ष–स्पष्ट जानता है। केवलज्ञान सम्पूर्ण प्रत्यक्ष है, केवली भगवन्त समस्त द्रव्यों के अनन्त गुणों को तथा अनन्त पर्यायों को एक साथ प्रत्यक्ष जानते हैं। जानने में कोई द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की मर्यादा नहीं है।

तत्त्वार्थ सूत्र जी में आचार्य उमास्वामी महाराज ने लिखा है–
"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।।"

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं।

(1) मतिज्ञान – पाँचो इन्द्रियों और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। यह 4 प्रकार का होता है –

(I) अवग्रह (II) ईहा (III) अवाय और (IV) धारणा

(I) अवग्रह – विषय विषयी के सन्निपात के अनन्तर जो आद्य

ग्रहण होता है, उसे अवग्रह मतिज्ञान कहते हैं।

(II) ईहा – अवग्रह से जाने हुये पदार्थ को विशेष जानने की इच्छा के होने को ईहा ज्ञान कहते हैं।

(III) अवाय – विशेष चिन्ह देखने से जिसका निश्चय हो जाय, उसे अवाय ज्ञान कहते हैं।

(IV) धारणा – अवाय से निर्णीत पदार्थ को कालान्तर में न भूलना धारणा ज्ञान है।

(2) श्रुतज्ञान – मतिज्ञान पूर्वक होने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान के अनन्तर जो मन के द्वारा अन्य–अन्य विषयों की विचारधारा चल पड़ती है वह श्रुतज्ञान है।

(3) अवधिज्ञान – द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा पूर्वक जो रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है(I) गुणप्रत्यय (क्षयोपशमनिमित्तक)(II) भवप्रत्यय।

(I) गुणप्रत्यय – किसी विशेष पर्याय की अपेक्षा न करके जीव के पुरुषार्थ द्वारा जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, वह गुणप्रत्यय कहलाता है।

(II) भवप्रत्यय – यह अवधिज्ञान देव, नारकी तथा तीर्थंकरों को (गृहस्थ अवस्था में) होता है। यह नियम से देशावधि होता है।

(4) मनः पर्यय ज्ञान – द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की मर्यादा पूर्वक जो दूसरे मे मन में स्थित बातों को जानता है, उसे मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं। यह भी दो प्रकार का होता है। (I) ऋजुमति (II) विपुलमति।

(I) मनःपर्यय ज्ञान – जो पर के मन में स्थित सरल सीधी बात को जानता है, वह ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान है।

(II) विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान – जो पर के कुटिल मन में स्थित, अर्द्ध चिन्तित, भविष्य में विचारी जानवाली, भूतकाल में विचारी गई आदि बातों को जानता है, वह विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान है।

(5) केवलज्ञान – त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। पंडित श्री दौलतराम जी ने ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुये लिखा है।–

ज्ञान समान न आन जगत में, सुख को कारन।
इहि परमामृत जन्म–जरा–मृतु, राग निवारन।।

इस जगत में ज्ञान के समान अन्य कोई पदार्थ सुख का कारण नहीं है। यह ज्ञान जन्म, जरा और मृत्यु रूपी रोगों को निवारण करने के लिए परम अमृत है।

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान विन कर्म झरैं ज।
ज्ञानी के छिनमाहिं, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।।
मुनिव्रत धार, अनन्त–वार ग्रीवक उपजायौ।
पै निज आतम–ज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।

सम्यग्ज्ञान के बिना जीव कराड़ों जन्मों मं तपस्या करके जितने कर्मों को नष्ट करता है, उतने कर्म, ज्ञानी जीव एक क्षण में त्रिगुप्ति अर्थात् मन–वचन–काय को वश में करके, आसानी से नष्ट कर देता है। इस जीव ने अनन्त बार मुनिव्रत धारण किया और नव ग्रैवेयक विमानों में भी उत्पन्न हुआ लेकिन आत्म–ज्ञान न होने से इसे थोड़ा–सा भी सुख प्राप्त नहीं हुआ।

तातैं जिनवर कथित तत्त्व, अभ्यास करीजै।
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लखि लीजै।।

यह मानुष–परजाय, सुकुल सुनिवो जिनवानी।
इह विधि गये न मिलै, सुमणि ज्यों उदधि समानी।।

इसलिए श्री जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए तत्त्वों का अभ्यास करना चाहिए और संशय, विभ्रम और विमोह को छोड़कर अपनी आत्मा को पहचानना चाहिए। यह मनुष्य पर्याय पाना, उसमें भी उत्तम कुल पाना और जिनवाणी सुनने का सुयोग प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। यदि बिना आत्मज्ञान के इस दुर्लभ अवसर को हमने खो दिया तो इसका फिर से मिलना वैसा ही दुर्लभ है, जैसे विशाल समुद्र में गिरे हुए किसी उत्तम–रत्न का पुनः मिलना कठिन।

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै।
ज्ञान आपका रूप भये, फिर अचल रहावै।।
तास ज्ञान को कारन, स्व–पर–विवेक बखानौ।
कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ।।

धन–सम्पत्ति, कुटुम्बीजन, हाथी–घोड़, राज्य आदि कोई भी अपने आत्मा के काम नहीं आता है। केवलज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है। क्योंकि वह एक बार होने पर आत्मा के साथ स्थायी रूप से रहता है। उस ज्ञान का मुख्य कारण, अपने पराए का विवेक या भेदविज्ञान कहा गया है। इसलिए हे भव्य जीव! करोड़ों उपाय करके जैसे–बने–तैसे उस भेदविज्ञान को हृदय में धारण करो। भेद विज्ञान न होने के कारण ही यह जीव शरीर के साथ तन्मय होकर, शरीर को अपनी निजी वस्तु मान लेता है, बल्कि शरीर को ही आत्मा समझ बैठता है। और शरीर की सेवा करने में ही अपना यह दुर्लभ मनुष्य जीवन समाप्त कर देता है। मनुष्य को सबसे प्रिय अपना शरीर ही होता है।

माता पिता, जो पुत्र के साथ प्रेम दिखलाते हैं, उसका सबसे

अधिक प्रिय मानते हैं, वह प्रेम पुत्र के लिये नहीं होता, अपने स्वार्थ के लिये होता है। पुत्र का बुढ़ापे में अपनी सेवा करने वाला या कुल चलाने वाला जानकर ही माता–पिता उससे प्रेम करते हैं। माता–पिता के ऊपर जब विपत्ति आ जावे तो वे अपने प्राण बचाने के लिये अपने दुध मुँहे (छोटे से) पुत्र को भी छोड़ जाते हैं।

बुन्देलखण्ड का प्रतापी वीर छत्रसाल, जब कुछ दिन का बच्चा ही था, तब बादशाह की सेना की पकड़ से बचने के लिये उसके माता–पिता प्राण बचाकर भागे। इस छोटे बच्चे को भागने में बाधक समझ कर, वे उसे एक झाड़ी में छोड़ गये। छत्रसाल के भाग्य से उस झाड़ी के ऊपर मधु मक्खियों का एक छत्ता था, उसमें से शहद की बूंद टपक–टपक कर छोटे बच्चे (छत्रसाल) के मुख पर गिरती रही, उसी को चाट–चाट कर वह बच्चा अपनी भूख मिटाता रहा और खेलता, सोता रहा। सात दिन बाद जब बादशाही सेना का भय हटा, तब उस बच्चे के पास आकर, उसके माता पिता ने उसे जीवित पाया।

इस घटना से यह बात सिद्ध होती है कि स्वार्थी जीव जिसमें भी अनुराग करता, वह स्वार्थ साधन के लिये होता है। वास्तव में जीव का यहाँ अपना कोई नहीं है। अतः पंडित श्री दौलतराम जी कह रहे हैं–करोड़ उपाय करके भी जैसे–बने–तैसे भेद विज्ञान को हृदय मे धारणा करो। सम्यग्ज्ञान होने पर इस जीव को दृढ़ श्रद्धान हो जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ और न ही ये शरीरादि पर–पदार्थ मेरे हैं। मै इनसे भिन्न शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा हूँ। जब तक भेद–विज्ञान नहीं होता है, तब तक ज्ञान कुज्ञान होता है, क्योंकि उस ज्ञान से आत्मा का कुछ हित नहीं होता, बल्कि अहित होता रहता है। अतएव सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पूर्व के ज्ञान कुमति, कुश्रुत, कुअवधि

कहलाते हैं। पूर्व में बताये गये पाँच ज्ञानों के साथ इन तीन कुज्ञानों को मिलाकर ज्ञान के 8 भेद होते हैं। छहढाला ग्रंथ मे लिखा है–

जे पूरब शिव गये, जाहिं अब आगे जै हैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहै हैं।।
विषय–चाह दव–दाह जगत, जन अरनि दझावै।
तासु उपाय न आन, ज्ञान–घनघान बुझावै।।

जिनेन्द्र भगवान कहते हैं कि जो जीव पहले मोक्ष गए हैं, वर्तमान में जा रहे हैं और भविष्य में भी जो जीव मोक्ष जाएंगे, वह सब इसी ज्ञान का प्रभाव है। इन्द्रिय–सुखों की चाह दावाग्नि के समान है, जो जगत के जनसमूह रूपी वन को घेरकर सब ओर से जला रही है। इस दावाग्नि को ज्ञान रूपी मेघसमूह ही बुझा सकते हैं। अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है।

पुण्य–पाप–फलमाहिं, हरख बिलखौ मत भाई।
यह पुद्‌गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।।
लाख बात की बात यहै, निश्चय उर लाओ।
तारि सकल जग–दन्द–फन्द, निज आतम ध्याओ।।

हे भाई! पुण्य के फल में हर्ष मत करो और पाप के फल में शोक मत करो। यह पुण्य और पाप का फल तो पुद्‌गल की अवस्थाएं हैं, जो पैदा होती हैं और नष्ट हो जाती हैं और फिर पैदा हो जाती हैं। लाख बात–की–बात तो यही है, इस बात को निश्चय से हृदय में धारण करो और जगत के दन्द–फन्द को छोड़कर सदा अपनी आत्मा का ध्यान करो।

स्वाध्याय करने से शान्ति मिलती है, विषय–भोगों से उदासीनता आती है, धर्म में अनुराग बढ़ता है, संसार से भय और शरीर से वैराग्य होता है, तत्त्वज्ञान जागृत होता है, कषायें मन्द होती हैं और

मन की एकाग्रता होती है। मन मदोन्मत्त हाथी के समान है। उसको रोकने के लिये स्वाध्याय रूपी जंजीर ही एक उपाय है। जिसने स्वाध्याय से मन को स्थिर करने का अभ्यास किया है, उसी का चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है। चित्त की एकाग्रता के कारण ध्यान की सिद्धि होती है और ध्यान से कर्मों का क्षय होकर मोक्ष पद प्राप्त होता है।

स्वाध्याय सदा अत्यन्त विनय पूर्वक करना चाहिये। विनय पूर्वक प्राप्त किया गया ज्ञान ही फलदायक होता है। स्वाध्याय का प्रयोजन तो मान की हानि करना है, पर यदि किसी को ज्ञान का मद हो जाता है तो वह ज्ञान कार्यकारी नहीं होता। 'ले दीपक कुँए पड़े' होने वाली कहावत आती है कि उस दीपक के प्रकाश की क्या उपयोगिता जिसे हाथ में लेकर भी यदि कोई कुँए में गिर जाता है।

धर्मनगर का राजा यम बड़ा विद्वान था, पर उसे अपने ज्ञान का बहुत घमण्ड था। एक बार धर्म नगर में सुधर्माचार्य 500 मुनियों के साथ आये और नगर के बाहर उद्यान में ठहर गये। अपनी विद्वत्ता के गर्व से गर्वित राजा यम समस्त परिजन और पुरजनों के साथ, मुनियों की निन्दा करता हुआ उनके पास जा रहा था, किन्तु गुरु निन्दा और ज्ञानमद के कारण मार्ग में ही उसका सम्पूर्ण ज्ञान लुप्त हो गया और वह महामूर्ख बन गया। इस असहनीय घटना से राजा बहुत दुःखी हुआ और उसने अपने पुत्र गर्दभ को राज्य का भार देकर अपने अन्य 500 पुत्रों के साथ दीक्षा ले ली। पर दीक्षा लेने के बाद भी मूर्ख ही रहे। णमोकार मंत्र का उच्चारण भी वे नहीं कर सकते थे। इस दुःख से दुःखित होकर यम मुनिराज गुरु से आज्ञा लेकर तीर्थ यात्रा को चल दिये।

मार्ग में उन्होंने गर्दभ युक्त रथ, गेंद खेलते हुये बालक और

मेंढक एंव सर्प के निमित्त से होने वाली घटनाओं से प्रेरित होकर तीन खण्ड श्लोकों की रचना की, जिनका भाव था –

1. रे मन रूपी गर्दभ! यदि तू इन विषय–भोगों रूपी जौ को खायेगा तो तुझे पछताना पड़ेगा अर्थात् तेरा संसार–परिभ्रमण होगा।
2. रे मन रूपी बालक। तुम्हारा सुख तुम्हारे भीतर है। तुम उसे इधर–उधर बाह्य पदार्थों में खोजते हुये क्यों व्यर्थ दुःखी हो रहे हो?
3. हे आत्मन! तू अपने स्वभाव से भय मत कर, अपने पीछे लगे हुए राग–द्वेष आदि से भय कर।

यम मुनिराज साधु–सम्बन्धी प्रतिक्रमण, स्वाध्याय एवं कृति कर्म आदि सभी क्रियायें इन तीन खण्ड–श्लोकों द्वारा ही किया करते थे। उनके अन्दर श्रद्धा और विनय इतनी अधिक थी कि इन तीन खण्ड–श्लोकों के स्वाध्याय के बल पर ही उन्हें सात ऋद्धियों की प्राप्ति हो गई थी।

श्री क्षमासागर जी महाराज ने लिखा है–जिससे स्व–पर प्रकाशक ज्ञान की प्राप्ति हो, वही वास्तव में स्वाध्याय है।

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तैं, निज–भाव को न्यारा किया।।

एसी पैनी दृष्टि हमारे भीतर आ जए, ऐसा ज्ञान, ऐसा विवेक हमारे भीतर उत्पन्न हो जाए, जिसके द्वारा हम स्व और पर का अन्तर पहचान सकें। जिसके द्वारा हम रागादि विकारी भावों से और रूप, रस, गंध व स्पर्श से युक्त पौद्गलिक शरीर से, अपने निज स्वभाव को पृथक अनुभव कर सकें। वास्तव में ऐसा भेदविज्ञान ही हमारे जीवन को ऊँचा उठाने में सक्षम है, वरना ज्ञान तो सभी जीवों

के होता है। ज्ञान के साथ मजा यह है कि ''गंगा गए सो गंगादास और जमुना गए सो जमुनादास।'' मिथ्यात्व के साथ वही ज्ञान संसार के दुःखों को दिलाने वाला है और सच्ची श्रद्धा के साथ वही ज्ञान संसार के दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला है। आत्मज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है, वही विद्या है, शेष भौतिक ज्ञान को तो अविद्या कहा गया है। कहा भी है 'सा विद्या, या विमुक्तये'। विद्या वही है, जो मुक्त करे या मुक्ति दिलाए।

आचार्य भगवन्तों का हमारे ऊपर असीम उपकार है। वे अपने जीवन के अनुभव की सब बातें हमें बता गए हैं। उनके द्वारा लिखे गए शास्त्र हमारे लिए माइलस्टोन की तरह हैं। यदि हम उनके द्वारा कही गयी बातों का अनुकरण करें, उनके बताए मार्ग पर चलें, तो हम आसानी से अपने लक्ष्य या गंतव्य तक पहुँच सकते हैं।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवलाजी में लिखा है कि जो आलस्य छोड़कर निरन्तर आत्मज्ञान का अभ्यास करता है, उसका यह आत्मज्ञान का अभ्यास आगामी जीवन में उसे केवलज्ञान की प्राप्ति में कारण बनता है। ऐसी अपूर्व महिमा है स्वाध्याय की। हमें पर–पदार्थों की नहीं, ज्ञान की कदर करना चाहिये। हमारी हालत उस कबूतर की तरह हो रही है, जो पेड़ पर बैठा है और पेड़ के नीचे बैठी हुई बिल्ली को देखकर अपना होश–हवाश खो देता है। अपने पंखो की शक्ति को भूलकर और घबराकर उस बिल्ली के समक्ष गिर जाता है, तो इसमें दोष कबूतर का ही है। हमें स्व–पर का भेदज्ञान नहीं है, इसलिये हम ज्ञान की कदर नहीं कर रहे हैं।

जो इन इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। आचार्य श्री ने लिखा है–हमारा स्वरूप क्या है? "अवर्णोऽहं" मेरा कोई वर्ण नहीं, "अस्पर्शोऽहं" मुझे छुआ नहीं जा सकता। यह मेरा स्वरूप

है। पर मोह के कारण यह अज्ञानी प्राणी इस पुद्गल शरीर को ही मैं मान लेता है।

मोह – वहिन्मपाकर्तु स्वीकुर्तु संयमश्रिम्।
छेत्तु रागदुकोद्धान समत्वभवम्ब्यताम्।।

मोह अग्नि के समान है। अग्नि का संताप तो देह पर अल्पकालीन असर डालता है, किन्तु मोह जनित संताप आत्मा को तपाया हुआ चिरकाल पर्यन्त भवभ्रमण कराता है। मोहकर्म जब आता है, तो कई सद्गुणों को भस्म कर देता है। इसके ताप से समस्त संसार पीड़ित है, किन्तु फिर भी इसकी मोहनी शक्ति से जीव अपना पिण्ड नहीं छुड़ा पाते।

जिनवाणी एक चाबी की तरह है, जिससे मोह–रूपी ताले को खोला जा सकता है। हमें भेदविज्ञान की कला में पारंगत होना चहिये। भावश्रुत की उपलब्धि के लिये हमारा अथक प्रयास चलना चाहिये। शरीर के साथ जीवन जीना भी कोई जीवन है? शरीर तो जड़ है और आत्मा उजला हुआ चेतन है। जिस क्षण यह भेदविज्ञान हो जायेगा, उस समय न भोगों की लालसा रहेगी, न ही अन्य इच्छायें रहेंगी। मोह विलीन हुआ, समझो दुःख विलीन हुआ, सूर्य के उदित हाने पर क्या कभी अन्धकार शेष रह सकता है? अतः सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करो।

सम्यग्ज्ञान ही वह साधन है जिसके द्वारा आत्मा की अनुभूति, समुन्नति होती है, उसका विकास किया जा सकता है। जिनवाणी का स्वाध्याय करने पर इस शरीर के भीतर छुपा हुआ जो परमात्म तत्त्व है, उसका बोध प्राप्त हो जाता है। स्वभाव का बोध न होने के फलस्वरूप ही, संसारी प्राणी पर–पदार्थों की शरण पाने लालायित हो रहा है। बाहर पर–पदार्थों मे उपयोग भटकाते–भटकाते अनन्तकाल

व्यतीत हो चुका है। जब इस जीव को अपने स्वभाव का बोध होगा तब वह बहिर्मुखी न होकर, अन्तर्मुखी होना प्रारम्भ कर देगा।

जो शास्त्र में लिखा है, वह जीवन में प्रकट हो जावे तो ही शास्त्र पढ़ना सार्थक है। सच्चा ज्ञानी वही है। 'स्वात्मानं पश्यति,' जो स्वरूप को जानता या अनुभव करता है, वही पण्डित है, वही ज्ञानी है। उसी का ज्ञान कल्याणकारी है। जिसके भीतर यह विचार या विवेक सदा बना रहता है कि अपने भीतर उठने वाले राग–द्वेष रूपी विकारी भावों को हटाना है और अपने वीतराग स्वभाव का अनुभव करना है।

आचार्य भगवन्तों ने लिखा है –

जेण रागा विरज्जेज्जं, जेण मित्ती पवासेज्ज।
जेण तत्त्वं विबुज्जेज्जं, तं णाणं जिण–सासणे।।

जिनेन्द्र भगवान ने उसे ही सच्चा ज्ञान कहा है, जिसके अभ्यास से अन्तरंग में निर्मलता आए और राग–द्वेषरूपी विकारी भावों से विरक्ति हो जाए। जिस ज्ञान के अभ्यास से प्राणीमात्र के प्रति मैत्री–भाव जागृत हो, जिस ज्ञान के फलस्वरूप हमें अपने आत्मतत्त्व का बोध हो। जैसे–जैसे आत्मज्ञान बढ़ता जाएगा, वैसे–वैसे ही अंतरंग में रागादि विकारी भाव घटते जाएँगे। दोनों बातें एक साथ होंगीं। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है–

यथा–यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्,
तथा–तथा न रोचंते विषया सुलभाऽपि।
यथा–यथा न रोचंते विषया सुलभाऽपि,
तथा–तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।"

विषय–भोग की सामग्री, भौतिक सुख–सुविधा की सामग्री सुलभता से प्राप्त होने पर भी रुचिकर नहीं लगेगी – यह निरन्तर बढ़ते हुए

आत्मज्ञान की कसौटी है। वही ज्ञान सच्चा माना जाता है, जो स्व व पर के आत्मकल्याण में सहायक बने।

एक साधु जी ज्ञान प्राप्त करने एकान्त गुफा में निरन्तर शास्त्र – अध्ययन करते रहते थे। अध्ययन करते–करते एक वर्ष बीत गया पर शान्ति व आनन्द नहीं मिला। सोचा, वापिस लौट जाऊँ। देखा कि एक मकड़ी जाल बुनते–बुनते बार–बार नीचे गिर जाती है, परन्तु फिर से बुनने लगती है। बड़ी प्रेरणा मिली। सोचा एक वर्ष और अध्ययन कर लूँ। एक वर्ष तक अध्ययन चला पर लाभ नहीं मिला। बाबाजी लौटने को हुए तो देखा चिड़िया घौंसला बना रही है, पर तिनके सब हवा में बिखर जाते हैं, वह फिर मेहनत करके सारे तिनके जमाने लगती है। प्रेरणा मिली, सो एक वर्ष और अध्ययन करने गुफा में ही रुके रहे, पर आनन्द नहीं मिला। अब निराश होकर लौटने लगे, तो देखा रास्ते में एक गाय का बछड़ा पीड़ा से तड़प रहा है। पास जाकर पता किया तो मालूम पड़ा पैर में घाव हो जाने से कीड़े पड़ गए हैं। बाबाजी का मन दया से भर आया। बछड़े की सेवा में जुट गए। घाव साफ किया, मरहम लगायी, पट्टी बांधी। बछड़े को राहत मिली। उसने आँखें खोलकर बाबाजी की ओर कृतज्ञता से देखा। बााबाजी को बड़ी शान्ति मिली, मन प्रसन्न हो गया। प्रेमभाव से की गई सेवा सफल हो गई। जो किताबी ज्ञान हासिल करके नहीं मिला, वह प्राणीमात्र के प्रति प्रेमभाव रखने, उसका हित चाहने से मिल गया। ज्ञान की सार्थकता इसी में है कि वह स्व–पर के कल्याण में निमित्त बने।

यह स्व–पर प्रकाशक, सर्वहितकारी आत्मज्ञान हमारे पास है। वह हमारी निजी सम्पदा है। उसे कहीं बारह से लाना नहीं है। उसे अपने में ही प्राप्त करना है। शास्त्र के अभ्यास से, गुरुजनों के

उपदेश से, अपने आत्म पुरुषार्थ के द्वारा उस भूले हुए आत्मज्ञान को स्मरण में लाना है। एक भजन में आता है कि–

अपनी सुध भूल आप, आप दुःख उठायो।
ज्यों शुक नभ चाल बिसरि, नलनी लटकायो।।

तोते को पकड़ने वाला बहेलिया एक रस्सी को उमेठकर उसमें लकड़ी के छोटे–छोटे टुकड़े बाँध देता है और उस रस्सी को पेड़ के सहारे बाँध देता है। जैसे ही तोता आकर उस रस्सी में फँसे लकडी के टुकड़े के उपर बैठता है, वह लकड़ी तोते के वजन के कारण घूम जाती है। लकड़ी के घूमते ही तोता घबराकर उसे अपने पैरों से जोर से पकड़ लेता है और उल्टा उसी लकड़ी पर लटक जाता है। लकड़ी पर लटका तोता सोचता है कि लकड़ी छोड़ दूंगा तो नीचे गिरकर मर जाऊंगा। वह भूल जाता है कि लकड़ी को छोड़कर यदि वह चाहे तो अपने पंखों के सहारे आकाश में उड़ सकता है, लेकिन वह अपनी आकाश में उड़ने की चाल को भूलकर उसी लकड़ी पर लटकता रहता है और दुःखी होता रहता है। यही दशा हमारी है। हम भी अपनी सुध भूलकर, अपने आत्म स्वरूप को भूलकर, इस संसार के बंधन में पड़कर दुःख उठाते रहते हैं।

निर्दोष रूप से अपने आत्म कल्याण की दृष्टि से जिनवाणी का पठन–पाठन करना स्वाध्याय है। हमें स्व–पर प्रकाशक आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जिसके द्वारा अपना और प्राणीमात्र का कल्याण हो सके। हम संसार से पार हो सकें। एक पण्डित जी बनारस से पढ़–लिखकर अपने घर लौट रहे थे। रास्ते में नदी पार करना पड़ती थी। सो जब चलते–चलते नदी के किनारे पहुँचे तो नाव में बैठकर नदी पार करने लगे। नाव में बैठे–बैठे पंडित जी ने मल्लाह से पूछा–कुछ संस्कृत वगैरह पढ़े हो। मल्लाह ने इन्कार कर दिया तो

पंडित जी बोले – तुम्हारी चार–आना जिन्दगी तो व्यर्थ हो गई। मल्लाह कुछ नहीं बोला। फिर थोड़ी दूर चलकर पंडितजी ने पूछा– भाई व्याकरण शास्त्र तो जानते होगे। मल्लाह ने कहा – पण्डित जी यह क्या होता है? यह तो मैं नहीं जानता। पण्डित जी बोले – भाई। तुम्हारी आठ–आना जिन्दगी बेकार हो गई। तुम व्याकरण भी नहीं जानते। अच्छा देखो ज्योतिष–शास्त्र तो कुछ जानते होगे। अब बेचारा मल्लाह क्या कहे। उसने कहा – पंण्डितजी मैं पढ़ा लिखा बिल्कुल भी नहीं हूँ। ज्योतिष वगैरह मैं नहीं जानता। पण्डितजी बोले– भइया! तब तो तुम्हारी बारह आना जिन्दगी बेकार चली गई।

नाव आगे बढ़ते–बढ़ते अचानक डाँवाडोल होने लगी। मल्लाह ने कहा– पण्डितजी लगता है नदी में तूफान आ गया है। पण्डितजी घबराए। मल्लाह ने कहा – पण्डितजी आप तैरना तो जानते होंगे। अब पण्डितजी क्या कहें? बोले – भाई मैं तैरना तो नहीं जानता। मल्लाह ने धीरे से कहा – तब तो पण्डितजी आपकी सोलह–आना जिन्दगी बेकार हो गई।

हमें यदि संसार–सागर से पार होने की विद्या नहीं आती तो बताइए हमारे किताबी ज्ञान की क्या उपयोगिता है। 'जेण तत्त्वं विबुज्जेज्जं' यानी जिसके माध्यम से अपने आत्म–तत्त्व का बोध हो, वही वास्तविक ज्ञान है। स्वाध्याय करने से अपनी कमी मालूम पड़ जाती है, जिससे उसके शोधन करने में आसानी होती है। अकेले ग्रंथ पढ़ने मात्र से स्वाध्याय नहीं होता। ग्रन्थ में कही गई आत्म–हितकारी बातों को अपने जीवन में धारण करना ही सच्चा स्वाध्याय है।

ज्ञानार्णव ग्रंथ में आचार्य शुभचन्द्र महाराज ने सम्यग्ज्ञान का वर्णन करते हुए लिखा है :–

इस संसार रूपी उग्रमरुस्थल में, दु:खरूप अग्नि से तप्तायमान जीवों को, सत्यार्थ ज्ञान ही अमृतरूप जल से तृप्त करने को समर्थ है।

जब तक ज्ञानरूपी सूर्य का उदय नहीं होता, तभी तक यह समस्त जगत् अज्ञान रूपी अन्धकार से आच्छादित है। अर्थात् ज्ञानरूपी सूर्य का उदय होते ही अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है।

इन्द्रिय रूपी मृगों को बांधने के लिये ज्ञान ही एक दृढ़ फाँसी है, अर्थात् ज्ञान के बिना इन्द्रियाँ वश नही होतीं तथा चित्तरूपी सर्प का निग्रह करने के लिए ज्ञान ही एक गारूड़ी महामन्त्र है। अर्थात् मन भी ज्ञान से ही वशीभूत होता है।

ज्ञान ही तो संसार रूप शत्रु को नष्ट करने के लिए तीक्ष्ण खड्ग है और ज्ञान ही समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने के लिए तीसरा नेत्र है।

जो अज्ञानी है वह तो करोड़ों जन्म लेकर तप के प्रभाव से पाप को जीतता है। और उसी पाप को अतुल्य पराक्रम वाला भेद विज्ञानी आधे क्षण में ही भस्म कर देता है।

जिस मार्ग में अज्ञानी चलते हैं, उसी मार्ग में विद्वज्जन चलते हैं, परन्तु अज्ञानी तो अपनी आत्मा को बांध लेता है और तत्त्वज्ञानी बन्ध रहित हो जाता है। यह ज्ञानका माहात्म्य है।

हे भव्य जीव! तू ज्ञान का आराधन कर। क्योंकि ज्ञान पापरूपी तिमिर (अंधकार) को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान और मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवास करने के लिए कमल के समान है, तथा कामरूपी सर्प के कीलने को मन्त्र के समान और मन रूपी हस्ती को सिंह के समान है, तथा व्यसन–आपदा कष्टरूपी मेघों को उड़ाने के लिये पवन के समान, और समस्त तत्त्वों को प्रकाश करने के लिये दीपक के समान है, तथा विषयरूपी मत्स्यों को पकड़ने के लिये जाल के

समान है।

इस जीव के उद्धार का तथा कष्टों से मुक्त होने का मूल उपाय आगम ज्ञान ही है। अतः आगम के अध्ययन में हमें अपना अधिक–से–अधिक समय देना चाहिये। जिसने आगम का ज्ञान नहीं किया वह मदिरा पायी की तरह बाह्य पदार्थों में डोलता रहता है। शरीरादिक पर–पदार्थों और रागद्वेषादिरूप परभावों को अपना मानता हुआ स्व–पर विवेक से रहित हो, संसार में ही घूमता है। और जो जिनवाणी का अध्ययन करता है, वह स्वानुभव प्राप्त करके आत्म प्रगति करता है। जिनवाणी के चारों अनुयोगों में जो कुछ वर्णन है, वह ज्ञान और वैराग्य को पोषण करने वाला है। हमें चारो अनुयोगों का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

प्रथमानुयोग को पढ़ें तो वहाँ भी हित प्रकाश मिलता है। 63 शलाका पुरुषों की उत्पत्ति, प्रवृत्ति, धर्मतीर्थ का प्रवर्तन आदि प्रथमानुयोग से ही जानते हैं। उनके वैराग्य का चरित्र आता है, तो उसको सुनकर हमें भी ज्ञान–वैराग्य की प्रेरणा मिलती है। पुण्य–पाप का बोध होता है। इन ग्रन्थों में प्राथमिक–जनों को धर्म की ओर आकर्षित करने का अभिप्राय छिपा है, इसलिये इनमें शृंगाररस आदि का भी प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार बताशे में रखकर कड़वी औषधि बालक को खिला दी जाती है, उसी प्रकार सुन्दर–सुन्दर कथाओं तथा शृंगार आदि रसों के कथन के साथ बीच–बीच में यथास्थान जीवनोपयोगी बातों का व तत्त्वों का निरूपण भी कर दिया गया है। अतः प्रथमानुयोग में चारों ही अनुयोगों सम्बन्धी बातों का सुन्दर व संक्षिप्त वर्णन मिलता है।

करणानुयोग के ग्रन्थों को पढ़ने से तीन लोक का परिचय होता है। अपने पाप भावों द्वारा उपार्जित नारकियों के दुःखो का वर्णन

पढ़ने से पाप भावों से भयभीतता होती है। इन ग्रन्थों में कर्म प्रकृतियों का बंध, उदय, सत्व और क्षय आदि का अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से निरूपण किया गया है जिनको पढ़ने से उपयोग विषय–कषाय से रक्षित होता है और श्रद्धा दृढ़ होती है, ज्ञान व चरित्र बढ़ता है तथा आचार्यों के प्रति बहुमान जगता है कि वे कैसे ज्ञान के समुद्र थे।

चरणानुयोग के ग्रंथों में चारित्र का क्रमिक वर्णन है, सम्यक्त्व से लेकर महाव्रत पर्यन्त तक, एकादश प्रतिमायें, फिर मुनि के 28 मूल गुणों का और आगे फिर अभेदरूप निश्चय परमध्यान का जो बाह्य और अन्तरंग आचरण का वर्णन है, उसको पढ़कर कितने ही मनुष्य इस सिद्धांत के श्रद्धालु हो जाते हैं।

द्रव्यानुयोग के ग्रंथों में आत्म द्रव्य के गुण पर्यायों का, षटद्रव्य, पंचास्तिकाय, 7 तत्त्व, 9 पदार्थ आदि का बड़ा वैज्ञानिक वर्णन किया गया है। यह जीव (उन तत्त्वों को समझकर) बाह्यवृत्तियां से निवृत्त होकर, क्रमशः अन्तरंग में सहज शुद्ध स्वभाव में प्रवेश करता है।

भेदविज्ञान, अर्थात् आत्मज्ञान ही कल्याणकारी है, अन्य सभी ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं और संसार–परिभ्रमण को बढ़ाने वाले हैं। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कलश 131 में लिखते हैं कि –

भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धाः ये किल केचन्।
अस्यैवाभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन्।।

जो भी जीव आज तक बंधे हैं, वे सभी बिना भेदविज्ञान से बंधे हैं और जितने भी जीव आज तक छूटे हैं, वे सभी भेद–विज्ञान से ही छूटे हैं।

भेदविज्ञान हो जाने के बाद ज्ञानी जीव सांसारिक भोगों से विरक्त हो जाता है। बहुत मानव यह कहते हैं की भोग खूब भोगो लेकिन ज्ञान प्राप्त करो। परन्तु अमृत व जहर एक जगह नहीं रह

सकते। अमृत व जहर का विरोध है, जैसे कि कहा गया है –

ज्ञान कला जिनके घट जागी, ते जग माहिं सहज बैरागी।
ज्ञानी मगन विषै–सुख माँही, यह विपरीति संभवै नाँही।।

जिनके चित्त में सम्यग्ज्ञान की किरण प्रकाशित हुई है, वे संसार में स्वभाव से ही वीतरागी रहते हैं। ज्ञानी होकर विषय–सुख में आसक्त हों, यह उल्टी रीति असम्भव है। अगर कोई कहे कि ज्ञानी विषय–भोगों में मग्न रहे, तो ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञानी को भोग बुरे दिखने लगते हैं। इन सब बातों को जानकर सच्चा ज्ञान प्राप्त करो, मगर बिना ज्ञान के काँच को हीरा, पीतल को सोना और भोगों को सच्चा सुख ही मानने लगे, तो यह सब तुम्हारा मिथ्याज्ञान ही है।

एक नगर में एक जौहरी रहता था। उसका पुत्र अज्ञानी था एक दिन अचानक जौहरीजी की मृत्यु हो जाती है। लड़के को काम–धन्धा तो आता नहीं था, उसने तिजोरी खोलकर हीरे निकाले और अपने चाचा, जो की जौहरी थे, के पास ले गया और बोला–चाचाजी! मेरे ये हीरे बिकवा दीजिए। चाचा ने कहा–बेटे! अभी बाजार मे ग्राहक नहीं हैं, इनका सही मूल्य नहीं मिल पावेगा, इन्हें वापस तिजोरी में रख दो और मेरे पास दुकान पर बैठा करो, जिस दिन बाजार में ग्राहक होंगे, माल सही दामों पर बिक जावेगा। लड़का रोजाना दुकान पर बैठने लगा। धीरे–धीरे उसको रत्नों की परख आने लगी। जब चाचा ने देखा कि अब इसको परख करनी अच्छी तरह आ गई है तब कहा कि आज बाजार में ग्राहक हैं जाओ, उन हीरों को ले आओ। वह घर आया और तिजोरी में से हीरे निकाले और वापस रख दिये और सोचा कि मैं भी कितना मूर्ख हूँ, काँच को हीरा समझ बैठा और खाली हाथ आ गया। तब चाचा ने पूछा–क्या हुआ? हीरा नहीं लाये? लड़के ने कहा–चाचाजी! मैं गलती पर था, वे तो काँच

के टुकड़े हैं, हीरे नहीं। तात्पर्य यह है कि जब तक वस्तु की ठीक–ठीक जानकारी नहीं होती, तब तक वह अज्ञानी है।

पं. बनारसी दास जी के उपर्युक्त दोहे से स्पष्ट हो जाता है कि जब जीव को 'स्व' अर्थात् अपनी आत्मा तथा 'पर' अर्थात् अपनी आत्मा के अलावा समस्त अन्य आत्माऐं एवं अन्य द्रव्य सब अलग–अलग प्रतीत होने लगते हैं, तब जीवों की क्या स्थिति बनती है। वह संसार–शरीर व भोगों से स्वतः ही उदासीन हो जाता है तथा अपने सच्चे सुख का अनुभव करने लगता है। इसका नाम आत्मज्ञान है, भेद विज्ञान है और स्व–पर भेदज्ञान है। इस आत्मज्ञान द्वारा ही संसारी जीव मोक्ष को प्राप्त होता है। संसार के दुःखों से छूटता है, मुक्त होता है।

जिस प्रकार हंस के मुख का स्पर्श होने से दूध और पानी पृथक्–पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवों की सुदृष्टि में स्वभावतः जीव, कर्म और शरीर भिन्न–भिन्न भासते हैं। जब शुद्ध चैतन्य के अनुभव का अभ्यास होता है, तब अपना अचल आत्मद्रव्य प्रतिभासित होता है, उसका किसी दूसरे से मिलाप नहीं दिखता। पूर्वबद्ध कर्म उदय में आये हुए दिखते हैं, परन्तु अहंबुद्धि के अभाव में उनका कर्ता नहीं होता, मात्र दर्शक रहता है। दुःख का मूल तो 'पर' को 'स्व' मानना है। यह सब कार्य मोह ही कराता है। यह बात निम्न दृष्टान्त से भी स्पष्ट हो जाती है –

एक व्यक्ति ने जंगल में जाते हुए एक हाथी को एक बच्चे को सूंड में उठाकर मारते देखा। यह देखकर वह व्यक्ति चिल्ला उठा– अरे! मेरा बच्चा मारा गया और बेहोश हो जाता है। परन्तु वह बच्चा उसका नहीं था। उसके सामने उसका बच्चा लाया गया और उसको जगाया। उसे देखते ही वह होश में आ गया। यहाँ उस व्यक्ति को

सुख बच्चा देखने का नहीं हुआ, अपितु उसे सुख इस बात का हुआ कि हाथी द्वारा मारा गया बच्चा उस का नहीं है। इसी तरह पर–पदार्थों में जब–तक अपने पन की ममत्व बुद्धि रहेगी, तब तक उस व्यक्ति के समान उसे बेहोशी का नशा छाया रहेगा और पर में अपनत्व की बुद्धि दूर होते ही आनन्द की लहरें आने लगेंगी। इस ममत्वरूपी पिशाचनी ने कितनों को इस संसार में डुबाया है, मोह में ही जीवों ने अनन्तानन्त भव बिता दिये, फिर भी ममत्व बुद्धि नहीं गयी। इसीलिए कहा है –

उत्तमा स्वात्मचिंता स्यात्, देह चिंता च मध्यमा।
अधमा कामचिंता स्यात्, परचिंताधमाधमा।।

अपने आत्मा की चिन्ता उत्तम है, शरीर की चिन्ता मध्यम है, विषयों की चिंता अधम है और दूसरों की चिन्ता अधम से भी अधम है।

आत्मा और शरीर का संबंध अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाह होकर भी किस प्रकार अलग है, यह आचार्य देव निम्न श्लोकों द्वारा स्पष्ट करते हैं–

पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम्।
तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये यथा शिवः।।

जैसे पत्थर में सोना रहता है, दूध में घी रहता है, तिल में तेल रहता है, उसी प्रकार शरीर में यह आत्मा रहती है।

काष्ठमध्य यथा वह्निः, शक्तिरूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति स पण्डितः।।

जिस प्रकार लकड़ी में शक्ति रूप अग्नि रहती है, उसी प्रकार शरीर में आत्मा रहती है। जो ऐसा जानता है, वह पण्डित है।

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।

अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः।।

जिस प्रकार कमल में जल सर्वदा भिन्न रहता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वभावतः शरीर से भिन्न रहती हुई, शरीर में रहती है।

नरभव पाकर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करो, एक मात्र सार वस्तु आत्मतत्त्व को पहिचानो, संसार के समस्त पदार्थों से मोह ममत्व को हटाओ। ज्ञानदर्शन मय आत्म तत्त्व की उपलब्धि का यही अवसर है, उसे ऐसा उत्तम साधन पाकर प्राप्त करना चाहिए।

जगत् में जितने जीव हैं, सभी सुखी होने का प्रयत्न करते हैं, पर इस जीव ने आज तक लेशमात्र भी वास्तविक सुख प्राप्त न किया। जिन स्वप्नों को इसने सुख माना, वे सांसारिक हैं, क्षणिक हैं। उन सुखों में, दुःखों का आव्हान है और वे सुख अशान्ति एवं आकुलता बढ़ाने वाले हैं। आकुलतामय ही उनका स्वरूप है। इस संसार में भ्रमण करते हुये जीव को आज तक सुख क्यों नहीं मिला? इसका एकमात्र कारण सम्यग्ज्ञान का अभाव है। उस दुःखी जीव पर गुरु ने दया करके सुख पाने के साधन भी बताये, पर मोह–मदिरा से मूर्छित जीव ने कोई ध्यान न दिया। सुखी होने का उपाय यही है कि हमारे ज्ञान में या समझने में यह आ जाय कि संसार के समस्त पदार्थ अपने–अपने स्वरूप से स्वयं स्वतन्त्र हैं, और हैं स्वयं में स्वतः पूर्ण। मैं चैतन्य चिन्मात्र ज्ञान–दर्शन ही जिसका स्वभाव है ऐसी आत्मा, स्वयं में स्वतंत्र हूँ। मेरी एक निजी सत्ता है। जैसे मैं इन पदार्थों से भिन्न और अपने स्वरूप से अभिन्न हूँ। वैसे ही ये अन्य पदार्थ जो मुझ से भिन्न हैं, परन्तु वे स्वयं अपने स्वरूप में अभिन्न हैं। मेरे न ये हैं और न मैं इनका हूँ। अरे! इनका मेरा सम्बन्ध ही क्या? मैं कहाँ चेतन, अनन्त गुणों का भण्डार और ये पदार्थ अचेतन और जड़। मैं स्वतः स्वयं में प्रतिसमय परिणमन करता रहता हूँ। मेरे परिणमन में

कोई पर–कारण नहीं है। वैसे ही ये पदार्थ स्वतः स्वयं में परिणमते रहते हैं, मैं इनका क्या करता हूँ? देखो, भैया! "होता स्वयं जगत परिणाम, मै जग का करता क्या काम।"

पर यह जीव सदा यही कहता रहता है कि यह पुत्र मेरा है, यह स्त्री मेरी है, यह मकान मेरा है, आदि अनेक पदार्थों को अपना बनाया करता है और उनके प्रति कर्त्तव्यभाव रखता है। अन्य की तो बात ही क्या? यह 'हमारा' कहा जाने वाला शरीर भी हमारा नहीं है, अन्त में यह भी साथ छोड़ देगा। आत्मा को ही अकेला जाना होगा। अतः जब तक हमने पर–पदार्थों को और स्वयं को अलग–अलग न समझा तब तक वह आत्मिक सुख, वास्तविक सुख भी अलग रहेगा। आत्मा में विद्यमान जो अनन्त सुख है, वह तो प्रकट होने के लिये तैयार ही है, हम ही तो विषयों मे फँसकर, अन्य पदार्थों से मोह बढ़ाकर–उसे प्रगट नहीं होने देते। फिर भी हम सुखी होना चाहते हैं, यह आश्चर्य की बात है। यदि सुखी होना है, तो सम्यग्ज्ञान प्राप्त करो स्व को स्व और पर को पर समझो।

मोह, राग, द्वेष का विनाश होने से दुःख का भी विनाश हो जता है और सुख का संचार आत्मा में होता है। लोग सुख पाने का प्रयत्न करते हैं, पर वे सच्चे सुख का स्वरूप नहीं जानते, और उसको प्रकट करने की विधि भी नहीं जानते। जिसे आप चाहते हैं, उसे जब आप जानते ही नहीं तो भैया! फिर उस सुख को कैसे पाओगे? वह सुख जिसे संसार चाहता है, सांसारिक पदार्थों में नहीं, स्वयं तुम में ही विद्यमान है, जरा अपनी आत्मा में तो झाँको, उसे तो टटोलो। सारे प्रयत्नों से पहिले सम्यग्ज्ञान का उपार्जन करो। संसार तो दुःखों का घर है। भैया! यदि सुखी होना है, तो सम्यग्ज्ञान प्राप्त करो और आत्म कल्याण का मार्ग अपनाओ।

समस्त शास्त्रों का यही सार है कि "निज को निज, पर को पर जान फिर दुःख का नहिं लेश निदान''। यदि यह सिद्धान्त हमने समझ लिया, मनन कर लिया तथा अपने में इसी सिद्धान्त की दृढ़ श्रद्धा रखी, तो दुःख तुमसे दूर रहेगा। आप अपने को अन्तस्तल के सुख सागर में गोते लगाते पायेंगे। सुख है त्याग में और दुःख है किसी को अपनाने में, जबरदस्ती अपना बनाने में। अतः पर को अपनाने की जबरदस्ती छोड़ दो, तो दुःख छूट जायेगा। जब समस्त पदार्थ जुदे–जुदे हैं, फिर हम क्यों जबरदस्ती करते हैं उन्हें परस्पर संयोग में लाने की, उन्हें एकात्मक मानने की? वे अनादिकाल से पृथक् हैं, स्वतन्त्र सत्यवान् हैं और अनादि काल तक ऐसे ही रहेंगे। उनकी यह व्यवस्था हम नहीं बिगाड़ सकते। वे हमें नहीं परिणमाते और हम उन्हें नही परिणमा सकते। यह जबरदस्ती जो हम करते हैं, मिथ्यात्व से है और है राग–द्वेष से, और दुःख का कारण भी तो यही है।

यह जीव स्वयं में परिणमन कर सकता है, स्वयं का ही कर्ता और भोक्ता है। कोई भी जीव अपने को छोड़कर अन्य में परिवर्तन नहीं कर सकता। स्वाधीन और सुखी होने का यही उपाय है कि हम अपनी इच्छाओं को रोकें। हम परपदार्थों को परिणमाने की इच्छा करते हैं और सफल नहीं होते, तब दुःखी होते हैं। अतः दुःख की जड़ 'इच्छा' को ही काट डालना चाहिये। कौन किसके काम आते हैं? सब अपना ही कार्य करते हैं। द्रव्य, गुण, पर्याय का व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करो और उसी तरह पदार्थ को देखो।

हम जैसा चाहते हैं, वैसा परिणमन असंभव है, बस, रोना तो इसी बात का है और यही दुःख का कारण है। दुःख मिटाने का उपाय यह है कि इच्छा न करो। इच्छा का निरोध तब तक नहीं हो

सकता, जब तक कि हमें सम्यग्ज्ञान सुलभ नहीं होता। एक लड़का रोता है कि हमें हाथी चाहिए। पिता ने हाथी दूसरे का लाकर घर के आँगन में बाँध दिया। उसे फिर भी सन्तोष नहीं हुआ और बोला–यह हाथी मेरे लोटे में रख दो। पर वह यह नहीं जानता कि यह मेरी इच्छा पूर्ण होना असंभव है। वह रोता है, तो इसका क्या उपाय है? उपाय यही है कि उसे यह ज्ञान हो जाय कि हाथी लोटे में नहीं आ सकता। वैसे ही यह जीव ऐसी इच्छा करता है, जो पूर्ण नहीं हो सकती और फिर दुःखी होता हैं। दुःख निवारण का उपाय यही है कि उसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। ज्ञान की प्राप्ति और उसका उपयोग सर्वोत्तम कार्य है। और अन्य काम सब निरर्थक हैं। आचार्य अमृतचन्द्रजी कहते हैं कि एक उस ज्ञान का आस्वादन करो, जहाँ दुःख या शोक ही नहीं है। यही विचारो "हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता दृष्टा आतमराम," तो कोई आपत्ति ही नहीं। भूल तो दृष्टि में है और सुख–दुःख उसी के परिणाम हैं। कोई भी काम करो, पर आनन्द केवल आपको ज्ञान में ही आयेगा, आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त कुछ करता ही नहीं। सदा अपने को भार रहित अनुभव करो। एक मात्र धर्म और ज्ञान ही ऐसी चीज है जो अगले भव के लिए जाती है। अब हमें ममत्व और पर्यायदृष्टि हटाकर ज्ञान की सेवा और उसका उपार्जन करना चाहिये, इसी में हमारी भलाई है।

भैया! स्वाध्याय उत्तम हुआ, इसकी पहिचान तो चर्या है। यदि चर्या सुखद न हुई, तो ज्ञान से लाभ क्या हुआ? स्वाध्याय का फल तो सच्ची समझ है, जिससे कषायें स्वयं क्षीण होने लगती हैं।

जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया, उसके जीवन में परिवर्तन निश्चित रूप से आता है। और वह सारा परिवर्तन स्वाभाविक होता है। हम यदि ऐसा कहें कि परपदार्थ मेरा नहीं है, परन्तु अनुभव में यही आये

कि 'है तो मेरा ही', तो फिर हमारा जीवन बदलेगा नहीं। और यदि बाहर कुछ परिवर्तन दीखे भी, तो भी वह यह लाया हुआ ही होगा, आया हुआ नहीं। लाया हुआ आचरण वास्तविक नहीं होता, उसके लिये निरन्तर चिन्ता रहती है।

जैसा कि कोई स्त्री बहुत ज्यादा श्रृंगार करके जा रही है। वह चूंकि उसकी स्वाभाविक सुन्दरता नहीं, अतः उसे बार–बार दर्पण में अपना मुँह निहारना पड़ता है कि कहीं कुछ बिगड़ तो नहीं गया, निरन्तर उसे उसकी ही चिन्ता बनी रहती है। परन्तु जो स्त्री प्राकृतिक सुन्दर हाती है, उसे अपने रूप को देखने की चिंता नहीं होती। उसी प्रकार ज्ञानी का आचरण ऊपर से ओढ़ा हुआ नहीं होता, उसे बार–बार यह देखना नहीं पड़ता कि कहीं कोई गलती तो नहीं हो रही है। सम्यग्दर्शन के आठ अंग उसे पालने पड़ते हों, ऐसा नहीं, वरन् वे स्वतः ही पलते हैं। वह बाहरी पर–पदार्थों में सुख–दुःख नहीं मानता, ऐसा नहीं, बल्कि उसके पर–पदार्थों में सुख–दुःख का भाव पैदा ही नहीं होता।

ज्ञानी जीव को कभी भी स्व व पर में भ्रम नहीं होता। हो सकता है कि ज्ञानी मुँह से शरीर को अपना कहे, स्त्री–पुत्र आदि को अपना कहे, परन्तु ऐसा कहते हुए भी उसे वे 'पर' ही दिखाई दे रहे हैं और अज्ञानी मुँह से चाहे उन्हें 'पर' कहे, कि मेरे नहीं, परन्तु उसे वे अपने ही दिखाई देते हैं।

लोक में इसके उदाहरण भी पाये जाते हैं। हम दूसरे के बच्चे को लेकर जा रहे हैं, रास्ते में किसी ने पूछा–किसका बच्चा है? हमने कहा– अपना ही है। उस बच्चे को अपना कह रहे हैं, परन्तु वह 'अपना' कहने भर को ही है, दिखाई वह दूसरे का ही दे रहा है। ऐसे ही हमारा कोई अपना बच्चा है, उससे खूब लड़ाई–झगड़ा हो

गया और हमने कहा कि आज से तेरा हमारा कोई संबंध नहीं और वह अलग भी रहने लगा। मुँह से कुछ ही कह दें, परन्तु हृदय तो निरंतर यही कहता रहता है कि कुछ ही कह ले, है तो अपना ही। और कल को यदि किसी दुर्घटनावश वह बहुत घायल हो जाये, तो खबर लेने पहुँच ही जायेंगे उसके घर। या हो सकता है कि तीव्र कषायवश न भी जायें, परन्तु निरन्तर वहीं ध्यान लगा रहेगा। जब लौकिक बातों में यह सम्भव है, तो परमार्थ में क्यों नहीं? ज्ञानी वचन व काय से लौकिक व्यवहार चलाता है, परन्तु मन उसका चेतना से ही जुड़ा रहता है।

वह संसार को नाटकवत् देखता है। नाटक में जिस समय अभिनेता गण अभिनय कर रहे हैं, उसी समय वे स्वयं अपने उस अभिनय के दर्शक भी होते हैं। अभिनय करते हुए भी वे लगातार यह जान रहे हैं कि यह तो अभिनय है। वहाँ भी दो धारायें एक साथ चल रही हैं। हम कह सकते हैं कि वे रोते हुए भी रोते नही हैं और हँसते हुए भी हँसते नही हैं। चाहे गरीब का अभिनय कर रहे हों, चाहे करोड़पति का, दर्शकों को अपनी उस भूमिका के दुःख–सुख को दिखाते हुये भी वे वास्तव में दुःखी–सुखी नहीं होते, क्योंकि अपने असली रूप का उन्हें ज्ञान है। अभिनय करते हुए भी निरन्तर अपनी असलियत उन्हें याद है। उसे वे भूले नहीं हैं, भूल सकते भी नहीं हैं और उन्हें यदि कहा जाए कि तुम जिसका अभिनय कर रहे हो, उस रूप ही अपने आपको वास्तव में देखने लगो, तो वे यही उत्तर देंगे कि यह तो नितान्त असम्भव है, किसी हालत में भी यह नहीं हो सकता।

यही स्थिति उस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की है, उसे परद्रव्यों से भिन्न दृढ़ श्रद्धान हुआ, अपने असली रूप का ज्ञान हुआ, अतः बाकि सब

नाटक दिखने लगा। अभी उसे अभिनय करना पड़ रहा है, क्योंकि अभी वह स्व में ठहरने में असमर्थ है। परन्तु इस समस्त अभिनय के बीच वह जान रहा है कि इसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है। उपयोग चाहे उसका बाहर जाए, पर भीतर श्रद्धा यही रहती है कि मैं पर से भिन्न, अकेला, शुद्ध, चेतन हूँ। यदि उसे यह कहा जाये कि तू इस शरीर को या कर्म को अपने रूप देख, तो वह कहेगा—कैसे देखूँ। जब मैं उन—रूप हूँ ही नहीं तो उस—रूप स्वयं को देखना तो सर्वथा असम्भव ही है। मैं तो अब अपने को ही अपने—रूप देख सकता हूँ।

जिस प्रकार नाटक के बाद अभिनेता अपने अभिनय के वेश को उतार फैंकते हैं, अपने असली रूप में आ जाते हैं, और शीघ्र ही अपने घर जाने की उन्हें सुध हो आती है, उसी प्रकार ज्ञानी भी सारा दिन संसार का नाटक करके सामायिक के समय अपने संसारिक वेश को उतार फैंकता है। यह शरीर रूप जो चोला धारण किया हुआ है, उसे भी स्वयं से पृथक् कर समता परिणाम को प्राप्त करता है और चिंतन, मनन व ध्यान करता है कि मैं समस्त परद्रव्यों से भिन्न, शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा हूँ।

इस एक निज आत्मा को जानने पर सब जान लिया और एक इस निज को न जानने पर कुछ नहीं समझा। तो यह मनुष्य भव बड़ी कठनाई से मिला है। इस भव में यहाँ—वहाँ के बहकावे में आकर या अपनी मौलिक परम्परा की पद्धति का आग्रह बनाकर हम यदि बाहरी—बाहरी उपयोग में ही समय गुजार दें, धर्म के नाम पर भी, तो हमने अपना जीवन खोया, और एक अपने आपके ज्ञान बल से अपने आपके ही स्वरूप को समझलें, तो हम अपने जीवन को सफल समझे।

इस जीव की रक्षा ज्ञान से है, विषय—भोगों से नहीं। यदि

इष्टवियोग हो गया, तो क्या हो गया? सारी बाहरी बातें हैं। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। मेरे में तो मेरी ज्ञानज्योति ही सर्वस्व है। इसके अतिरिक्त तो मेरा कुछ है ही नहीं। जहाँ ज्ञानबल आये, वहाँ घबड़ाहट में अन्तर अवश्य आ जाता है। अधीर पुरुष की, घबड़ाय हुए पुरुष की, विषयसाधन रक्षा न करेंगे। अपना ज्ञान ही रक्षा कर सकेगा। किसी का पिता गुजर गया हो, पुत्र गुजर गया हो, स्त्री गुजर गई हो, पति गुजर गया हो, बड़ा संकट हो, वह खूब रोता हो तो क्या कोई उसे यों कहता है कि अरे! रोवो नहीं, अभी तुमको हलुवा लाये देते हैं। ऐसा किसी ने कहा क्या? ऐसा कहीं होता क्या? किसी भी विषय–साधन से उसकी घबड़ाहट दूर न होगी। ज्ञानबल बनेगा, तो घबड़ाहट दूर होगी। अरे! यह तो संसार है, यहाँ तो ऐसा होता ही रहता है। यह तो सब क्षण भर का समागम है। हो गया ऐसा, तो क्या हुआ? जब ज्ञानबल बढ़ता है, तो घबड़ाहट दूर होती है। विषय प्रसंगों से घबड़ाहट दूर नहीं होती।

एक बुढ़िया का छोटा लड़का था, और उसके वही एक लड़का था। तो आप समझो इस मोही जगत में इस प्रकार के इकलौते बेटे का मरण कितने दुःख की घटना मानी जाती है? तो उस लड़के के मरण हो जाने से वह बुढ़िया बड़ी परेशान होती हुई उस लड़के को अपनी गोदी में लिए हुए फिरे। आखिर उसे एक साधु मिला। साधु के आगे बच्चा रख दिया। और कहा–महाराज! मैं बड़ी दुःखी हूँ। मेरे इस बच्चे को जिला दो, तो मैं आबाद हो जाऊँगी, तो साधु बोला कि अरी बुढ़िया माँ! तू रो मत, तेरा बच्चा अभी जिन्दा हो जायगा, किन्तु तुम्हें एक करना पड़ेगा। बुढ़िया बोली–हाँ–हाँ बोलो, मैं तो सब कुछ कर सकती हूँ। साधु जी बोले–हाँ, देखो तुम कहीं से पाव भर सरसों के दाने ले आवो और ऐसे घर से लावो कि जिस घर में कोई मरा

न हो। तो बुढ़िया बोली—हाँ, महाराज! मैं अभी लाती हूँ। एक घर में पहुँची, बोली मेरा बेटा मर गया है, उसे जिन्दा करने के लिए एक पाव सरसों के दाने दे दीजिए। तो घर वाले बोले—अरे! एक ही पाव क्यों, एक मन ले जावो। अगर सरसों के दानों से तुम्हारा बेटा जिन्दा होता है, तो यह तो बड़ी खुशी की बात है। बुढ़िया बोली—मगर यह तो बताओ तुम्हारे घर कभी कोई मरा तो नहीं? घर वाले बोले—अरे! मेरे घर तो अनेकों लोग मरे। दादा मरे, दादी मरी, पिता मरे, माता मरी, और भी कई बच्चे मरे। बुढ़िया बोली—अरे! तो नहीं चाहिए तुम्हारे घर की सरसों। यों बुढ़िया दूसरे घर गई, तीसरे घर गई, सब जगह से वही जवाब बराबर मिलता गया कि मेरे घर तो अनेकों लोग मरे। करीब 20 घर उसने जा—जा कर देख लिया, पर कोई भी घर ऐसा नहीं बचा जिस घर में कभी कोई मरा न हो। इस घटना को देखकर बुढ़िया को ज्ञान जग गया कि अरे! यह तो संसार की रीति है। एक—न—एक दिन सभी का मरण होता है। बस, इतना ज्ञान जगते ही उसका सारा दुःख खत्म हो गया। वह प्रसन्न होकर साधु के पास पहुँची। देखिये, जब तक अज्ञान था तब तक बेचैनी थी कि हाय अब क्या करूँ, पर सही ज्ञान जग गया तो उसकी बेचैनी समाप्त हो गई, उसकी मुद्रा में प्रसन्नता झलक गई। जब साधु ने बुढ़िया को अपने सन्मुख प्रसन्न मुद्रा में देखा तो पूछा—अरी बुढ़िया माँ! क्या तेरा बेटा जिन्दा हो गया? बुढ़िया बोली—'हाँ, महाराज! जिन्दा हो गया।' कैसे? 'बस मेरा मरा हुआ ज्ञान अब जिन्दा हो गया।' वास्तव में बात यही है कि जितने भी क्लेश होते हैं, सब इस ज्ञान के मरे हुए होने से होते हैं। जहाँ ज्ञान कुम्हला गया, वहाँ दुःख है। जहाँ सत्य ज्ञान जगा, वहाँ क्लेश नहीं होता।

इस आत्मा को आवश्यक है कि ज्ञानामृत का पान करे, जिससे

अज्ञानजन्य संताप शांत हो जाय। जितना भी जीव को संताप है, वह सब अज्ञान का फल है। जीव की बरबादी की मूल निशानी यह है कि इसका चित्त किसी इन्द्रिय–विषय में जा रहा है, या अपनी नामवरी को सोचने में जा रहा है। यदि इन्द्रिय–विषयों में मन जा रहा है, तो समझना निरन्तर बरबादी की बात चल रही है, अथवा नामवरी में चित्त जाये, मेरा ऐसा यश फैले, मेरी ऐसी कीर्ति हो, मेरे नाम पर धब्बा न लग जाये, लोग मेरा नाम लेते रहें, मेरी बात सबके चित्त में जम जाये, यदि ऐसी धारणा है तो वही कष्ट है। यह तो बरबादी की निशानी है। सो यदि कष्टों से छुटकारा पाना है, तो सम्यग्ज्ञान प्राप्त करो और अपना केवल एक ही लक्ष्य बनाओ कि मुझे तो सिद्ध होना है। अरे कैसा होना है? अभी हो जावोगे? न सही अभी, कभी होऊँ, इसके सिवाय मेरा और कोई दूसरा प्रोग्राम नहीं है। संसार में रुलने से क्या लाभ? कष्ट–ही–कष्ट हैं, आपदा–ही–आपदा है। ये जन्म–मरण करके मरना ही है क्या? मरे, जन्मे, मरे, जन्मे, यह करना है क्या? या जन्म–मरण की संतति बिलकुल मिट जाये, केवल मैं जैसा स्वयं हूँ, बैसा ही रहूँ, जिससे किसी प्रकार का विकल्प न जगे, शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप रहे। मेरे को तो देह से, कर्म से, विकल्प से, सबसे छुटकारा पाकर केवल बनना है, सिद्ध होना है। यह बात चाहे 5 भव में हो, चाहे 10 भव में हो या अनेक भवों में भी हो, होना यही है। दूसरा कुछ हमको नहीं होना है। रागभाव सचमुच आग है। ज्ञानामृत का पान कर ही इस राग के संताप को दूर किया जा सकता है। अमृतपान करने से मानव अमर हो जाता है, ऐसा लोक में प्रसिद्ध है, परन्तु ज्ञान का अमृत पान करने से आत्मा अजर–अमर गुण को पा लेता है।

सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से राग, द्वेष, मोह मिटता है, समताभाव

जागृत होता है, आत्मा में रमण करने का उत्साह बढ़ता है, स्वानुभव जागृत हो जाता है, जिसके प्रताप से सुख–शान्ति का लाभ होता है, यह जीवन परम सुन्दर सुवर्णमय हो जाता है। जिनवाणी में सम्यग्ज्ञान की महिमा सर्वत्र गायी गई है–

संयम से युक्त और ध्यान के योग्य जो मोक्ष का मार्ग है, उसका लक्ष्य जो शुद्ध आत्मा का स्वरूप है, सो सम्यग्ज्ञान से ही प्राप्त होता है, इसलिये ज्ञान का स्वरूप जानना योग्य है।

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, बोध पाहुड़)

मिथ्याज्ञानी घोर तप करके जिन कर्मों को बहुत जन्मों में क्षय करता है, उन कर्मों को आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि मन, वचन, काय को रोक करके ध्यान के द्वारा एक अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर डालता है।

(श्री कुन्दकुन्दाचार्य, मोक्ष पाहुड़)

जो साधु जिनवाणी में परम भक्तिवंत हैं तथा जो भक्तिपूर्वक गुरु की आज्ञा को मानते हैं, वे मिथ्यात्व से अलग रहते हुए व शुद्ध भावों में रमते हुए संसार से पार हो जाते हैं।

(श्री वट्टकेरस्वामी, मूलाचार प्रत्याख्यान अधिकार)

यह जिनवाणी का पठन, पाठन, मनन एक ऐसी औषधि है जो इन्द्रिय–विषय के सुख से वैराग्य पैदा कराने वाली है, अतीन्द्रिय सुखरूपी अमृत को पिलाने वाली है, जरा, मरण व रोगादि से उत्पन्न होने वाले सर्व दुःखों को क्षय कराने वाली है।

(श्री वट्टकेरस्वामी, मूलाचार प्रत्याख्यान अधिकार)

सम्यग्ज्ञानी ही मोक्ष जाता है, सम्यग्ज्ञानी ही पाप को त्यागता है, सम्यग्ज्ञानी ही नए कर्म नहीं बांधता है। सम्यग्ज्ञान से ही चारित्र होता है, इसलिये ज्ञान की विनय करनी योग्य है।

(श्री वट्टकेरस्वामी, मूलाचार षटावश्यक)

शास्त्र स्वाध्याय करने वाले के स्वाध्याय करते हुए पाँचों इन्द्रियाँ वश में होती हैं, मन, वचन, काय स्वाध्याय में रत हो जाते हैं, ध्यान में एकाग्रता होती है, विनय गुण से युक्त होता है। स्वाध्याय परमोपकारी है।

(श्री वट्टकेरस्वामी, मूलाचार समयसार अधिकार)

तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित बाहरी, भीतरी बारह प्रकार तप में स्वाध्याय तप के समान कोई तप नहीं है, न होवेगा, इसलिये स्वाध्याय सदा करना योग्य है।

(श्री वट्टकेरस्वामी, मूलाचार समयसार अधिकार)

जैसे सूत के साथ सुई हो तो कभी प्रमाद से भी खोई नहीं जा सकती है, वैसे ही शास्त्र–अभ्यासी पुरुष प्रमाद के दोष होते हुए भी कभी संसार में पतित नहीं होता है – अपनी रक्षा करता रहता है। ज्ञान बड़ी अपूर्व वस्तु है।

(श्री वट्टकेरस्वामी, मूलाचार, समयसार अधिकार)

हे आत्मन्! इस जिनवाणी को रात–दिन पढ़ना चाहिये। यह जिनेन्द्र का वचन प्रमाण के अनुकूल पदार्थों का कहने वाला है, इससे निपुण है तथा बहुत विस्तारवाला है, पूर्वापर विरोध से रहित, दोषरहित शुद्ध है, अत्यन्त दृढ़ है, अनुपम है तथा सर्वप्राणी मात्र का हितकारी है और रागादि मैल को हरने वाला है।

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना)

जिनवाणी के पढ़ने से आत्महित का ज्ञान होता है, सम्यक्त्व आदि भावसंवर की दृढ़ता होती है, नवीन–नवीन धर्मानुराग बढ़ता है, धर्म में निश्चलता होती है, तप करने की भावना होती है और पर को उपदेश देने की योग्यता आती है।

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना)

ज्ञान का उपयोग सदा करना चाहिये। जो शास्त्र ज्ञान का मनन नहीं करते वे चित्त को रोक नहीं सकते। मनरूपी मदोन्मत्त हाथी को रोकने के लिये ज्ञान ही अंकुश है।

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना)

जैसे विधि से प्रयोग किये हुये मंत्र से काला साँप भी शांत हो जाता है वैसे भली प्रकार मनन किये हुए ज्ञान के द्वारा, मनरूपी काला साँप शांत हो जाता है।

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना)

जिस शुद्ध लेश्या या भावों के धारी के हृदय में सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक जलता है। उसको जिनेन्द्र कथित मोक्षमार्ग में चलते हुए कभी भी भ्रष्ट होने का व कुमार्ग में जाने का भय नहीं है।

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना)

जो कोई सम्यग्ज्ञान के प्रकाश के बिना मोक्ष मार्ग में जाना चाहता है, वह अंधा होकर अंधकार में अति दुर्गम स्थान में जाना चाहता है।

(श्री शिवकोटि आचार्य, भगवती आराधना)

अविद्या या मिथ्याज्ञान के अभ्यास से यह मन अपने वश में न रहकर अवश्य आकुलित होगा, परपदार्थ में रमेगा, वही मन सम्यग्ज्ञान के अभ्यास के बल से स्वयं ही आत्मतत्त्व के रमण में ठहर जायेगा।

(श्री पूज्यपाद स्वामी, समाधि शतक)

जो कोई व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों को जानकर मध्यस्थ हो जाता है, वही शिष्य जिनवाणी के उपदेश का पूर्ण फल पाता है।

(श्री अमृतचन्द्र आचार्य, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय)

सम्यग्ज्ञानी अपने स्वभाव से ही सर्व रागादि भावों से भिन्न

अपने को अनुभव करता है, इसलिये कर्मों के मध्य पड़े रहने पर भी कर्मबंध से नहीं बंधता है। यह आत्मज्ञान की महिमा है।

(श्री अमृतचन्द्राचार्य, श्री समयसार कलश)

जो कोई परमार्थस्वरूप को बतानेवाली, उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन को देने–वाली, मोक्षरूपी लक्ष्मी की दूती के समान अनुपम जिनवाणी को पढ़ते हैं, सुनते हैं व उस पर रुचि करते हैं, ऐसे सज्जन इन कषायों के दोषों से मलीन लोक में दुर्लभ हैं–कठिनता से मिलते हैं, और जो उस जिनवाणी के अनुसार आचरण करने की उत्तम बुद्धि करते हैं, उनकी बात क्या कही जाव? वे तो महान दुर्लभ हैं। ऐसी परोपकारिणी जिनवाणी को समझकर उसके अनुसार यथाशक्ति चलना हमारा कर्तव्य है।

(श्री अमितिगति महाराज, तत्त्वभावना)

जिस पुरुष की मति स्याद्वादरूपी जल के भरे समुद्र में स्नान करने से धोई गई है–निर्मल हो गई है, वही शुद्ध व मुक्त आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है, तथा वह उसी स्वरूप को ग्रहण करने योग्य साक्षात् मानता है। व्यवहार से सिद्ध में व संसारी में भेद किया हुआ है। यदि निश्चय से इस भेद को दूर कर दिया जावे, तो जो सिद्ध स्वरूप है वही इस अपने आत्मा का स्वभाव है, उसी का ही अनुभव करना योग्य है।

(श्री पद्मनंदि मुनि, सिद्ध स्तुति)

यह मानव दीर्घकाल से लगातार मोहरूपी निद्रा से सो रहा है। अब तो उसे अध्यात्म–शास्त्र को जानना चाहिये और आत्मज्ञान को जागृत करना चाहिये।

(श्री पद्मनंदि मुनि, सद्बोध चन्द्रोदय)

मानव जन्म का यही सार/फल है, जो सम्यग्ज्ञान की भावना की जावे और अपने वीर्य को न छिपाकर संयम को धारण किया जावे।

(श्री कुलभद्राचार्य, सारसमुच्चय)

हे भाई! यदि अपने आत्मा का हित चाहते हो, तो ध्यान तथा स्वाध्याय के द्वारा सदा ही ज्ञान का मनन करो और तप की रक्षा करो।

(श्री कुल भद्राचार्य, सारसमुच्चय)

वही पुण्यात्मा है, जिसका जन्म गुरु की सेवा करते हुए बीतता है, जिसका मन धर्मध्यान की चिंता में लीन रहता है तथा जिसके शास्त्र का अभ्यास साम्यभाव की प्राप्ति के लिये काम में आता है।

(श्री कुलभद्राचार्य, सारसमुच्च्य)

भयानक भी काम की दाह आत्मध्यान व स्वाध्याय में ज्ञानोपयोग के बल से नियम से शांत हो जाती है, जैसे मंत्र के पदों से सर्प का विष उतर जाता है।

(श्री कुलभद्राचार्य, सारसमुच्चय)

वाणी की शुद्धि सत्य वचन से रहती है, मन सम्यग्ज्ञान से शुद्ध रहता है, गुरु सेवा से शरीर शुद्ध रहता है, यह अनादि से शुद्धि का मार्ग है।

(श्री कुलभद्राचार्य, सारसमुच्चय)

इन्द्रियरूपी मृगों को बांधने के लिये सम्यग्ज्ञान ही दृढ़ फाँसी है, और चित्तरूपी सर्प को वश में करने के लिये सम्यग्ज्ञान ही एक गारुड़ी महामंत्र है।

(श्री शुभचन्द्र आचार्य, ज्ञानार्णव)

सर्व शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान को उचित है कि शुद्ध चैतन्य

स्वरूप की प्राप्ति के लिये लगातार धारावाही भेदविज्ञान की भावना करे, आत्मा को अनात्मा से भिन्न मनन करे।

(श्री ज्ञानभूषणा भट्टारक, तत्त्वज्ञान तरंगिणी)

आत्मा और शरीर का संबंध दूध और पानी के समान है। जिसे सम्यग्ज्ञानी जीव रत्नत्रय के मार्ग पर चलकर अलग–अलग कर लेता है।

तू चेतन यह देह अचेतन, यह जड़ तू ज्ञानी।
मिले अनादि यतनतें बिछुड़े, ज्यों पय अरु पानी।।

तू चेतन है यह देह अचेतन है। यह शरीर जड़ है, तू ज्ञानी है, दोनों का अनादि काल से मेल बना हुआ है। पर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके रत्नत्रय के मार्ग पर चलकर दोनों को पृथक–पृथक किया जा सकता है। सम्यग्ज्ञान होते ही शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान हो जाता है, आत्मा की सही पहचान हो जाती है। अतः पर के आकर्षण को छोड़कर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करो।

इस जीव ने अनादिकाल से मोहरूपी मदिरा को पी रखा है, इसलिये अपनी आत्मा को भूलकर व्यर्थ ही संसार में भ्रमण करता हुआ दुःखी हो रहा है। श्रीमद् रायचन्द्र जी ने लिखा है "निज स्वरूप समझे बिना पाया दुःख अनन्त।" जीव अपनी भूल से ही दुःखी है, भूल कितनी कि स्वयं अपने को ही भूल गया और पर को अपना माना। यह कोई छोटी भूल नहीं है परन्तु सबसे बड़ी भूल है। अपनी ऐसी महान भूल के कारण बेभान होकर जीव चारों गतियों में घूम रहा है। किन्तु ऐसा नहीं है कि किसी दूसरे ने उसको दुःखी किया या कर्मों ने उसको रुलाया। सीधी सादी यह बात है कि जीव अज्ञान के कारण स्वयं निज स्वरूप को भूलकर अपनी ही भूल से रुला व दुःखी हुआ, जब सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करके वह अपनी भूल मेटे तब

उसका दुःख मिटे, अन्य किसी दूसरे उपाय से दुःख मिट नहीं सकता। इस जीव ने धन सम्पत्ति तो अनेक बार पाई किन्तु सम्यग्ज्ञान आज तक प्राप्त नहीं किया। पर–पदार्थों को अपना मानना और उनकी सेवा में जुटे रहना ही सबसे बड़ी भूल है और यही दुःख का कारण है।

मोह के कारण यह जीव अनादिकाल से अपने शुद्ध स्वरूप को भूल रहा है। जिस ज्ञानी के अनंत पदार्थों में यह भाव आ गया कि जगत में मेरा कोई नहीं है, उसका बड़ा भारी दुःख मिट गया। ऐसे ज्ञानी को पं. बनारसी दास जी ने नमस्कार किया है–

भेद विज्ञान जग्यौ जिनके घट,सीतल चित्त भयो जिमिचंदन।
केलि करें शिवमारग में,जग माहिं जिनेश्वर के लघुनंदन।।
सत्यस्वरूप सदा जिन्हके,प्रकट्यो अवदात मिथ्यात्व निकंदन।
शान्त दसा तिन्ह की पहिचान,करें कर जोरि बनारसि वंदन।।

जिनके हृदय में निज–पर विवेक प्रकट हुआ है, जिनका चित्त चंदन के समान शीतल है अर्थात् कषायों का आताप नहीं है, जो निज–पर विवेक होने से मोक्ष मार्ग में मौज करते हैं, जो संसार में अरंहत देव के लघुपुत्र हैं, अर्थात् थोड़े ही काल में अरहन्त पद प्राप्त करने वाले हैं, जिन्हें मिथ्यादर्शन को नष्ट करने वाला निर्मल सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है, उन सम्यग्दृष्टि जीवों की आनन्दमय अवस्था का निश्चय करके पं. बनारसी दास हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं।

सम्यग्ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करते हुये रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में आचार्य समन्तभद्र महाराज ने लिखा है –

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
निस्सन्देह वेद यदाहुस्तज्ज्ञान मागमिनः।।

जो वस्तु के स्वरूप को न्यूनतारहित, अधिकता रहित, विपरीतता

के बिना, सन्देह रहित, जैसा–का–तैसा जाने, वह सम्यग्ज्ञान है। जैसे हमारे पास एक तोले की असली साने की डली है। उसका यदि एक तोले से कम की जाने ता ज्ञान मिथ्या है। एक तोले से ज्यादा की जाने तो भी मिथ्या है। जो सोने की बजाय उस पीतल की जान ले, अर्थात् विपरीत जान ले तो भी मिथ्या है। अथवा यह साने की डली है या पीतल की, एसा संदेह बना रहे तो भी मिथ्या है। वस्तु जैसी है वैसी जाने, इस प्रकार ठीक–ठीक जानने वाले ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

सम्यग्ज्ञानी का ज्ञान संशय, विमाह और विभ्रम रहित हाता है। जैसे चार पुरुषों ने सीप के खंड का अवलाकन किया। उनमें से एक पुरुष तो ऐसा कहने लगा–न जाने सीप है कि चांदी है? उसे संशय कहते हैं। एक पुरुष इस प्रकार कहने लगा यह तो चाँदी है, उसे विमोह कहते हैं। एक पुरुष इस प्रकार कहने लगा–यह कुछ है, उसे विभ्रम कहत हैं। एक पुरुष इस भाँति कहने लगा–यह तो सीप का खंड है, उस शुद्ध वस्तु का स्वरूप जैसा था, वैसा ही जानने का धारी कहा जाता है। उसी भाँति सात तत्त्वों के जानन में अथवा आपा–पर के जानने में लगा लेना चाहिये। आत्मा कौन है व पुदगल कौन है? उसे संशय कहत हैं। मैं तो शरीर हूँ, उसे विमोह कहते हैं। मैं कुछ हूँ, उसे विभ्रम कहते हैं। मैं चिद्रूप आत्मा हूँ, उस सम्यग्ज्ञान कहते है। सम्यग्ज्ञान चारों अनुयोगां को ठीक–ठीक जान लेता है।

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधि समाधि निधानं बाधित बाधः समीचीनः।।

जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का व्याख्यान करने वाला है, जो एक पुरुष के चरित्र को कहने वाला है, जैसे श्रेणिक चरित्र, जो त्रसठशलाका पुरुषों के चरित्र को बताने वाला है, जैसे

पद्मपुराण। ये एक–साथ कई व्यक्तियों के जीवन पर प्रकाश डालता है, अतः इसे पुराण कहते हैं, जो पुण्य और पाप के फल को दिखाता है, जो बोधि अर्थात् रत्नत्रय और समाधि अर्थात् ध्यान का खजाना है, ऐसे प्रथमानुयोग को सम्यग्ज्ञान जानता है।

लोकालोक विभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनांच।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च।।

लोक, अलोक के विभाग को, युगों के परिवर्तन को तथा चारों गतियों को दर्पण के समान झलकाने वाले करणानुयोग को सम्यग्ज्ञान जान लेता है।

गृहमध्येनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धि रक्षाड़्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति।।

गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के अंगभूत ऐसे चरणानुयोग शास्त्र को भी सम्यग्ज्ञान जानता है।

जो गृहस्थ और मुनि के आचार को दिखलाता है, उसे चरणानुयोग कहते हैं। ये शास्त्र बतलाते हैं कि जीव किस बुरी तरह व्यसनों में, पापों में, अन्याय, अभक्ष्य में पड़ा हुआ है। फिर कैसे सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का निमित्त पाकर तत्त्व के स्वरूप को जानता है और फिर क्रमशः किस प्रकार इन व्यसन, पाप, अभक्ष्य, अन्याय को छोड़कर मूलगुणों तथा उत्तर गुणों को बढ़ाता हुआ गृहस्थ धर्म का निर्वाह करता है। मुनिराज किस तरह 28 मूलगुणों को, 13 प्रकार के चारित्र को, 5 समिति, 3 गुप्ति, 6 आवश्यक, 22 परीषह जय, 12 भावनायें, 12 तप आदि को पालते हैं।

दोनों के चारित्र की प्राथमिक उत्पत्ति, फिर अतीचारों को प्रायश्चित्त द्वारा दूर करते हुये उसकी बृद्धि, तथा व्रतों की रक्षार्थ भावनाओं आदि द्वारा श्रावक व मुनि अपने चारित्र की रक्षा करते हुये, अन्त में

निर्विकल्प समाधि–पूर्वक सल्लेखना को धारण करते हैं। ऐसे चरणानुयोग के शास्त्रों को सम्यग्ज्ञान जानता है।

जीवाजीव सुतत्तवे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोग दीपः श्रुतविद्यालोकमतानुते ।।

जीव, अजीव, सुतत्त्व को, बंध, मोक्ष को और श्रुतज्ञानरूपी प्रकाश को भी द्रव्यानुयोगरूपी दीपक विस्तारता है, कथन करता है। ऐसे द्रव्यानुयोग के शास्त्रों को भी सम्यग्ज्ञान जानता है।

द्रव्यानुयोग के ग्रन्थों में षट्द्रव्यों, सप्ततत्त्वों, नव पदार्थों और जीव के स्वभावों तथा विभावों का वर्णन है, जिससे जीव को वैभाविक भावों को त्यागने और स्वाभाविक भावों को प्राप्त करने की रुचि हो। चारों अनुयोगों के ग्रंथों का स्वाध्याय करने से आत्मकल्याण करने की प्रेरणा मिलती है।

प्रथमानुयोग के अध्ययन की उपयोगिता का दिग्दर्शन –

श्री सहजानन्द वर्णी जी ने लिखा है–आचार्यों संतों ने जो चार अनुयोगों में ग्रन्थों का निर्माण किया, तो यों ही फोकट बात न समझिये। उनसे बड़ा बल है। कहीं ऐसा एक एकान्त न बनायें कि कोई एक यही अनुयोग, बस यही–यही देखो, यही पढ़ो, यही सुनो। अरे! उसके शब्द रट गए तो कहो ठठेरे के कबूतर–जैसे बन गये। उसके शब्दों से भीतर के परिवर्तन नहीं हो पाये, कषाय जैसी–की तैसी जग रही और कहो कषाय दबी रहती है, तो जब कषाय उगलती है, तो तेज उगलती है। तो एक पक्ष ही तो मत पकड़ो। अरे! सभी अनुयोगों का आदर करें। प्रथमानुयोग के ग्रन्थ पढ़ने से, चरित्र पढ़ने से एक उत्साह जगता है। हम आप लोग धर्मपालन के प्रसंग में उत्साह क्यों नहीं कर रहे कि हम चारों प्रकार के अनुयोगों का उपयोग नहीं करते। जब कोई चरित्र पढ़ते, मान लो श्रीराम का

चरित्र पढ़ते हैं और उनको निरखते हैं, अन्त में सब कोई कैसे–कैसे अलग हुए, कैसे निर्वाण पाया, तो वहाँ अपनी बुद्धि ठिकाने आती है कि, अरे! हम उद्दण्डता न करें, अन्याय न करें, अपनी आत्मा को सावधान रूप रखें। ऐसी एक शिक्षा मिलती है। अरे! इस जीवन में न मिला लाखों का धन, तो उससे इस जीव का बिगाड़ क्या? थोड़े ही में गुजारा कर लेना है। जो गृहस्थ धर्म का पालन करता है, वह बड़ी शान्ति समृद्धि में बना हुआ है।

करणानुयोग के अध्ययन की उपयोगिता का दिग्दर्शन–करणानुयोग का जब अध्ययन करते हैं तो करणानुयोगी की बहुत बड़ी विशेषता है। प्रभाव डालने के लिए यानी दुनिया का कितना बड़ा क्षेत्र है, लोक कितना बड़ा है, यहाँ हम सर्वत्र पैदा हुए, यह कितना–सा प्रेम क्षेत्र है, यह किसने सिखाया? करणानुयोग ने। काल अनादि अनन्त है और कैसे–कैसे काल की रचनायें बनती हैं, इतना काल मोह राग में गँवाया, यह किसने सिखाया? करणानुयोग ने। जीव की दशायें कैसीं–कैसीं विचित्र होती हैं, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक नरकादिक गतियों में कैसे–कैसे जीव होते हैं, यह बात किसने सिखायी? करणानुयोग ने। अब जरा उनका प्रभाव देखिये जब ज्ञान आता है कि यह सारा लोक क्षेत्र बहुत बड़ा है। जैसे अभी आज के विज्ञान से भी समझिये तो कहाँ अमेरिका, कहाँ रूस, कहाँ क्या, और कितना बड़ा हिन्दुस्तान और आगम से समझें तो 343 घनराजू प्रमाण लोक में आज की यह परिचित दुनिया लोक के आगे समुद्र के सामने एक अणु अथवा बूंद के बराबर है। इतने सारे लोक में हम कहाँ–कहाँ नहीं पैदा हुए और कहाँ–कहाँ नहीं पैदा हो सकते हैं। एक इस थोड़े से क्षेत्र का ही मोह करने से इस जीव को क्या मिलता है? जिस जगह पैदा हुए (कुछ थोड़ी–सी जगह जिसके अंदर में हुए) कुछ धन

सम्पदा मिले तो उससे क्या पूरा पड़ता है? यह तो एक पूर्व–पुण्य की परिस्थिति है जो प्राप्त हुई है। इसका कोई भरोसा है क्या, कि यह सदा साथ रहेगा?

लोक का परिज्ञान करने से वैराग्य में, ज्ञान में कितनी वृद्धि होती है। अच्छा, काल का आप परिचय बनाओ, कितना बड़ा काल है? अनादि अनन्त, यानी बड़ा भी न कहो। बड़े की भी कुछ सीमा होती है कि इतना बड़ा। मगर यह तो अनन्त है। अनन्त को हम बड़ा नहीं कह सकते। जिसकी सीमा नहीं, जिसका अन्त नहीं, वह तो अनन्त है। तो अनादिकाल से कितना समय हमने गुजार डाला और आगे हमारा कितना समय गुजरेगा? इन सारे समयों के बीच अगर 70–80 वर्ष की यह आयु पायी है, तो यह तो समुद्र के सामने एक बूंद के बराबर भी नहीं बैठती। इतने से समय के लिए नाना विकल्प, कषायें मचाकर अपने आज के भव को बरबाद कर देना, निष्फल गँवा देना, यह तो उचित नहीं है। काल का जब परिचय होता है, तो इस जीव को बहुत शिक्षा प्राप्त होती है। जीवों की दशाओं का परिचय देखो। जीवस्थान, मार्गणा आदिक विधियों के अनुसार एक में दूसरे को घटाकर इस जीव की दशाओं का परिचय पाते हैं। कैसी–कैसी जीव की दशायें हैं? आज हम मनुष्य हैं, कभी पेड़–पौधे भी थे, निगोद भी थे। तो यह बात निश्चित है कि हम आज मनुष्य न होते, पेड़–पौधे होते, कीड़े–मकोड़े होते, तो आज ये कष्ट काहे को भोगने पड़ते? वहाँ तो उन तुच्छ–भवों जैसे कष्ट भोगते। यहाँ हैं, तो यहाँ मनुष्य–भव में नाना विकल्प बना–बनाकर कष्ट भोगे जा रहे हैं। तो जीव की दशाओं का परिचय होने से ज्ञान और वैराग्य की वृद्धि होती है।

चरणानुयोग की उपयोगिता का दिग्दर्शन :– अच्छा, चरणानुयोग की बात देखो, वह सबक सिखा रहा है कि, हे भव्य प्राणी! जो तेरे

में विकार व्यक्त होते हैं, जिन विकारों में तू झुंझला जाता है, संतप्त हो जाता है, जानता है ना कि ये व्यक्त विकार बनते किस तरह हैं? जगत के इन दृश्यमान पदार्थों में उपयोग जोड़ते हैं, तो ये विकार प्रकट होते हैं। तो तू इनमें उपयोग मत लगा। यही तो चरणानुयोग की शिक्षा है कि तू उपचरित निमित्त में अपना उपयोग मत जोड़। उपयोग न जुड़ इन बहिरंग कारणों में, इसके लिए त्याग की विधि बतायी गई है। यद्यपि किसी बाह्य वस्तु का त्याग करने पर भी किसी के उसका विकल्प रह सकता है। मगर गधा को मिश्री मीठी नहीं लगती, तो इनके मायने यह तो नहीं कि मिश्री मीठी ही नहीं होती। यदि किसी अज्ञानी को त्याग की बात नहीं जंचती है, इसका अर्थ यह न होगा कि त्याग निष्फल होता है। संयम की साधना–आराधना की तीर्थंकरों ने, इन बाह्य वस्तुओं का त्याग किया, तो विधि तो यही है कि बाहरी आश्रयभूत पदार्थों का त्याग करें, कुछ–न–कुछ लाभ है ही। सम्यग्ज्ञान सहित त्याग है, तो मोक्षमार्ग का लाभ है। सम्यक्त्वरहित त्याग है, तो भी सद्‌गति का तो लाभ है। तो चरणानुयोग यहाँ सिखाता है कि तुम्हारा व्यक्त विकार इन बाहरी पदार्थों के आश्रय से होता है, इसमें उपयोग जोड़ने से होता है, तो तुम इनमें उपयोग मत जोड़ो और ये पर–पदार्थ सामने रहे आयें और उपयोग न जोड़ें, यह कठिनाई लगती है न, तो हम उनका त्याग करें।

द्रव्यानुयोग की उपयोगिता का दिग्दर्शन – द्रव्यानुयोग के दो विषय हैं – अध्यात्म और न्याय। न्याय भी द्रव्यानुयोग की बात कहता है, न्याय से श्रद्धा पुष्ट होती है। जहाँ युक्तियों से वस्तु का स्वरूप समझा, वहाँ उसकी समझ बड़ी दृढ़ हो जाती है। केवल आगम के आधार से वस्तु स्वरूप को माना जाय तो वहाँ पुष्टता नहीं जचती। यद्यपि आगम में शंका न करनी चाहिए। पर यों ही ऊपरी वचनमात्र

श्रद्धा भी न करनी चाहिए, यह बात उसके बनती कि जिसने प्रयोजन भूत तत्त्वों को अनुभव से परख लिया कि यह वास्तविक तत्त्व है, सही स्वरूप में है, उस ही को सर्व आगम के प्रति आस्था होती है। फिर भी अगर युक्तिबल से वस्तु का स्वरूप समझ लिया जाये तो उसकी श्रद्धा और दृढ़ हो जाती है। तो द्रव्यानुयोग का भेद, जो दार्शनिक शास्त्र है, उसका परिचय इस जीव की श्रद्धा की दृढ़ता के लिए है। और अध्यात्मशास्त्र से अपने आपके उपयोग द्वारा अपने आप में परीक्षा करें, परख बनावें। वह तो बहुत ही एक पक्का निर्णय देता है कि वस्तु–स्वरूप ऐसा ही है। देखो, सुनी बात सही होती कि झूठ? सही कम होती है झूठ ज्यादा होती है और सुनी बात से देखी हुई बात सच होती कि नहीं? सच होती, मगर कभी–कभी देखी हुई बात भी झूठ होती है, किन्तु अनुभव में आयी हुई बात सही है, उसे कोई नहीं डिगा सकता।

सुनी हुई बात तो झूठ हो सकती है। बात कुछ हो, सुनाई कुछ गई। उसने दूसरे को सुनाया, तो कुछ और बढ़ाकर सुनाया। उसने सुनाया, तो और बढ़ाकर सुनाया। ऐसे ही अलग–अलग कानों में बात गई, तो वह झूठ बढ़ती चली जाती है। सुनी हुई बात का कोई विश्वास भी नहीं मानता। कहते हैं न, अरे! तुम्हारी सुनी हुई बात है कि देखी हुई बात है? तब वह कहता है कि, भाई! देखी हुई तो नहीं है, सुनी जरूर है। तो उसे सुनकर ही वह अप्रमाण बता देता है। अच्छा यह बताओ – देखी हुई बात क्या हमेशा सच होती है, या झूठ भी निकलती है?

जरा एक दो कथानकों से देखो कि देखी हुई बात कैसे झूठ होती है। कोई पुरुष अपना एक तीन वर्ष का बालक छोड़कर बाहर धन कमाने के लिए चला गया। और 13–14 साल बाद में आया और

आकर घर में घुसा और देखा तो वह माँ तो अपने बेटे के साथ सो रही थी और वह पुरुष यह समझ रहा था कि यह तो किसी पर–पुरुष के साथ सो रही है। देखने में आया ऐसा, मगर वहाँ देखो विकार का कोई लेश नहीं उस माँ के। और सुनो, गुजरात प्रान्त का एक किस्सा है।

एक राजा ने किसी गरीब का उपकार किया, तो गरीब तो बड़ा उपकार मानते हैं, व घर के सारे उसका बड़ा उपकार मानते हैं। एक बार राजा के पाप का उदय आया, सो उसका राज्य छिन गया, तो गरीब बनकर वह इसी धुन में घूम रहा था कि मैं कैसे अपना राज्य वापिस लूँ? तो उसने एक सेना जोड़ी, कुछ बल लगाया, कुछ लड़ाई ठानी, लेकिन वह विजय न पा सका। और जाड़े के दिन होने से उसको ठंड लग गई। ठंड से त्रस्त हुआ राजा जैसे मानो निमानिया हो गया, बहुत परेशान हुआ, तो उस गरीब के घर के पास से गुजरा। उस समय पुरुष तो न था, पर उसकी स्त्री घर में थी। तो उस गरीब स्त्री के पास कोई विशेष साधन तो था नहीं ठंड से बचाने का, सो उस गरीब स्त्री ने कहा कि यहाँ ठंड से बचाने का और कोई उपाय तो है नहीं, पर हाँ हमारे शरीर की गर्मी तुम में पहुँच जाय तो इस तरह भी तुम्हारी सर्दी का रोग दूर किया जा सकता है। तो उस समय बीच में तलवार लगाकर वह स्त्री और राजा दोनों एक साथ सो गए। अब उस स्त्री का पुरुष आता और देखता है तो उसको देखकर उसे बड़ी शंका हो जाती है। उसे देखी हुई बात सच तो लग रही है, लेकिन थोड़ी ही देर में उसने परखा कि यहाँ तो विकार का रंच भी काम नहीं। यह बेचारा तो मर ही रहा है और आड़ में तलवार लगा ली। तो ऐसी कितनी ही बातें देखने को मिलेंगी जो दिखतीं कुछ हैं, और वहाँ बात कुछ है। अच्छा तो सुनी बात भी झूठ

हो सकती, देखी बात भी झूठ हो सकती, पर अनुभव में आयी हुई बात को देखो।

कोई एक पुरुष के दो स्त्रियाँ थीं, छोटी स्त्री के तो बालक था और बड़ी के बालक न था, तो उसे ईर्ष्या हुई और अदालत में अपील कर दी कि यह बच्चा तो मेरा है। तो राजा ने उसके न्याय की तारीख दे दी। इतने में ही उसने उसका न्याय सोच लिया। और पहले से ही सिपाहियों को समझा दिया। अब वे दोनों स्त्रियाँ आयीं, लड़का भी साथ था, तो बड़ी स्त्री कहती है कि यह लड़का मेरा है और छोटी स्त्री कहती है कि यह लड़का मेरा है, तो वहाँ राजा ने यह निर्णय दिया कि इस लड़के के दो टुकड़े बराबर–बराबर कर दो और एक–एक टुकड़ा दोनों स्त्रियों को दे दो। तो सिपाही लोग नंगी तलवार लेकर उस लड़के के दो टुकड़े करने के लिये तैयार हुए कि छोटी स्त्री बोल उठी–महाराज! यह मेरा लड़का नहीं है, यह इसी का है, इसी को दे दो। और उधर बड़ी स्त्री खुश हो रही थी कि अच्छा न्याय हो रहा है। तो अनुभव ने बता दिया कि जो स्त्री मना कर रही है, उसका है यह बालक, बड़ी स्त्री का नहीं है। तो अनुयोगों की चर्चाओं में हम सर्वत्र लाभ पाते हैं। हमें आर्ष पर, आगम पर आस्था होनी चाहिए और सब तरह से हम अभ्यास बनायें तो हम अपने ज्ञान और वैराग्य का संतुलन ठीक रख सकते हैं।

व्यवहार धर्म की क्रियाओं से, संयम से अपने मन को पवित्र बनाओ, तभी शरीर से भिन्न आत्मा समझ में आती है। केवल 'शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है' कहने मात्र से आत्मा के दर्शन नहीं होते। जैसे लोग कह देते हैं कि फूंफ ग्राम या अमुक ग्राम यहीं तो धरा है नाक के सामने। ऐसा बोलते हैं, पर जब चलो, तब पता पड़ता है कि ऐसे जाना पड़ता है।

गप्प करने में, गाल बजाने में तो कोई देर नहीं लगती। अन्तस्तत्त्व यह ही तो है। और जब उपयोग में करने बैठो तब पता पड़ता है कि क्या होता है, किस तरह से पार हुआ जाता है, कैसे क्या होता है। एक लड़का था तो उसे शौक हुआ कि हमें तो तालाब में तैरना सीखना है। तो वह गया तालाब में तैरने के लिये, सो डूबने लगा। खैर, किसी ने उसे डूबने से बचा लिया, पर उसके मन में यह बात बनी रही कि हमें तो तैरना सीखना है। तो माँ के पास जाकर बोला—माँ! मुझे तैरना सिखा दो। तो माँ बोली—अरे बेटा! चलो किसी तालाब पर, तुम्हें वहाँ तैरना सिखा दूँगी। तो वह लड़का बोला—माँ! मुझे पानी न छूना पड़े, और तैरना आ जाय। माँ बोली—बेटा! मैं तुझे कितना भी सिखा दूँ कि पानी में ऐसे हाथ चलाना, ऐसे पैर चलाना पर तू जब भी पानी में जायेगा तो डूब जायेगा। पानी न छूना पड़े और तैरना आ जाये, यह कभी सम्भव नहीं। यह तो एक प्रयोगसाध्य बात है। अरे! उसका प्रयोग करें और प्रयोग करने में बहुत सी प्रवृत्तियाँ करनी होंगीं। उन्हीं प्रवृत्तियों को व्यवहार—धर्म कहते हैं।

श्री सहजानन्द वर्णी जी ने लिखा है—जिसको आत्मा के सहज अन्तः स्वरूप का परिचय हो गया, उस पुरुष को अन्तस्तत्त्व की दृष्टि करना लीला मात्र है, और जिसको अन्तस्तत्त्वका परिचय न हो, वह कोई सरल पुरुष धर्म के नाम पर भक्ति करे, व्रत करे, तप करे, संयम करे, तो पाप करने वाले से तो भला है ही। हाँ, सम्यक्त्व नहीं है, इसलिये वह मोक्ष मार्ग में नहीं आता। ऐसे जीव को क्या यह कहें कि तू व्रत, संयम छोड़ दे, ये विकार हैं, ये काम के नहीं है, पहले तू सम्यग्दर्शन प्राप्त कर। सम्यग्दर्शन धारण करने चलेंगे तो कर लेगें क्या? अरे! उन्हें सम्बोधो कि तुम जो कर रहे हो सो ठीक है, मंद कषाय है, सुगति का कारण है, यह धार्मिक वातावरण का एक आधार

है, पर तुम इसमे तृप्त मत होओ। अपने अन्तः में खोजो, सहज ज्ञायकस्वरूप को। उसमे लगाते हुये उसका आनन्द पावो। तो उन्हें अन्तः प्रयोग के लिये उत्साहित करना है। दुनिया अन्तस्तत्त्व का निरीक्षण नहीं करती।

धार्मिक व्यवहार जो होता है, वह सब प्रवृत्ति में होता है। यदि प्रवृत्ति का लोप कर दिया जाये, तो उसके मायने है कि जो भावी संतान होगी समाज में, उन सब पर अदया की है, क्योंकि वे फिर कोई पेट से सीखकर तो आये नहीं निश्चय की बात। अरे! जो निश्चय की बात सीखी है, वह देखो व्यवहार में था। माता के साथ मन्दिर आये, विनय सीखी, गुरुजनों की भक्ति में रहे, अनेकानेक बातों में रहे और आज हम सीख गये परमार्थ की बात, तो हम दूसरों को तो उलझन में नहीं लगायें। जैसे हम बने, वैसे ही दूसरों को बतावें। तो प्रवृत्ति और व्यवहार इन सबको करते हुये एक भीतर का ज्ञान प्रकाश बनाने का ध्यान रखें। मैं आत्मस्वरूप को जानूँ, आत्मस्वरूप में तृप्त होऊँ, इसमें कौन बाधा देगा? प्रभु की भक्ति करें, संयम करें, व्रत करें, चारित्र न खोवें, तो क्या ये आत्मा के सम्यक्त्व में बाधा डालते हैं? अरे! ये कार्य तो एक मंद कषाय वाले हैं, इनमें बाधा का सवाल ही क्या? बल्कि ये तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के पात्र बनाते हैं।

जिसको स्वभाव दृष्टि करने का काम है, उसे तो सब कुछ करना होता है, और जिसे केवल गप्प मारने का काम है, उसको तो केवल गप्प ही मारना है। तो, भाई! तन जाय, मन जाय, धन जाय, वचन जाय, प्राण जाय, कुछ भी जाये, पर हर तरह से तैयार रहें कि हमें तो शुद्धोपयोग की प्राप्ति करना है और शुद्धस्वभाव का लक्ष्य बनाना है, उसके लिये बढ़ते चले जाना है।

यदि अपने आपको शुद्ध चैतन्य मात्र देखोगे, तो हमारी यह दृष्टि वह चिनगारी है जो कि विपदाओं के, कर्मों के पहाड़ों को जला सकती है। है एक छोटी दृष्टि, सूक्ष्म दृष्टि, मगर वह इतनी चमत्कारिणी है कि सारे कर्मों के पहाड़ों का भस्म कर सकती है। और यदि एक आत्मा को नहीं पहचाना तो संसार में ही रुलना पड़ेगा।

संसार तो स्वार्थ का होता है। वास्तव में जीव का यहाँ कोई भी अपना नहीं है। संसार में जीव के जीते हुये बनावटी प्रेमलीला चलती है। मरने के बाद कोई भी अपना नहीं है। मरने के बाद कोई भी उस प्रेम को नहीं रखता। पर को अपना मानकर उसमें राग–द्वेष करना ही संसार–भ्रमण का कारण है। अतः पर से भिन्न अपनी चैतन्यस्वरूपी आत्मा को पहचान कर उसी में रत रहो।

जैसे तोता–मैना अपनी पक्षी की बोली छोड़कर मनुष्यों की बोली बोलने की क्रिया आरम्भ कर देते हैं, तो मनुष्यों के द्वारा स्व–मनोरंजन के लिये पिंजड़े में डाल दिये जाते हैं। और यदि वे मनुष्यों की बोली बोलना बन्द कर दें, तो मनुष्यों के द्वारा पिंजड़े से बाहर निकाल दिये जाते हैं। इसी तरह संसारी जीव जब तक मन, वचन, काय आदि पर–पदार्थों को अपना मानकर उनसे ममत्व करता है, तब तक कर्मों के द्वारा बँधा संसार रूपी जेल में पड़ा परतंत्रता के दुःख उठाता है। किन्तु मन अलग है, मैं जीवात्मा अलग हूँ, वचन अलग हैं, मैं चैतन्य आत्मा अलग हूँ, ऐसा भेद विज्ञान ही मुझे संसार–परिभ्रमण से छुड़ाकर मुक्ति की ओर ले जाने वाला है।

अपनी आत्मा को पहचाने बिना इस जीव का संसार में भ्रमण करते हुये अनेकों दुःख उठाना पड़ते हैं। अतः अब तो बाहरी दुनिया को देखना बन्द करो और स्व को जानने का प्रयास करो। दूसरों के जीवन में हस्तक्षेप करना धर्मात्मा जीव का कार्य नहीं है। वह तो

भगवान के द्वारा बताये गये मोक्ष के मार्ग (रत्नत्रय) पर लगातार बढ़ता जाता है। दूसरे लोग क्या कहेंगे या क्या कर रहे हैं, वह इसकी परवाह नहीं करता। वह जानता है कि दुनिया के लोग तो अज्ञानी, मोही, रागी–द्वेषी हैं।

एक भिखारी सुबह–सुबह अपने व्यापार हेतु एक वैज्ञानिक के दरवाजे को खटखटा रहा था। वह ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक था। उसने सोचा आज कोई मेरा मित्र आया है, तो दौड़कर दरवाजा खोलता है, तो सामने एक भिखारी भिक्षा पात्र लेकर खड़ा हुआ है। भिखारी को देखते ही उसे क्रोध आ जाता है और आवेश में आकर कहता है कि–तुम कुछ समझते भी हो या नहीं? अभी सुबह के 6 बजे हैं, सुबह से ही दरवाजे पर आ गये, ये भी कोई भीख माँगने का समय है? कम–से–कम समय देखकर भीख माँगा करो। भिखारी यह सुनकर कहता है– ''याद रखो, आपकी प्रयोगशाला में, मैं तो जाकर कभी भी ऐसा नहीं कहता कि ऐसा प्रयोग करो, इतने समय करो। जब मैं आपके दैनिक कार्यों में बाधक नहीं बनता तब आप मेरे व्यापार में हस्तक्षेप कर सलाह देने वाले कौन होते हो?

विचित्र भिखारी था वह। कह रहा था कि मेरे धन्धे में मुझे सलाह देने–वाले कौन हो तुम? मैं भिखारी हूँ, जब चाहूँगा तब आऊँगा, तब तुम्हें देना पड़ेगा। नहीं देना है तो मना कर दो, लेकिन मेरे व्यापार में तुम्हें सलाह देने का अधिकार नहीं है। उस वैज्ञानिक ने उसी क्षण उस भिखारी के चरण स्पर्श कर लिये। वह वैज्ञानिक आश्यर्च चकित हो कहता है – इतना अद्भुत भिखारी मैंने जीवन में प्रथम बार देखा है, जो कहता है कि मेरे धन्धे में तुम्हें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

इसी प्रकार सच्चा साधक (धर्मात्मा) दूसरों के जीवन में कभी

भी हस्तक्षेप नहीं करता है। जो धर्मात्मा बनकर दूसरों के जीवन में हस्तक्षेप करता है, उसने मात्र ऊपर से धर्म का चोला पहन रखा है। उसके भीतर धर्म नामकी कोई चीज नहीं है। उसने धर्म के मर्म को सही ढंग से पहचाना ही नहीं है। मनुष्य पर्याय की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, अतः व्यर्थ के राग–द्वेष छोड़कर इसका उपयोग मुक्ति करन हेतु करना चाहिये।

यह आज का जो दुर्लभ अवसर पाया है, उसे व्यर्थ न खोयें। अभी सद्बुद्धि पाई है तो उसका सदुपयोग कर लें। यदि यह अवसर खो दिया, तो न जाने पेड़, कीड़े–मकोड़े क्या–क्या बनकर दुर्दशा भोगेंगे। जब तक यह जीव अज्ञानी है, तब तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है। इसको अपने आत्मस्वरूप की महिमा का पता नहीं, इसलिये चारों गतियों के दुःख उठाना पड़ रहे हैं। अब अपने आप पर दया करो, व्यर्थ कष्ट मत भोगो, विकल्प जाल बढ़ाकर अपने को अशान्त मत बनाओ। एक इस अन्तस्तत्त्व का बोध करके इस ही एक आत्माराम में, आत्मज्ञान में, अपने को रमाओ और सदा के लिये मुक्त होने का उपाय बनाओ।

यह संसार तो एक मानो वह फड़ है, जहाँ जुआ खेला जाता हो। वहाँ कोई फँस जाय, कोई दो चार आने का दाँव लगा बैठे, तो वहाँ फिर ऐसी धारा हो जाती है कि हारे तो खेलना, जीते तो खेलना। ओर खेलते–खेलते बहुत कुछ हार गए और थोड़े–से पैसे रह गये जेब में और सोचा कि हमें घर चलना चाहिये, तो उस फड़पर बैठे हुए जो लोग हैं उनकी वाणी, उनके बचन, उनका व्यवहार ऐसा होता है कि वह वहाँ स भागने में समर्थ नहीं हो पाता। तो जैसे वह खिलाड़ी उस जुवे के फड़ से निकल नहीं पाता, इसी तरह एक बहुत बड़ी असुविधा है ज्ञानबल पाये बिना। कोई कुछ थोड़ा चाहता है कि

में इन विषय–साधनों से हट जाऊँ, लेकिन यह सब एक ऐसा वातावरण है कि बहुत–बहुत चाहने पर भी नहीं हट पाता और फिर थोड़ा बहुत ज्ञान भी न हो, तब तो वह इसमें आसक्ति से लगता है। तो इस संसार के इस जुवे वाले, हार–जीतवाले अड्डे से हटने के लिए बहुत बड़े ज्ञान की आवश्यकता है। इसलिये चारों अनुयोगों के शास्त्रों का अच्छे प्रकार से स्वाध्याय कर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करो और चरणानुयोग के अनुसार अपने आचरण को बनाओ।

आचार्य श्री विशद सागर जी महाराज ने ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुये दोहे के रूप में लिखा है –

ज्ञान सहित सब सार है, बिना ज्ञान के खार।
ज्ञान से ही इस जीव का, होय स्वयं उद्धार।।
ज्ञान शान है जीव की, ज्ञान बिना क्या शान।
ज्ञान से होता जीव का, इस जग से निर्वाण।।
ज्ञान जीव की जान है, ज्ञान बिना बे जान।
नर होकर भी जीव का, जीवन पशु समान।।
ज्ञान से ध्यान होता भला, ध्यान से कर्म नशाय।
कर्म नाश कर जीव यह, शिव सुख को भी पाय।।
ज्ञानवान् नर जगत में, सब की हरता पीर।
ज्ञान सुधा रस श्रवण से, हो जाते हैं धीर।।
ज्ञान की शक्ति अगम है, काहे होत अधीर।
ज्ञान बिना भव भ्रमण है, ज्ञान से भव का तीर।।
ज्ञान भानु के तेज से, अन्धकार नश जाय।
स्वर्ग सुखों की बात क्या, मुक्ति को भी पाय।।
ज्ञान बिना किरिया सभी, थोथी ही तू जान।
अंक बिना सौ शून्य भी, मूल्य हीन पहचान।।

ज्ञान दोष को नाशता, बने जीव गुणगान।
सद्गुण से ही जीव का, होय जगत् कल्याण।।
ज्ञान ही जग में मित्र है, ज्ञान ही भ्रात अरु तात।
ज्ञान सहोदर जगत् में, ज्ञान भगनि और भ्रात।।
ज्ञान सूर्य का उदय कर, अपने हृदय मंझार।
मिले सफलता कार्य में, कभी न होवे हार।।
ज्ञान की महिमा अगम है, को कर सके बखान।
पाया जिसने ज्ञान को, उसको ज्ञान का भान।।
ज्ञानवान् यदि बाल है, तो भी चतुर सुजान।
बूढ़ा भी मूरख हुआ, उसकी क्या पहचान।।
ज्ञान बड़ा अनमोल है, नहिं कुछ इसका मोल।
भरलो जितना बन सके, अपना हृदय खोल।।
ज्ञान को पाकर बढ़ चला, मोक्ष महल के द्वार।
विशद ज्ञान से शीघ्र ही, छूट जाये संसार।।

मनुष्य–जन्म पाकर इसको विषय – भोगों में खो देना और आत्मसाधना न करना महामूर्खता है। ऐसे अमूल्य मनुष्य–जन्म को पाकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इस जीव ने धन – सम्पप्ति तो अनेकों बार प्राप्त की, पर आत्म ज्ञान आज तक प्राप्त नहीं किया। सभी को स्वाध्याय का समय नियत कर लेना चाहिये और प्रतिदिन 1–2 घंटा स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

स्वाध्याय से ही ज्ञान व वैराग्य की प्राप्ति होती है, जो आत्मा के लिये हितकारी है – "आतम हित हेतु विराग–ज्ञान।" यदि किसी से प्रेम करोगे, तो प्रेम बढ़ता चला जावेगा और यदि विरक्ति बढ़ाओगे तो, आत्मा में विरक्ति आती जावेगी। यदि हमने दुर्लभ मनुष्य पर्याय व जैन कुल पाकर भी ज्ञान और वैराग्य प्राप्त नहीं किया, तो मानों

हमने मणि को सागर में डूबो दिया। डूबा हुआ मणि तो पुनः प्राप्त हो सकता है, पर यदि हमने इस समय सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया, तो यह मनुष्य–पर्याय, उत्तम कुल और ऐसा पवित्र धर्म फिर नहीं मिलेगा। अतः चाहे कैसी भी परिस्थिति हो, हमें स्वाध्याय के लिये समय अवश्य निकालना चाहिये।

सम्यग्दर्शन के समान सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग होते हैं।

ग्रन्थार्थोभयपूर्ण काले विनयेन सोपधानं च।
बहूमानेन समन्वित मनिन्हवं ज्ञानमाराध्यम्।।

शब्दाचार, अर्थाचार, उभयाचार, कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहूमानाचार और अनिह्नवाचार। सम्यग्ज्ञान मोक्ष मार्ग का द्वितीय रत्न है। पूजा में पढ़ते हैं –

सम्यग्ज्ञान – रतन मन भाया , आगम तीजा नैन बताया।
अक्षर शुद्ध अर्थ पहिचानो, अक्षर अरथ उभय संग जानो।।
जानो सुकाल पठन जिनागम, नाम गुरु न छिपाइये।
तप रीति गहि बहू मौन दके, विनय गुण चित्त लाइए।।
ये आठ भेद करम उछेदक, ज्ञान–दर्पण देखना।
इस ज्ञान ही सों भरत सीझा, और सब पट पेखना।।

इन आठ अंगों सहित सम्यग्ज्ञान की आराधना करने से अज्ञान का नाश होता है, भावों की शुद्धि होती है, कषायों की मंदता होती है, संसार से राग घटता है, वैराग्य बढ़ता है, सम्यक्त्व की निर्मलता होती है, चित्तनिरोध की कला मालूम होती है।

1. शब्दाचार – शास्त्र के अक्षर, वाक्य व पदों का शुद्ध उच्चारण करना। जब तक हम ग्रंथ को शुद्ध नहीं पढ़ेंगे, तब तक उसका सही अर्थ नहीं भासेगा।
2. अर्थाचार – शब्द का अर्थ ठीक–ठीक समझना। जिन आचार्यो

ने ग्रंथ की रचना की है, उन्होंने अपना ज्ञान पदों की स्थापना में रख दिया है, तब उन्हीं स्थापनारूप पदों के द्वारा वही ज्ञान ग्रहण कर लेना जरूरी है, जो ज्ञान ग्रन्थकर्ताओं द्वारा उनमें भरा गया है या स्थापित किया गया था। ग्रन्थ के यथार्थ भाव को समझना अर्थ शुद्धि है।

3. उभयाचार – ग्रन्थ का शुद्ध पढ़ना और शुद्ध अर्थ समझना, दोनों का ध्यान एक साथ रखना उभय शुद्धि है। श्री बट्टकेरस्वामी ने 'मूलाचार' के पंचाचार अधिकार में लिखा है–

विजणसुद्धं सुत्तं अत्थविसुद्धं च तदुभयविसुद्धं।
पयदेण य जप्पंतो णाणविसुद्धो हवई एसो।।

जो कोई शास्त्रों के वाक्यों को व शास्त्रों के अर्थ को तथा दोनों को प्रयत्न पूर्वक शुद्ध पढ़ता है, उसी को ज्ञान की शुद्धता होती है।

4. कालाचार– योग्य काल में श्रुत अध्ययन करना। चारों संध्याकाल स्वाध्याय के लिये अकाल माने जाते हैं। संध्याकाल के समय आत्मध्यान तथा सामायिक करना चाहिये। इन कालों के सिवाय दिग्दाह, उलकापात, इन्द्रधनुष, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्पादि उत्पातों के समय सिद्धांतग्रंथों, अंगपूर्वों का पठन–पाठन वर्जित है। स्तोत्र, आराधना, धर्मकथादि ग्रंथों का पठन–पाठन वर्जित नहीं है।

एक वीरभद्र मुनिराज अर्द्धरात्रि में अकाल में स्वाध्याय कर रहे थे। एक देवी ग्वालिन का वेष लेकर वहाँ छाछ बेचने लगी। मुनिराज ने कहा कि "तू क्या पागल हो गई है? अरे! इस निर्जन वन में और रात्रि मे छाछ कौन लेगा?" उसने कहा "मुनिवर! मुझे तो आप ही पागल दिख रहे हैं, जो अकाल में अध्ययन कर रहे हैं।" मुनिराज ने अर्धरात्रि के अकाल को

समझकर स्वाध्याय बन्द कर दिया। पुनः प्रातः गुरु के पास प्रायश्चित्त लेकर, शुद्धि करके, काल में अध्ययन के प्रभाव से उत्तम देव–पद को प्राप्त किया।

इसके विपरीत एक उदाहरण है कि –

एक शिवनन्दी नाम के मुनिराज थे। वे अपने तीव्रकर्म के उदय से गुरु–आज्ञा की अवहेलना करके अकाल में स्वाध्याय किया करते थे। फलस्वरूप अंत में असमाधि से मरण करके पापकर्म के निमित्त से गंगा नदी में महामत्स्य हो गये। आचार्यों ने ठीक ही कहा है–

जिनाज्ञालोपने नैव प्राणी दुर्गतिभाग्भवेत्।

जिनेंद्रदेव की आज्ञा का लोप करने पर यह प्राणी दुर्गति में चला जाता है। पुनः उस नदी के तट पर स्थित एक महामुनि उच्चस्वर से स्वाध्याय कर रहे थे। इस मत्स्य ने पाठ को सुना, तो इसे जाति स्मरण हो गया–ओहो! मैं भी इन्हीं के सदृश मुनिवेष में ऐसे ही स्वाध्याय करता रहता था, पर मैं इस तिर्यंच योनि में कैसे आ गया? हाय! हाय! मैं जिनागम की और गुरु की आज्ञा को कुछ न गिनकर अकाल में भी स्वाध्याय करता रहा, जिसके फलस्वरूप मुझे यह निकृष्ट योनि मिली है। सच में आगम के पढ़ने का फल तो यही है कि उसके अनुरूप प्रवृत्ति करना। अब मैं क्या करूँ? कुछ क्षण सोचकर वह मत्स्य किनारे पर आकर गुरु के सन्मुख पड़ गया। गुरु ने उसे भव्यजीव समझकर सम्यक्त्व ग्रहण कराया तथा पंच अणुव्रत दिये। उस मत्स्य ने भी सम्यक्त्व के साथ–साथ अणुव्रत को पालते हुए जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों को अपने हृदय में धारण किया और आयु पूर्ण करके मरकर स्वर्ग में देव हो गया।

"स्वाध्याय के लिये अकाल कब–कब होते हैं?"

प्रातः, मध्यान्ह, सायं और अर्द्धरात्रि के मध्य डेढ़–डेढ़ घण्टे का समय अकाल है। इसी प्रकार दिग्दाह, उल्कापात आदि ऊपर बताये गये दिन भी अकाल हैं। यह व्यवस्था सिद्धांत–ग्रन्थादिकों के लिये बताई गई है, किन्तु आराधना–ग्रंथ, कथा–ग्रंथ या स्तुति–ग्रंथो को अकाल में पढ़ने का निषेध नहीं है। इस काल और अकाल का विशेष वर्णन मूलाचार, अनगार धर्मामृत एवं धवला की नवमी पुस्तक से देख लेना चाहिए।

सभी को सुकाल में अध्ययन करना चाहिये और इतर समय में सामायिक, स्तवन, वंदना आदि क्रिया करके पढ़े हुए ग्रंथों का मनन, चिंतवन करना चाहिये।

5. विनयाचार – बड़े आदर से शास्त्र को पढ़ना चाहिये। बड़ी भक्ति व आदर के साथ मोक्ष के कारणभूत सम्यग्ज्ञान को यथाशक्ति ग्रहण करना, निरन्तर सम्यग्ज्ञान का अभ्यास करना, उसका स्मरण करना आदि विनयाचार अंग कहलाता है। आचार्यों ने यह भी कहा है कि आलस्य रहित होकर देशकाल और भावों की शुद्धिपूर्वक सम्यग्ज्ञान के प्रति, सम्यग्ज्ञान के उपकरण यानी शास्त्र आदि के प्रति और सम्यग्ज्ञान को धारण करने वाले ज्ञानवान् पुरुषों के प्रति भक्ति–भाव रखना, उनके अनुकूल आचरण करना, विनयाचार है। श्री वट्टकेर स्वामी ने 'मूलाचार' के पंचाचार अधिकार में कहा है –

   जिसने विनयपूर्वक शास्त्रों को पढ़ा हो, और प्रमाद से कालांतर में भूल भी जावे, तो भी परभव में शीघ्र याद हो जाता है, थोड़े परिश्रम से याद आ जाता है तथा विनयसहित शास्त्र पढ़ने का फल केवलज्ञान होता है।

   राजा ने चोर से कहा कि तुझे फाँसी लगने वाली है, अतः

फाँसी पर चढ़ने से पहले तू मुझे अपनी विद्या दे–दे। चोर ने राजा को पूरी विद्या बता दी, पर राजा कुछ भी नहीं सीख सका। परन्तु जब राजा ने अत्यन्त विनय–पूर्वक चोर को अपने सिंहासन पर बिठाया और स्वयं नीचे बैठा, तब विद्या प्राप्त करने में राजा को देर न लगी। अतः हमेशा विनयाचार का पालन करते हुये शास्त्र–स्वाध्याय करना चाहिये।

6. उपधानाचार – धारणा करते हुये ग्रन्थ को पढ़ना चाहिये। जो कुछ पढ़ा जावे, वह भीतर जमता जावे, जिससे वह पीछे स्मरण में आ सके। यदि पढ़ते चले गये और ध्यान में न लिया, तो अज्ञान का नाश नहीं होगा। इसलिये एकाग्र–चित्त होकर ध्यान के साथ पढ़ना, धारणा में रखते जाना, उपधानाचार अंग है।

7. बहूमानाचार – शास्त्र को बहुत मान प्रतिष्ठा से विराजमान करके पढ़ना चाहिये। उच्च चौकी पर रखकर आसन से बैठकर पढ़ना चाहिये। शास्त्र को अच्छे वेष्टन से विभूषित करके विराजमान करना चाहिये। शास्त्र को लाते व ले जाते समय खड़े हो जाना चाहिये। अध्ययन करते समय अन्य वार्तालाप नहीं करना चाहिये।

8. अनिह्नवाचार – जिस शास्त्र, जिन गुरु से शास्त्रज्ञान प्राप्त किया हो, उनका नाम न छिपाना। छोटे शास्त्र या अल्पज्ञानी गुरु का नाम लेने से मेरा महत्त्व घट जायेगा, इस भय से बड़े ग्रन्थ या बहूज्ञानी गुरु का नाम नहीं बताना चाहिये।

इस तरह आठ अंगो का पालन करते हुये शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये।

मोह के जाल में उलझा हुआ यह जीव इन्द्रिय–विषयों में सुख

की इच्छा करता हुआ, इस चतुर्गतिरूप संसार में भटकता हुआ उसी प्रकार दुःखी हो रहा है, जिस प्रकार रेत के वन में हिरण अपनी प्यास बुझाने को सूर्यकिरण से चमकती रेत में जल का आभास मान उसकी ओर दौड़ता है और वहाँ जल न पाकर आकुलित होकर दूसरी ओर फिर उसी भ्रम बुद्धि से दौड़ता है और वहाँ से भी निराश होकर अपनी प्यास बुझाने के लिये भटक–भटककर महादुःखी होता है। प्रत्येक जीव स्वभाव से सुख चाहता है, किन्तु अनादि का अज्ञानी होने के कारण असली सुख से अपरिचित है। इन्द्रियसुख इसके अनुभव में आया है और इसी का उसे चश्का है। प्रातः से सायंकाल तक यह जीव जितना भी पाप करता है, वह केवल इसी सुख की रुचि के कारण करता है, किन्तु उसे सुख–शान्ति की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि यह तो दुःख व अशान्ति का मार्ग है।

सम्यग्ज्ञान होने पर इस जीव को मोक्ष के निराकुल सुख का ज्ञान व श्रद्धान हो जाता है। सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से राग–द्वेष–मोह मिटता है, समता भाव जागृत होता है, आत्मा में रमण करने का उत्साह बढ़ता है, स्वानुभव जागृत हो जाता है, जिसके प्रताप से सुख–शान्ति का लाभ होता है, आत्मबल बढ़ता है, कर्म का मैल कटता है, परम धैर्य प्रकाशित होता है, यह जीवन परम सुन्दर सुवर्णमय हो जाता है। यह मोक्षमार्ग का द्वितीय रत्न है। सभी को सम्यग्ज्ञान के आठ अंगों का पालन करते हुये जिनवाणी का स्वाध्याय कर सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास अवश्य करना चाहिये।

जिनवाणी स्तुति

हे शारदे माँ, हे शारदे माँ,
अज्ञानता से, मुझे तार देना।
मुनियों ने जानी, मुनियों ने समझी,
शास्त्रों की भाषा, आगम की वाणी।।
हम भी तो जानें, हम भी तो समझें।
विद्या का फल तो, हमें मात देना।।हे।।
तूँ ज्ञानदायी, हमें ज्ञान दे दे,
रत्नत्रयों का, हमें दान दे दे।
मन से हमारे, मिटा दे अंधेरे,
हमको उजालों का, शिवद्वार दे माँ।।हे।।
तूँ मोक्षदायी, है संगीत तुझ में,
हर शब्द तेरा, हर भाव तुझमें।
हम हैं अकेले, हम हैं अधूरे,
तेरी शरण माँ, हमें तार देना।।
हे शारदे माँ, हे शारदे माँ,
अज्ञानता से, हमें तार देना।।

प्रकाशक :
श्री 1008 पद्मप्रभु दिगम्बर जैन
जिनालय समिति, पद्मनाभ नगर, भोपाल (म.प्र.)
(पंजीयन क्रमांक: 7116/99 दिनांक 17-06-1999)

मुद्रक :
अमी आफसेट प्रिंटर्स, भोपाल (म.प्र.)
फोन: 9424492058

डिजाइन एण्ड कम्पोजिंग :
कम्प्यूटर अकादमी, भोपाल (म.प्र.)
मो. 9826054491

मूल्य:
201 रूपये

प्राप्ति स्थान :
श्री 1008 पद्मप्रभु दिगम्बर जैन मंदिर
पद्मनाभ नगर, भोपाल (म.प्र.)
विमल कुमार मोदी परम (संरक्षक) 0755-2759584
प्रकाशचंद्र सेठी (अध्यक्ष) 0755-2752750
केशरीमल विनायका (उपाध्यक्ष) 0755-2589414
श्रीमती सुधा जैन
ए-56, पद्मनाभ नगर, भोपाल
फोन: 0755-2750899

लेखक एवं संकलनकर्ता:
ब्र. सुरेन्द्र कुमार